

* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

भाषा-भाष्य

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्यसाहित्यमण्डल, लिमिटेड अजमेर.

मुद्रक—

श्रीदुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

द्वितीयावृत्ति
२०००

सं० १६८८ वि०

मूल्य
४) रुपये

आर्य-साहित्यमण्डल लिमिटेड अजमेर के
लिये सर्वाधिकार सुरक्षित.



श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अय्यर के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा प्रिन्टिंग प्रेस, धानमण्डी,
अजमेर में मुद्रित.

॥ ओ३म ॥

सामवेद भाष्य के प्रथम संस्करण की भूमिका

तमिद् वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिवरीरिव ।

य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ सामवेद १३३६ ॥

तं धेनवो वत्समित्रासृताभिभवस्यं हार्दं महिमानमेशम् ।

गिरो गुरोराद्यतमस्य नित्यं निपीयमाना विद्युधरपुष्पान् ॥

(१)

वेद मानव जाति के ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र है । वे संख्या में चार हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में परमात्मा ने उक्त चार संहिताओं का प्रकाश किया । सृष्टि का आरम्भ हुए आर्य उग्रोत्तिपियों की गणना के अनुसार १६६०८५२०२६ वर्ष बीत गये हैं, तदनुसार वेदों को उत्पन्न हुए भी इतने ही वर्ष बीते समझने चाहिये । इसका स्पष्ट विवरण महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति प्रकरण में किया है । चारों वेदों के चार ही विषय हैं (१) विज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना और (४) ज्ञान । ईश्वर से लेकर मृण पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान 'विज्ञान' शब्द से कहा जाता है । कर्म दो प्रकार का है एक मोक्षसाधना और दूसरा इह लोक के व्यवहारों की साधना । ईश्वर की स्तुति और आत्मसाक्षात्कार मूर्धक ईश्वरमाधिष्ठान करना उपासना कहाती

हैं। ज्ञानकाण्ड में ईश्वर, प्रकृति और जीव विषयक विशेष ज्ञान का विवरण है। इन चार विषयों का विशेष रूप से चार वेदों में वर्णन किया गया है। जिसपर विशेष विस्तार से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयाबन्द ने 'वेदविषयविचार' विषय में बहुत विचार किया है। इस ग्रंथ में उपासना विषय को दर्शाने वाले ग्रन्थ "सामवेद" का ही भाष्य प्रस्तुत किया गया है जिससे भक्तिरस के पिपासु जन उपनिषदों और सुरदास, कबीर एवं भागवत आदि ग्रन्थों में जो भक्तिरस प्राप्त करते हैं उससे भी अधिक और स्वच्छ परमार्थदर्शक भक्तिरस का लाभ सामवेद में प्राप्त करें। भाष्य पढ़ने के पूर्व पाठकों के समक्ष हम भाष्य से सम्बद्ध अन्य विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं इसलिये यह भूमिका लिखने का प्रयास है।

(२) सामवेदसंहिता

प्रकाशित सामवेद संहिताओं में से हमारी दृष्टि में प्रामाणिक पाँच संहिताएं ही आई हैं.—

(१) सायणभाष्यसहित सामवेदसंहिता श्री सत्यव्रतसामभ्रमी द्वारा प्रकाशित जिसको बंगाल एशियाटिक सोसायटी ने १८७६ ई० में प्रकाशित किया।

(२) सायणभाष्यसहित सामवेद संहिता जिसको श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने १८६२ ई० में प्रकाशित किया।

(३) अजमेर नगर में श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मूलमात्र सामवेद संहिता प्रकाशित की है।

(४) श्री पं० तुलसीरामजी मेरठ निवासी ने मेरठ से अपने भाषा और सस्कृत भाष्य सहित प्रकाशित की है।

(५) रेव० जे० श्रीवन्मन ने लण्डन से एक सामवेदसंहिता प्रकाशित की है। नगरवा निवासी श्री पं० कृष्णराम शर्मा ने भी एक सामवेद

संहिता प्रकाशित की, परन्तु उसको हमने अपनी रायना में नहीं रक्खा और विशेषता न होने से उस पर विचार भी नहीं किया। उक्त पाँचों प्रकाशित संहिताओं में अपनी २ विशेषता है। रेव० जे० स्टीवन्सन की छापी संहिता में अरण्य काण्ड और महानाम्नी आर्थिक का भाग नहीं है शेष सभी संहिताओं में उक्त दोनों भाग हैं। उक्त रेवरेण्ड महोदय ने अपनी संहिता में वे भाग क्यों नहीं समावेशित किये उसका विशेष कोई कारण उल्लेख नहीं किया। इसका उचित कारण यही प्रतीत होता है कि पंडित स्टीवन्सन ने रायानयीय शाखा के पाठानुसार ही संहिता का प्रकाश किया है। परन्तु भारतवर्ष में तीन शाखाओं का अधिक प्रचार है कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा करनाटक में और रायानयीय शाखा महाराष्ट्र में प्रचलित है। परन्तु क्योंकि चतुर्वेदभाष्यकार सायण के भाष्य सहित सामवेद संहिता में वे भाग उपलब्ध हैं इसलिये इन भागों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कारण इन भागों को हमने भी अपने भाष्य में रक्खा है। यदा यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं है कि चतुर्वेदानुवादकार प० प्रीफिथ ने भी इस अंश को अपने अनुवाद में स्थान नहीं दिया, क्योंकि वे भी स्टीवन्सन के अनुयायी हैं।

पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने अपने प्रकाशित सायण भाष्य में इसको स्थान दिया है। इस प्रकार पेशियाटिक सोसायटी के सत्यव्रत-सामग्रमी के सम्पादित सायण भाष्य में, भी उक्त दोनों खण्डों को स्थान प्राप्त है।

(३) शाखाभेद

अथर्ववेद परिशिष्ट के चरणव्यूह प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—

(१) “तत्र सामवेदस्य शाखासहस्रमासीद्। अनध्याये, प्वधीयाना, सर्वे ते शक्रेण विनिहन्ता [प्राविह्वीनाः]।”

॥ (२) तत्र वैचिदेवणिष्टा प्रचरन्ति । तद् यथा—राणायनीयाः, साय [त्य] मुग्रा, कालापा, महाकालापा कौथुमा, लाङ्गलिकाश्चनि । कौथुमानां पद्मभेदा भवन्ति । तद् यथा—सारायणीया, वातरायणीया, वैतधृता, प्राचीनास्तैजसा, अनिष्टकाश्चति ।

अर्थात् — सामवेद की हजार शाखाएँ थीं । लोग उनको अनध्याय के दिनों में भी पढ़ते थे, अतः इन्द्र ने उन सबका विनाश कर दिया । कुछ शाखाएँ बची हैं जैसे राणायनीय, साय [त्य] मुग्र, कालाप महाकालाप, कौथुम, और लाङ्गलिक । इनमें से कौथुम शाखा के छ भेद हैं सारायणीय, वातरायणीय, वैतधृत, प्राचीनस्तैजस, और अनिष्टक ।

॥ चरणव्यूह के इस लेख से अन्य व्यूहों में कुछ भेद भी है जैसे—
प्राणव्यूह दर्शाते हुए वाचस्पत्य बृहदभिधान और शब्दकल्पद्रुम में लिखा है कि

॥ 'सामशास्त्रभेदा यथा—आसुरायणीया, वासुरायणीया, वार्त्तान्तवेया, प्राञ्जला, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्या, ज्ञानयोग्या, राणायनीयाश्च । राणायनीयानां नव भेदा, राणायनीया, शास्त्रायनीयाः (शास्त्रायनीया शास्त्रमुग्रिया इति वा) पारायणीया, सान्वला, सात्यङ्गवा इति वा) मौडला खल्वलाः महाखल्वला कौथुमा जैमिनीयाश्च ।'

अर्थात्—इनके अनुसार आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेद, प्राचीन योग्य ज्ञानयोग्य, राणायनीय ये आठ मुख्य भेद हैं जिनमें से राणायनीय शाखा के पुन नव भेद हुए, जैसे राणायनीय शास्त्रायनीय, (शास्त्रायनीय या शास्त्रमुग्रिय,) पारायणीय, सान्वल या सात्यसङ्गव, मौडक, खल्वल और महाखल्वल, कौथुम और जैमिनीय ।

। . इसके अतिरिक्त सामवेद का और, शास्त्राभेद कैसे और कब हुआ इस विषय में विष्णुपुराण में उक्त शास्त्राओं के नामों से भी-भित्त २ नामों की सूचना मिलती है ।

सामवेदनरोः शास्त्रा व्यामशिश्यः स जैमिनि ।

कमण येन मैत्रेय, विभेद शृणु नन्मम ॥

सुमुन्तुस्तस्य पुत्राऽभूद् सुकर्माऽस्याप्यभूत् सुतः ।

अथानवन्नाग्रेकैकां संहितां तौ महामुनी ॥

साहस्रं संहितामेदं सुकर्मा तत्सुतस्तत ।

चकार न च सच्छिष्यौ जगुह्वाने महामतौ ॥

हिरण्यनाभिः कौशल्यः पाप्याञ्जिश्च द्विजोत्तमः ।

उदीच्याः सामगाः शिष्याः तस्य पञ्चशताः स्मृताः ॥

हिरण्यनाभान्नात्रन्यः संहिता यैर्द्विजोत्तमः ।

गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते परिडत्तेः प्राच्यसामगाः ॥

लोकादिः कुथुमिश्चैव कुपीदिलोहलिम्बतथा ।

पौष्यर्जिगण्यास्नदुभवा संहिता बहुलीकृता ॥

हिरण्यनाभशिष्यश्च चतुर्विंशति संहिता ।

प्राधात्र कृतिनामासौ शिष्यभ्यः सुमहामति ॥

तैश्चापि सामवेदोऽसौ शास्त्रानिबहुलोकृतः ।

अर्थ— व्यामदेव के शिष्य जैमिनि ने शास्त्राओं का भेद इस क्रम से किया कि उसका पुत्र सुमुन्तु हुआ । 'सुमुन्तु' का पुत्र 'सुकर्मा' । उन दोनों ने एक एक संहिता पढ़ी । सुकर्मा ने सहस्र संहिता भेद किये । उस के दो शिष्य हुए हिरण्यनाभि, कौशल्य, और पौष्यञ्जि । लोकादि, कुथुमि, कुपीदी और लोहलि, ये पौष्यञ्जि के शिष्य थे उनको 'उदीच्यासामगा' कहते थे । और हिरण्यनाभ के पाँच सौ शिष्य थे उनको 'प्राच्यसामगा' कहते थे । हिरण्यनाभ का पुत्र शिष्य 'कृति' नाम था, उसने अपने शिष्यों

को चौबीस साहिताओं का उपदेश किया । उसके शिष्य प्रशिष्यों ने भी सामवेद की बहुत शाखाएं करवाँ ।

इस उद्धरण में कुथुमि और लाङ्गलि ये दो नाम (अथर्व परिशिष्ट) चरणव्यूह के शाखाभेदों में भी आये हैं । प्राच्यसामग कदाचित् प्राचीन योग्य हों और शेष सब नाम नवीन ही हैं । यह पुराणप्रदर्शित शाखा भेद चरणव्यूह में कहे जैमिनीयशाखा के उपभेद को बतलाता है, परन्तु ऐसा अनुमान करने में यही बाधा है कि कौथुम और लाङ्गलशाखा स्वतन्त्र हैं वे जैमिनीय शाखा के भेद नहीं हैं । वह बाधा भी तब नहीं रहती जब भागवतपुराण प्रोक्त शाखाभेद पर दृष्टिपात करते हैं । उसमें पौष्पाङ्गि के शिष्यों का नाम लोगाक्षि, माङ्गलि, कुत्थ, कुसीद और कुक्षि लिखा है । इसी प्रकार के नाम भेद से हमें पुराणोक्त शाखा भेद विशेष विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता ।

पुराण के उद्धरण से ऐसा भी प्रतीत होता है कि व्यासदेव के समय यह शाखाभेद नहीं था, जैमिनी के शिष्यों से ये शाखाभेद हुए । और जितने २ शिष्य उतनी २ शाखाएं हो गईं । इसका तात्पर्य यही है कि गुरुभेद से शाखाभेद हुआ अर्थात् गुरुओं की प्रतिभा-भेद से शाखाओं में यत्किंचित् भेद हो जाने से ही शाखाभेद हो गया । उनमें बहुतसी शाखाएं लुप्त हो गईं । क्यों ? चरणव्यूह ने तो उनका कारण यही दर्शाया कि अनध्याय के दिनों में विद्यार्थियों ने पढ़ना शुरू किया, हममें कुपित इन्द्र ने वज्र से उन शाखाध्यायियों का विनाश किया । अन्धविश्वासी लोग हम कथा पर विश्वास करने में संकोच अनुभव न करेंगे । परन्तु इसका गूढार्थ यही है कि सामवेद का स्वाध्याय गुरुपरम्परा से लोप हो गया और विनोद या गायनमात्र समझकर विद्यार्थिगण अनध्याय के दिनों में सामगान सीखने आते हैं । इस पर गुरु या आचार्यों ने अपने सामवेद को गौरव विषय बनते देख, अपने वेद का अपमान जान शिष्यों

को देना बंद कर दिया हो और इस प्रकार मुख्य शिष्यों के अभाव से वे शाखाएं या कालान्तर में गुरु परम्परा से खारिज हो गई हों। वैदिक युग में इन्द्र और गुरु शब्द पर्यायवाची थे, इसी आधार पर यह कथा गढ़ी गई प्रतीत होती है।

इसी प्रसंग में हम यह भी कह सकते हैं कि शेष शाखाओं के यद्यपि नाम भी लुप्त हो गये हैं तो भी उनका कुछ आभास उपलब्ध नामों के साहचर्य से पा सकते हैं। जैसे पाणिनि व्याकरण के पैलादिगण (२ । ४ । ५६) में राणि, शब्द का पाठ है। अपत्यार्थ में 'फिज्' प्रत्यय करने से 'राणायनि' ऐसा प्रयोग होता है। यह एक साम शाखा का प्रवर्त्तक हुआ है उसी प्रकार पैल ऋक्शाखा का प्रवर्त्तक हुआ। हम गण में पठित और भी कितने ही नाम हैं वे भी अन्य शाखाप्रवर्त्तक होने सम्भव हैं। उसी प्रकार तौत्वलादि गण, (२ । ४ । ६१) यस्कादि (२ । ४ । ६३) गोपवनादि (२ । ४ । ६७) तिकाकितवादि (२ । ४ । ६८) उपकादि (२ । ४ । ६९) गण भी दर्शनीय हैं। उन गणों में भी नाना वेदशाखा प्रवर्त्तकों के नाम हैं। इसी प्रकार शार्ङ्गरवादि (४ । १ । ७३) क्रोढवादि (४ । १ । ८०) अश्वपत्यादि (४ । १ । ८४) उत्सादि (४ । १ । ८६) विदादि (४ । १ । १०४) गगादि (४ । १ । १०५) तिकादि (४ । १ । १५४) गहादि (४ । २ । १३८) शौनकादि (४ । ३ । १०६) रैवतिकादि (४ । ३ । १३१) गण हैं उन में नाना शाखा-प्रवर्त्तकों के नाम आते हैं। सात्यमुग्रि आदि शुद्ध नाम भी व्याकरण सूत्रों में प्राप्त हैं उनके सहयोग में अन्य नामों की भी संगति का अन्वेषण कर लेना चाहिये।

(४) साम-ब्राह्मण

उक्त शाखाभेद पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट होती है कि गुरु प्रवचन भेद से ही यह शाखाभेद हो गया है। परन्तु इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सामवेद की शाखाभेद से सामसहिता में भेद हुआ

हो । क्योंकि परम्परा से मूलसंहिता एक ही थी और जैमिनि, कौथुम और राणायनीयादि का ब्राह्मण भी छान्दोग्य एक ही है । इसी मुख्य ब्राह्मण के प्रथम पच्चीस अध्यायों को प्रौढ़ ब्राह्मण, बीच के पाँच ब्राह्मणों को अद्रत या षड्विंश ब्राह्मण और शेष दश अध्यायों का नाम छान्दोग्य उपनिषद् है । इस उपनिषद् भाग में भी प्रथम दो अध्याय 'मन्त्र ब्राह्मण' कहाते हैं और आप्य, सामविधान, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषत् आदि नामों से प्रसिद्ध ब्राह्मण अनुब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध हैं, इसी महाब्राह्मण को कौथुम शाखा में तारुण्य महाब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है ।

(५) साम-संहिता

बहुतसे विद्वानों का मन्तव्य है कि सामवेद मूल केवल ७५ मन्त्रों का ही है । और शेष समस्त मन्त्र ऋग्वेद से ही संगृहीत हैं, अतः उनका ग्रहण ऋग्वेद से ही हो जाता है । यह उनका कथन तभी ठीक हो सकता है जब कि ऋग्वेद और सामवेद दोनों संहिताओं का प्रयोजन एक ही हो । परन्तु यदि प्रयोजन भिन्न हैं तो संहिता में समानता होने पर भी उनका पृथक् होना आवश्यक है ।

सामवेद के दो भाग हैं एक पूर्वार्चिक भाग और दूसरा उत्तरार्चिक । पूर्वार्चिक के साथ ही महानाग्नी आर्चिक भी संयुक्त ही समझी जाती है । पूर्वार्चिक में आमंगेय गान और आरण्यक गान दो भाग हैं । आमंगेय गान का तात्पर्य यह है, कि वे सामगान जो जनसमूह में गान किये जायें । आरण्यक गेय गान जो घन के परिव्राजक, गुमुक्षुमार्ग पर जीवन बिताने वाले तपस्वी यति सांग गान करें । इसके अतिरिक्त 'महानाग्नी' आर्चिक में शङ्खो छद्म का उपसर्ग पदों के साथ रक्ता है यह भी विशेष गायन रीति का निदर्शक है । इसके बाद उत्तरार्चिक में ऊहगान और अहगान का प्रतिपादन है जो एक मन्त्र के गान के अतिरिक्त दो, तीन, चार, पाँच, छः, ऋचाओं का एक गान है ।

वास्तवमें देखा जाय तो “गीतिषु सामाख्या” (जैमिनीय मीमांसा सूत्र) गान की रीति का नाम ही साम है। परन्तु बिना छन्दोमय ऋचाओं के गान किस आधार पर वास करे। वह ऋचाओं में ही निवास करेगा। इसी लिये वेदों के सिद्धान्तरूप उपनिषद् ग्रन्थों में यही निर्णय किया है कि “अच्यभ्यूहं साम गीयते।” ऋग्वेद में आश्रय पाये हुए साम का ही गान किया जाता है। फलतः अब यह एक स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि गानविद्या के मर्मों के आश्रयभूत मन्त्रों की संहिता सामसंहिता है। जैसा कि श्री स्वामी शबर ने मीमांसादर्शन में नवमाध्याय के २७ वें सूत्र “अर्थैकत्वादविकल्पः स्यात्” पर स्पष्ट कहा है।

“सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः। आह कतमे गीत्युपाया नाम। उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया ह्यभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणाम् भिव्याञ्जिका सामशब्दाभिलष्या। सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोम इत्येवमादयः सर्वे सामवेदे समाम्नायन्ते ॥”

अर्थ—सामवेद में हजारों गीति के उपाय हैं। गीति का अर्थ है गान क्रिया। यह अभ्यन्तर प्रयत्न से उत्पन्न होकर विशेष स्वर को उत्पन्न करती है, उसीको “साम” शब्द से कहा जाता है। यह नियत प्रमाण वाला ऋचा में गाई जाती है। उस गान क्रिया को उत्पन्न करने के लिये ऋचा के अक्षरों में विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोम आदि किये जाते हैं। इन सबका सामवेद में आचार्य लोग उपदेश करते हैं। परन्तु सामान्य संहिता पाठ में विकार, विश्लेष, विकर्षण अभ्यास, विराम और स्तोम आदि के बिना ही ऋचाएँ रहती हैं परन्तु प्रयोगकाल में उहोता उन ऋचाओं के वर्णों में विकार आदि करके गाता है।

(६) सामगान

यद्यपि इस सामवेदभाष्य में गायन के विषय का विवरण नहीं किया और न गान श्रोत्र्य सामरूप को प्रकट किया है तो भी सामत्रिपयक गायन

का साधारण परिचय पाठकों को करा देना आवश्यक है । सो नारदीय शिक्षा के अनुसार संक्षेप से देते हैं ।

(१) उरस्, कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों से शब्द बठता है)
तीनों स्थानों को क्रम से प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन के समान जानना चाहिये । इन तीनों स्थानों पर सातों स्वर विचरते हैं । उरःस्थल में विचरते हुए सातों स्वर कानों में सुनाई नहीं देते ।

((२) सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएं और ४६ तान होते हैं । ये सब 'स्वरमण्डल' कहाता है । पद्म ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम धैवत, निषाद, ये सात स्वर हैं । पद्म, मध्यम, गान्धार, ये तीन ग्राम हैं । पद्मग्राम में १४, मध्यमग्राम में २० और गान्धार ग्राम में १५ तान होते हैं । ऋषि, पितर और देवभेद से प्रत्येक की सात मूर्छनाएं हैं, जैसे—नन्दी, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा, और बला ये ७ देवमूर्छनाएं हैं । आप्यायिनी, विश्वभृता, चन्द्रा, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री बार्हती, हव्यका, उत्तरायता और रजनी ये ऋषियों की ७ मूर्छना हैं । देव, पितृ, और ऋषि इनकी मूर्छनाओं के गन्धर्व, यज्ञ और मनुष्य क्रम से अनुयायी हैं । लौकिक मूर्छनाएं ऋषियों की हैं । (पद्म से देव, ऋषभ से ऋषि, गान्धार से पितर, मध्यम से गन्धर्व, पञ्चम से सबजन निषाद से यज्ञ और धैवत से अन्य प्राणी प्रसन्न होते हैं ।

(३) गान के दस गुण हैं—रक्त, पूर्ण, अजंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर ।

(४) स्वरभेद पांच प्रकार का है । उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचिंत और निघात) आर्चिक में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन ही हैं । स्वरित से परे उदात्त ही प्रचिंत कहाता है । स्वरित दो प्रकार का होता है एक वर्य स्वार और दूसरा अतीत स्वार । उच्च और नीच दोनों के बीच को ही स्वार कहा जाता है । उदात्त में निषाद और गान्धार, अनु-

दात्त में ऋषभ और धैवत और स्वरित में षड्ज, मध्यम और पञ्चम रहते हैं । विशेष ज्ञान नारदाय शिष्या एवं अन्य गानग्रन्थों से जानन चाहिये सामवेदियों में सामवेद संहिता की ऋचाओं के नाना गान स्वरूपों की कल्पना गानशास्त्र के अनुसार की है । वे गान संहिताएं मन्त्रसंहिता से भिन्न होती हैं । उसका कुछ नमूना दर्शाते हैं ।

सम्भ्र—अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । निहोता सत्सि बहिषि ॥

गेयगान—ओग्नाइ । आया ही रे वोइ चोईतोया रेइ ।
तोया रेइ । गृणानो ह । व्यदातोया रेइ । तोया रेइ : ना रे हो
ता सा रे रे । त्सा रेइ । वा रे रे ४ औ हो वा हो रेइ ४ पी । १।

यह गौतम ऋषि का पक साम कहाता है । इसी प्रकार इसी ऋषि का दूसरा पक इस प्रकार है ।

अग्न आया हि । वो ५ इ तथा इ गृणा नो हव्य दा रे ता
रे ये । नि होता रे रे ४ सा । त्सा रे रे ४ इ वा । हो रे रे रे ४
इ षो रे हा इ ॥ ३ ॥

इन दोनों पकों के भीतर कारयप ऋषि का 'बहिष्य' है जैसे—

अग्न आया हो वो । तथाइ । गृणानो हव्य दाना । रे रे या
इ नि होता सत्सि बर्हा रे रे । इषि । बर्हा रे इ पा रे रे ४ औ
हो वा । बर्ही रे पी रे रे ४ ५ ।

। इसी प्रकार स्तोम, ऊह गान और ऊहगानों के भी विशेष रूप नि-
र्धारित हैं । उन ही का विशेष परिज्ञान करना सामवेद का परिज्ञान
करना है ।

१. (७) सामवेदभाष्य

अभी तक जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हैं वे 'सामवेद' संहिता पर
संस्कृत भाष्य ही हैं । जिनमें बहुत से तो लुप्त हो ही गये हैं । निघण्टु के
टीकाकार देवराज यज्वा ने स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास,
माधवदेव, उवटभट्ट, भास्कर मिश्र, भरतस्वामी इन आठ प्रार्धान भाष्य
कारों के नाम दर्शाये हैं । इन सब में से केवल माधवीय विरच के कुछ
अंश उपलब्ध हैं । इसके अतिरिक्त सायण भाष्य प्राप्त है । श्री० पं०
तु लसीरामजी ने भी सामवेद का एक भाष्य प्रसिद्ध किया है । इन सब
भाष्यों के होते हुए भी वेद के मन्त्रों का अन्वयानुसारी ऐसा भाषा-भाष्य
उपलब्ध नहीं था जिसको सुगम, सुन्दर और हृदयगम भाषा में शब्दार्थों
के पृथक् २ ज्ञान करने के साथ २ पढ़ लेते । इसलिये इस भाष्य को
प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई ।

इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्ट शब्दों में कहना उचित समझते हैं
कि अभी तक जितने भाष्य हुए हैं उनमें से एक भी ऐसा भाष्य नहीं जो
सामवेद के वास्तविक उद्देश्यमूलक उपासना काण्ड के लक्ष्य को दर्शा-
सके । श्री सायणाचार्य ने तो यज्ञपरक अर्थ कर के ही अपने कार्य को
पूर्ण किया है । प्रायः जो भाष्य सायण का ऋग्वेद के मन्त्रों पर है उसको
ज्यों का त्यों ही उद्धरकर रख दिया है । उसमें विशेष फेर फार नहीं है । परन्तु
ज्योंकि सामवेद का विषय उपासनाकाण्ड है इसलिये सामवेद के मन्त्रों
का यज्ञपरक अर्थ करना संगत प्रतीत नहीं होता । इसके अनन्तर भरत
निवास श्री श्रीगो गुरुजीगमजी का भाष्य है । उनके संगत भाष्य
में कुछ एक स्थलों का पढ़कर प्रायः सायण भाष्य का ही अनुसरण

किया है । हमने उक्त दोनों भाष्यों में से किसी का भी अनुसरण नहीं किया । ऐसा करने के बहुत से कारण हैं ।

(१) सायण ने अपने भाष्य में ऐतिहासिक पक्ष को बहुत पुष्टि दी है जो वेदों को साक्षान् ईश्वर वचन मानने में भारी विघातक है । इससे वेदों का महत्व भी बहुत घट जाता है ।

(२) यज्ञपरक अर्थ करने में यद्यपि, सायण सफल हुआ है तो भी एक दोष उसके भाष्य में यह है कि जो विशेषण जिस पदार्थ के योग्य होना चाहिये वह उस पर नहीं लगता और जो विशेषण जिस पदार्थ में नहीं बटने के उस पर लगाये जा रहे हैं । इससे वेदमन्त्रों में असत्यार्थ प्रतिपादन करने का भारी कलक आता है । केवल यज्ञ में आये अग्नि, साम आदि पदार्थों के वर्णन में सामवेद का अधिक भाग लगा हुआ देखकर सायण भाष्य के अनुसार विचार करने से यह प्रतीत होगा कि वेदमन्त्र में अनावश्यक गीत गाँ गा कर मन्त्र पूरे किये गये हैं और उनका गुढ़ तात्पर्य कुछ नहीं है । यही प्रभाव योरोप के विद्वानों पर भी पड़ा है । इसी कारण योरोप के अनुवादक भी सायण के पीछे २ पग चलते हुए उन्हीं प्रकार असंगत अर्थ करते गये हैं जिस प्रकार सायण ने किये हैं । इससे भी बढ़कर योरोप के अनुवादकों ने कहीं २ स्वतन्त्र भी अर्थ किये हैं परन्तु ऐतिहासिक पक्ष को छोड़ कहीं भी उन्होंने वेद के यौगिक अर्थों पर विचार नहीं किया । हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि वेदार्थ के करने में विद्या के परम भण्डार, ईश्वरीय ज्ञान के आढरणीय ग्रन्थों का जिस शम्मीरता से वेदभाष्य प्रकट होना चाहिये था वना अभी तक किसी ने भी करने का प्रयास नहीं किया । हम अपने मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ एक नमूने अन्य भाष्यों के उद्धृत करते हैं जिससे पाठक हमारे कथन का अभिप्राय समझ सकेंगे । जैसे—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।

न होना सत्सि वर्हिषि ॥

यह सामवेद का प्रथम मन्त्र है । हमें सायण ने 'अग्नि' शब्द से साधारण भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है और इसी प्रकार समस्त आग्नेय काण्ड में अग्नि शब्द से यज्ञ के कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि के सिवाय दूसरा पदार्थ नहीं लिया है । क्योंकि सायण लिखते हैं—

“हे अग्ने ! अङ्गनादिगुणविशिष्ट त्व आयाहि अस्मद् यज्ञं प्रत्यागच्छ । किमर्थं, वीतये हविषां चरुपुगोडाशादीनां भक्षणाय ।

अर्थात् हे चमक आदि गुणों से युक्त अग्ने ! तू आ अर्थात् हमारे यज्ञ में आ । क्यों ? 'वीतये' चरु पुरोडाश आदि हवियों के खाने के लिये । चरु आदि खाने वाला अग्नि सिवाय भौतिक अग्नि के दूसरा पदार्थ नहीं है । इससे आगे तीसरा मन्त्र है—

अग्निं दूतं धृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

इस मन्त्र में अग्नि का विशेषण है 'विश्ववेदसं' । जिसका सायण स्वयं अर्थ करते हैं—

‘विश्वानि वेत्ति इति विश्ववेदा, यद्धा वेद इति धननाम, विश्व सर्व वेदो धन यम्य तम्’ ।

अर्थात् समस्त पदार्थों को जानने द्वारा या समस्त साधनों का स्वामी 'विश्ववेदा' कहावेगा । परन्तु सायण के अनुसार यह विशेषण 'अग्नि' का है । भौतिक अग्नि जड़ होने से न तो समस्त ज्ञानवान् है और न समस्त धनों का स्वामी हो सकता है । इसी प्रकार उक्त मन्त्र में 'सुक्रतु' शब्द पदा है । जिसका अर्थ सायण ने “निष्पादकत्वेन शोभनकर्माणम् अथवा क्रतुरिति प्रज्ञा नाम शोभनप्रज्ञ चा” किया है अर्थात् यह अग्नि यज्ञनिष्पादक होने से 'सुक्रतु' है, या क्रतु प्रज्ञा, अर्थात्

शोभनप्रज्ञ वह अग्नि है यह विशेषण भी भौतिक अग्नि में व्यर्थ है क्योंकि जब अग्नि न यज्ञ का कर्ता है और न प्रज्ञावान् ही है । फलतः ये विशेषण किसी चेतनावान् पदार्थ के होने उचित हैं । यह दोष न केवल आग्नेय काण्ड के अग्नि देवता के मन्त्रों में है, प्रत्युत इन्द्र, सोम, उषा आदि देवता के मन्त्रों में भी सायण कृत अर्थों में यही दोष विद्यमान है । क्योंकि सायण ने इन्द्र को एक विशेष रूपवान् हाथों पैरों बाजा, घोड़ों से युक्त रथपर चढा हुआ माना है इसलिये उसमें भी "ईशानमस्य जगतः" "ईशानमस्य तस्थुष" (पू० अ० ३ । १) चराचर जगत् का स्वामी आदि विशेषण नहीं घटेंगे, उसी प्रकार पावमान काण्ड में सोम का वर्णन किया है । सायण ने सर्वत्र सोम, इन्द्र, पवमान आदि शब्दों से सोमत्वता और उसके रसों का ही ग्रहण किया है । उस त्वता या सोमरस में—"जनितः अग्नेर्जनितः सूर्यस्य जनितः इन्द्रस्य जनितोऽन विष्णो" (पू० अ० ५ । ६ । ५) इत्यादि सूर्य, इन्द्र और विष्णु का उत्पादक विशेषण नहीं घटेंगे । उसी प्रकार सोम को "यो रायामानेता य इषानाम् ।" (पू० अ० ५ । ११ । ५) धनों और अन्नों का ज्ञाने वाला बतलाया गया है, यह विशेषण भी सोमरस में नहीं घटेंगे ।

परन्तु ये सभी मन्त्र परमेश्वरपरक हैं । उनके विशेषण परमेश्वर ही में मुख्यवृत्ति से घट सकते हैं इसलिये उन मन्त्रों का मुख्यार्थ परमेश्वर को और गौण अर्थ अन्य पदार्थों को दर्शावेगा । हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर इस विशेषता को दर्शाया है और स्थान २ में वेदमन्त्रों के अर्थ को उपनिषदों और दर्शनों के उद्धरणों से पुष्ट किया है, पाठक यथा-स्थान देख लेंगे । यहां अधिक ग्रन्थ का विस्तार नहीं दिखाकर अब हम सामवेद का भाष्य प्रारम्भ करने के पूर्व वेद के सिद्धान्तों पर पाठकों का ध्यान आकर्षण करना चाहते हैं ।

(=) सिद्धान्त दिशा विचार

यदि हम पहले दृष्टां चुके हैं कि सामवेद का मुख्य विषय उपासना काण्ड है । वेदों में सिवाय ईश्वर के और किसी दैवता की उपासना प्रतिपादित नहीं की है । यह सिद्धान्त कोई नवीन नहीं है । योरोप के विद्वान् एवं सायण के मतानुयायी भले ही वेद के मन्त्रों में पर्वतों, नदियों और वृक्षों या आग, जल, वायु आदि जड़ पदार्थों की स्तुति मानते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उनकी वेद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता को प्रतीकित करता है । उन ही के पीछे चलने वाले नयी रोशनी के पक्षे भारतीय विद्वान् भी बहुत से उम्ह्र अमजाल में पड़ गये हैं । इसका मुख्य कारण यही है कि वे लोग वेद को वेद के सिद्धान्त भाग से अलग कर लेते हैं । उनकी यही धारणा है कि वेद और उपनिषद् दो भिन्न पदार्थ हैं । उनका ऐसा समझना ही उनको भ्रम में डाल देता है । योरोप के विद्वानों की दृष्टि में उपनिषद् बाद में बनी अर्थात् ईश्वर, जीव आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति बाद में हुई । इसी धारणा से वे उपनिषदों को वेदों से अलग कर देते हैं । वास्तव में उपनिषदों का ज्ञान वेदों से किसी अवस्था में अलग नहीं किया जा सकता । उपनिषद् वेदों के सिद्धान्त प्रदर्शक ग्रन्थ हैं । यदि शरीर में से आत्मा को पृथक् कर दिया जाय तो शरीर केवल हाड, मांस, घाम का मुर्दा मात्र दिखायी देता है और शरीर के अंगों की शक्तियों का चमत्कार नहीं जाना जा सकता । आस्र नाक कान, त्वचा, वाणी ये साधन और अन्न करण मन ये ससार में जितना चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं वे सब हम जड़ शरीर से नहीं हो सकते परन्तु आत्मा के होने पर ही ये सब चमत्कार दिखाई दे रहे हैं । उसी प्रकार जब आत्मस्वरूप उपनिषद्, त्रयविधा को वेदों के शरीर से अलग कर लिया जाता है उस समय वेद के मन्त्र अग्नि जल, नदियों और पर्वतों की स्तुतियों से भरे हुए प्रतीत होते हैं । परन्तु जब उनके आधार

मे घ्रायिषा रूप दीपशिखा उपनिषद् को रत्न दिया जाता है तो वेद ज्ञान का अपूर्व नयनार नित्यार्द्र देता है । यह मन्तव्य बहुत प्राचीन काल में उपनिषत्कारों ने स्वयं स्वीकार किया है । जैसे काठक में—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यादिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तप्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्याम्योम्
इत्येतत् ॥ २ । १५)

"समस्त वेद जिम परम पद का पुनः २ प्रतिपादन करते, समस्त तप जिम को दर्शाते हैं, जिमको प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उक्त पद को संक्षेप से कहता हूँ 'ओम्' यह है ।" अर्थात् सब वेद ईश्वर का प्रतिपादन पुनः २ करते हैं । इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चविध आत्मा का अन्न प्रत्यक्षमय स्वरूप दर्शाते हुए पाच कोशों को दर्शाया है, वह बहुत ध्यान देने योग्य है । वही अन्नरममय पुरुष के पाच अंग दर्शाये गये हैं:—

अन्नरममय—(१) शिर, (२) दक्षिण पक्ष, (३) उत्तर पक्ष, (४) आत्मा (धृक्), (५) आश्रय पुच्छ ।

प्राणमय—(१) प्राण, (२) व्यान, (३) अपान, (४) आकाश, (५) पृथिवी ।

मनोमय—(१) यजुः, (२) ऋग्, (३) साम, (४) आदेश, (५) अथर्व ।

विज्ञानमय—(१) अद्वा, (२) अत, (३) सत्य, (४) योग, (५) महः ।

आनन्दमय—(१) प्रिय, (२) मोद, (३) प्रमोद, (४) आनन्द, (५) ब्रह्म ।

ये पाँचों कोश उत्तरोत्तर एक दूसरे के भीतर प्रविष्ट हैं, इनमें (१) शिर स्थानीय शिर, प्राण, यजुः, श्रद्धा और प्रिय ये क्रमशः एक ही के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप हैं। इसी प्रकार दक्षिण पक्ष ध्यान, अक्, ज्ञत, मोद उत्तर पक्ष, अपान, साम, सत्य, प्रमोद और आत्मा (धृष्ट) भाकाश, आदेश, योग, आनन्द और आश्रय (पुच्छ), पृथिवी, अधर्ष, महः, ब्रह्म इनको भी समझना चाहिये। यदि इन सबका कोई एक आश्रय उपनिषद्कार ने बतलाया है तो ब्रह्म को ही बतलाया है। इसी प्रकार स्थान २ पर वेदग्रन्थी का सार अ, उ, म् को बतलाया है। फलतः यह कहना कि ब्रह्म विद्या को वेदों से पृथक् किया जा सकता है केवल साहसमात्र है।

यदि उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेदों से अलग भी करना चाहें तो भी वे अलग हो नहीं सकतीं, क्योंकि उपनिषदों की स्वतः सत्ता ही कुछ नहीं रह जाती यदि उनका मूल काट दिया जाय। ईश उपनिषद् साधारण यजुर्वेद का १० वा अध्याय है। इस अध्याय का विस्तृत विवरण तृहदा रण्यक उपनिषद् यजुर्वेद के आख्यान रातपथ का एक भंश है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रकाश है। और ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेयारण्यक का एक भंश है। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण के आरण्यक भाग का प्रकाश है। जत्र ममी बड़ी २ उपनिषदें वेद शीर घेद के व्याख्यानो के सग ही हैं तब उनको वेद से अलग करना पण्डितों के ज्ञान भण्डार के साथ भारी अन्याय है। जिस प्रकार दीपक को निदान्न खेने में घर मूना प्रनीत होता है उसी प्रकार उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेद में पर कर लेने पर वेदमनुगम भी अनधिकारमय हो जाता है। यही कारण है कि कमलाचर को ज्ञानकाण्ड में राजग कर लेने पर निरय अवेग के तृद गैर नहीं रहता। मर्यादाजन विद्वानों ने मन्त्र कमलाचर में वेद के मन्त्रों का विनिर्योग पाकर वेदों का अर्थ कमलाचर तक कर दिया। परन्तु उन्होंने यह नहीं विचार कि

उनके ऐसा करने से वेदमन्त्र अन्धकारमय हो जायगा और वास्तव में वैसा ही हुआ भी । कर्मकाण्ड को मुख्य रखकर वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करने से दो प्रवृत्तियाँ जागीं । एक तो कल्पित मनगढ़न्त कर्मकाण्ड गढ़ २ कर उसमें वेदमन्त्रों का मनमाना विनियोग होने लगा जिससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि पवित्र यज्ञों का क्रियाकाण्ड भी अष्ट हो गया, दूसरा वास्तविक वेदों का परमार्थ और विज्ञानमय अर्थ लुप्त हो गया । और उसमें ऐतिहासिक अर्थ और लौकिक अभिधार्थ ही लिया जाने लगा । भाष्यकारों ने अपना मतलब साधने के लिये प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों से काम तो लिया परन्तु वेदार्थ करने की शैली को नहीं अपनाया ।

वेदों की सबसे उच्च कोटि की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है । उनमें जहाँ साथ २ यज्ञ की शैली और लोक-व्यवहार को दर्शाया है वहाँ यज्ञ की क्रिया का अध्यात्म अर्थ भी किया है । जब समस्त वैदिक कर्मकाण्ड का अर्थ अध्यात्मपरक है तो कोई कारण नहीं की उसमें विनियुक्त मन्त्रों का अर्थ अध्यात्मपरक न हो । भाष्यकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इस रहस्य को नहीं समझा । इसी से वे वेदों का जब अध्यात्मपरक अर्थ नहीं लगा सके तब वेद को नित्य ईश्वरज्ञान मानकर भी उनका ऐतिहासिक अर्थ करने एवं भौतिक पक्ष में अर्थ कर उनके गूढ़ ब्रह्मपरक विशेषणों को भी न सुझा सके । अब हम पाठकों के समक्ष ब्राह्मणकार या उपनिषद्कार ऋषियों के मतार्थ करने की रीति पर कुछ प्रकाश डालते हैं ।

गर्भे नु सन्वन्वयामेवदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयसीररक्षन् अध श्यनो जगसा । नरदीयम् ॥

(ऋग्वेद म० ४ । सू २७ । म० १)

इसका प्रतीयमान साधारण अर्थ है—“मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये, मुझे सौ लोहे के कोट घेरे हुए थे और मैं श्येन

था बाज पक्षी होकर बड़े वेग से निकल आया ।” यह एक पहेली सी है । इस ऋग्वेद के मन्त्र का व्याख्यान ऐतरेयोपनिषद् (अ० २) में इस प्रकार है—

“पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः । तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज सम्भूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति । तद् यदास्त्रि तां सिञ्चत्यथैनज् जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥ तत् स्त्रिया आत्मभूय गच्छति यथा स्वमङ्गं । तथा तस्मादेनां न हिनस्ति । साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं । भावयति ॥ २ ॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं विभर्ति । सोऽग्रे कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स यत्कुमारं जन्मनाऽग्रेऽधिभावयति आत्मानमेव तद् भावयति एषां लोकानां सन्तत्या । एवं सन्तता हि इमे लोकाः । तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथ अस्य अयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयत्नव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म । तदुक्तमृषिणा ।

गर्भे तु सन्त्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयसीररक्षन् अधः श्येनोजवसा निरदीयमिति ।

गर्भ एवैतच्छ्रयानो वामदेव एवमुवाच । स एवं विद्वान् अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रान्त्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृतं समभवत् समभवत् ।

अर्थ—पुरुष में ही प्रथम यह गर्भ होता है । वह पुरुष में धीरे रूप से रहता है वह धीरे सब अर्हों से शुक्र रूप में उत्पन्न होता है । उसको

पुरुष अपने ही शरीर में आत्मा रूप से धारण करता है । जब वह मैथुन द्वारा स्त्री के गर्भ में आधान करता है तब उसको उत्पन्न करता है । यह उस आत्मा का प्रथम जन्म है । तब वह गर्भ स्त्री के एक अंग के समान हो जाता है इसलिये वह उसको कोई पीड़ा नहीं देता । स्त्री भी अपने पति के ही आत्मा को अपने भीतर प्रविष्ट हुआ समझ कर उसका पालन करती है । उसका पालन करती हुई स्त्री अपने पति के पालन योग्य होती है । स्त्री उस आत्मा को अपने गर्भ में पालन पापण करती है । उत्पन्न हो जाने पर उसका पिता उसको जातकर्म आदि द्वारा अपनाता है । पिता जो उस कुमार को पालता है एक प्रकार से अपने को ही उस रूप में विचार करता है वह भी इसलिये कि ये लोक सन्तति द्वारा ही फैलते हैं, इसलिये यह लोक सन्तति बनी ही रहे । इस प्रकार पुत्र का यह जन्म आत्मा का द्वितीय जन्म है । यही आत्मा बड़ा हो जाने पर पुनः शास्त्रोक्त विधि द्वारा पिता का प्रतिनिधि होकर उसके स्थान पर हो जाता है । और इधर यह पिता का आत्मा जीवन को सफल करके बूढ़ा हो, चल बसता है । यहा से जाकर पुनः वह पैदा हो जाता है । यह उसका तीसरा जन्म है । इसी प्रकार वेदमन्त्र ने भी कहा है कि—(गर्भे नु सन्विति०)— अर्थात् 'मैंने गर्भ में ही इन देवों के सद्य रूप जान लिये मुझे लोहे के मौ कोट घेरे हुए थे श्वेत पक्षी के समान मैं आत्मा बड़े वेग से निकल आया' इति । गर्भ में ही सोते हुए वामदेव ने इस प्रकार कहा । वह वामदेव इस शरीर के बन्धन को तोड़कर परलोक में सर्वाप्तकाम होकर अमृत, मुक्त हो गया ।

उपनिषत्कार ने यह एक वेदमन्त्र की संगति लगा कर दर्शाई है और आत्मा के अमर होने का और मुक्त होने का सिद्धान्त दर्शाया है । हमी प्रकार अन्य २ मन्त्रों की भी व्याख्या माह्व्यों और आरयधकों में प्राप्त होती है । इस व्याख्या में दो ध्यान देने योग्य विचार बिन्दु हैं जैसे

(२२)

(१) सौ लोहे की कोटें (शतं आयसी पुरः) और (२) बाज के समान वेग से बाहर निकलना । इन दोनों घटनाओं का वर्णन प्रायः अग्नि और इन्द्र और सोम तीनों दक्षताओं के विषय में रूपान्तर में आयेगा १०० पुरी ६६ पुरी या ६० पुरी का वर्णन जैसे—

इन्द्र के विषय में—

अया वीती परिस्त्रय यस्मि इन्द्रो मदेष्वा । अत्राहभवतीर्नव॥

(साम० उ० अ० ६ । ४ । १ । १)

इन्द्र ने सोम के मद में ६६ पुरियों का विनाश किया है ।

इन्द्र और अग्नि दोनों के विषय में जैसे—

इन्द्राग्नी नर्वित पुरो दासपन्निरधूनुनम् । साकमेकेन कर्मणा॥

(साम० उ० अ० १६ । १ । १ । २)

दोनों को शत्रु के ६० पुरी का विनाशक बतलाया है ।

केवल अग्नि के विषय में जैसे—

“प्रभूर्जयन्त महाविपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ॥”

(साम० पूर्व० अ० १ । ८ । २)

उक्त सभी उदाहरणों में पुरों का या परकोटों का विनाश सर्वत्र समान है और संख्या भी ६६, १००, ६० समान ही है अतः इन सबकी समिति एक ही अर्थ में होना आवश्यक है । इस प्रकार उपनिषद् ने एक मंत्र की समिति दर्शाकर घेड़ के पंख सभी स्थलों की व्याख्या कर दी है । प्रायः उपनिषद्गारों, आरण्यककारों और ब्राह्मणकारों की पूर्वापि व्याख्यान शैली देव्यन में आती है जिसमें उद्गम्यों की अत्यावश्यकता स्पष्ट हो जाती है । परन्तु भाष्यकारों ने इन व्याख्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया ।

अब हम सामवेद गत देवताओं पर विचार करते हैं :

सामवेद के देवता (६)

सामवेद गत देवताओं पर विचार करने के पूर्व देवता शब्दपर सामान्य रूप से विचार कर लेना उचित है । इस विषय पर वेद विषय में प्रमाण ग्रन्थ सबमे अधिक यास्क का निरुक्त है । यास्क लिखते हैं—

“यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयु-
ङ्क्ते तद्देवनः स मन्त्रो भवति” ।

जिस वस्तु की अभिलाषा करके मन्त्रदष्टा अपि जिस देवता में अपने अभिप्राय का स्वामित्व निश्चित जानकर स्तुति करता है उस मन्त्र का वही देवता कहा जाता है ।

(वेदों की ऋचाएँ तीन प्रकार की हैं (१) पराचकृत (२) प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक । पराचकृत मंत्रों में देवता को प्रथम पुरुष बनाकर क्रिया में भी प्रथम पुरुष का व्यवहार किया है । प्रत्यक्षकृत मंत्रों में 'तू' इस प्रकार देवता को कह कर क्रिया में मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है और आध्यात्मिक में 'अहं' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है ।)

निरुक्तकार यास्क लिखते हैं—

माहाभाग्याद्देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तुयते । एकस्य आत्मानोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपिच सत्त्वानां प्रकृति-
भूमिभिः ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः । प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्चतरेतर-
जन्मानो भवन्ति, अतरेतरप्रकृतयः कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः ।
आत्मैव एषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मा आयुधम्, आत्मा
इषवः आत्मा सर्वं देवस्य० ।” इत्यादि ॥

अर्थ—देवता का बड़ा ऐश्वर्य होने से एक आत्मा का बहुत प्रकार से वर्णन किया गया है । एक आत्मा के ही अन्य देवता अज्ञ प्रपञ्च हो जाते हैं । और नाना प्रकार के सामर्थ्य देखकर भी अनेक नामों से ऋषियों ने स्तुतिया की है । और वह आत्मा सब पदार्थों में समान रूप से मूलकारण होने से सभी नाम उस महान् आत्मा के ही होने सम्भव हैं, इस कारण से भी उस ही आत्मा की नाना नामों से स्तुति की जाती है । उस महान् आत्मा का ऐसा ही विशेष ऐश्वर्य होने के कारण वेद के देवता इतरेतरेजन्मा हैं अर्थात् एक दूसरे के मूलकारण और कार्य हो जाते हैं । बहुत से कर्मभेद से देवताओं की कल्पना है । परन्तु वह सब महान् आत्मा से ही उत्पन्न है । वही उनका रथ है, वही अश्व है, वही आयुध है, वही ह्नु है, वह सब कुछ ठेव परम आत्मा स्वयं है । बहुत से स्थलों पर पुरुष के समान अज्ञों वाला देवता मान कर उनकी स्तुति की है और पुरुष के समान ही उसके कर्म भी दशोये हैं जैसे—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि” हे इन्द्र दो घोड़ों से आप आओ । और जैसे “अग्नि इन्द्र पिब च” हे इन्द्रग्वा और पी इसी प्रकार अचेतन पदार्थों से भी देवता की स्तुति की है । जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य सोम, प्राचा आदि नामों से भी बहुतसी स्तुतिया है । परन्तु सब स्थानों पर पुरुषों के समान ही कर्म करने वाले देवता का निरूपण किया है ।

देवता का क्या स्वरूप है इसकी व्यवस्था के लिये निरुद्धकार यास्क का मत है कि तीन ही देवता हैं पृथिवी पर अग्नि अम्तरिक्ष में वायु या इन्द्र और द्यौ में सूर्य । या देवताओं के महाऐश्वर्य होने से और नाना कर्म होने से एक के ही बहुत से नाम हैं । जहा कर्म पृथक् २ होने से देवता पृथक् पृथक् हैं वहा जिस प्रकार बहुत से कर्म करने वाले एक ही काम को आपस में यादकर कार्य करते हैं उसी प्रकार वे भी रहते हैं, वे एक

हमारे के उपकारक भी हो जाते हैं । यहां इनकी व्यवस्था नरराष्ट्र के समान ही समझनी चाहिये ।

और भी स्पष्टता के लिये निरुक्तकार ने इन देवताओं को तीन विभागों में बांट दिया है । इषि का वहन करना देवताओं का आवाहन करना या दृष्टिविषयक सब काम अग्निविषयक समझा जाय । पृथिवी स्थानी देव गण अरुण, शक्रुनि आदि निघण्टु (प्र० ५ ख० ३) में पढ़ दिये हैं अग्नि के संस्तविक देव इन्द्र, सोम, वरुण, पृथिव्य, ऋतु है । अर्थात् इन नामों में भी अग्नि की स्तुति की गई है ।

इसी प्रकार मध्यस्थानी देवता निघण्टु (प्र० ५, ख० ४, ५) में पढ़ दिये गये हैं । उनमें मुख्य इन्द्र या वायु है । मय वल कर्म इन्द्र नाम से कहे जाते हैं, इसका कार्य रस का अनुग्रहण करना और धृति का बंध करना है । अग्नि सोम, वरुण, पूषा, ब्रह्मस्पति, ब्राह्मणस्पति, पर्जन्य, कुत्स, विष्णु, वायु आदि इसके संस्तविक देव हैं । तृतीय स्थान के देवता निघण्टु (५, ख० ६) में पढ़े गये हैं । रश्मियों से रस का लेना और धारण करना आदित्य का कार्य है । इसके संस्तविक देव चन्द्रमा, वायु और संवत्सर है ।

निरुक्तकार यास्क का यह देवता विभाग केवल भौतिक विज्ञान के धर्मान में ही लागू होता प्रतीत होता है । समाज क्षेत्र में वेदज्ञान को प्रवृत्त कराने के लिये यास्क की व्याख्या केवल यही है कि "नदेवज्ञानर राष्ट्रमिव" नरराष्ट्र के समान ही वेद में देवराष्ट्र की व्यवस्था समझनी चाहिये । इस प्रकार उन्हीं देवताओं से आधारस्थान राज्यप्रबन्ध, और समाज की वर्णव्यवस्था का भी वर्णन निकल आया । और अध्यात्म धर्मान के लिये यास्क का सिद्धांत यही है कि 'महाभाग्याद्देवतानां एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एक ही महान् आत्मा की उसके महाश्रु ऐश्वर्य के कारण नानारूप से स्तुति की गई है ।

इसीलिये दैवनकाण्ड या ज्ञान या कर्मकाण्ड की व्याख्या कर चुकने पर स्वयं निरुक्ताकार ने ऊर्ध्वगार्ग गति या उपामना मार्ग पर दृष्टि डालकर लिखा है । अथैतदनु प्रचदन्ति अथैतं महान्तमा मानमेपगर्गण प्रच दन्ति । इन्द्रगिमज्ञ चरुणमाग्नमाहुरिति । यह सब ऋचाओं का समूह उस महान् आत्मा का ही वर्णन करता है । इस प्रकरण में यास्क ने सोम, इन्द्र, आदित्य विष्णु आदि देवताक ऋचाओं का उल्लेख करके आध्यात्म विषय को उत्तम रीति से दर्शाया है । इसमें यही ध्यान देने योग्य बात है कि महान् आत्मा के निम्नलिखित पर्याय यास्क ने दर्शाये हैं—

हंस । धर्म । यज्ञ । वेन । मेघ । कृमि । भूमि । विभु । प्रभु । शंभु । राभु । भुवनम् । भविष्यत् । आप । महत् । व्योम । यश । मह । स्वर्णीकम् । स्मृतीकम् । सतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गर्भारम् । गह्वरम् । कम् । अन्नम् । हवि । सप्त । सदृशम् । अतम् । योनि । अमृतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । हवि । रयि । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अद्वितम् । बर्हि । नाम । सर्पि । अप । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दु । हेम । स्व । सर्ग । शम्बरम् । अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हि । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आप । पृथिवी । भू । स्वयम्भू । अध्व । पुष्करम् । सगर । समुद्र । तप । तेजः । सिन्धु । अर्णव । नभि । वृद्ध । ऊर्ध्व । तत् । यत् । किम् । ब्रह्म । वरेण्यम् । हस । आत्मा । भवति । वधन्वध्वानम् । यद् बाहिष्या शरीराणि । अन्यथ च संस्क्रुते । यज्ञ आत्मा भवति । यदेन तन्वते ।

इन हंस आदि उक्त शब्दों से आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को वेदमन्त्रों में दर्शाया गया है । इसलिये आध्यात्म तत्त्व के खोजक को चाहिये कि वेद मन्त्र पर विचार करने के पूर्व ही प्रथम इन शब्दों की उपास्थिति को

(२७)

देखते और फिर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करे तो नि सन्देह मन्त्रों का आध्यात्मिक रहस्य जुल जाता है । अब हम सामवेद गत देवताओं की सक्षेप से एक २ की आलोचना करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार उपासनाकाण्ड में इन देवताओं की सगति लगती है ।

अग्नि (१०)

प्रथम आग्नेय काण्ड है । इस काण्ड भर में अग्नि देवता को लक्ष्य करके ही सब मन्त्र हैं । वह अग्नि क्या पदार्थ है । इसका विवेचन वेद के सिद्धान्त या आध्यात्मिक उपनिषदों में देखिये ।

(१) कठोपनिषद् में नचिकेता ने गुरु यम से प्रश्न किया है—

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येऽपि मृत्यो प्र दूहि तं अद्भधानाय मह्यम् ।

आप उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को जानते हो, मुझ अद्भुत को उसका उपदेश करो । इसका उत्तर में यम ने कहा है ।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेत, प्रजानन् ।

अनन्तलोकास्तिमथा प्रणिष्ठां विद्धि त्वमेतानिहित शुदायाम् ।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै०... । इत्यादि ।

काठ० १ । १ । १३ १४ ।

मैं तुमको उसी स्वर्ग देने वाले अग्नि का उपदेश करता हूँ । वह अनन्त लोकों को प्राप्त कराता और अनन्त लोकों का आश्रयस्थान है । वह सब लोकों का आदि मूल कारण है ।

इस अग्नि का नाम भी 'नचिकेत' अग्नि ही है ।

पाठक समझ सकते हैं यह कौनसी अग्नि है । यह नचिकेत अग्नि 'नासिकेत' प्राणस्वरूप अग्नि है ।

(२८)

आत्मा का प्रतिपादन करते हुए पुनः लिखा है:—

अरण्योर्निहिता जातवेदा गर्भ इव सुमृतो गर्भणीभिः (क०२।१।८)
दिवे दिव इड्यां जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ।

गर्भणी जिस प्रकार गर्भ को धारण करती हैं उनके समान अरणियों में जो जातवेदा विद्यमान हैं, जागने हारे हविष्मान् पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य जो अग्नि है, वह यह अग्नि आत्मा है । अर्थात् आत्मा का प्रतिनिधि ही यज्ञाग्नि है दूसरा पदार्थ नहीं । फलतः, यज्ञोक्त मंत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य वह आत्मा ही है । मंत्रों का तो केवल प्रतिनिधिवाद से यज्ञों में विनिर्वाण किया जाता है । (हम उक्त मंत्र की स्पष्ट व्याख्या देखिये अवि० सं० ७६) यह वही अग्नि है, हृदय में छुपे हुए जिसका योगी लोग ध्यान निर्मथन के अभ्यास से साक्षात् देख लेते हैं ।

(२) इस रहस्य को श्वेताश्वतर उपनिषद् में बड़े उत्तम रूप में रखा है ।

वन्देऽर्थथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाश ॥
स भूव एवेन्धनयोनिग्राह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥

जिस प्रकार अपने कारण भूत अरणियों ने अग्नि की मूर्ति नहीं देख पड़ती और न अग्नि के सूक्ष्मरूप का विनाश ही होता है और बाद में भी उसको उसके मूलकारणभूत ईंधन से ही मथन द्वारा प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार देना आत्मारूप अग्नि में भी इस देह में प्रणव के मनन से प्रकट होते हैं ।

अथात् —मन्त्रेहमगशि कृत्वा प्रणवं चोत्तगागशिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येद्विरूढवत् ॥

अपने देह आत्मा को अधर अराणि और प्रणव ओंकार को उत्तर अराणि बनाकर ध्यानरूप मन्थन दण्ड को पुनः रगड २ कर ज्योतिस्वरूप, देव, अर्थात् प्रकाशस्वरूप आत्मा का दर्शन करे ।

तिलेषु तैलं दधिनीव सार्ष्णिप. स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्माऽऽत्मानि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

तिलों में तेल, दही में घी, नदियों में जल और अराणियों में अग्नि जिस प्रकार उपलब्ध होती है उसी प्रकार आत्मा में ही वह परमात्मा व्यापक रूप में जाना जाता है, योगी जन उसको सत्य अर्थात् भूतहिन, अहिंसा आदि धर्म, नियम, सत्याचरण और तप से प्राप्त करते हैं ।

इसी अभिप्राय को दर्शाने वाले अन्य वाक्य भी देखने योग्य हैं ।
जैसे—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।

अग्नेज्योतिर्निचाण्य पृथिव्या अभ्यामरत् ॥

अर्थ—अग्नि के प्रकाश को ही मानो सविता जगदुत्पादक प्रभु ने इस पृथिवीरूप देह में छिपाया था । अर्थात् पृथिवी में जिस प्रकार अग्नि है उसी प्रकार देह में आत्मा है । इसी प्रकार—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्तस्तत्प्रजापतिः ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिदुर्गमः ऋतवः समुद्राः ।

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥

इन दो मन्त्रों में अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, नील, पतङ्ग, हरित, लोहिताक्ष आदि सब नाम उसी ब्रह्म परमात्मा के गुण एवं स्वरूपके निदर्शक हैं ।

मैत्रायणी उपनिषद् में:—

‘अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्करे एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषो
ऽग्निर्दिवि श्रितः सोऽयं कालाख्योऽदृश्यः सर्वभूतान्नमत्ति ।’
(मैत्रा० ५ । २)

हृदय कमल में स्थित यह अग्नि (आत्मा) है जो अन्न खाता है और वह मोक्षधाम, द्यौः में स्थित कालाग्नि नामक परमेश्वर रूप अग्नि है जो प्रलय काल में समस्त भूतों को खाजाता है, लीन कर लेता है ।

एष हि खलु आत्मा ईशानः शंभुर्भवो रुद्र प्रजापतिर्वि-
श्वसृद् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽ-
र्कः सविता धाता सम्राट् इन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना-
पिहितः सहस्राक्षेव आनन्दमयेनैष वा विजिज्ञासितव्योऽन्वे-
ष्टव्यः । (मैत्रायणी उप० ५ । ८)

- वही आत्मा ईशान, शम्भु आदि नामों से कहा जाता है वही अग्नि ज्योतिः अर्थात् प्रकाश से आवृत होकर प्रकाशित होता है ।

शिरः पक्ष्मसी पुच्छगृष्टवानेपोऽग्निः । प्राणो वै वायुः
प्राणोऽग्निः । असौ वा आदित्य इन्द्रः सैषोऽग्निः ॥ ६ ॥ ३६ ॥
इन्द्रोऽग्निरिव विश्वरूपः ॥

इत्यादि स्थलों में वह परब्रह्म ही अग्नि शब्द से लिया गया है उपको ही

‘तस्मादग्निर्यष्टव्यश्चेतव्यः’ ॥ ६ । ३४ ॥

इत्यादि स्थलों में उपासना करने का उपदेश है ।

। . प्रसोपनिषद् में—

“स एव वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।”

परब्रह्म की सूर्यरूप से उपासना का वर्णन किया है ।

हम अग्नि के सम्बन्ध में और अधिक उपनिषद् वाक्यों को उठाकर लेस नहीं बढ़ाना चाहते । पाठक स्वयं हमारी दिखाई दिशा से वेदमन्त्रों के भीतर रखे हुए विशेषणों पर विचार करेंगे और यथास्थान उनका आध्यात्मिक तत्त्व जान लेंगे ।

इसके अनिरिक्त अग्नि के सम्बन्ध में एक बात यह भी लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि वेद में अग्नि शब्द जहां आत्मा और परमात्मा का मुख्य नाम है वहां इसी अग्नि शब्द का प्रयोग वैदिक भाषा में आचार्य और ज्ञानी विद्वान् के लिये भी आता है । जैसा उपनयन पद्धति में आचार्य बालकका अञ्जलि पकड़कर जल छुड़ाते समय कहा करता है ।

“अग्निराचार्यस्तव असौ” । कस्य ब्रह्मचार्यासि ? भवतः ।

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यासि । अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव ।

पार० का० २, कं० २

ये पद्धतियाँ प्राचीन वैदिक विशेष परिभाषा—पदों के प्रयोगों की सूचना देती हैं । हमें उनको भी सुलाना नहीं चाहिये । इसलिये हमारा अधिक बल इस बात पर है कि विशेषणों को देखकर वेदमन्त्र के अर्थ करने चाहिये । निरुक्ताकार ने अग्नि का निर्वचन इस प्रकार किया है ।

अग्निं फस्मादग्रणीं भवति । अग्रे यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति संननमान । अक्लोपनो भवति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते शाकपूणिरित् । दक्ताद् दग्धाद् वा नीतात् ॥

अर्थात्—अग्रणी, यज्ञ में प्रथम प्रणयन करने योग्य यज्ञाग्नि, अङ्ग या देह का लेजान वाला जीव, न गीता होने वाला विद्युत, ज्ञान प्रकाशक आचार्य और दाहक ताप ये सब अर्थ अग्नि के हैं । इन अर्थों को यथास्थान लगाना उचित है ।

(३२)

इन्द्र (११)

लौकिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ राजा है । पौराणिक साहित्य में इन्द्र एक कार्ष्णिपत स्वर्गका राजा और अपनी देव कथाओं का चिन्ताली पात्र है । परन्तु वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ आत्मा है । आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण है । जैसा इस देह में आत्मा है उसी प्रकार विश्वमय ब्रह्माण्ड में परमात्मा है जिसका वर्णन 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इत्यादि विशाल अक्षरों से किया जाता है । इसी को 'यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुनोदरम्' इत्यादि अक्षरों से ज्येष्ठ ब्रह्म पतलाया है ।

यह अन्तरात्मा इन्द्र है । इसके लिये सर्व प्रसिद्ध प्रमाण देह की इन्द्रियाँ हैं जिनका नाम ही इन्द्र के आधार पर है । पाणिनि आचार्य ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है—

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा

(पा० ५ । २ । ६३)

इन्द्र आत्मा का शापक लिङ्ग उसका देखा, उससे उत्पन्न, उससे सेवित और उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण ही इन्द्रिय कहाते हैं । हमके शक्तिरिक्त सब कथा कथानकों में प्रमिन्द्र पुराणगत इन्द्र कोई पदार्थ नहीं है । वह भी आलंकारिक रूप से इसी इन्द्र आत्मा के सम्पन्न, मिद, ऐश्वर्यवान् आदि रूपों को दर्शाया है । दूसरा इन्द्र वह परमात्मा है जिसका वर्णन वेद में स्थान २ पर आता है । जैसे 'इन्द्रो मक्षा रोदसी पप्रथच्छुवा' (साम० उत्त० श० १६ । २ । ८ । १ ।)

अब यह तो शक भण्य में देंगे कि समस्त इन्द्र पर्व इन्द्र विषयक है और उपासार्थिक में भी इन्द्र विषयक बहुसंख्य अक्षर हैं ।

यहाँ थोड़ासा उपनिषदों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

(१) ऐतरेय उपनिषद् में—

‘स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तनमपश्यद् इदमदर्शमिती ५ तस्मा दिदन्द्रो नाम । इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तदिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षमिती हि देवाः ।

यह सुमुञ्च इस पुरुष को ही ब्रह्मरूप से देखता है ।

और कहता है ‘इदम् अदर्शम्’ इससे उस ब्रह्म का नाम ‘इदन्द्र’ है हमका ही परोक्षरूप ‘इन्द्र’ है ।

बृहदारण्यक में—

इन्द्रो ह वै नाम एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः । तं ता एन-
मिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याक्षते ४ । २ । २ ॥

दक्षिण चक्षु में द्रष्टा रूप से विराजमान आत्मा ही ‘इन्द्र’ है उसको ही ‘इन्द्र’ कहते हैं, स इन्द्रः स एपोऽसपन्नः (१ । ५ । १२), यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी (६ । ४ । २२) । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रमः (६ । ४ । २३) इन स्थलों पर इन्द्र जीवात्मावाचक है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में—

स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु । (१ । ४ । १) शं न इन्द्रो बृह-
स्पीति । (१ । १ । १) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । सामवेद उत्तरा०
अ० १ । ८) इन स्थलों पर इन्द्र शब्द परमात्मावाचक निर्विवाद है ।

यहां विवाद योग्य बात यही है कि सामवेद में इन्द्र के साथ दो तीन विशेष घटनाएं प्राच जुड़ी हैं । एक तो इन्द्र का सोमपान, दूसरा इन्द्र का वज्र से पुर भेदन और तीसरा वृत्रहन्तन । उपनिषत्कार इनको क्या मानते हैं इस पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है ।

१. सोमपान के प्रकरण को सोमदेवता के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। पुर भेदन के विषय को अग्नि के प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। वज्र के विषय में गोता में व्यासदेव स्वयं भगवान् को ही "आयुधानामहं वज्रम्" सब आयुधों में श्रेष्ठ वज्र स्वीकार करते हैं। सब दुःखों के भवबन्धन के छेदन करने हारा ईश्वर ही स्वतः ज्ञानस्वरूप सबसे उत्तम वज्र है।

काठक उपनिषद् में—

प्राण एजति निःसृतम्। महद् भयं वज्रमुद्यतम्।

य तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति। (६।२)

ईश्वर की शक्ति प्राण को वज्र कहा है।

जुरिकोपनिषद् में—

मनसस्तु जुरं गृह्य सुनीक्ष्यं बुद्धिनिर्मलम्।

इन्द्रवज्र इति प्रोक्तम् ॥

ज्ञान, ध्यान में तत्पर मन को ही वज्र लिखा है। उस वज्र द्वारा सुषुम्ना सहित १०१ नाड़ियों के सन्धन को ध्यान योग से काटता है। जैसे लिखा है—

द्रासतिसहस्राणि प्रतिनाडिषु तैतिलम्।

छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।

योगनिर्मलवारेण जुरेणानलवर्चसा ॥

छिन्देक्षाङ्गितं धीरः प्रभावादिह जन्मनि ॥

ये शत नाड़ी ही आयमो पुर है, जिनको कहीं ६६ या ६० भी कहा जाता है। इनमें व्यास तैतिल=अन्धकार को ही अभ्यास योगी वृत्र कहते हैं। हमका विवरण स्थान २ पर पाठकगण भाष्य में ही देखेंगे। इन्द्र ईश्वर वृत्र की कथा की आनुकारिक व्याख्या का विस्तृत विवरण महर्षि ने

ऋग्वेदादि भाष्यजूमिका में स्पष्टरूप से 'अन्धग्रामाण्याग्रामाण्यविषय' में कर दिया है । उसको पुनः चढ़ा उठाकर रखना विष्टपेपण होगा ।

(१२) सोम देवता

सोम क्या पदार्थ है इसका निर्णय कठिन है । याज्ञिक लोगों का सोम एक जल है, जिसके रस पान करने के लिये विशेष विधि है । जो सोमपान तैयार करने की विधि महीधर आदि भाष्यकारों ने दी है वह बहुत सरल है । सर्ज की छाल, त्रिफला, सेंठ, पुनर्नवा, पीपल, गजपीपल आदि जाना शोषधियों में धान और जौ की खीलें मिला, कूटकर उनको कलश में षट् करके, उसे तीन दिन तक रक्खा जाता है और फिर उसे कम्बल के टुकड़े से छानकर उसमें दूध, मधु आदि मिलाकर पान किया जाता है । छानने और पान करने की इन सब क्रियाओं को करते समय सोम देवता के मन्त्रों का पाठ किया जाता है परन्तु उनमें सोम कोई पदार्थ नहीं गिना जाता है । उसमें प्रतिनिधि वाद से ही सोम की कल्पना करके सोमदेवताक मन्त्रों का प्रयोग किया गया है । महीधर के काल के सोम सौग्रामणि को देखकर यह कहना कि समस्त सोमदेवताक मन्त्र इसी सुरारूप सोम का वर्णन ही करते हैं यह भारी भूल होगी । ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञ में रखी यज्ञक्रियाओं की व्याख्या करने का यत्न किया है । उसमें वे सोम के निमित्त प्रतिनिधि पदार्थों को मन्त्र में आये शब्दों का अर्थ स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत, जिस मुख्य अर्थ के अभिप्राय में वह शब्द मन्त्रों में पड़ा गया है उसको ही वहाँ खोजकर यत्न देते हैं । इस प्रकार ब्राह्मण और श्रौतियों के मत से वह मन्त्र सोमद्रव्यपरक न होकर अन्त्यात्मपरक हो जाता है । यज्ञकाण्ड को खोजकर दिखाने एक उसके यज्ञव्याख्यानुसार सोमपरक मन्त्रों की अन्त्यात्म व्याख्या कह दिखाने के लिए यहाँ स्थान नहीं और न यहाँ अवसर है । तो भी ब्राह्मण

कारों ने सोम, सवन के प्रकरण में सोम के जो २ अर्थ किये हैं उनपर पाठकों का ध्यान खींचते हैं ।

जैसे—

श्रीर्वै सोम (श० ४ । १ । ३ । ६) राजा वै सोमः (श० १४ । १ । ३ । १०) यदाह गयाऽसि इति सोमं वा एतदाह (गो० पू० ५ । १४) सोमो वै प्रजापति (श० ५ । १ । ५ । २६) यदाह श्ये नोऽसि इति सोमं वा एतदाह । एष ह वा अग्निर्भूत्वा संश्यायति । (गो० पू० ५ । १२) यो वै विष्णु सोम स (श० ३ । ३ । ४ । २१) योयं (वायु) पचते एष सोम (श० ७ । ३ । १ । १) स यदाह सम्राड् असि इति सोमं वा एतदाह । एष ह वै वायुर्भूत्वा अन्तरिक्षलोके सम्राजनि । (गो० पू० ५ । १३) एष वै यजमानो यत् सोम (तै० १ । ३ । ३ । ५) क्षत्रं वै सोमः (श० ३ । ४ । १) १०) सोमो वै यशः (तै० २ । २ । ८ । ८) एषा कवला यत्सोमाहुति (ग० १ । ७ । २ । १०) प्राणः सोमः (श० ७ । ३ । १ । ४५) रेतः सोमः (ऐ० १३ । ७) सोमो वै ब्राह्मण (तै० २ । ७ । ३ । १) एष वै ब्राह्मणानां सभामाह सखा (श० १० । ७ । १ । १०) इत्यादि ।

अर्थात्-सोम के अर्थ श्री, राजा, प्राण, प्रजापति, गृध्ररूप, अग्नि विष्णु, परमात्मा, वायु मन्त्राद, पशुपति, वीर्य, यश, केवल आनन्दमय, परब्रह्म का लय, वीर्य और ब्राह्मण आदि सभी सोम शब्द में लिख जाते हैं और प्रकरणानुसार सभी अर्थ सोम के स्थान पर लिखे भी गये हैं । प्रकरणों का परिज्ञान मन्त्र के भीतर किये विशेषणों से जाना जायगा । यदि विशेषण कुछ अर्थ या तर्कों और वहाँ सोम के कुछ और अर्थ छे लिखे जायें तो यह वेद मन्त्र के साथ बड़ा अग्राह्य होगा ।

सोम को सोमविक्रयी से खरीदकर बड़े आदर से शकट पर लादकर उमे पत्थरों से कूटा जाता है और पुनः उसे दशापवित्रनामक वस्त्र से एक द्रोणकलश नामक घट में छान लिया जाता है । द्रोणकलश में जल होते हैं उनको 'वसतीधरी' नामक 'आप.' कहा जाता है । जिस वस्त्र से छाना जाता है उसको वालों से बना होने के कारण 'अव्या' या 'अव्यय' या 'अव्या वार' शब्द से पुकारा जाता है । उसी को दशापवित्र या पवित्र नाम से भी पुकारा जाता है । सामवेद के प्रायः बहुतसे मंत्रों में सोम को इम पवित्र' नामक वस्त्रखण्ड से छानने का वर्णन किया है । सायण ने प्रायः बहुतसे मन्त्रों में से सोम के छाने जाने परक कई अर्थ लिये हैं । परन्तु हमने सायणकृत अर्थों की उपेक्षा की है क्योंकि सोमक्षता और कूटा हुआ सोमरस जो जड़ पदार्थ हैं उसमें ऐसे विशेषणों का आना जो जड़ पदार्थ में नहीं लग सकते हमें सायणकृत अर्थों के न मानने के लिये बाधित करता है । उदाहरणार्थ—

जैसे—

पुनान सोम जागृविरव्या वारैः परिप्रियः ।

विप्रोऽभवाऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञ मिमिक्ष ण ॥

(अवि० सं० ५१६)

सायण ने इसका अर्थ यह किया है—

“हे सोम जागरणशील छाना जाता हुआ तू मेपी=मेढ़ के वालों से बने दशापवित्र नामक वस्त्रखण्ड पर बहता है, हे अगिरों में श्रेष्ठ मेधावी तू पितरों का नेता होता है, वह तू हमारे यज्ञ को अधु अर्थात् अपने रस से सींच ।

सोमरस को अवश्य यज्ञ में मेढ़ के वालों से बने कम्बल के टुकड़े से छाना जाता है इसमें सन्देह नहीं । परन्तु उक्त मन्त्र में 'जागृवि'=जागरणशील, 'विप्र'=मेधावी, 'अङ्गिरस्तम'=अङ्गिरसों में श्रेष्ठ, ये विशेषण

ऐसे हैं जो कभी जड़ सोमरस पर लगने उचित नहीं है, इसलिए सायण का अर्थ अशुद्ध है, क्योंकि इसमें योग्यतारहित पदों से वाक्य बनाया गया है। जिस वाक्य के पदों में योग्यता, अकाक्षा और आसक्ति तीनों हों वही वाक्य कहाता है अन्यथा उन्मत्तप्रलाप है। इसी प्रकार 'जागृवि' आदि विशेषण किसी चेतन की आकाक्षा करते हैं, क्योंकि उनमें चेतन में लगने की ही योग्यता है परन्तु मायण ने उन विशेषणों को एक जड़ पदार्थ पर लगा दिया है, इसलिये सायण का लिखा पदसमुदाय वाक्य नहीं बन सकता। क्योंकि जड़ सोमरस न मेधावी है, न अगिरसों में श्रेष्ठ है और न जागरणशील है। तब प्रश्न यह होता है कि इसका सामर्थ्य क्या है (देखिये आलोकमान्य पृष्ठ २५७) 'अगिरस्तम' सोम क्या है इस पर विचार कीजिये। इसके ऋषि द्रष्टा ससर्पि हैं। अर्थात् उपनिषत्कार जिन सात ऋषियों को शिर के सात प्राण बतलाते हैं उसके ज्ञाता इस तत्त्व को साक्षात् करते हैं अर्थात् सातमूर्धागत प्राण अपने में मुख्य अगिरा = अग के रसरूप मुख्य आसन्य प्राण या आत्मा को कहते हैं कि हे 'अगिरस्तम' सबसे अधिक प्रकाशमान। हे 'जागृवि' जागरणशील तू कभी न सोने वाला है, शेष सब इन्द्रिया थक २ कर सो जाती हैं परं प्राणात्मा कभी नहीं सोता। यदि वह सोजाय तो मृत्यु हो जाय, मांस न चले। वह सास चलाने के लिये उस समय प्राणरूप में जागृत रहता है, वह आत्मा 'विप्र' अर्थात् मेधावी है, मेधा बुद्धि उसके पास है, वह आत्मा (प्रिय) सबसे अधिक प्रिय और सबका पोषक है।

उपनिषद् कहती है—“न ह वा अरे जाययै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु आपाय जाया प्रिया भवति”।

मैं माया होने के कारण स्त्री प्रिय नहीं, प्रयुक्त अपने लिये ये वा जाया प्रिय हैं। फलतः यह आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इस प्रकार प्रिय हे सोन! सब के प्रेरक! तू (अर्याः पति) और क पारो, अर्थात्

अवि के बाल ? भेद के बाल नहीं, प्रत्युत अवि=चितिशक्ति, जो सब अगों को रचा करती है, या अवि=ग्राण, उसके वरण=व्यापार प्रवृत्ति इन द्वारा (पुनानः) परिष्कृत होता हुआ (न. यज्ञ मध्वा मिमिक्ष) हमारे यज्ञ को अमृत अर्थात् चैतन्य से सींच ।

पाठक विचार कीजिये अब कोई बात अमंगल नहीं रह गई। इसी प्रकार साधक आत्मा के प्रति यह उपदेश है कि वह अपना चितिशक्ति के संचारों और ग्राण के निरोधों द्वारा अपने को परिष्कृत शुद्ध करे और अपने यज्ञ, देवपूजा ईश्वरप्राणिधान को आनन्दमय और अमृतमय करे, अपने जीवन में आनन्द-धन का दर्शन करे । हममें कोई खींचातानी की बात नहीं है । स्पष्ट २ विशेषणों के बल से यहा सोमशब्द आत्मापरक है ।

हमारे इस विचार के पोषक प्राचीन ब्राह्मणकारों के सिवाय एक परम वेदज्ञ महर्षि यास्क ही हैं । महर्षि यास्क ने परमात्मा और आत्मा के तत्त्व का वर्णन करने के लिये सोम देवता के मन्त्रों का भी उल्लेख किया है ।

जैसे—

सोमः पत्रते जनिता मतीनां, जनिता दिवो जनिता पृथिव्या ।
(अवि० सं० ५२७)

सोम मतिषों का उत्पादक, द्यौ का उत्पादक और पृथिवी का उत्पादक है । यह तत्त्वार्थ सोमरस पर नहीं लगता क्योंकि वह द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिये यास्क लिखते हैं—

‘अथैत महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति’

अर्थात् ये ऋचाएं महान् आत्मा का वर्णन करती हैं । इसी को जी-वात्मापरक भी लगाया है । लिखते हैं—

“अथाध्यात्मं। सोम आत्माऽप्येतस्मादेव। इन्द्रियाणां जनिता इत्यर्थः।
अपि वा सर्वाभिर्विभूर्तिभिर्विभूतत आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ।”

अर्थात्, अध्यात्म पक्ष में सोम आत्मा भी इसी मन्त्र से कहा गया है क्योंकि वह (मतीना) इन्द्रियों का उत्पादक है। अथवा वही सब विभूतियों को प्राप्त करता है इस प्रकार आत्मा की गति कही है।

ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनां "सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ।
(ऋ० ८ । ६६ । ६)

इस मन्त्र को यास्कमुनि ने आधिदैविक पक्ष में सूर्य और अध्यात्म में आत्मापरक लगाया है। और 'दशापवित्र'='पवित्र' के सब रहस्य को स्वयं खोल दिया है। इस मन्त्र में सोम का 'श्येनो गृध्राणां', "महिषो मृगाणां" इत्यादि विशेषणों से उपदेश किया है और अन्त में कहा है कि वह 'पवित्र' पर शब्द करता हुआ जाता है। सायण के अनुसार तो "घर घराता हुआ सोम दशापवित्र नामक वस्त्र पर पड़कर छन आता है" यह अर्थ हुआ और बाक़ी विशेषण सब असंगत रह जाते हैं। यास्कमुनि कहते हैं—

"महिषो मृगाणामिति अयमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां । श्येनो गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः । गृध्राणि इन्द्रियाणि गृध्रनेर्ज्ञानकर्मणः, यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति ।"

अर्थात् मृगों में महिष अर्थात् मार्गण करने वाली, विषयों को ढूँढ निकालने वाली इन इन्द्रियों में सयमे यदा और गृध्रों में श्येन अर्थात् पाज, के समान, गृध्र अर्थात् विषयों के ज्ञानसाधन इन्द्रियों में ये श्येन अर्थात् ज्ञान सम्पन्न वह आत्मा है। इसी प्रकार उक्त मन्त्र में दध, कवि, विप्र और वन ये सब नाम इन्द्रियों के हैं जो उनके भिन्न ७ गुण दर्शाते हैं। उनमें वह आत्मा ही सबसे अधिक गुणशाली है, वह पवित्र अर्थात् हार्दिकगण पर ही (रेभन्) स्तूयमान अर्थात् प्रशंसित होकर उत्तम रूप में (अयेमि) अधिक यष्ट शाली होकर उनका भोग करता है, इस प्रकार—

‘सोमं गावो धेनवो वावजाना० ॥ अक्रान्तसमुद्र’०
 “बृहत्सोमो वावृधे सुत्रान इन्दु ॥ महत्तत्सोमो महिषश्चकार० ॥

ये मन्त्र सोमपरक होकर भी आत्मपरक ही यास्क मुनि ने माने हैं और स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

‘समुद्र आत्मा’, ‘इन्दुरात्मा’ ।

समुद्र और इन्दु दोनों शब्दों का अर्थ आत्मा है ।

जब यास्क जैसा मुनि हमें सोमदेवताक मन्त्रों को आत्मा के वर्णन में लगाने की दिशा दिखाता है तो कोई कारण नहीं कि उपासना काण्ड के परम वेद सामवेद के पाचमान काण्ड एवं सोम सुक्तों का परम चरम अभिप्राय ईश्वर और आत्मापरक न हो । और इन विषय पर कुछ उपनिषदों के प्रमाण भी ध्यान देने योग्य हैं जिनको हम क्रम में देते हैं—

१. मैत्रेयी उपनिषद् में स्वहृदयाचन प्रकार लिखते हुए लिखा है—

“विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलतोऽस्म्यहम् ।”

यहां आत्मा को ही ‘सोम’ कहा है । इसी प्रकार—

“लोमसंक्षोऽयं भूतात्मा,”

स्पष्ट लिख दिया है । छान्दोग्य में कितना सुन्दर लिखा है—

“अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् । एष हि आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । तदरश्च ह वै रयश्च अर्णवो ब्रह्म लोके तृतीयस्यामितां दिवि तदैरमदीयं सरस्तदश्वत्थ सोमसवनं तदपराजिता पूर्वहणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥”

(छा० = १ । ५ । ३)

अर्थ—यह जो ‘अनाशकायन’ और ‘अरण्यायन’ कहा जाता है । यह भी ब्रह्मचर्य का व्रत ही है क्योंकि जुघा पर वश करके और अरण्या

आस में गुरु की अधीनता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता। ब्रह्मलोक में 'अर' और 'रय' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं। उसी तृतीय घौ, स्वर्ग लोक में 'ऐरंमदीय' नामक 'सर' है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है। वहीं 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी है, वहा ही प्रभु परमेश्वर का दिया ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब अध्यात्म ज्ञान की कथा है। यहा सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, वह ऐरंमद ज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही यहा 'सर.' ताल या रसमय मोक्षपद है। वही ब्रह्मपुरी है वहा ही ब्रह्म ज्ञान है। यह सब आलंकारिक वर्णन है। इसी प्रकार—

“तन् मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन”

(छान्दो० ३। ६। १)

यहा सोम का अर्थ प्राण हैं।

“आर्द्र उद्रेतसोऽसृजत तदु सोमः।”

यहा सोम का अर्थ वीर्य है। मुण्डक में “सोमात्पर्जन्यः” (१।१५) यहा सोम का अर्थ सूर्य है। “यास्ते सोम प्राणास्तां जुहोमि” (महानारायणोप० १७। ६) यहा सोम का अर्थ आत्मा है।

‘सोमं पिय वृत्रहन्’ (महानारायणोप० २०२) यहां सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है। “अपाम सोममभृता अभूम” यहा आम ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमार्थ है “सोमो भूत्वा रसात्मक ” (गीता) यहा सोम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है। इसके अतिरिक्त सोमपान करने हारे पुरुषों के विषय में भी देखिये। ‘सोमपा अभयङ्कर.’ (महानारा० उप० २०। ५) यहा सोम का अर्थ समस्त समार है। उमका पालन एवं प्रलयकाल में पान कर जाने हारा परमात्मा ‘सोमपा’ शब्द से कहा गया है। ‘त्रैविद्या मां सोमपाः प्रूतपापा.’ तर्जि वेदों के ज्ञाता, योगाभ्यासी, ब्रह्मज्ञ, निष्पाप पुरुष ‘सो-

मपा' शब्द से कहे गये हैं । इसी प्रकार ' इन्द्रिय सोमपीथ ' (ते० १ । ३ । १० । २) यहाँ इन्द्रिय को सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने द्वारा कहा है । "मामित्रं साम्याहर" हे साम्य ! शिष्य ! मामित्रा ले आओ । इस स्थान में ज्ञानपिपासु शिष्य भी सोम्य कह गये हैं । ब्रह्मविद्भिर्भासि (छा० उप० ४ । ३ । २) सोम्य यहाँ भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है । उपनिषदों में सोम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है । गीता में भी—भूत्वा पुनः सोम्यवपुर्महात्मा । इत्यादि प्रयोग हैं ।

इसने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थों और प्रयोगों को देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में सोम विषयक मन्त्रों पर किस रीति से विचार करना चाहिये । विस्तारभय से और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मन्त्रों पर विचार करें ।

उषा देवता (१३)

कुछ मन्त्र और सूक्त उषा देवता के भी हैं । यह उषा देवता क्या प्रदार्थ है इसका निरूपण हम इस स्थान पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आप्रह करेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोला है वहाँ देखें ।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है । वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भरा हुआ है । जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ तत्त्वों का प्रकाश होता प्रतीत होता है । परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आस्वादन करने वाले भावुक ही रहे हैं, अस्तु ।

(१४) उपसंहार

उपसंहार में हम पाठकों को इस भाष्य की कुछ विशेषताओं के सम्बन्ध में भी दो एक बात कहना चाहते हैं। वेदमन्त्रों की भाष्यशैली बहुत सरल रखी गई है। जहां तक हो सका है वेद के प्रायक पद को पृथक् २ कोष्ठों में रखकर धातुज अर्थ को दर्शाते हुए मन्त्र का सरल अर्थ कर दिया है। अग्नि इन्द्र आदि विशेष देवता वाचक शब्दों को प्रायः यथास्थान स्पष्ट कर दिया है। केवल अर्थमात्र पढ़ने से ही उसका सरल अर्थ आप से हा आप स्पष्ट हो जाता है। विशेष मन्त्रों पर उपनिषद् आदि प्रमाण ग्रन्थों के उद्धरण देकर भावार्थ भी दर्शाया गया है। जिन शब्दों का विशेष अर्थ किया है उसको टिप्पणी देकर प्रमाणित भी किया गया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ अन्य वेदसंहिताओं के जहां पाठभेद टिप्पणी में दिये गये हैं वहां प्रत्येक मन्त्र के साथ २ अन्य वेद की प्रतीक भी दे दी है।

(१५) सामवेद के प्रतीक संकेत

सामवेद के तीन भाग हैं एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक और तीसरा मध्यभाग महानाञ्जी आर्चिक हैं। पूर्वार्चिक के ४ भाग हैं (१) आग्नेय काण्ड, (२) ऐन्द्र काण्ड, (३) पवमान काण्ड और (४) आरण्यक काण्ड। ये चारों काण्ड ६ प्रपाठक में बंटे हुए हैं। सायण के अनुसार इनको पांच अध्यायों में बांटा गया है। प्रपाठकों में अर्धप्रपाठक और दशतियों का विभाग है। अध्यायों में खण्डों का विभाग है। परन्तु अर्ध प्रपाठक के विभागों में भी दशतियों की संख्या बराबर आगे चलती जाती है। इसलिये पूर्वार्चिक में अर्धप्रपाठकों को हमने अनावश्यकता ही जाना है। उत्तरार्चिक में २१ अध्याय और ६ प्रपाठक हैं। इन प्रपाठकों के भी अर्धप्रपाठक है इनमें दशतियों का विभाग नहीं है। प्रयुक्त सूत्रों का विभाग है। कई संहिताओं में पूर्वार्चिक भाग में दशतियों की संख्या अलग २ कर दी है। इसलिये प्रायः सामवेद के मन्त्र की प्रतीक (पूर्वा०, प्र०, सदर्द०, प्र०, दग०, अ०) इस रीति से दर्शाते हैं।

अन्तिम निवेदन

वेद के प्रगाढ़ विद्वानों के समक्ष मेरा यह आलोक भाष्य एक बहुत ही तुच्छ आलोक है जो चक्षुष्मान् शास्त्रालोचक धीमान् पुरुषों की दृष्टि में भी सामान्य दीपकालोक के समान है । यद्यपि नाना विद्यासूर्यों के आलोकों के समक्ष दीपकालोक नगण्य है, तो भी उनके अभाव में दीपकालोक भी लोचनों के लिये पर्याप्त आश्रय है । मार्गमात्र दर्शा देने का प्रयोजन ही इस आलोक से सिद्ध हो सकता है । गभीर गुहागत तत्त्वों का प्रदर्शन करने के लिये और भी अधिक विस्तृत सूर्योत्तांक की आवश्यकता है । पुरातन विद्वानों के चरणचिह्नों पर चलते हुए हम तुच्छजन के आलोक प्रदर्शन में यदि कुछ त्रुटि भी हो गई हो तो मानुष स्वभाव के लिये वह असंगत नहीं, प्रत्युत बालक के गिरने के समान वह भी शोभा ही है । मेरे ग्रन्थ पर दृष्टिपात करते हुए बहुतसे विशगण मेरी त्रुटि देख कर इसलिये प्रसन्न होंगे कि उनको वह बात भी ज्ञात है जो मुझे नहीं ज्ञात है । उनकी इस प्रसन्नता पर मैं भी प्रसन्न होऊंगा यदि वे महानुभाव त्रुटिस्थल पर अपना विशेष ज्ञान मुझे जनाकर महानुभावता प्रकट करें । जिससे अगला संस्करण और भी गुणसम्पन्नरूप में प्रकाशित हो । और यदि केवल अपना पारिडित्य दिखाने के भाव से या, किन्हीं अन्य दुर्भावों से कोई अन्यथा प्रस्ताप करेंगे और गुणग्रहण की अपेक्षा दोषग्रहण ही करने पर लगे रहेंगे तो ऐसे महानुभावों की कुचोदना पर किसी का वश नहीं और न उससे कोई सफल ही प्राप्त हो सकेगा । हम भी कुमारिल के शब्दों में यही कहना चाहते हैं—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्वतन्त्रापि ।

नहि सद् धर्मनागच्छन् स्वलितेऽनप्यपोद्यते ॥ इति शिवम् ।

केसरराज
अजमेर

}

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार-
मीमांसातीर्थ

ग्रन्थ संकेत सूची

ऋग्वेद=ऋ०

यजुर्वेद=यजु०

सामवेद=साम०

अथर्ववेद=अथर्व०

ऐतरेय ब्राह्मण=ऐ० ब्रा०

कौपीतकी ब्राह्मण=कौ०

शतपथ ब्राह्मण=श० ब्रा०

तैत्तिरीय ब्राह्मण=तै० ब्रा०

जैमिनीय तलवकार उपनिषद्=जै० उ०

गोपथ पूर्वभाग=गो० पू०

,, उत्तरभाग=गो० उ०

सायण=सा०

सत्यव्रतसामश्रमी=स० सा०

महर्षिदयानन्द=०द०

उणादि=उणा०

देवराजयज्वा=दे० य०

गीता=गी०

उपनिषद्=उप०

छान्दोग्य=छान्दो०

दुर्गाचार्यटीका=दु० टी०

निघण्टु=नि०, निघ०

निरुक्त=नि० निरु०

षड्विंश=प०

द्वितीय संस्करण की भूमिका

वेद जैसे गम्भीर विषयो पर लिखे गये विशाल ग्रन्थों को खरीदने और पढ़ने की प्रवृत्ति जनता में बहुत कम है। इस कारण मुझे यह भी आशा नहीं थी कि इस भाष्य का द्वितीय संस्करण मुझे मेरे अपने इस जीवन में ही देखने का अवसर प्राप्त होगा। परन्तु गुणग्राही सज्जनों ने मेरे प्रयास का बहुत आदर किया। और दो वर्ष के भीतर ही भीतर सामवेदभाष्य का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। तो भी वेद भाष्य के सहस्रों ग्राहक उसको लेने के लिये उत्सुक हो रहे हैं वे आर्य साहित्य मण्डल के कार्यालय में निरन्तर सामवेदभाष्य का तकाजा करते ही रहते हैं। इसी प्रयोजन से सामवेद भाष्य का द्वितीय संस्करण भी शीघ्र ही छापना पड़ा।

इस अवसर पर मुझे अपने सामवेदभाष्ये को पुनः दोहरा लेने का उत्तम अवसर प्राप्त हुआ। मेरे विद्वान् मित्रों ने तथा कुछ महानुभाव उदार वेदज्ञ विद्वानों ने अपने उदार स्वभाव से ही मेरे भाष्य की प्रकाशन, सुदृष्ट, प्रूफ संशोधन आदि की नाना छोटी मोटी त्रुटियों दर्शाई थी। उसके अतिरिक्त अनेक भी त्रुटियाँ मुझे स्वयं उसमें प्रतीत हुईं उन सब त्रुटियों को इस संस्करणमें दूर करने का यत्न किया है। मैं उन मित्रों और महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपने श्रम से मुझे मेरी त्रुटियाँ दर्शाकर अपनी महानुभावता प्रकट की है। और आगे भी समस्त विद्वानों से यही प्रार्थना है कि वे बराबर मुझे मेरी त्रुटियाँ और अपने विशेष २ वेद विषयक बहुमूल्य विचारों से सूचित करते रहें, जिससे उत्तरोत्तर संस्करण उनके विचारों से समृद्ध और परिमार्जित होते जायें।

केसरगंज, अजमेर
माघसुदी दशमी, १९८७ वि-

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ ।

(४८)

भूमिका विषय--सूची

		पृष्ठ
१. उपक्रम	१
२. सामवेद संहिता	२
३. शाखाभेद	३
४. साम ब्राह्मण	. .	७
५. साम संहिता	. ..	८
६. सामवेदभाष्य	१२
७. सिद्धान्त दिशा विचार	. ..	८
८. इन्द्र	३२
९. सोमदेवता	.. .	३५
१०. उषा देवता	.. .	४३
११. उपसहार	. .	४४
१२. सामवेद के प्रतीक संकेत	. .	४४
१३. अन्तिम निवेदन	. .	४६
१४. ग्रन्थ संकेत सूची	.	४६
१५. द्वितीय संस्करण की भूमिका	. ..	४७

(४६)

सामवेद-सूची

पूर्वार्चिकः

आग्नेयकाण्डम् (१—६१)

प्रथमः प्रपाठकः	(प्रथमोर्धः)	१—२६
" "	(द्वितीयोर्धः)	२६—५२
प्रथमोऽध्यायः		१—६१

ऐन्द्रकाण्डम् (६१—२३५)

द्वितीयः प्रपाठकः	(प्रथमोर्धः)	५२—१८०
" "	(द्वितीयोर्धः)	८०—१०२
द्वितीयोऽध्यायः		६१—११६
तृतीयप्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	१०२—१४४
" "	(द्वितीयोर्धः)	१२४—१४६
तृतीयोऽध्यायः		११६—१८२
चतुर्थ प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	१५०—१७७
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	१७७—२०१
चतुर्थोऽध्यायः		१८२—२३५
पञ्चमः प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	२०१—२२५
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	२२५—२४३

पात्रमान काण्डम् (२३५—२६४)

पञ्चमोऽध्यायः		२३५—२६४
षष्ठः प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	२४३—२७३
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	२७३—२८५

आरण्यकं काण्डम् (२६४—३२२)

षष्ठः प्रपाठकः	(तृतीयोर्धः)	२६५—३१६
----------------	----------------	---------

महानाम्यार्चिकः (३२२—३२७)

उत्तरार्धिकः

११

प्रथमः प्रपाठक	(प्रथमोऽर्ध)	प्रथमोऽध्यायः	३०८
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	द्वितीयोऽध्यायः	३४७
द्वितीयः	(प्रथमोऽर्ध)	तृतीयोऽध्यायः	३६६
"	(द्वितीयोऽर्ध)	चतुर्थोऽध्यायः	३८५
तृतीयः	(प्रथमोऽर्ध)	पञ्चमोऽध्यायः	४०४
"	(द्वितीयोऽर्ध)	षष्ठोऽध्यायः	४३०
चतुर्थः	(प्रथमोऽर्धः)	सप्तमोऽध्यायः	४५८
"	(द्वितीयोऽर्धः)	अष्टमोऽध्यायः	४८६
पञ्चमः	(प्रथमोऽर्धः)	नवमोऽध्यायः	५०७
"	(द्वितीयोऽर्धः)	दशमोऽध्यायः	५३६
षष्ठः	(प्रथमोऽर्धः)	एकादशोऽध्यायः	५७१
"	(द्वितीयोऽर्धः)	द्वादशोऽध्यायः	५८४
"	(तृतीयोऽर्धः)	त्रयोदशोऽध्यायः	६०६
सप्तमः	(प्रथमोऽर्धः)	चतुर्दशोऽध्यायः	६३६
"	(द्वितीयोऽर्धः)	पञ्चदशोऽध्यायः	६५३
"	(तृतीयोऽर्धः)	षोडशोऽध्यायः	६७०
अष्टमः	(प्रथमोऽर्धः)	सप्तदशोऽध्यायः	६९१
"	(द्वितीयोऽर्धः)	अष्टादशोऽध्यायः	७०६
"	(तृतीयोऽर्धः)	एकोनविंशोऽध्यायः	७३०
नवमः	(प्रथमोऽर्धः)	विंशोऽध्यायः	७६०
"	(द्वितीयोऽर्धः)		७८१
"	(तृतीयोऽर्धः)	एकविंशोऽध्यायः	७९७

ग. २२६६

* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

पूर्वार्चिकः (छन्दः)

आग्नेयं कारकम्

प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमोऽङ्कः

प्रथमोऽध्यायः

परमेश्वर की स्तुति

॥ ८० १ ॥ १, २, ४, ७, ९ भरद्वाजने वाहस्पत्यः । ३ मेधातिथिः काण्वः ।
५ जशनाः । ६ सुदीतिपुष्मीढौ । ८ वत्स काण्वः । १० वामदेवः ॥ गायत्रीछन्दः ॥

[१] अ१ अ३ आ१ या२ हि३ वी३ तये३ गृ३ णा३ नो३ ह३ व्य३ दा३ तये३ ।

नि१ होता२ स२ त्सि३ वा३ ह्ये३ ॥ १ ॥ ऋ० ६ । १६ । १० ॥

भा०—हे अग्ने परमात्मन् ! (वीतये^१) सर्वत्र प्रकाशक और व्यापक होने और (हव्यदातये) हव्य अर्थात् दान और भोग योग्य पदार्थों के प्रदान करने के लिये आप (आ याहि) प्राप्त हों । आप (गृणान^२) स्तुति करने

१—१ वीतये—वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यमनलावनेषु ।

२. गृणान—गृ स्तुतौ । व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ।

योग्य, (होता^३) सब पदार्थों के देने वाले, यज्ञ में आसन पर होता के समान (बर्हिषि^४) यज्ञ, आत्मा या ब्रह्माण्ड में (नि सत्ति) विराजमान हैं ।

[२] त्वमग्ने यज्ञानां^{१ २ ३ २ ३} होता विश्वेषां^{२ ३ १ २} हितः^{३ २} ।

देवेभिर्मानुषे^{३ २ ३ १ २ ३ १ २} जने ॥ २ ॥ अ० ६ । १६ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) समस्त (यज्ञानाम्) यज्ञों, देव उपासनाओं का (होता) स्वीकार करने वाला होकर और (देवेभिः^१) देवों, विद्वानों द्वारा (मानुषे जने) मनुष्यजनों में, यज्ञ में अग्नि के समान (हितः) सर्वोपास्य रूप से स्थापित किया है ।

[३] अग्निं दूतं वृणीमहे^{३ २ ३ १ २} होतारं विश्ववेदसम्^{३ १ २ ३ १ २} ।

अस्य यज्ञस्य सुकृतुम् ॥ ३ ॥ अ० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम (विश्ववेदसम्^१) सर्वज्ञानी, सर्वधनी, सर्वेश्वर, (होतारम्) होता, सर्वप्रद, (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञ, ब्रह्माण्ड के (सुकृतुम्^२) सुकृतु, उत्तम कर्त्ता, विधाता और ज्ञाता (अग्निं) अग्नि को (दूतं^३) दूत अर्थात् उपास्यरूप से (वृणीमहे) वरण करते हैं । इस प्रकार बहुत उत्तम विद्वान् को भी कार्यसाधक दूत रूप से वरण करना चाहिये ।

३ होता—दाता । आहूता, बुलाने वाला । ईश्वर सबको अपने पास बुलाता है । और ससार में सबको खाने और परोपकार करने के लिये पदार्थ भी देता है ।

४ बर्हिषि—बर्हि यज्ञः, अन्तरिक्षम्, उदकम्, आसन, कुश ।

२—१. देवोदानाद्वा दीपनाद्वा चोत्तनाद्वा पुस्थानो भवतीति या । निरु० ।

३—१ वेदम् वेत्तेरसुन् औणादि । विद् ज्ञाने । वेदो धन । नि० ३ । २ । १० ॥

२, ऋतु कर्मनाम । नि० २ । १ । प्रशानाम च । नि० ३ । ६ ॥

३ दा । दत्तेरौणादिरुः क्तः । दूनोति गच्छति उपतपति वा स दूत, बहुकार्य-साधको राजभृत्यो वा । द० व० ।

[४] अग्निर्धृत्राणि जङ्घनद्वित्रिणस्युर्धिपन्यया ।

समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ४ ॥ अ० ६। १६। ३४ ॥

भा०—(विपन्यया) विशेष स्तुति द्वारा (द्वित्रिणस्युः^१) उपासकों के द्रव्य, बल और भक्तिभाव को स्वीकार करने वाला 'अग्नि', परमेश्वर (समिद्ध) चमकता हुआ, (शुक्र) शुद्ध, कान्तिमान् (आहुतः) भली प्रकार से स्तुति किया या स्मरण किया हुआ (धृत्राणि^२) आत्मा को घेरने वाले पापों को, विघ्नों को और अन्धकारों को (जङ्घनद्) नाश करे ।

[५] प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुपे मित्रमिव प्रियम् ।

अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥ अ० ८। ८४। १ ॥

भा०—(वः) तुम्हारे (प्रेष्ठम्) सब से अधिक प्रिय, (मित्रम् इव प्रियम्) मित्र के समान प्यारे, (अतिथिम्^१) सर्वव्यापक, अतिथि के समान आदरणीय ईश्वर की (स्तुपे) स्तुति करता हूँ । हे अग्ने ! प्रकाश-स्वरूप ! तू (रथं न वेद्यम्^२) रथ के समान समस्त पदार्थों को प्राप्त कराने-हारा, या रस के समान अनुभव वेद्य है ।

[६] त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अराते ।

उत द्विपो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥ अ० ८। ७१। १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! (त्वं) तू (नः) हमें (विश्वस्याः) समस्त प्रकार के (अरातेः) सुख न देने वाले मनुष्य से (महोभिः)

४—१ छन्दसि परच्छाया क्यच् । द्वित्रिणमिति बलनाम (नि० २। ९) घननाम पदनाम च (नि० २। १०)

२ रक्ष. प्रमृतीनि, तमामि वा । ता० । शत्रुकुलानि । मा० वि० ।

५—^१ 'अग्निम्' इति पाठभेदः, अ० ।

२ 'अतिरिथिन्' अतिथिः । अम्यतितो गृहान् इति । नि० ।

उत्तम सुखसाधनों, धनों द्वारा (पाहि) पालन कर, वचा । (उत) और (द्विषःमर्त्यस्य) द्वेष करने वाले मनुष्य से भी (पाहि) वचा ।

कंजूस स्वामी जो भृत्यों और प्रजाओं का भाग उनको न दे और द्वेषी जो क्रोध या वैर से दूसरे को दण्ड दे, उन दोनों से रक्षा की प्रार्थना है ।

[७] एहधूषु ब्रवाणि तेऽग्न इत्यतरा गिरः ।

एभिर्धर्द्धास इन्दुभिः ॥ ७ ॥ अ० ६ । १६ । १६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (एहि उ) आ । (ते) तेरे लिये (इत्या^१) इस प्रकार की वैदिक सत्य वाणिया और (इतरा^२ गिर) उनसे दूसरी तौकिक, या देववाणी से अतिरिक्त असुरवाणियों को मैं तेरी स्तुति में (ब्रवाणि) कहता हूँ । (एभिः इन्दुभिः) इन परम ऐश्वर्यों से तू (धर्द्धासः) महिमा में बढ़ा है ।

इंश्वर अपने सामर्थ्य, ज्ञान और सौम्य गुणों द्वारा सब से बढ़ा है और सब वाणियों उसकी ही स्तुति करती हैं ।

[८] आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।

अग्ने त्वा कामये गिरा ॥ ८ ॥ अ० ८ । ११ । ७ ॥

भा०—(वत्स^१) तेरे पुत्र के समान स्तुतिकर्ता उपामक (ते मन^२) तेरे मनन करने योग्य सत्यज्ञान को (परमात् चित् मधस्थ्यात्) परम उत्कृष्ट स्थान में (आ यमन्) वश करता, प्राप्त करता है । हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! (त्वा कामये) मैं तुझे ही चाहता हूँ ।

अन्तरात्मा में साक्षान् ब्रह्म में मनन करने योग्य सत्य ज्ञान को प्राप्त करता है और इंश्वर के प्रति प्रेम प्रद परना और उसे चाहता है ।

७—१. 'वत्स' इति शब्दे विवक्षितम् । इत्या मन्त्रा । मा० वि० । इत्या मन्त्रा

मन्त्रानां इति । इत्यभिप्रेत्य इत्या मन्त्रेण ही कृतम् ।

२. इत्या न यतो जगता । मा० वि० ।

८—१. योर्गो गिरा. उ । उ पा० ३ । ६० । २. मन एते (मन्त्राः) ।

[६] न्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा^१ निरमन्थत ।

^{३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २}
सूध्ना^{३ १२ २} विश्वस्य वायतः^{३ १ २} ॥ ६ ॥ अ० ६। १६। १३ ॥

भा०—हे अग्ने प्रकाशस्वरूप^१ (त्वाम्) तुझे (अथर्वा^१) अहिंसक, प्रजापति, ज्ञानी विद्वान् (विश्वस्य वायतः) समस्त ग्रहाण्ड को वहन करने वाले (सूध्ना^३) मूर्धा स्थान, सर्वोच्च (पुष्कराद् अधि) पुष्कर अर्थात् सबको पुष्ट करने वाले तेरे शक्तिमान् विराट् स्वरूप से ही (निर-अमन्थत) अरणियों से अग्नि के समान, मथन करके तुझे प्रकट करता है, तेरा ज्ञान करता है ।

[१०] अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतय महे ।

^{३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! (अस्मभ्यम्) हमारी (महे, ऊतये) बड़ी रक्षा के लिये (विवस्वद्) विशेष सुखपूर्वक निवास योग्य ऐश्वर्य से युक्त, गृह, यज्ञ आदिको (आभर) प्राप्त करा । क्योंकि (न.) हमारे (दृशे) देखने और मार्ग दिखाने के लिये (देव हि असि) प्रकाशमान, विद्वान्, ज्ञानवान् परमदेव तू ही है ।

इति प्रथमा दशति । प्रथम एण्डः ।

॥ २ ॥ १ आयुङ्ग्वाहिः । २ वामदेव^१ । ३, ८, ९ प्रयोग । ४ मधुच्छन्दा । ५, ७ शुन शेष । ६ मेधातिथि काण्व । १० वत्स. काण्व । गायत्री छन्द ॥

[११] नमरते अग्ने ओजसे^१ गृणन्ति देव कृष्टयः ।

^{१ २ ३ १ ३}
अभैरमित्रमर्हय ॥ १ ॥ अ० ८। ७५। १० ॥

भा०—हे अग्ने । हे (देव) देव^१ (कृष्टयम्^१) मनुष्य (ते) तुझे (ओजसे^१) बल के लिये (नमः गृणन्ति) नमस्कार कहते हैं । तू

११—१. कृष्टिरिति मनुष्यनाम । नि० २। ३॥ २. ओज इति बलनाम । नि० २। ५।

(अमै.^३) यत्नों से (अमित्रम्) शत्रु को (अर्द्य) पीड़ित कर । भक्त भगवान् से श्राव्य मांगते और वन्दना करते हैं कि खल दण्डित हों ।

[१२] ^{३ १ २} दूतं वो ^{३ १ २} विश्ववेदसं ^{३ २ ३} हव्यवाहममर्त्यम् ।

^{१ २} यजिष्ठमृक्षसे ^{३ २} गिरा ॥ २ ॥ अ० ४ । ८ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! (विश्ववेदसम्) समस्त धनों के स्वामी, समस्त ज्ञानसपन्न (हव्यवाहम्) समस्त भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, (अमर्त्यम्) कभी न मरने वाले, अमृत (दूतम्) दूत के समान परोपकारी सर्वोपास्य, (यजिष्ठम्) सृष्टिमय महान् यज्ञ के करने वाले, अथवा सयसे बड़े उपास्य (व०) तुमको मैं (गिरा) वेदवाणी द्वारा (ऋञ्जसे^१) अपने अनुकूल करता हूँ, आपकी साधना करता हूँ । अथवा हे मनुष्यो ! (व० दूत) आप लोगों के उपास्य, सर्वेश्वर, अमृत रूप देवकी वाणी से (ऋक्षसे) स्तुति करता हूँ ।

[१३] ^{१ २} उप त्वा ^{३ २ ३} जामयो ^{२ ३ १ २} गिरौ ^{३ १ २} देदिशतीर्हविष्कृतं ।

^{३ १ २} वायोरनीके ^{३ २} अस्थिरन् ॥ ३ ॥ अ० ८ । १०२ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हविष्कृतः) स्तुति और हव्य सम्पादन करने वाले पुरुष की (जामय, गिर) वाणियाँ, भगिनियों के समान, एक ही स्थान पर उत्पन्न होने वाली, अथवा सत्य फलको पैदा करने वाली, (देदिशतीः) तेरे गुणों को प्रकट करती हुई (वायो) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तेरे ही (अनीके) समीप (उप अस्थिरन्) पहुँचती हैं, तुझ में ही घटती हैं ।

[१४] ^{१ २} उप त्वाग्ने ^{३ १ २} दिवे ^{३ ३} दिवे ^{३ २ ३ २} दोषावस्तर्क्षिया वयम् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} नमो भरन्त एमसि ॥ ४ ॥ अ० १ । १ । ७ ॥

३. रोगैर्लभैर्वैर्या । मा० वि० ।

१२—१ ऋञ्जति प्रसाधनकर्मा । नि० ४ । ३ ।

भा०—हे अग्ने ! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषा^१ वस्त.) साय प्रातः, दिन रात (वयम्) हम सब लोग (धिया) अपनी बुद्धि द्वारा और कर्म द्वारा (नमो भरन्त.) नमस्कार करते हुए या यज्ञ की हवि प्रस्तुत करते हुए (त्वा) तुम्हको (एमसि) प्राप्त होते हैं ।

[१५] जराबोधं तद्विविडडि विशे विशे यज्ञियाय ।

स्तोम रुद्राय दृशीकम् ॥ ५ ॥ अ० १ । २७ । १० ॥

भा०—हे (जराबोध) स्तुतियों द्वारा ज्ञान करने एवं प्रकट करने योग्य ! अग्ने ! (विशे विशे) प्रत्येक प्रजा के हित के लिये (तत् विविडडि) उस परम स्थान या हृदय में प्रवेश करो जहाँ लोग (यज्ञियाय) यज्ञ, आत्मा के योग्य हितैषी, उपास्य, (रुद्राय) दुष्टों को दण्ड करके खताने वाले तुम्ह ईश्वर के लिये (दृशीकम्) दर्शनीय (स्तोमम्) स्तुति पाठ करते हैं ।

अर्थात् जिस हृदय में कर्मव्यवस्था का भय करके दुष्टों के दण्डकर्त्ता ईश्वर के लिये स्तुति की जाती है, हे स्तुति द्वारा हृदय में प्रकाशित होने वाले परमात्मन् ! आप भक्ति द्वारा प्रत्येक मनुष्य के उस हृदय में प्रकट हों । फलतः, डर से ईश्वर की स्तुति करने की अपेक्षा सब लोग प्रेम और भक्ति से ईश्वर को हृदय में स्थान दें ।

[१६] प्रति त्वं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रह्वयसे ।

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ६ ॥ अ० १ । २८ । १॥

भा०—हे अग्ने ! तू (त्वं) उस (चारुम् अध्वरम्) सुन्दर, हिंसा-रहित यज्ञ अमर आत्मा की (गोपीथाय) रक्षा करने के निमित्त (प्र ह्वयसे) पुकारा या याद किया जाता है । तू (मरुद्भिः) विद्वानों द्वारा या प्राणों द्वारा उनकी साधना से हमारे हृदय में (आ, गहि) प्रकट हो ।

[१७] अश्वं न त्वा चारवन्तं वन्दध्या अग्नि नमोभिः ।

सम्राजं तमध्वराणाम् ॥ ७ ॥ अ० १ । २७ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (वारवन्तं अश्वं न) कष्ट निवारण के साधन रूप धातुओं से युक्त अश्व के समान (वारवन्त) कष्ट निवारक साधनों से सम्पन्न अथवा अज्ञान वारक, ज्ञानदीप्तियों और विघ्ननिवारक साधनों से सम्पन्न और (अध्वराणां सम्राजं तं) हिंसा रहित धर्म कार्य, यज्ञों के महान् सम्राट्, उनके प्रकाशक और उनमें स्वयं प्रकाशमान उस तुम्ह (अग्निं) अग्नि, प्रकाश-स्वरूप ईश्वर को (नमोभिः) हृदय के विनयों द्वारा (वन्दध्वै) वन्दना करते हैं।

[१८] और्वभृगुवच्छुचिममवानवदाहुवे ।

अग्निं समुद्रवाससम् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १०२ । ४ ॥

भा०—(समुद्रवाससम्) समुद्र, आकाश में व्यापक (शुचिम्) शुद्ध (अग्निम्) अग्नि, ईश्वर को (और्वभृगुवत्, अमवानवद्) और्वभृगु पृथ्वी के गर्भगत और अमवान अर्थात् ओषधि रसों में विद्यमान अग्नि के समान (आहुवे) स्मरण करता=जानता हूँ ।

‘ और्वभृगु ’ अग्नि पृथ्वी के गर्भ में रह कर समस्त पदार्थों को अपने ताप से भर्जन करती और पकाती है । ‘ अमवान ’ अग्नि रसों और आप-वियों में शान्त भाव से रहती है और रस, अम्ल चार रूप में प्रकट होती है । उसी प्रकार तेजोमय कान्तिमान् ईश्वर को समस्त यज्ञाण्ड में सामर्थ्य रूप में जानना चाहिये ।

[१९] अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्य ।

अग्निमिन्ध्वे विवस्वभि ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १०२ । २२ ॥

भा०—(अग्निन्) अग्नि, प्रकाशहरन्त्य ईश्वर को (मनसा) हृदय से (इन्धान) काशीत करता हुआ (मर्त्य) मनुष्य (धियम्) बुद्धि

या कर्म को (सचेत) प्राप्त हो । (विवस्वमि') सूर्य के समान विद्वानों द्वारा मैं (प्रतिम्) उस प्रकाशक रूप ईश्वर को (इन्धे') हृदय में प्रज्वलित करता हूँ ।

ईश्वर के मानस ध्यान से मनुष्य बुद्धि और कर्म को सुधार, उत्तम विद्वानों के संग से ईश्वर का ज्ञान करे ।

[२०] ^{२४}आदित्यप्रत्नस्य ^{३ २ ३ १ २ ३}रेतसो ^{१ २}ज्योतिः ^{३ २}पश्यन्ति वासरम् ।

^{३ २}परो यदिभ्यते ^{३ १ २ ३ २}दिवि ॥ १० ॥ अ० ८ । ६ । १० ॥

भा०—(पर. दिवि) द्यौलोक से भी परे अति अधिक दूर (यत्) जो सूर्य (इभ्यते) प्रकाशमान है । (आत् इत्) और (वासरम्) दिन को प्रकाश करने वाले जिस (ज्योतिः) सूर्य को लोग (पश्यन्ति) देखते हैं वह भी (प्रत्नस्य) अति प्राचीन आदिकाल के परम (रेतस) धीर्यवान्, जगत् के विधाता ईश्वर की ही (ज्योति) तेज है ।

तस्य भासा सर्वमिदं विभ.ति । (कठ उप० २ । १५)

इति द्वितीया दशतिः । द्वितीय. खण्डः ।



॥ ६० ३ ॥ १ प्रयोगः । २, ५, ६ भरद्वाजः । ३, १० वामदेव । ४, ६ वसिष्ठः । ७ विरूप । ८ शुन शेषः । ९ गोपननः । १० वामदेव । ११ कण्वः । १२ मेघातिथिः । १३ त्रिगिरा स्त्वाष्ट्र सिन्धुद्वीप अम्बरीषः, चतु आतथो वा ।

१४ उजनाः काव्य । गायत्री ॥

[२१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २}अग्निं वोवृधन्तमध्वराणां ^{३ २ २}पुरुतमम् ।

^{१ ३ २ ३ १ २}अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥ अ० । १०२ । ७ ॥

भा०—प्रयोग ऋषि । (व') तुम्हारे (अध्वराणाम्) यज्ञों या हिंसा रहित परोपकार के ऋषियों के (नप्त्रे) बन्धु, सहायक (सहस्वते) बल-

शाली, (वः वृधन्तम्) तुमको बढ़ाने वाले, (पुरुत्तमम्) सब से श्रेष्ठ, इन्द्रियों के स्वामी, अन्तरात्मा के समान (पुरुत्तमम्) और महान् लोकों के स्वामी (अग्निम्) अग्नि परमेश्वर को (अच्छा) सब से श्रेष्ठ जानो ।

[२२] ^{३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २} अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यष्टुसद्विभ्वं न्यत्रिणम् ।

^{३ १ २ २ ३} अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥ २ ॥ ऋ० ६। १६। २८ ॥

भा०—(अग्नि.) अग्नि अग्रणी राजा के समान, ईश्वर (तिग्मेन, शोचिषा) अपने तीक्ष्ण तेज से (विश्वम्) समस्त (अत्रिणम्) प्रजा के धन और प्राण खाने वाले दुष्टों को (नि यसव) नियमन करता है, व्यवस्था में रखता है । और वही (अग्नि.) अग्नि, परसतापक (न) हमें (रयि) धन और सुखमय जीवन (वंसते^१) देता है,

[२३] ^{१ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १ २} अग्ने मृड महा अस्य आ देवयुं जनम् ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २} इयेथ वाहिरासदम् ॥ ३ ॥ ऋ० ४। ९। १ ॥

भा०—हे अग्ने । परमेश्वर तू (मृड) हमें सुखी कर । (महान् अग्नि) तू बड़ा है । (देवयुम्) विद्वान् और देव के प्रिय (जनं) पुरुष को (अय^१) तुन प्राप्त होते हो । और (वाहः) यज्ञ, उपासना में (आसदम्) उपस्थित होने के लिये (इयेथ) आते हो ।

[२४] ^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} अग्ने रक्षा णो अष्टुहसः प्रति स्म देव रीयतः ।

^{१ ३ ३ १ २} तपिष्टैरजरो दह ॥ ४ ॥ ऋ० ७। १५। १३ ॥

२०—'वन्ते' इति ऋ० ।

२३—'अन्ययो' इति ऋ० ।

२४—'प्रति स्म' इति, ऋ० ।

भा०—हे (देव) उपास्य देव प्रभो ! हे (अग्ने) हे अग्ने ! स्व-
प्रकाश ! (न.) हमें (अहसः) पाप और पापी (रीषन्) हिंसक शत्रु से
(रक्ष) रक्षा कर, बचा और (अजर.) कभी हीनबल न होने वाला तू (तपिष्ठैः)
तपाने वाले तेजों शस्त्रों से उसको (प्रति दह स्म') भस्म कर डाल ।

[२५] अग्ने युङ्क्ष्व हि ये तवाभ्यासां देव साधव ।

अरं वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ अ० ६ । १६ । ४३ ॥

भा०—हे देव ! हे अग्ने ! (ये) जो (ते) तेरे (साधवः) साधु
स्वभाव वाले या योग साधना करने वाले (अभ्यासः) अभ्य के समान
इन्द्रिया, गतिशील, ज्ञानी साधक हैं, उनको (युङ्क्ष्व) लगा, यागाभ्यास
में प्रवृत्त करा । वे गतिशील, ज्ञानी, (आशवः) हरएक कार्य में शीघ्र सिद्धि
प्राप्त करने वाले साधक (अरम्) पर्याप्त उत्तम रूप से (वहन्ति') ज्ञान
और उत्तम कार्य के भार को धारण करते और उद्देश्य तक पहुँचाते हैं ।

[२६] नि त्वा नक्ष्य विशपते धुमन्त धीमहे वयम् ।

सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ अ० ७ । १५ । ७ ॥

भा०—हे (नक्ष्य) सब के सेवन योग्य, शरण योग्य ! हे (विशपते)
समस्त प्रजा के पति ! हे (आहुत !) सब से पुकारे और बुलाये और पाद
किये गये तथा हवि, भक्ति द्वारा आदर किये गये पूजित ! हे (अग्ने) अग्ने !
(धुमन्त) प्रकाशस्वरूप (सुवीरम्) उत्तम सामर्थ्यवान् तेरा (वयम्)
हम (धीमहे') ध्यान करते हैं ।

[२७] अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।

अपां रेतोसि जिन्वति ॥ ७ ॥ अ० ८ । ४४ । १६ ॥

२५—१ 'युङ्क्ष्व', 'वहन्ति मन्यव.' इति अ० ।

२६—१. 'देव धीमहि' इति अ० ।

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (मूर्धा) सब का शिरोमणि,
(दिवः ककुत्) द्यौलोक या सूर्य के ककुद् भाग के समान उत्तम, वहन
करने वाला, आश्रय और (पृथिव्या पति) पृथिवी का पति स्वामी है।
वही (अपाम्) सब लोकों के (रतासि) बीजभूत समस्त स्थावर और
जगम प्राणियों को (जिवति) तृप्त करता है, जीवन देता है।

[२८] ^{३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३ २ २ २} इमं मू पु त्वमरमाकं सनि गायत्र नव्यासम् ।

^{१ २ ३ २ ३ १ १} अग्ने देवेषु प्र वोच ॥ ८ ॥ अ० १ । २७ । ४ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (नव्यासम्) नवीन सम्पन्न
अति स्तुत्य (सनिम्) अन्न आदि के समान सेवनीय (अस्माकम्) हमारे
(गायत्रम्) प्राणों की रक्षा करने वाले साधन, एव छन्द, ज्ञान को (देवेषु)
देवों, पाचभूतों, इन्द्रियों और विद्वानों में (प्र वोच) उत्तम रूप से
कह, प्रकट कर।

[२९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १} तं त्वा गोपवतो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।

^{१ २ ३ १ २} स पावक श्रुधा हवम् ॥ ९ ॥ अ० ८ । ७४ । ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! (तं, त्वा) उस पूर्व प्रकारसे स्तुत तुम्हको (गोपवन)
वाणियों और इन्द्रियों के वश करने वाला पुरुष (गिरा) अपनी वाणी
से (जनिष्ठ) प्रकट करता है। हे (अङ्गिर) प्रकाशस्वरूप या अगो में
रम या वल्ल के समान विद्यमान अग्ने ! हे (पावक) मल आदि से पवित्र
करनेहार ! (स) वह तू हमारी (हवम्) स्तुतिको (श्रुधि) श्रवण कर।

[३०] ^{२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १} परि वाजपति कधिरग्निर्हव्यान्त्यक्रमीत् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} दधद्रत्नानि दाशुपे ॥ १० ॥ अ० ४ । १५ । ३ ॥

२८—'अस्मभ्यन्' इति नवीयसन् इति' तै० ।

२९—'य त्वा' इति अ० ।

भा०—(वाजपति.^१) बल, धीर्य, अघ, ज्ञान का स्वामी (कवि^२)
क्रान्तदर्शी, मेधावी (अग्नि) अग्नि, परमेश्वर (दाक्षिणे) दान करनेवाले को
(रत्नानि) रमणीय पदार्थ, (दधत्) देता हुआ, (हव्यानि) हवन करने योग्य
पदार्थों और मन्त्रिपूर्वक स्तुति वचनों को (परि अक्रमात्) स्वीकार करता है ।

[३१] उद् त्वं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।

दश विश्वाय सूर्यम् ॥ १२ ॥ अ० १। ५०। १ ॥

भा०—(केतवः^१) ज्ञान करने, करानेवाले रश्मियों के समान प्रज्ञा या
विद्वान्गण (सूर्य) सूर्य के समान प्रकाशमान, समस्त संसार के उत्पादक
उस सविता, (जातवेदसे) सब पदार्थों के जाननेहारे या वेदों के मूलकारण
(त्वं उ) उस (देव) परमात्मा देव को ही (उद् वहन्ति) धारण करने
हैं कि (विश्वाय) समस्त संसार उसको (दशो) देख ले, जान ले ।

सब विद्वान् उसे ज्ञान का मूलकारण और सब प्राणियों का प्रेरक
सबसे ऊपर बतलाते हैं कि सब उसको जान लें और उसके दिये ज्ञान से
स्वयं भी सब कार्य व्यवहारों को जानें ।

[३२] कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।

देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥ अ० १। १२। ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू उस (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सर्वज्ञ (अध्वरे
सत्यधर्माणं^१) यज्ञ में, जगत् में सत्य धर्मों को धारण करने वाले (देव)
दिव्यगुणों से युक्त दाता (अमीवचातनं) हुआ दात्री रोगों का नाश करने वाले

३०—१. वाज शन्यननाम, (नि० २। ७।) २. कविरिति मेधाविनाम,
(नि० ३ ॥ १५।)

३१—१. केतुरिति प्रधानाम । नि० ३। ६ ॥

३२—१. सत्यकर्माण । मा० वि० ।

(अग्निम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (उपस्तुहि) दत्तचित्त होकर स्तुति अर्थात् गुण वर्णन कर ।

[३३] शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये ।

शयोरभिस्तवन्तु न ॥ १३ ॥ अ० १० । ९ । ४ ॥

भा०—(न.) हमारे लिये (देवी) दिव्य गुणों से युक्त जल (अभिष्टये) हमारे अभिलषित सुख कार्यों के लिये (शम्) सुखकारी, कल्याणकारी हों । (न, पीतये, शम्) हमारे पान करने के लिये भी सुखकारी हों । (न.) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होकर ही (अभि-स्तवन्तु) सब ओर से बहें और सुखों की वर्षा करें ।

[३४] कस्य नूनं परीणसि त्रियो जिन्वासि सत्पते ।

गोपाता यस्य ते गिर. ॥ १४ ॥ अ० ८ । ८४ । ७ ॥

भा०—[प्रश्न] हे (सत् पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! तुम (नूनम्) निश्चय से (कस्य) किसके (धिय) कर्मों और स्तुतियों और मनः सकलों को (परीणसि) बहुधा (जिन्वासि) पूर्ण करते, स्वीकार करते हो ? [उत्तर] (यस्य) जिसकी (ते गिर.) तेरे निमित्त प्रकट हुई वाणिया (गोपाता) अपनी इन्द्रियों को वश करने के लिये है ।

जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को जीतने के लिये ईश्वर-स्तुति, उपासना, प्रार्थना करते हैं ईश्वर उनकी मनोकामना पूर्ण करते हैं ।

इति तृतीया दशति । तृतीयः खण्डः ॥

३३—१ ' आपो भवन्तु ' इति अ० । १. अभिगमाय, अभिगमन स्नानादिभिस्तत्पुनरासेचनम्, । मा० वि० ।

३४—१ 'परिणसि', 'दम्पते' इति च अ० । १. परिणसि इति यदुनाम, (नि० ३ । १)

॥ ४ ॥ १, शयुवार्हस्पत्यः ३ शयुस्तृणपाणिर्वा । २ भर्गः प्रागाथः । ४ वसिष्ठः ॥
५ भर्गः प्रागाथो मरद्वाजो वा । ६ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ ७ तृणपाणिः । ८ विरूपः । ९
शुनःशेषः आजीगर्तिः । ८, ९ भर्गः प्रागाथोवा । १० सोमरिः काण्वः । वृत्ती ॥

[३५] यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।

प्र प्र वयसमृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिपम् ॥१॥

श्र० ६। ४८। १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) आप लोग (दक्षसे) वत्तशाली, सर्व-
शक्तिमान् (अग्नये) अग्नि परमेश्वर की (यज्ञा यज्ञा^१) प्रत्येक यज्ञ में और
(गिरा गिरा च) प्रत्येक वेदवाणी से गुण कीर्तन करो । (वयम्) हम भी
(अमृतं) उस अमृत, मृत्यु से रहित (जातवेदसम्) वेदों के एकमात्र
उत्पन्न करनेहार, सर्वज्ञ, परमेश्वर को (प्रिय मित्रं न) प्रिय मित्र के समान
(प्र शंसिपम्) कीर्तन करते हैं ।

[३६] पाहि नो अग्न एकया पाद्भ्यूऽउत द्वितीयया ।

पाहि गीर्भिस्तिसृभिर्नृजास्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

श्र० ८। ६०। ९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (एकया^१) एक वेदरूप वाणी से (नः
पाहि) हमारी रक्षा करो, पालन करो । (उत) और (द्वितीयया^२) दूसरी
वेदमयी वाणी से (पाहि) पालन करो । (तिसृभि^३) तीनों (गीर्भि)

३५-१ सुपासुलुग इति सप्तम्याः लुक् (पा० ७। १। ३६) वीप्साया दिर्वचनम् ।

३६-१ 'श्रग्-लक्षणया' इति मा०, वि० ।

२ यजुर्लक्षणया मा० वि० ।

३, श्रग्-यजुः सामलक्षणानि इति मा० वि० ।

वेद वाणियों से (पाहि) पालन कर । हे (ऊर्जागते) सब अन्नों और बलों के अधिपते ! हे (वसो) सब के भीतर बसने और सबको बसाने वाले वसो ! (चतसृभिः^४) चारों वेदवाणियों से (पाहि) पालन कर ।

ज्ञान, विज्ञान, क्रिया और उपासना इन चार भेदों के पृथक् २ निरूपण करने से चार वेद हैं । प्रत्येक से प्रजा का पालन करना ही मन्त्र का अभिप्राय है ।

[३७] ^{३ १ २} बृहद्भिर्गने ^{३ १ २} अर्चिभिः ^{३ १ २} शुक्रेण ^{३ १ २} देव ^{३ १ २} शोचिषा ।

^{३ १ २} भरद्वाजे ^{३ १} समिधानो ^{३ १} यविष्ठ ^{३ १} रेवत्पावक दीदिहि ॥ ३ ॥

प्र० ६।४८।७॥

भा०—हे (देव) दानादि गुणसम्पन्न ! (यविष्ठ) मघ से मदान् युवतम ! सब से अधिक यौवन सम्पन्न, कभी निर्बल न होने वाले, हे (शग्ने) प्रकाशस्वरूप हे (रेवत्) समस्त धनों के स्वामी हे कान्तिमन् ! हे (पावक) सबको अपने तेज से पवित्र करने वाले ! तू (शुक्रेण) निर्मल (शोचिषा) तेज से (भरद्वाजे) ज्ञान और बल धीरे को धारण करने वाले पुरुष में (समिधान) विशेष रूप से प्रतीत होते हुए (बृहद्भिः) बड़े (अर्चिभिः) कान्तियों, ज्वालाओं, तेजों से (दीदिहि) प्रकाशमान होयों ।

[३८] ^{३ १ २} त्वे ^{३ १ २} अग्ने स्वाहुत ^{३ १ २} प्रियाम् ^{३ १ २} सन्तु ^{३ १ २} सूर्यः ।

^{३ १ २} यन्तारो ^{३ १ २} ये मघवानो ^{३ १ २} जनानामूर् ^{३ १ २} दयन्त ^{३ १ २} गानाम् ॥ ४ ॥

प्र० ७।१२।७॥

४ 'तुष्टु' यामिगम्यमानि । त० १।० ।

३७—'इदं' शुक्र दीर्घा दुन्तात् इति द० ।

३८—'जनानामूर्' इति द० ।

भा०—हे अग्ने परमेश्वर ! हे (स्वाहुत) उत्तम रीति से यज्ञ में उपा-
सित ! (सूरय.) विद्वान् लोग जो सबकी मति को प्रेरित करते हैं वे
(प्रियास.) प्रिय (सन्तु) हों । (यन्तार) दान करने वाले या (जनाना)
प्रजाओं को (यन्तारः) नियम व्यवस्था में रखने वाले (ये) जो (भव-
वान) धन ऐश्वर्यसम्पन्न हैं और जो (गोनाम्) गौओं, इन्द्रियों और वेद-
वाणियों के (ऊर्वम्) समूह को (वयस्त.) पालन करते, वश में रखते और
औरों को दान करते हैं वे भी सर्वप्रिय हो ।

[३६] अग्ने जरितविश्वपतिस्तपानां देव रक्षसः ।

अप्रोपिचान् गृहपते महो असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥

अ० ८। ६०। १९ ॥

भा०—हे (देव) देव ! हे अग्ने ! हे (जरित.) स्तुति योग्य या उपदेश
करनेहारे ! तू (विश्वपति.) प्रजा का स्वामी है । (रक्षस.) राक्षसों, दुष्ट
पुरुषों को (तपानः) सन्ताप देता है । हे (गृहपते) ब्रह्माण्ड रूप गृह
के स्वामिन् ! तू गृहमेधी के समान (अप्रोपिचान्) कभी भी प्रवास में न
रहने वाला, सदा विद्यमान (दिवस्पायुः) द्यौलोक की रक्षा करनेहारा,
(दुरोणयुः) सत्रके गृहों या देहों की मगल कामना करनेवाला (महान्,
असि) सब से बड़ा है ।

[४०] अग्ने विवस्वदुपसश्चिन्नं राधो अमर्त्य ।

आ दाशुषे जातवेदो यहा त्वमघा देवा उपवुधः ॥६॥

अ० १। ४४। १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं उपसः) तू उपा का (विवस्वत्) वाम करने
योग्य, विविध सुखों, ऐश्वर्यों का साधक (दाशुषे) यज्ञादि परोपकार करनेवाले

पुरुष को (चित्रं राधः) नाना प्रकार का धन, ज्ञान (आवह) प्राप्त करा । हे (अमर्त्य) मरणरहित, नित्य ! हे (जातवेदः) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण (त्वं) तू (अथ) आज (उपबुधः) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले (देवान्) इन्द्रियगण को (दाशुषे) इस मनुष्य को (आवह) पुनः प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २
[४१] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांशुसि चोदय ।

३ २ ३१२ ३२२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ ३ २२
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तु चे तु नः ॥७॥

ऋ० ६ । ४८ । ९ ॥

भा०—हे (वसो) सब को बसाने वाले अग्ने ! (त्वं) तू (चित्रः) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय (ऊत्या) अपने रक्षासामर्थ्य से (राधांसि) धनों, बलों, सामर्थ्यों को (नः चोदय) हमारे प्रति प्रेरित कर । (त्वं) तू (अस्य) इस (रायः) धन ऐश्वर्य का (रथीः) रथ में बैठे महारथी के समान विजेता या रस ग्रहण करनेहारा (असि) है । और तू (नः) हमारे (तुचे) सन्तान के लिये (गाधं तु) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य को भी (विदाः) प्राप्त करा ।

२४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[४२] त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने आतर्कतः कविः ।

१२ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वा विप्रासः समिधानदीदिव आ विवासन्ति वैश्वस ॥८॥

ऋ० ८ । ६० । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (आतः) रक्षा करने हारे ! (त्वम् इत्) तू ही (सप्रथा^१) सब प्रकार से विख्यात है । तू ही (ऋतः) सत्य, ज्ञानस्वरूप, (कवि) मेधावी क्रान्तदर्शी है । हे (दीदिवः^२) देदीप्यमान, तेज स्वरूप । हे (समिधान) प्रकाशमान ! तुझको ही (वैश्वस) स्तुति करने

हारे (विप्रासः) विद्वान् लोग (आ विवासन्ति) भजन, कीर्तन करते और प्रकट करते हैं ।

[४३] आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावकं शंस्यम् ।

रास्वा नन उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥६॥

मृ० ८।६०।११ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (पावक) पवित्र करने हारे ! (नः) हमें (शंस्यम्) प्रशंसा के योग्य, (वयोवृधम्) आयु को बढ़ाने वाला (रयिम्) धन ऐश्वर्य (रास्व) दे । हे (उपमाते) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्त्ता ! (सुनीती) उत्तम धर्म की नीति से (नः) हमें (पुरुस्पृहम्) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और (सुयशस्तरम्) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी (रास्व) दे ।

[४४] यो विश्वा दयत वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।

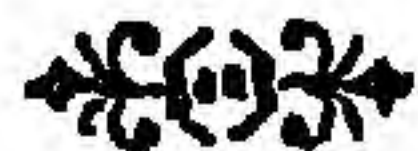
मघो न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥

मृ० ८।१०३।६ ॥

भा०—(यः) जो अग्नि, ईश्वर (विश्वा वसु) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन (दयते) दान करता है या सब वास करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है वह (होता) सद्य को अन्न आदि पदार्थ देने वाला (जनानाम् मन्द्रः) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है । (अस्मै) इस (अग्नये) अग्नि के लिये (मघोः) मधु, ऋग्वेद के (स्तोमाः) स्तुतिपूर्ण मन्त्र (प्रथमानि) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत (मघोः पात्रा न) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही (प्रयन्ति) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं ।

उस भगवान् की सबसे प्रथम स्तुति करनी चाहिये जो समस्त प्राणियों की रक्षा करता, सबको अन्न देता और आनन्द देता है।

इति चतुर्थी दशतिः । चतुर्थः सण्डः ।



॥ द० ५ ॥ १ वसिष्ठो वामदेवो वा । २ भर्गः प्रागाथ । ३, ७ सौमरिः काण्वः ।
४ मनुर्वेवस्वतः । ५ सुदीतिपुस्मीद्विष्मन्मा । ६ प्रस्काण्वः काण्वः । ८ मेधातिथिर्म-
ध्यातिथिश्च काण्वौ । ९ विश्वामित्र । १० काण्व घौर ॥ वृहती ॥

[४५] एना वो अग्नि नमसोजो नपातमाहुये ।

प्रिय चेतिष्ठमरतिष्ठ स्वध्वर विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

अ० ७।१६१॥

भा०—हे मनुष्यो ! (एना) इस (नमसा) अन्न द्वारा (ऊर्ज नपात) बल को छीन न होने देने वाले (प्रियम्) स्वयं उत्तम, प्यारे, (चेतिष्ठम्^१) सबसे अधिक ज्ञानवान् और ज्ञान कराने वाले, (अरति) स्वामी, (स्वध्वर) उत्तम, हिंसा से रहित, जो न मारे, न मरे, नित्य, (विश्वस्य दूतम्) समस्त ससार को ज्ञान का संदेश देने वाले या सब के स्वयं सताप निवारक, उपास्य और (अमृतम्) स्वयं नित्य, अविनाशी (अग्नि) अकाण्डस्वरूप परमेश्वर का (आहुये) स्मरण करता हूँ।

[४६] शोभे वनपु मातृपु सन्त्वा मर्त्तसि दन्धते ।

अतन्द्रो हव्य वहसि हविर्कृत आदिहव्यपु गजसि ॥२॥

अ० ८।६०।१५॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! तू (वनपु) जंगलों में अग्नि के समान, देवों में जौर के समान, मय प्राणियों की आत्माओं में और (मातृपु)

४६—'गजसि', 'हव्य' इति अ० ।

माताओं के गर्भों और भूमियों में चेतन बीजरूप से (शेषे) प्रसृत होकर व्याप्त रहना है । (त्वा) तुम्हको (मर्त्तासः) मरणधर्मा, देहवान् प्राणि-
गण (इन्धते) प्रदीप्त करते, प्रकट करते और ज्ञान करते हैं । तू (अतन्द्रा) आलस्य से रहित होकर (हविष्कृतः) हवि सम्पादन करने वाले पुरुष के (हव्यं) प्रस्तुत किये ज्ञान को (वहसि) ले जाता है । (आत् इत्) और अनन्तर तू ईश्वर (देवेषु) देवों, विद्वानों और जीवों और इन्द्रियों के बीच में सबसे उत्कृष्ट होकर (राजसि) प्रकाशित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७] अदर्शि गातु वित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।

३ २ ३ १ २ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २
उपोषु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

अ० ८ । १०३ । १ ॥

भा०—(गातुवित्तमो^१) समस्त मार्गों-लोकों को भली प्रकार जानने वाला, पृथिवी का उत्तम ज्ञाता, वह अग्नि (अदर्शि) प्रकट होता है (यस्मिन्) जिसमें, जिसके बल पर दीवित लोग (व्रतानि^२) अपने शुभ-कर्म और संकल्पों को (आदधुः) धारण करते हैं । उस (सुजातम्) शुभ गुणों से युक्त, उत्तम प्रकार से प्रकट होने वाले, (आर्यस्य वर्धन) श्रेष्ठ पुरुष की उन्नति करने वाले (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (न. गिरः) हमारी वाणिया (नक्षन्तु^३) प्राप्त हों ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४८] अग्निरुक्थं पुरोहितो आचार्यो वर्हिरध्वरः ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अबो वरेण्यम् ॥ ३ ॥

अ० ८ । १०७ । १ ॥

४७—'नक्षन्त नो गिर' इति अ० । १. गातुरिति पृथिवीनाम् । नि० १ । १ ।

२. व्रतमिति कर्मनाम् । नि० २ । १ । ३. नक्षतिर्व्याप्तिर्नाम् । नि० २ । १८ ।

४८—'मरुतो ब्रह्मणस्पति देवान्' इति अ० ।

भा०—(उक्थे) उक्थ नाम यज्ञ में (अग्निः) अग्नि, ज्ञानी विद्वान् (पुरोहितः) पुरोहित होता है और (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (आवाणः) सोमसम्पादन के लिये, एवं ज्ञानयुक्त कर्म सम्पादन के लिये विद्वान् पुरोहित नियुक्त होते हैं और (बर्हिः) कुशा भी लाई जाती है । हे (मरुतः) देव-गण, विद्वानो, प्रजाजनो, अध्यक्ष लोगो ! हे (ब्रह्मयास्पते) वेदवित्, सब विद्वानों के मुख्य ! हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! (ऋचा) ऋग्वेद के अनुसार (वरेण्यम्) सबसे अधिक वरण करने योग्य (अवः) रक्षा या शरण को (यामि^१) मैं प्राप्त करू ।

३ १ २ ३ ३ २ १ १ २ ३ १ २
[४६] अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥

ऋ० ८ । ७१ । १४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (शीरशोचिषम्^१) सुप्त ज्योति वाले, (अग्निं) अग्नि, परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा, पालन के लिये (गाथाभिः) नाना प्रकार के वेदमंत्रों और विज्ञान कथाओं से (ईडिष्व) वर्णन कर । हे (पुरुमीढ^२) और बहुत ज्ञान सिधे ! पुरुष ! (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् का आश्रय (राये) धनदि विभूति प्राप्ति के लिये ले । (श्रुतं) उसी प्रसिद्ध या विद्वान् अग्नि, ज्ञानी के समान प्रभु को (नरः^३) नेता और

१ यामि इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । नि० ३ । १९ ।

४९—‘अग्निं सुदीतये छर्दिः’ इति ऋ० ।

१ शीर अनुशायिनमिति वा आशीनमिति वा इति । निरु० ४ । २ । १४ ॥

२ हे पुरुमीढ ! मदीयान्तरात्मन् ! इति मा० वि० ।

३ नर इति मनुष्यनाम । नि० २ । ३ । नर नराकारम् इति मा० वि० ।

४. ‘छर्दि छर्दं संदीपने’ चुरादि ।

नरनारी भी अपना आश्रय बनाते हैं । (सुदीतये) प्रकाश करने के निमित्त भी वह (अग्नि) अग्नि ही (छर्दिः) दीप्तिमय प्रकाश है । अथवा (छर्दिः सुदीतये अग्निः) घर को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान भी वही ज्ञानमय प्रभु हृदयगृह का और ब्रह्माण्ड का प्रकाशक है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०] श्रुधि श्रुत्कर्णं वह्निभिर्देवैरग्ने सयावमिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आ सीदतु वहिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्याधिभिरध्वरे ॥६॥

अ० १ । ४४ । १३ ॥

भा०—हे (श्रुत्कर्ण) श्रवण करने में समर्थ, कर्णेंद्रिय से सम्पन्न अग्ने ! ज्ञानवन् ! (श्रुधि) आप हमारा निवेदन सुनों । (सयावमिः) समान राति, ज्ञान से सम्पन्न (वह्निभिः) कार्यभार को उठाने में दक्ष, एवं प्रकाशमान (देवैः) देवों के साथ (मित्रः) मित्र, सबको स्नेह करने वाला (अर्यमा) न्यायकारी, स्वामी के पद पर स्थापित, (प्रातर्याधिभिः) प्रातःकाल, देवयजन स्थान में आने वाले विद्वानों के सहित (अध्वरे वहिषि) हिंसारहित यज्ञ एवं आसन पर (आसीदतु) विराजमान हो ।

१२५२ ३ २ ३ २४ ३ २ ३ १ २
[५१] प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २४ ३ १२ २४ ३ १ २
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्यौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

अ० ८ । १०३ । २ ॥

भा०—(दैवोदासो अग्निः) धुलोक में उत्पन्न होने वाला अग्नि (देवः) प्रकाशमान होकर (इन्द्रो न) चमचमाते विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना) बलपूर्वक (मातरं पृथिवीं अनु) समस्त प्राणियों की माता

५०—‘आमिदन्तु वहिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्याधिभिरध्वरम्’ इति अ० ।

५१—‘अग्निर्देवा अक्ष’, ‘नाकस्य सानवि’ इति अ० । ‘मज्मना’ इति बहुव्र, प्रायः गानग्रन्थेषु । १. मज्मनेति बलनाम । नि० २ । ९ ॥

पृथिवी की ओर (प्र विवावृते) नाना प्रकार से पहुँच कर उसको ढक लेता है, उस पर जालसा बिछा देता है और (नाकस्य) अन्तरिक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) स्थिर है ।

अर्थात् सूर्यलोक से आया तेज प्रभाव वेग से पृथिवी पर गिरता है और वायु में लीन होकर पृथिवी को छाये रहता है । सूर्य से निकलते हुए जीवन के मूलकारण 'आयनृज' पृथिवी माता पर पहुँचते हैं । यही वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है ।

ईश्वर पक्ष में—(दैवोदास. अग्नि) तेजोमय परमेश्वर के आश्रय में विद्यमान् ज्ञानवान् (देव) स्वयंप्रकाश (इन्द्र न) विद्युत् या सूर्य के समान (मज्माना) अपने बल से (मातरम् पृथिवीम् अनु) सब प्राणियों के उत्पन्न करनेवाली माता पृथिवी पर (प्र विवावृते) विशेष रूप से रहता है । और पुनः (नाकस्य) नाक, स्वर्ग, सुखमय, आनन्दमय मोक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) विराजता है ।

[५२] अध उमो अधवा दिवा बृहता रोचनादधि ।

अया चर्द्धस्य तन्या गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥ ८ ॥

अ० ८ । १ । १८ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अध उम) पृथिवी के नीचे (अधवा) और (बृहतः) विशाल, सब पर आच्छादित, (रोचनात्) कान्तिमान् (दिव) सूर्यमण्डल के (अधि) ऊपर भी (अया) इमी (तन्या) रूप में (चर्द्धस्व) नू सर्वत्र फैला हुआ है । हे (सुक्रतो) हे सुन्दर संसार के यत्न करने वाले कारीगर ! (गिरा) अपनी वेदमय ज्ञान-यात्री में (मम) मेरे (जाता) प्रजाजनों का (पृण) पालन कर और पोषण कर ।

५२—अ। अग्ने इमं पाठ । १. अधि पृथिवीम् । नि० १ । १ ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[५३] कायमानो वना त्व यन्मातृरजगन्नपः ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

न तत्त अग्ने प्र मृषे निवर्त्तनं यद् दूर सन्निहा भुवः ॥६॥

अ० ३।९।२॥

भा०— हे अग्ने ! जीव ! (त्वं) तू (वना) वनों का, देहों का (काय-मान^१) सन्वय या कामना करता हुआ (यत्) जो (मातृ^२) माता-स्वरूप उत्पादक (अप) कर्मों को (अजगन्) प्राप्त हो गया, उनमें लग गया है । (तत्) वह (ते) तेरा (निवर्त्तन) अपने मोक्षमार्ग से अष्ट होना (न-प्र मृषे) सहन नहीं होता (यद्) कि (दूर^३ सन्) विषय वासनाओं और कर्मबन्धनों से दूर रहकर भी (इह) इस कर्मबन्धनमय जीवलोक में (आ भुवः) पुन प्राप्नुर्भाव हुआ, उत्पन्न हुआ है ।

ईश्वरपक्ष में—(वना) भोग योग्य लोकों को (कायमानः) बनाने की कामना करता हुआ (यत्) जब तू (मातृ^४ अप.) सब जगत् के उत्पादक मूल प्रकृति के परमाणुओं को (अजगन्) थाम लेता है (तत् ते निवर्त्तनम्) उस समय तेरा निगूढ़ व्यापार (न प्र मृषे) नहीं प्रतीत होता है कि (यत् दूरे सन्) उस प्रकृति से दूर, सर्वथा भिन्न, असंग रह कर भी (इह आभुव.) इसमें व्यापक होकर सृष्टि रचने में समर्थ होता है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[५४] नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

दीदेथ कएव ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥

अ० १।३६।१०॥

६३—'इन्द्राभय' इति अ० । १ चायु पूजानिगमनयोरिति चायतेः चोः कुत्वापस्था ।

कायमनश्चायामन कामयमान इति वा । निरु० ४।२।१४ ।

२, मातरः इति नदीनाम् । नि० १।६३॥ ३, दु । ए इति पदकारः ।

भा०—हे अग्ने ! (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप, ज्ञानमय, प्रकाशरूप (त्वाम्) तुम्हको (शश्वते^१ जनाय) नाना प्रकार की प्रजाओं के लिये (मनु) मननशील पुरुष ने (निदधे) पूर्णरूप से प्रकाशित किया । और (यं) जिसको (कृष्टयः) मनुष्यगण (नमस्यन्ति) नित्य नमस्कार करते हैं वह तू (कण्व) मेधावी पुरुष के हृदय में वह (अतजातः) सत्य ज्ञान या वेद रूप से प्रकाशमान होकर (अक्षितः) आनन्द रस रूप में सिक्त होकर (दीदेथ) प्रकाशित हो ।

इति पञ्चमी दशतिः । पञ्चम खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धपाठकः ।



॥ द० ६ ॥—१, ७ वसिष्ठः । २, ३, ५ कण्वोः घौरः । ४ सौमरि काण्वः । ६ उत्कील आत्कीलो वा काण्वः । ८ विश्वामित्रः ॥ २ ब्रह्मणस्पतिः । ३ यज्ञ । बृहती ॥

[५५] देवो^३ वो^१ द्रविणो^२ दाः^३ पूर्णो^३ विवष्ट्वा^२ सिचम्^२ ।

उद्वा^१ सिञ्चध्वमुप^२ वा^३ पृणध्वमादिदो^३ देव^३ ओहते^२ ॥१॥

अ० ७ । १७ । ११ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारा (देवः) देव, इष्ट, भक्तिपात्र परमेश्वर (द्रविणोदा) सब प्रकार के द्रव्यों को देने हारा है । इसलिये वह (पूर्णाम्) मरी हुई (आसिचम्) सुवा को ही (विवष्टु) कामना करता है (वा) और (उत् सिञ्चध्व) खूब ऊपर से आहुति भरकर ढालो (वा) और (उप-पृणध्वं) उसको पुन भरो (आत् इ) तब शीघ्र ही (वः) तुम्हारे लिये (देवः) वह दिव्य गुण ईश्वर (ओहते^१) अभिलषित फल देगा ।

५४-१. शश्वद् बहुनाम (नि० ३ । १ ।)

५५—‘विवष्ट्यामिचम्’, इति अ० ।

१ ओहते वर्षयति । मा० वि० । वहतेरूपम् । सा० । वहतेरूपम् । मा० वि० ।

जो ईश्वर सब कुछ देता है उसके नामपर कंजुमी से दान न देकर खुले हाथ दान करना चाहिये । पात्र में दान देने से फल भी शीघ्र प्राप्त होता है ।

२३ १ २ ३ २ ३ २ क२२ ३ १ २
[५६] प्रैतु ब्रह्मणस्पति प्र देव्येतु सूनृता ।

१ २ २१२ २२२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अच्छा वीरं नयं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ २ ॥

अ० १ । ४० । ३ ॥

भा०—(ब्रह्मणस्पतिः^१) ब्रह्म का पालक विद्वान् या ईश्वर ब्रह्म-
णस्पति (प्रैतु) हमारे पास आवे । (सूनृता) वेदवाणी (देवी) दिव्य-
गुणों से सम्पन्न (प्र-एतु) उत्तम रूप से हमें प्राप्त हो । (देवाः) विद्वान्
या हृन्दिगण (नयं) मनुष्यों के हितकारक (वीरम्) वीर्यसम्पन्न (पङ्क्ति-
राधसम्) पङ्क्ति, दश से साधन योग्य या परिपक्व ज्ञान से प्राप्य (यज्ञं)
यज्ञ को (नः) हमें (अच्छा^२) मन्त्री प्रकार (नयन्तु) प्राप्त करावें ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ २२ ३ २

[५७] ऊर्ध्व ऊ पु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदब्जिभिर्वाघद्भिर्वि ह्वयामहे ॥३॥

अ० १ । ३६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर तू (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये
(ऊर्ध्वः) उन्नत होकर (सु तिष्ठ) मन्त्री प्रकार स्थिर रह । (देवः सविता
न) दिव्य गुणों से सम्पन्न सविता, सूर्य या विद्वान् के समान आप
(वाजस्य) अन्न और ज्ञान को (सनिता) देनेहारो हो । (यद्) जिस
कारण (अब्जिभिः^१) गुणों का प्रकाश करने हारे (वाघद्भिः) यज्ञकार्य का

५६-१ ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्म मन्त्रं, तस्य पतिः । ब्रह्म वेदः, तस्य पतिः ।

२. अच्छा आप्तु सम्भावयितुमिति मा० वि० ।

५७-१. अब्जिभिः त्वद्गुणप्रकाशकैः छन्दोभिः, इति मा० वि० ।

सम्पादन करने हारे विद्वानों द्वारा हम आपको (वि ह्वयामहे) बुलाते हैं और आपकी स्तुति उपासना करते हैं ।

२४ ३१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८] प्र यो राये निनीषति मर्त्तो यस्तं वसो दाशत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशसिन् तमना सहस्रपोषिणम् ॥४॥

ऋ० ८ । १०३ । ४ ॥

भा०—हे वसो^१ ! समस्त ससार को आश्रय देने वाले ! (य०) जो (मर्त्त) मरणधर्मा पुरुष (राये) अमृत धन के निमित्त (प्र निनीषति^२) तुझ तक पहुँचना चाहता है या कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पादन करना चाहता है या प्रेम प्रकट करना चाहता है । और (य) जो (ते) तुझे (दाशत्) समर्पण करता है (स) वह हे अग्ने ! परमेश्वर (उक्थशसिनम्) वेदवक्ता (सहस्रपोषिणम्) हजारों को भरण पोषण करने वाले (वीरम्) वीर पुत्र को (तमना) अपने सामर्थ्य से (धत्ते) धारण करता या उत्पन्न करता है ।

ईश्वर को स्मरण करने और उसको आत्मसमर्पण करने वाले याज्ञिक धर्मात्मा के घर में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे स्वयं विद्वान्, वेदवक्ता और सहस्रों को पालने पोषने में समर्थ होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ ० ३ १ २ ३ १ २
[५९] प्र वो यद्वं पुरुषां विशा देवयतीनाम् ।

३ २ ३ ० ३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २
अग्निं सुक्तेभिर्वचोभिर्धृषीमहे यद्वं समिदन्य इन्धते ॥५॥

ऋ० १ । ३६ । १ ॥

भा०—(यं) जिस अग्नि, राजा या ईश्वर को (अन्य इत्) अन्य पुरुष भी (सम् इन्धते) प्रज्वलित प्रदीप्त करते, हृदय में जुगाते हैं, उस

५८—'प्रय राये निनीषति' इति ऋ० । १. वासनाग्ने । सा० । २. जी प्राप्ते ।

ध्याति । प्रायन रचन । प्रणय प्रेम ।

५९—'वचोभिरीमहे' इति ऋ० । 'समिदन्य इन्धते' इति ऋ० ।

(देवयतीनाम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न होना चाहने वाली (पुरुषाम्^१)
पालन पोषण करने में समर्थ, बलवान्, शरीर में इन्द्रियो के समान (विणा)
प्रजाओं के (यद्गम्^२) व्यवस्थापक, महान्, अधिष्ठातारूप अग्नि को (सूक्तेभि)
वेद के सूक्तों द्वारा (प्रवृणीमहे) खूब अच्छी प्रकार वरण करते हैं । यहा
आत्मा और राजा का भी वर्णन है ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[६०] अयमग्निः सुवीर्यस्थेशो हि सौभगस्य ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥ ६ ॥

अ० ३ । १६ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, परमेश्वर और राजा (सुवी-
र्यस्य) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य का और (सौभगस्य) सौभाग्य का (हि)
भी (ईशे) स्वामी, अधिष्ठाता है । वही अग्नि (रायः) समस्त धनों का
(ईशे) स्वामी है । वही (स्वपत्यस्य) सुन्दर पुत्र प्रजा का (गोमत.)
गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (राय.) धन धान्य का (ईशे) स्वामी है ।
वही (वृत्रहथानां) वृत्र, विघ्नकारी पापों, पापी पुरुषों के मारने वाल बल
और साधनों का भी (ईशे) स्वामी है ।

१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २
[६१] त्वमग्ने गृहपतिस्त्वष्टुं होता नो अध्वरे ।

१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्व पोता विश्ववार प्रचता यक्षि यासि च वार्यम् ॥ ७ ॥

अ० ७ । १६ । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं) तू (गृहपतिः) घर का स्वामी है, (त्व)
तू (न.) हमारे (अध्वरे) यज्ञ, हिंसारहित श्रेष्ठ कर्म में (होता) यज्ञ-

१ पुरुषाणि इन्द्रियाणि । द० उ० । २. यह इति महन्नाम । नि० ३ । ३ ।

६०—'ईशेमहः' इति अ० ।

६१—'यक्षि वेपि च' इति अ० ।

मान और समस्त भोग्य पदार्थों के देने और स्वीकार करनेवाला या विद्वान् दिव्य गुणों, पुण्यों और शक्तियों को बुला कर हमें प्राप्त कराने वाला है । हे (विश्वचार) समस्त ससार के वरण करने योग्य या सब विघ्नों के वारण करनेहारे रक्षक । (त्वं) तू (पोता^१) सब कार्यों का परिशोधक, निरीक्षक, (प्रचेता) उत्कृष्ट मतिसम्पन्न है । तू ही (वार्यम्) सब को प्रसन्न करने वाले वरणयोग्य, श्रेष्ठ पदार्थ ऐश्वर्य को (यदि) देता है और (यासि च^२) हमें प्राप्त कराता है या स्वयं स्वीकार करता है ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[६२] सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अपात्रपातं सुभगं सुदं ससं सुप्रतूर्त्तिमनेहसम् ॥ दा०
ऋ० ३ । १ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (सखायः) हम सब समान रयाति वाले (मर्त्तास^१) मरणधर्मा पुरुष या इन्द्रियगण (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अपात्रपातम्^२) अप अर्थात् कर्मों और ज्ञानों के नपात् अर्थात् अपत्य, उत्पन्न हुए महाप्राण रूप, या हम प्रजाओं को विनष्ट न होने देने वाले (सुभगं) सुख से सेवन योग्य, उत्तम ऐश्वर्यवान् (सुदंसं^३) शुभ कर्म करने वाले (सुप्रतूर्त्ति^४) पापियों और पापों के विनाशक, (अनेहसम्^५) क्रोध और उपद्रवों से रहित (त्वा देवं) तुझ देव को (ववृमहे) वरण करते हैं ।

१. पोता—शोधयिता । भा० वि० । २. यासि याचसे इति भा० वि० । 'सुभगं सुशीदिति' इति ऋ० ।

६२-१ अत्र नपात् । अपात्रपातत्वं, यथा अद्भ्य ओषधयः । ततो रसजोगिनिर्भिद्यन् ।

अयया आपोमय प्राण इति मुख्यप्राणस्यादभ्यो अन्यत्वात्तदपत्यत्वं ।

२. दध. कर्मनाम (ति० २ । १), ३. तूर्त्तिर्दिमार्थः म्यादि ।

४. अनेहम् उपद्रवरहितं सा० । दानोषम् । सा० वि० । एह क्रोधनाम ।

मि० २ । १३ ।

इन्द्रियगण जिस प्रकार आत्मा को घरते हैं उसी प्रकार मनुष्य अपनी रक्षा के लिये इन गुणों से सम्पन्न को ही राजा मुख्यपति नियुक्त और उसी प्रकार ईश्वर को भी वरण करे ।

इति षष्ठी दशति. । षष्ठः सण्डः ।



॥ ७ ॥ अ०-१ दयावाग्धोवामदेवोवा । २ उपस्तुनो वार्ष्टिहव्यः । ३ बृहद्वथो वाम-
देव्यः । ४ कुत्सः । ५, ६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ७ वामदेवः । ८, १० वसिष्ठः ।
९ त्रिशिरस्त्वाष्ट्रः ॥ १, ३, ५, ९ त्रिष्टुभः । २, ४ जात्यौ । १० त्रिपाङ्गविराड्गायत्री ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३] आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं निहोतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

भा०—हे पुरुषो ! (हविषा) स्तुति और अन्नादि द्वारा (आजुहोत)
आठरपूर्वक आहुतिये दान करो और (मर्जयध्वं) सत्कार करो और सुखी
करो । (होतार) सब प्रकार के भोग्य अन्न आदि देने वाले उस होता स्वरूप
(गृहपति) गृह स्वामी के समान प्रभु को (नि दधिध्वम्) अच्छी प्रकार सेवा
शुश्रूषा और धारणा ध्यान द्वारा स्मरण करो । (इड.) इला-पृथिवी यज्ञवेदी
और अन्नादि के (पदे) स्थान पर या अवसर पर और (पस्त्यानाम्) घरों के
बीच में (रातहव्यं) हवि चरु आदि पुष्टिकारक पदार्थ और आनन्द के दायक
स्वामी की नमसा)नमस्कार और उपहार द्रव्यों द्वारा(सपर्यत) पूजा सत्कार करो ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४] चित्र इच्छिंशोरतरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २

अनू या यदजीजनदधाचिदा घवक्षत्सद्यो महि दून्यं चरन् ॥२॥

अ० १४ । ११७ । १ ॥

६३-१. पस्त्यानि गृहाणि । नि० ३ । ४ । तेषु ये निवसन्ति ते पस्त्याः । मा० वि० ।

६४-‘अन्वेति धातवे’ ‘यदजीजनद’ ‘अथाचन वक्ष सद्यो’ इति पाठभेदाः, अ० ।

भा०—परमात्मा अग्नि का श्लेषपूर्वक शिशु रूप से वर्णन । प्रथम शिशु के पक्ष में—(शिशो,^१) उम शिशु रूप (तरुणस्य) तरुण अग्नि आत्मा का (इत् वक्षथ^२) भी यह वहन करने का कार्य (चित्र इत्) आश्चर्यजनक है (य) जो (धातवे) रस पान के लिये भी (मातरौ) माता पिता किसी के पास भी (न अन्वेति) नहीं जाता है । और आश्चर्य यह है कि (अनूधा) बिना दूध के ही अब वह उत्पन्न हुआ (अधा चित्) तब ही (सद्य) तुरन्त (महि) बड़े भारी (द्रुत्य चरन्) दून के कार्य के समान गमनागमन करता हुआ (अववक्षत्) कार्य-भार को उठा लेता है ।

ईश्वर परमात्मा व्यापक, सर्वत्र सुप्त के समान व्यापक होने से यास्तुत्य होने से शिशु है, वह नित्य सामर्थ्यवान् होने से 'तरुण' है । उसका विश्व को वहन करने या धारण करने का कार्य अद्भुत है । वह अपने बल प्राप्त करने के लिये (मातरौ) मातृभूत द्यौ और पृथिवी दोनों के अधीन नहीं रहता । वह संसार को स्वयं उत्पन्न कर चुकने पर भी 'अनूधा,' अर्थात् स्वयं उसको धारण करता है । अतएव वह (सद्य) निरन्तर (महि) बड़ा भारी (द्रुत्य चरन्) विश्व को उपतापन या तप का कार्य करता हुआ इस संसार को (अववक्षत्) उठा रहा है ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४] इदं त एक पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।

३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

संवेशनस्तन्वेऽचारुरेधि प्रियो देवाना परमे जनित्रे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ५६ । १ ॥

भा०—हे आत्मस्वरूप अग्ने ! (इदम्) यह प्रत्यक्ष संसार और यह लोक (ते) तेरा (एकम्) एक रूप है । (पर ऊँ) और परलोक का स्वरूप

१. शिशो शसनीयस्य । मा० वि० । २. वक्षथ.—वहन गमनम् । मा० वि० ।

३ चित्र पूज्य । मा० वि० ।

६५—'संवेशने तन्व,' इति ऋ० ।

(ते) तेरा (एकम्) एक दूमरा स्वरूप है । तू इन दोनों को अतिक्रमण करके (तृतीयेन) तीसरे उत्कृष्ट (ज्योतिषा) ज्योति, ब्रह्मज्ञान से (संविशस्व) लीन हो । वहां (संवेशन.) सुख के प्रवेश करने योग्य होकर (तन्वे) पुनः शरीर ग्रहण के लिये (चारुः) भली प्रकार गमनशील (एधि) रह, (परमे) उत्कृष्ट (जनित्रे) उत्पत्तिस्थान में (देवानाम्) दिव्य गुण वाले अपने इन्द्रियगण के सामर्थ्यों का (प्रियः) प्रेमपात्र होकर रह ।

ईश्वरपक्ष में — यह प्रत्यक्ष लोक तेरा एक रूप है । पर सूर्य आदि तेरा दूमरा रूप है । तू ही तीर्थतम, तृतीय, सर्वोत्कृष्ट ज्योतिरूप सर्वत्र व्यापक है । तू व्यापक होकर (तन्वे) जगत् के विस्तार करने के लिये भी (चारु एधि) सर्वत्र व्याप्त होता है । तू (देवाना) देव, पञ्चभूतों या मुक्तात्माओं के परम उत्पादक रूप में भी उनका (प्रिय) प्रिय अर्थात् उनमें सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

सायण ने इस मन्त्र को बृहदुक्थ ऋषि के मुख से अपने मृत, पुत्र के प्रति कहाया है । “तेरा यह एक अंश शरीर इस श्मशानाग्नि में जाय, दूसरा अंश प्राणवायु में मिल जाय, तीसरा अंश सूर्यज्योति में लीन हो जाय और पुनः शरीर धारण के लिये तैयार होकर सूर्यलोक में प्रसन्न होकर रह ।”

३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६] इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।

३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २
भद्राहि नः प्रमतिरस्य सं स्तोमसद्यज्ञे सख्ये मारिषामा वयं तव ॥३

अ० १ । ९४ । १ ॥

भा०—(अर्हते) पूजा सत्कार करने योग्य (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जानने वाले, वेदों के उत्पादक ईश्वर के लिये (इमं स्तोमं) यह स्तुति-वाक्य हम लोग (रथम् इव) रमणीय पदार्थ, उपहार करने योग्य वस्तु के

१. ६६-१, रथमिव, यथा तस्मा रथ संस्वरोति तथा (सा०) । यथा रथं गमयति

तथा स्तोमं गमयेम, इति मा० वि० ।

समान (सम्) उत्तम रीति से (मनीषया) अपनी बुद्धि से (महैम) प्रस्तुत करते हैं। (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के (संसद्) सभास्थान, संगम या सत्सङ्ग में (नः) हमारी (प्रमतिः) उत्तम मति सदा (भद्रा हि) कल्याण संकल्प वाली बनी रहे। हे अग्ने ! ईश्वर ! (वय) हम लोग (तव) तेरे संग (सख्ये) मित्रभाव में (मा रिषाम^२) कभी कष्ट न पावें, कभी पीड़ित न हों।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
[६७] मूर्धनं दिवो अरतिं पृथिव्यो वैश्वानरमुत आजातमग्निम्।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ २
कविं^१ सम्राजमतिथिं जनानामसन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥५॥

अ० ६। ७। १॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक के (मूर्धनं) शिरोभाग और (पृथिव्या) पृथिवी के (अरतिं) स्वामी, (अते) सत्य, यज्ञ या समस्त ब्रह्माण्ड में (आजातम्) सर्वत्र प्रादुर्भूत, व्याप्त, (वैश्वानरम्) सब प्राणियों में व्यापक, (कविम्) मेधावी, क्रान्तदर्शी (सम्राजम्) खूब प्रकाशमान सब के सम्राट्, (जनाना अतिथिम्) मनुष्यों में अतिथि के समान अति आदर से पूजा के योग्य (नः) हमारा (आसन्) सुख भाग में स्थित, अर्थात् सध के प्रमुख (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर को ही (पात्रं^१) हमारी स्तुतियों और सत्कार का पात्र या पालक (देवाः^२) विद्वान् पुरुष (जनयन्त) प्रकट करते, घतलाते हैं।

२४ ३ १ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[६८] वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेमिरग्ने जनयन्त देवाः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्या जिनागेर्वचाहो जिग्युरश्वा ॥६॥

अ० ६। २४। ६॥

६७-१ पात्र पातार । सा० । २ देवा अस्विज स्तोतार । सा० ।

६८-अग्नेत्रे पाठभेदो यथा-‘वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेमिरिन्द्रानयन्त यग्ने ।

त त्वाभि सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आग्निं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः ॥’

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (देवाः) स्तुति करने वाले या तेरे दिव्य-
गुणों को जानने वाले विद्वान् लोग (उक्थेभिः) यज्ञों, ज्ञानचर्चाओं द्वारा
(पर्वतस्य) पर्वत या मेघ के (पृष्ठात्) तट या एक देश से (आपो न)
जलधाराओं के समान (त्वत्) तुझ से (वि जनयन्त) नानाप्रकार के कार्य
सम्पादन करते या तुझे नाना प्रकार से उत्पन्न करते या प्रकट करते हैं । अथवा
(देवाः) दिव्यगुण के सूर्य आदि पदार्थ तुझ से, मेघ से जलधाराओं के
समान, स्वयं प्रकट होते हैं । हे परमेश्वर (गिर्ववाह) गिरा, वाग् या वाणियों
द्वारा प्राप्त या ज्ञान करने योग्य करने । (अश्वः) अश्व (आर्जि न) जिस
प्रकार संग्राम भूमि में (जिम्युः) विजय करते हैं, उसी प्रकार (सु-स्तुतयो
गिरः) उत्तमरूप से गुणवर्णन करने वाली वेदवाणिया (तं त्वा) उक्त
प्रकार के गुणों से सम्पन्न तुझको (वाजयन्ति) बढ़ाती हैं, पुष्ट करती हैं,
तुझे समृद्ध करती हैं, अलंकृत करती हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६] आवोराजानमध्वरस्य रुद्रं ॐ होतारं ॐ सत्ययजं ॐ रोदस्योः

३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अग्निं पुरा तनयित्वोरचित्ताद्विरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥

अ० ४ । १ । १ ॥

भा०—(अध्वरस्य) कभी हिस्सा का पात्र न होने वाले, कभी न मरने
वाले यज्ञ के (राजानम्) अधिपति, (रुद्रम्) घोर गर्जना के साथ गमन
करते हुए या पापियों के रक्ताने वाले, (रोदस्योः) द्यौः और पृथिवी दोनों
लोकों को (सत्ययजम्) सत्य के बल से दान देने वाले अथवा उनमें व्यक्त
जगत् रूप से, सत्य यज्ञ करने वाले (होतारं) आकाश से और पृथिवी से

६९-१. रुद्रो रौतीति सतो, रोदयतेर्वा, यदरुत्तद्गुद्रस्य रुद्रत्व-
मिति काठवम् । यदरोटीत्तद्गुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्विवम् इति नि० १० ।

१ । ५ ॥ रुद्र रोदनस्वभावः । भा० वि० ।

अन्न और जल की आहुति देने वाले (हिरण्यरूपम्) मनोहर, सुवर्ण रूप को धारण करनेहारे तेजोमय (अग्निं) सूर्य के समान परमेश्वर को (अचित्तात्) चेतनारहित (तनयित्ना^२) अशनिविद्युत् से भी (पुरा) पूर्व अर्थात् उससे भी उत्कृष्ट (अवसे) अपने रक्षार्थ (कृणुष्वम्) वत्पन्न कर लो, जानो ।

३ २ ४ ३ २ ३ ५ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ ५ २ ३ १ २

[७०] इन्ध्रे राजा समर्थो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ ५ २ २ २ ३ १ २

नरो हव्येभिरीडते सबाध अग्निरग्रमुषसामशोचि ॥ ८ ॥

अ० ७ । ८ । १ ॥

भा०—(अर्थ.) स्वामी राजा) सब से अधिक कान्तिमान् (नमोभि.) आदर वचनों से (सम इन्ध्रे) खूब प्रज्वलित होता है । (यस्य) जिसका (प्रतीकम्) स्वरूप (घृतेन) घृत, स्नेह, कान्ति या पुष्टिकर पदार्थों से (आहुतं) पूरित, हरा भरा है । उस (उपसाम् अग्रम्) उपाकाल में सब से पूर्व प्रकट होने वाले उस अग्नि को (नरः) विद्वान् लोग (सबाधः) उद्देगों या प्रेशों या विघ्नों से बाधित होकर (हव्येभि.) स्तुतियों से और उत्तम २ पदार्थों से (ईडते) भजन करते हैं । अग्नि के पक्ष में—अग्नि अर्त्तों से प्रज्वलित होता है । लोगों से पीड़ित लोग उत्तम चरुओं से होमते हैं ।

राजा के पक्ष में—राजा आदर वचनों से आदृत होता है और शत्रुओं से पीड़ित प्रजाजन उसकी स्तुति करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ ५ २ २ २ ३ १ २

[७१] प्र केतुना बृहता यात्यग्निरारोदसी वृषभो रौरवीति ।

३ २ ३ ३ ३ ५ २ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २

दिचश्चिदन्तादुपमामुदानडपासुपस्थे महिषो ववर्द्ध ॥ ९ ॥

अ० १ । ८ । १ ॥

२ तनयितुरशनि । सा० ।

७०—‘माग्निरग्रम्’ इति अ० । १ प्रतीक नाम मुत्त । मा० वि० ।

७१—‘दिचश्चिदन्ता उपगो उदानडपा’ इति अ० ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, परमेश्वर (बृहता) बड़े भारी (केतुना) विज्ञानमय प्रकाश के साथ (प्र याति) प्रकट होता है । (रोदसी) धौलोक और पृथिवी लोक दोनों में वह (वृषभः) सब से श्रेष्ठ, जानने और सुखों की वर्षा करने वाला (रोरवीति) शब्द करता है, उपदेश करता है । (दिवाश्चिद्) अन्तरिक्ष लोक के भी (अन्तात्) एक प्रान्त से उदित होकर (उपमाम्) समीप, हृदय देश में ही (उद्भानद्) उदित हुआ, प्रकाशित हुआ है । (अपां) समुद्रों के बीच सूर्य के समान लोकों एवं कर्मों और ज्ञानों के (उपस्थे) बीच वह (महिप.) महान् सामर्थ्यवान् (ववर्द्ध) सब से यश और नाम में बड़ा है ।

केतु=ध्वजा, ज्ञान । उपस्थे=अन्तरिक्षे ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[७२] अग्नि नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथञ्जुम् ॥ १० ॥ अ० ७।१।१॥

भा०—(नरः) नेता, अग्रणी लोग (दीधितिभि) किरणों और अंगुलियों द्वारा (अरण्योः) अरणियों के बीच में (हस्तच्युतम्) हाथों के चल से उत्पन्न हुए, अग्नि के समान धौ आर पृथिवी के बीच में अपनी शक्ति से स्वयं स्थित, (प्रशस्तम्) सबसे उत्तम, निर्दोष, (दूरे दृशम्) दूर तक दिखाई देने वाले या दूर तक देखने वाले, (गृहपतिम्) घर के स्वामी के समान समस्त प्रजा के रक्षक, (अथञ्जुम्) गतिशील दूर तक पहुंचने वाले, व्यापक (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (जनयत) उत्पन्न करते, प्रकट करते हैं ।

अर्थात् जैसे अरणियों के बीच अग्नि, प्राण और अपान के बीच में आत्मा, माता पिता के बीच में पुत्र है उसी प्रकार धौः और पृथिवी के बीच वह परमेश्वर शक्तिरूप से प्रकट है ।

इति सप्तमी दशतिः । सप्तमः खण्डः ॥

॥ ६० ८ ॥ अथि — १ बुधविष्टिरौ । २, ५ वत्सप्रि० । ३ भारद्वाजः । ४, ७ विशा-
मित्रः । ३ वसिष्ठ । ८ पायु० ॥ देवता—१, २, ४—८ अग्निः । ३ सुर ॥ त्रिष्टुप् ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७३] अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुपासम् ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २
यद्वा इव प्रवयामुज्जिह्वाना प्रभानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥

श्रु० ५ । १ । १ ॥

भा०—(जनानां समिधा) लोगों की लगाई लकड़ी से जिस प्रकार
(अग्निः अबोधि) सामान्य अग्निहोत्र की अग्नि (धेनुम् इव) दुधार कपिला
गाय के समान (आयतीम् प्रति उपासम्) आते हुए प्रायेक उपाकाक्ष में
(अबोधि) प्रदीप्त होती है उसी प्रकार यह (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी
आत्मा भी (जनानां समिधा) जनों के प्रदीप्त प्राणरूप काष्ठों से (प्रति उपा-
सम्) प्रति प्रातःकाल प्राणायामों द्वारा (अबोधि) चेतताया जाता है । (उज्जि-
ह्वानाः) ऊपर उड़ते हुए पक्षीगण जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्तते) शरणा-
पर जाते हैं । और जिस प्रकार (यद्वा०) बड़े पुरुष (वयाम् इव) व्यापक
उदारनीति की ओर बढ़ते हैं और जिस प्रकार (भानवः) सूर्य के किरण
(नाकम्) आकाश की ओर (प्रसिस्तते) व्यापते हैं, उसी प्रकार (यद्वाः)
बड़े २ शक्तिशाली आत्मा (उज्जिह्वानाः) उत्क्रमण करते हुए (वयाम्) हम
व्यापक परमेश्वरी शक्ति की तरफ जाते हैं और (भानवः) ज्ञान प्रकाश से
प्रकाशित होकर आदित्य के समान तेजस्वी योगी मुक्तजन (नाकम्) परम
मुखमय, आनन्दमय परम पद को (प्रसिस्तते) प्राप्त करते हैं ।

७३—‘मित्रो’ इति श्रु० । पश्चिम इन्द्रधियो भावार्थ गाथीयविवरणे ।

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २ ३ ३ १ २
 [७४] प्र भूर्जयन्तं महां विषोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ।
 १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २
 नयन्तं गीर्मेर्वनान्धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ॥२

अ० १९। ४६। ५।

भा०—(भू')^१ सबके उत्पत्तिस्थान, भू आदि लोको को (प्र जयन्त)
 उत्तम रीति से विजय करने वाले (मूरैः) मांहयुक्त जीवों द्वारा गृहीत (पुरां)
 शरीरों के (दर्माणम्) नाश करने वाले, उनको मुक्ति दिलाने वाले, (अमूर)
 स्वयं मोह रहित, (गीर्मेः) वेदवाणियों द्वारा (वर्ना) भजन करने योग्य
 (धियं नयन्तं) हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में ले जाने वाले, (हरिश्मश्रुं न)
 सुवर्ण के समान कान्तियुक्त किरण वाले सूर्य के समान (वर्मणा) कवच
 से (धनर्चिम्) विभूतिमान् उस अग्नि को (धा') हृदय में धारण कर ।

त्रिपुरारि, पशुपति, भूतिभृत्, विद्येश्वर आदि की शिवविषयक कल्पना
 ब्रह्म के विषय में इसी मन्त्र के आधार पर हैं । हरिश्मश्रु, हिरण्यकेश आदि
 शब्दों के धात्वर्थ समान हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
 [७५] शुक्रं ते अन्यद्यजत ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
 २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 विश्वाहि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥३

अ० ६। ५८। १।

भा०—हे पूषन् ! अग्ने ! (ते) तेरा (शुक्रं) कान्तिमान्, प्रकाशमान्
 रूप (अन्यत्) दूसरा है । और (यजतम्) आपका मिलाने वाला, उपास्य,
 शिवरूप (अन्यत्) और है । (अहनी) ये दिन और रात के समान दोनों

७४—(अ) 'मूरा' इति अ० । उतरार्ध, 'नयन्तो गर्मे वना धिय धु हिरिश्मश्रु
 नावाण धनर्चम् ।' इति अ० ।

१. भूर्महण प्रदर्शनार्थ, त्रीनपीलोकान् जयन्त इति मा० वि० ।

७५—'स्वधावो' इति अ० ।

(विधुरूपे) भिन्न २ रूप के हैं । हे अग्ने ' तू (द्यौः इव असि') सूर्य के समान है । हे (स्वधावन्) अन्नपते ! प्राणपते ! जीवेश्वर ! भूतपते ! (हि विश्वा) क्योंकि तू समस्त ससार की सब प्रकार की (मायाः) मायाओं, सृष्टियों को (अवसि) पालन करता है । हे (पूषन्) समस्त संसार के पोषण करने वाले । इह (इस लोक में) ते (तेरा) दान (भद्रा) कल्याण और सुख के देने वाला (अस्तु) हो ।

ईश्वर ने अग्नि और सोम, प्राण और रयि दोनों से समस्त संसार को बनाया है । वह दोनों का सूर्य के समान प्रेरक है । सब चराचर सर्ग जो प्रकृति के विकार से धनी (माया) सृष्टियाँ हैं, उनको वही पालन करता है, यहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों रूपों का क्रम से वर्णन किया गया है ।

१ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ २ २ २
[७६] इडामग्ने पुरुदं सं सनिहोः शश्वत्तमं हवमाना सा ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स्थान्नः सुनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वसे ॥४॥

क्र० । ३ । ६ । ११ ।

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! तू (हवमानाय) स्तुति भजन करने वाले पुरुष के लिये (पुरुदसम्) बहुत कर्मों से सम्पन्न या इन्द्रियों को पुष्टिदायक, (गो सनि) गोधन, इन्द्रिय, वाणी या सरस्वती, विद्या के देने वाले, (शश्वत्तमं) चिरकाल तक (इडाम्) अन्न, ज्ञान, एवं भक्ति को (सा) प्राप्त करा । (न.) हमारा (सुनुः) पुत्र (तनयः^१) अगली सन्तान का विस्तार करने वाला वंशधर (विजावा^२) नाना प्रकार की सन्तानों का उत्पन्न करने द्वारा (स्यात्) हो । (ते सा सुमतिः) तेरी वही शोभन मति (अस्मे) हमारे लिये (भूतु) बनी रहे ।

७६-पुरुदसम् । सा० भा० ।

१. तनयः पुत्र, तनोति विस्तारयति सन्ततिमिति । २. विजावा विविध जनयिता पुत्राणां, अनेन प्रकारेण वंशस्थाविच्छेद आशास्यते । मा० वि० ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
 [७७] प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्या सीददपां विवर्ते ।
 २ ३ २ ३ १ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १
 दधद्यो धायी सु ते वयाष्टुंसि यन्ता वसूनि विवर्ते तनूपा ॥५॥

अ० १० । ४६ । १ ।

भा०—(यः) जो आनि (महान्) बड़ा, (होता) स्तुतियोग्य, जाना पदार्थों के दान करने वाला, (नभोविन्) आकाश और अन्तरिक्ष में व्यापक या उसको उत्तम रूप से जानने वाला (जातः) प्रकट है, वह (नृषद्या) समस्त प्राणियों में विराजमान है । वही (अपां विवर्ते ^१) अन्तरिक्ष में, स्तमस्त प्रजाओं के भीतर भी (धायी) धारक पांषक रूप से विद्यमान है । वही (ते) तेरे लिये । वयासि) अन्नादि पदार्थ और आयु को (दधत्) धारण करावे । (तनूपाः) शरीरों की रक्षा करने वाला वह (यन्ता) सबका नियन्ता (विवर्ते) नियम से अपना कार्य सम्पादन करके वाले पुरुष को (वसूनि दधन्) नाना प्रकार के सुखसाधन देता है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [७८] प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्ते पुष्टं सः कृष्णीनामनुमाद्यस्य ।
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 इन्द्रस्यैव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वार वन्दमाना विवर्तु ॥६॥

अ० । ७ । ६ । १ ।

भा०—(असुरस्य ^१) प्राणों और ज्ञानों से सम्पन्न (कृष्णीनां) प्रजाओं के (अनुमाद्यस्य) हर्षों और सुखों में सुखी होने वाले, (पुंसः)

७७—'नृषद्या' 'अपामुपस्थे' 'दधियो' 'धायी सते' अ० ।

१ अपा विवर्तोऽन्तरिक्षलोकः । मा० वि० । २ 'धायी सुते' इति पाठे धायी धारयिता, 'सुते' इत्येकपदम् । अभिसुते इत्यर्थः । पदकारस्तु 'धायी । सु । ते', इति पदद्वयचिच्छेदः ।

७८—'प्र सम्राजो' 'प्रशस्ति' 'वन्देदार वन्दमानो विवर्ति' इति अ० । 'वन्दमानो विवर्ति' इति स० सा० ।

पुरुष के (सम्राजम्) सबसे अधिक शोभा, कान्ति से युक्त स्वरूप को (प्रशस्तम्) प्रशसनीय (प्र जानीत) जानो । मनुष्य (इन्द्रस्य इव) इन्द्र के समान (तवस^२) बलशाली उस पुरुष के (कृतानि) किये गये (वन्दद्वारा) नमस्कार पूर्वक वन्दमाना) स्तुति युक्त कार्यों की (प्र विवष्टु) अभिलाषा करे ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६] अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवत्सुभृतो गर्भिणीभिः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवोदव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥

अ० ३ । २९ । २ ।

भा०—(अरण्यो) दो अरणियों में जिस प्रकार (जातवेदा) अग्नि (निहित) गुप्त रीति से रहता है, और (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों द्वारा (गर्भ इव) जिस प्रकार गर्भ बढ़ी सुरक्षा से पालन किया जाता है, उसी प्रकार धी और पृथिवी के बीच में उनका प्रकाशक अग्नि, परमेश्वर भी (निहित) उनके भीतर व्यापक है । और (गर्भिणीभिः) जगत् की धारक शक्तियों द्वारा (इत् सुभृत) उत्तम रूप से सुरक्षित है । (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जागृवद्भिः) जागने वाले, सावधान, चैतन्य, ज्ञानी (हविष्मद्भिः) हव्य आदि पदार्थ और स्तवन आदि से सम्पन्न (मनुष्येभिः) मनुष्यों द्वारा वह (अग्नि) सर्व प्रकाशक, ज्ञानवान् परमेश्वर (ईड्य) उपासना किया जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८०] सनादग्नेमृणसि यानुशानात् त्वा रक्षां षंसि पृतनासु जिग्युः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अनु दह सह मूरान् कथादो मा ते हेत्या मुक्षत दैन्याया ॥८॥

अ० १० । ८७ । १९ ।

१. असुरिति प्रज्ञानाम नि० ३ । ६ ॥ तद्वान् असुर ।

७६—'सुधितो गर्भिणीषु' इति अ० ।

८०—'कथादो' इति अ० ।

भा०—हे अग्ने ! परसंतापकरिन् तू (सनात्) प्राचीनकाल से (पातुधानान्) दुष्ट पुरुषों को (मृणसि) पीड़ित, दण्डित करता रहा है । (पृतनासु) सेना संग्रामों में (रक्षांसि) राक्षस लोग (न त्वा) तुझको कभी भी नहीं (जिग्यु) जीत सके हैं । (मूरान्) मूढ़ (कयाद्^१) क्रव्याद-कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों को (सह) एक ही साथ तू (अनुदह) तेज से भस्म कर डाल । वे (ते) तेरी (दैव्यायाः) दिव्यगुणों से युक्त (हेत्या) शस्त्र की धार से (मा मुञ्चत) न बच पावें ।

इति अष्टमी दशतिः । अष्टमं खण्डं ॥

॥ ६० ९ ॥ १ गयत्रिः । २ वामदेव । ३, ४ भरद्वाजः । ५ मृक्ताहो द्वितः । वसुयव आनेयाः । ७, ९ गोपवनः । ८ पुरुरात्रेयः । १० वामदेवः कश्यपो वा मरीचिर्मनुर्वा वैवस्वत उभौ वा ॥ अनुष्टुप् ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[८१] अग्न ओजिष्ठमा भर शुम्नमस्मभ्यमग्निगो ।

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र नो राये पनीयसे रत्नं वाजाय पन्थाम् ॥१॥

अ० ५ । १० । १ ।

भा०—हे अग्ने ! (ओजिष्ठम्^१) कान्तियुक्त धलकारी (शुम्नम्) धन धान्य सुवर्ण रत्न आदि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त कराओ । हे (अग्निगो^२) अक्षय सामर्थ्यवान् देव ! (न) हमारे लिये (पनीयसे) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय, एवं व्यवहार व्यापार आदि करने योग्य (राये) सम्पत्ति के लिये और (वाजाय) अश्व आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये (पन्थाम्) मार्ग, उपाय (प्र रत्नं^३) तैयार कर, हमें सुखा ।

१ कयाद् । रेफवकारयोश्छन्दसि लोपः (स०सा०)

८१—‘प्रनो राया परीणसा’ इति अ० । १ ओजो धल्म् (नि० २ । ९) २. अधूत शब्दस्याग्निभावः । गमन गो. । (नि०मा०) ३. रत्न विलेखने । भ्वादि. ।

१ २ ३२४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८२] यदि वीरो अनुप्यादग्निमिन्वीत मर्त्य ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
आजुह्वद्व्यमानुवक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥२॥

अ० ५ । २ । ६ ॥

भा०—(यदि) जब पुरुष (वीर^१) ब्रह्मचर्य से वीर्यवान् (अनु-
स्यात्) हो तब वह (मर्त्य) मरणधर्मी पुरुष (आग्ने) ईश्वररूप अग्नि
को (हन्वीत) प्रतीस करे अपने अन्तरात्मा में जगावे और (आनुपक्)
निरन्तर (हव्य) प्राणापान रूप आहुतियों को (आजुह्वत्) उसमें
ही समर्पण करता हुआ (दैव्यम्) देव परमेश्वर से प्राप्त (शर्म) सुख
और शान्ति को (भक्षीत) भोग करे ।

जब मनुष्य वीर्यवान् हो तो वह गृहस्थ प्रवेश के साथ २ अग्नि आधान
करे और उसमें हव्य चरु की आहुति दे ।

३ १ २ ३ १ ३२४ ३१२ २
[८३] त्वेषस्ते धूम ऋणवति दिवि सं छुक् आतनः ।

३ २४ ३४ ३ १ २ ३ १ २
सुरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ३ ॥

अ० ६ । २ । ६ ।

भा०—हे अग्ने ! (त्वेष) कान्तियुक्त जाज्वल्यमान (ते धूम) तेरा
धूम, बल कपाने का सामर्थ्य, विभूति, मन्थु और काप (दिवि ऋणवति)
समस्त धी सूर्य रूप में परिणत या प्रकट हो रहा है । वह (छुक्)
अत्यन्त शुक्लवर्ण, कान्तियुक्त होकर (आतत) सब तरफ विस्तृत है ।
(सुरो न) सूर्य के समान (कृपा) सामर्थ्यस्वरूप (द्युता) दीप्ति या
सामर्थ्य शक्ति से (त्व) तू (रोचसे) सर्वत्र प्रकाशित है ।

८२-१. वीर० । पुत्र । सा० ।

८३-'दिवि पञ्चुक' इति श्र०

^{१६} ^{२६} ^{३१} ^{२२} ^३ ^{१६} ^{२२}
[८४] त्वं हि चैतवद्यग्ने मित्रो न पत्यसे ।

^१ ^२ ^३ ^२ ^३ ^१ ^२ ^३ ^{१६} ^{२६}
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥ ४ ॥

अ० ६ । २ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हि) जिस कारण से (त्वं) तू (चैतवद्) सबको निवास देने वाले (यशः) अन्न, बल को (मित्र न) सूर्य के समान (पत्यसे) नाना प्रकार से प्राप्त करता या उत्पन्न करता है । हे (विचर्षणे) विशेषरूप से सब के दृष्टा ! (वसो) हे सबको निवास देने वाले अग्ने ! तू (श्रवः) अन्न और ज्ञान को (पुष्टिम् न) पोषण सामर्थ्य के समान ही (पुष्यसि) स्वयं बढ़ाता और पुष्ट करता है, उनमें बल उत्पन्न करता है ।

^३ ^२ ^३ ^१ ^२ ^३ ^२ ^३ ^१ ^२ ^३ ^१ ^२
[८५] प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।

^२ ^३ ^२ ^३ ^१ ^२ ^३ ^{१६} ^{२६} ^३ ^१ ^२
त्रिंश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्त्तास इन्धते ॥ ५ ॥

अ० ५ । १८ । १ ॥

भा०—(पुरुप्रियः) बहुतसे प्राणियों का प्यारा या इन्द्रियों को प्रेरणा या पूर्ति, सन्तुष्टि देने हारा (अग्निः) अग्नि, परमात्मा और आत्मा (अतिथिः) इस शरीर या ब्रह्माण्ड रूप गृह में व्यापक है । उसका (विशः) सब प्रजापति (प्रातः) प्रातः, काल, सबसे पूर्व (स्तवेत) उपासना करें, स्तुति करें (यस्मिन्) जिस (अमर्त्ये) मरण रहित, अविनाशी आत्मामें (विंशे) समस्त (मर्त्तासः) मरणधर्मा, शरीरधारी प्राणी (हव्य) अन्न रूप हवि और स्तुति को (इन्धते) प्रदान कर प्रज्वलित रखते हैं, जीवित रखते हैं ।

६५ दिव्यानि यो अमर्त्यो हव्या मर्त्येषु रेण्यति' इति अ० । 'विंशे स्तवेत इति'

सा० विश्वस्तवेत' स० सा०

१४ २२३ २३ १२ ३१२
[८६] यद्वाहिष्ठं तदग्रये बृहदर्च विभावसो ।

१ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २
महिषीव त्वद्रयिस्त्वह्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥

ऋ० ५ । २५ । ७ ॥

भा०—हे (विभावसो) हे विशेष प्रकार की काति से युक्त, धन से सम्पन्न ! (बृहद्) तू सब से अधिक (अर्च) प्रकाशमान हो । (महिषी इव^१) जिस प्रकार इस बड़ी भारी पृथ्वी से अन्न रत्न आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्वद् रयि.) तुझ से ही समस्त धन और (त्वद् वाजाः) तुझ से ही समस्त अन्न (उदीरते) उत्पन्न होते हैं । इस कारण (यद्) जो (वाहिष्ठं) प्राप्त करने या उपहार करने योग्य पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ भाव और अन्नादि है (तत् अग्रये) वह उस परमेश्वर के और अग्नि लिये ही है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८७] विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अग्निं वो दुर्य वच. स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ७४ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व.) तुम लोग (विश विश अतिथिं) समस्त प्रजाओं के अतिथि के समान पूज्य या सब प्रजाओं में व्यापक (पुरुप्रियम्) सब के प्रिय (अग्निं) अग्नि परमेश्वर को (वाजयन्तः) अर्चना करते और बढ़ाते रहते हो । मैं (शूषस्य) सुख प्राप्ति के लिये (दुर्य^२) गृह या इस देह के लिये हितकारी इस (अग्निं) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर विषयक (वच.) वाणी से (मन्मभिः) मनन करने योग्य साधनों से (वः) आप लोगों के प्रति (स्तुषे) ठीक २ प्रकार से वर्णन करता हूँ ।

८६-१ महिषी यथा राजमार्गमिति । मा० वि० ।

८७-१ दुर्याः गृहाः । नि० ३ । ४ । ७ ।

उ० ३ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[८८] बृहद्वयो हि मानवेचो देवायाग्नये ।

उ० १२ २ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥ ८ ॥

अ० ५। १६ १ ॥

भा०—(मानवे) मानु, कांतिस्वरूप (देवाय) सब के प्रकाशक (अग्नये) अग्नि के लिये (बृहद्) सब से बड़ा (चयः^१) अन्नभाग या आयु का भाग (अर्च) भक्तिरूप में दे। (यं) जिसको (प्रशस्तये) उत्तम कीर्ति होने के कारण (मर्तासः) मनुष्य लोग (मित्रम् इव) अपने हृदय के इष्ट मित्र, स्नेही के समान (पुरः) सदा अपनी चक्षुओं के आगे (दधिरे) रखते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[८९] अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्षो बृहदनीक इध्मन्तं ॥ ९ ॥

अ० ८। ७४। ४ ॥

भा०—(वृत्रहन्तमं) विघ्न, उपद्रव और यज्ञविनाशक दुष्ट जीवों को नाश करने वाले, (ज्येष्ठं) सब से अधिक श्रेष्ठ, प्रशंसा करने योग्य, (मानवं) मनुष्यों के हितकारी, (अग्नि) अग्नि परमेश्वर और आत्मा को (अगन्म) हम प्राप्त हों (यः) जो अग्नि (आर्क्षे^१) नक्षत्र लोकों से और ज्ञानेन्द्रियगण से सम्पन्न, (श्रुतर्वन्) बड़े लोकों और प्राणेंद्रियों

८८--'प्रशस्तिभिर्मर्तासो' इति अ० ।

८९--'आगन्म' इति अ० । 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नाक्षो अनीक पथे' इति अ० ।

१. अयति इति अक्षम् । अन्तेरौणादिक. स, । उ० ३ । ६६ । इन्द्रियम्, अपेरिन्द्रियत्वं बृहदारण्यकोपनिषदि सुस्पष्टम् सप्तर्षिव्याख्याने ।

से युक्त देह में और भौतिक बड़ी २ शक्तियों से युक्त ब्रह्माण्ड में (बृहद नीकः) प्राणमय बलों और विशाल पंचभूतों के बल से युक्त होकर (इभ्यते) प्रकाशित या जीवित, जागृत रहता है ।

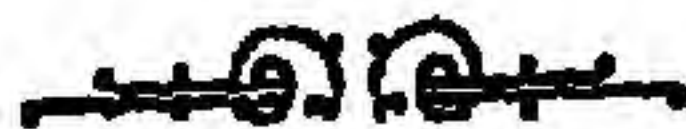
। ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६०] जातः परेण धर्मणा यत्सवृद्धिः सहाभुवः ।

३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ ३
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनु कविः ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट तपस्या और सदा ज्ञार के बल से (जातः) उत्पन्न या प्रकट हुआ है (यत्) क्योंकि (सवृद्धिः) अपने साथ लगे हुए कर्मचारीगण, इन्द्रियों के (सह) साथ मिलकर (आभुवः) तू सब कार्य करने में समर्थ है । यह अग्नि आत्मा (कश्यपस्य ^१) इस ज्ञान के पान करनेहारे मन का (पिता) पालक है और उसकी (माता) जन्मभूमि (श्रद्धा ^२) सत्य का धारण करनेहारी बुद्धि है और (मनुकविः) मननशील क्रान्तदर्शी पुरुष आत्मा ही इसका गुण है ।

परमात्मा के पक्ष में (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट, धारण सामर्थ्य से (यत्) जो (सवृद्धिः) साथ वर्तमान शक्तियों के साथ (आभुवः) विद्यमान है । तू (कश्यपस्य पिता) सूर्य आदि लोक और ज्ञानी पुरुषों का पालक है । (अग्निः) प्रकाशस्वरूप, (श्रद्धा) सत्य का धारक, (माता) जगत् का कर्त्ता, (मनु) ज्ञानवान् (कविः) मेधावी और पारदर्शी है ।

इति नवमी दशतिः । नवमः खण्डः ।



॥ द० १० ॥ १ अश्विन्तापसः । २ वामदेवः । ३ वामदेव. कश्यपः । असितो
देवलो वा । ४ भर्गाहुतिः सोमो वा । ५ पात्युः । ६ प्रस्कण्वः ॥

देवता—१ विश्वेदेवाः । २ अङ्गिराः । अनुष्टुप् ॥

[६१] सोमं राजानं चरुणमग्निमन्वारभामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ १ ॥

अ० १० । १४१ । ३ ॥

भा०—हम (सोमं) शान्तिदायक, सब जगत् के प्रेरक और उत्पादक
(राजानं) प्रकाशमान, (चरुणं) सब पापों के निवारक, (अग्निं) ज्ञान-
स्वरूप, सन्मार्ग के नेता परमेश्वर को (अनु आ रभामहे) प्रतिदिन स्मरण
करते हैं । (च) और (आदित्यं) सब रसों के ग्रहण करने हारे,
अखण्ड, (विष्णुं) सर्वत्र व्यापक (सूर्यं) सब के प्रेरक, सर्वप्रकाशक,
(ब्रह्माणं) सब से महान्, ज्ञान के भण्डार (बृहस्पतिं) वेदवाणी के
स्वामी को नित्य स्मरण करते हैं ।

[६२] इत एत उदारुहन्दिबः पृष्ठान्यारुहन् ।

प्रभूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ २ ॥

भा०—(भूर्जयः^१) पृथिवी को विजय करने हारे राजर्षि लोग (यथा)
जिस प्रकार (पथः) मार्ग से (या ययुः) द्यौलोक, या आदित्य लोक,
या स्वर्ग को जाते हैं । उसी प्रकार (एते) ये (अंगिरस) योगी, ज्ञानी

११—‘सोम राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यान्’ इति अ० ।

१२—१. भूर्जयः भृञ्जतिः पाककर्मा हनिषां पक्ताः इति सा० । भूः—जयः इति
पदकारः । भूः पृथिवी ता ये महावीराख्येनानुष्ठानेन जितवन्तः, ते इति
(मा० वि०) भूर्जयः कर्षिणः ।

लोग भी (इत्) इस लोक से (दिवः पृष्ठानि) आदित्य के समान प्रकाशमान मोक्ष के सुखों को (उत् आरुहन्) ऊर्ध्वगति से प्राप्त करते हैं ।

अपने २ धर्म के पालन से राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों समान लोक में जाते हैं । अथवा (भू) गृहस्थाश्रम को विजय करके आश्रम परम्परा से निकलकर कर्मिष्ठ लोग जिस मार्ग से मोक्ष का लाभ करते हैं उसी प्रकार से ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ में न जाकर भी मोक्ष लोक को ज्ञान के बल से प्राप्त करते हैं ।

[६३] राये अग्ने मह त्वा दानाय समिधीमहि ।

ईडिष्वाहि मह वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (वृषन्) आत्मा और मानस में आनन्द की वर्षा करने वाले प्रभो ! (त्वा) तुझको (महे) बड़े भारी विशाल (राये) अनुपम धन के निमित्त (दानाय) अपने को आत्मसमर्पण करने के लिये हम साधक लोग (समिधीमहि) उत्तम रीति से योग द्वारा प्रज्वलित करते हैं । (हि) क्योंकि (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी लोक दोनों (महे होत्राय) उसी परमेश्वर रूप कालाभि में बड़ी भारी आहुति के लिये हैं । तू भी उसी की (ईडिष्वा) स्तुति कर ।

[६४] दधन्वे वा यदीमनुचोचद् ब्रह्मेति वैरु तत् ।

परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥ ४ ॥

श्रु० ० । ५ । ३ ॥

९१—१. होमग्रणञ्चात्र प्रदर्शनधेम् । गा० वि० ।

२. दधन्वे धारयन् धारणेनात्र अग्नौ न्यते । गा० वि० ।

०५—‘अथापि येन’ इति श्रु० । ‘मिवाभुवत्’ इति श्रु० ।

भा०—(ईम्) इस अग्नि को जप्य करके ही (दधन्वे) अध्वर्यु आदि याज्ञिक जिसको धारण करते या शिष्यगण गुरुमुख से श्रवण और स्मरण करते हैं, और वे होता या शिष्य आदि (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (अनु-वोचद्) पुनः पाठ या उच्चारण करते हैं (तत् उ) वह सब भी (वेः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप अग्नि का ही है । क्योंकि (नेमिः चक्रम् इव) जिस प्रकार लोहे का हाल चक्र के चारों ओर उसको ठक लेता है उसी प्रकार यह अग्नि भी (विश्वानि काव्यानि) समस्त विद्वानों के बनाये काव्यों, ग्रन्थों और काव्यों को (आभुवन्) व्याप रहा है । अर्थात् समस्त विश्व का साहित्य, इस प्रभु की ही महिमा का गान करता है ।

[६५] प्रन्यन्ते हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि ।

यातुधानस्य रक्षसो बल न्युब्ज वायेम् ॥ ५ ॥

अ० १० । ८७ । २५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (यातुधानस्य) हिंसक दुष्ट पुरुष का (विश्वतः परि) समस्त संसार पर जो (हरः) उनके प्राण हरण करने वाला अत्याचार-कारी बल है उसको (हरसा) दुष्ट के प्राण निकालने वाले बल, क्रोध, मन्यु से (शृणाहि) नाग कर । और (रक्षमः) दुष्ट राक्षस के (बल) बल, सेनाबल, (वीर्य) सामर्थ्य और बीज को भी (न्युब्ज) भून डाल ।

[६६] त्वमग्ने वधूँ रिह रुद्रा आदित्यो उत ।

यजा स्वध्वर जन मनु जात घृतपुपम् ॥ ६ ॥

अ० १ । ४५ । १ ॥

१५—शृणाहि इति अ० । विरज वीर्यम् इति अ० ।

६—घृ क्षरणशील्यो । जुहोत्यादिः । घृतपुपम् नैज प्रमत्स्वम् । मा० वि० ।

भा०— हे (अस्ते) प्रभो ! तू (इह) इस संसार में (वसून्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठ वसुओं को (रुदान्) दुष्टों को रक्षाने वाले, या मूढ़ों को अन्तकाल में तू सदायी, ११ रुद्रों, प्राणों को और आत्मान-विसर्गों का कार्य करनेवाले १२ आदित्यों, मासों को और (मनुजाते) अपने मनन सामर्थ्य से उन्नतरूप में प्रकट हुए (वृत्तपुष्पम्) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण या ज्ञान के प्रसारक (स्वम्बरं जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (यज) अपनी संगति में रख ।

मनुष्य सब प्राणियों से इन्हीं बात में उन्नत है कि वह १. 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २. 'वृत्तपुष्पम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वम्बरं' किसी प्राणी की प्राणहिंसा न करने वाला हो । इन तीन गुणों के कारण वह परमात्मा के संग का लाभ करता है और एक-तुल्य हो जाता है ।

इति दशमी दशति । दशम दण्डः ॥ इति प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

॥ द० १ ॥ १ दीर्घमाः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ शितः । ६ रि-
म्विठिः । ७, ८ विश्वमनु वैयथ । ९ भारद्वाज । १० विश्वमता ॥

५ पवमानः । ६ अदिति ॥ उणिक् ॥

[६७] पुंस्त्वा दाशिषां वाच्येऽरिरग्ने तव स्विदा ।

तौदस्यश्च शरणं आ महस्य ॥ १ ॥ अ० १ । १५० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने द्वारा (अरि^१) ईश्वर है । अतः मैं (तव स्वित्) तेरी ही (पुरु आ घोचे) बहुत अधिक स्तुति करता हूँ । और (सहस्य) बड़े (तोदस्य इव^२) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरणे आ) शरण में आता हूँ ।

[६८] प्रहात्रं पूर्यं चचाग्नेयं भरता बृहन् ।

विषां ज्योतीषि विभ्रते न वेद्यसे ॥ २ ॥ अ० ३।१०।५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरानल में प्रलय काल के अवसर पर आहुति कर लेने वाले, (विषा) विद्वानों के (ज्योतीषि) ज्ञान और ब्रह्मचर्यादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विष्णु आदि प्रकाशों को (विभ्रते) धारण करनेहार (वेद्यसे न^३) सब के त्रिधाता के समान, सब के उत्पादक (अग्नेयं) उम ईश्वररूप अग्नि के लिये (बृहत् चचः) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त चाणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेश कर औरों तक पहुँचाओ, अध्ययन करो, कराओ ।

[६९] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यदो ।

अस्मे देहि जातवेदो माह अत्रः ॥ ३ ॥ अ० १।१७।४ ॥

१ अरिमित्रश्चच्छतेः । ईश्वरोप्यरितस्मादेव निरु० (५।२।२।)
अरिरीदवर इति मा० वि० । सेवक इति सा० । २, तोदः गृहस्थः इति
मा० वि० ।

६८—१. वेमा जमद्विधाता परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतीषि करोति इति सा० ।

१९—'अस्मे देहि' इति अ० ।

भा०— हे (असत्) प्रभो ! तू (इह) इस ससार में (वसून्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठा वसुओं को (रुदान्) दुष्टों को रक्षाने वाले, या मूढ़ों को अन्तकाल में तु सदायी, ११ रुद्रा, प्राणों को और ज्ञान-विसर्गों का कार्य करनेवाले १२ आदियों, मासों को और (मनुजात) अपने मनन सामर्थ्य से उन्नतरूप में प्रकट हुए (घृतगुपम्) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण, या ज्ञान के प्रसारक (स्वध्वर जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (यज) अपनी संगति में रख ।

मनुष्य सब प्राणियों से इन्हीं बात में उन्नत है कि वह १, 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २, 'घृतगुपम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वध्वर' किसी प्राणी की प्राणहिंसा न करने वाला हो । इन तीन गुणों के कारण वह परमात्मा के सग का लाभ करता है और देव-सुख्य हो जाता है ।

इति दशमी दशतिः । दशम कण्ठ ॥ इति प्रथमः प्रपाठः समाप्तः ।

अथ त्रितीयः प्रपाठकः

॥ द० १ ॥ १ दीर्घतमाः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ जिनः । ६ रि-

म्विधिः । ७, ८ विश्वमनु वैयस्यः । ९ भारद्वाज । १० विश्वमना ॥

७ पवमानः । ८ अदिति ॥ उज्जिह्व ॥

[६७] ^{३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} पुरु त्वा दाशिवां वाचैऽरिरग्ने तव स्विदा ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २} तोदस्यैव शरण्यं आ महस्य ॥ १ ॥ अ० १ । १५० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने द्वारा (अरिः^१) ईश्वर है । अतः मैं (तव स्वित्) तेरी ही (पुरु आ वोचे) बहुत अधिक स्तुति करता हूँ । और (महस्य) बड़े (तोदस्य इव^२) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरणे आ) शरण में आता हूँ ।

[६२] ^{१२ १२ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ २} प्रहन्ति पूव्यं वचाग्नेये भरता बृहन् ।

^{३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १२} विषां ज्योतीषि विभ्रते न वेधसे ॥ २ ॥ अ० ३ । १० । ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरानल में प्रलय काल के अवसर पर अहुति कर लेने वाले, (विषां) विद्वानों के (ज्योतीषि) ज्ञान और ब्रह्मचर्यादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विद्युद् आदि प्रकाशों को (विभ्रते) धारण करनेहार (वेधसे न^३) सब के विधाता के समान, सब के उत्पादक (अग्नेये) उम ईश्वररूप अग्नि के लिये (बृहत् वचः) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त नाणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेश कर औरों तक पहुंचाओ, अध्ययन करो कराओ ।

[६६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यधो ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २} अस्मे देहि जातवेदो माह अचः ॥ ३ ॥ अ० १ । १७ । ४ ॥

१ अरिमित्र शृण्वतेः । ईश्वरोप्यरितस्मादेव निरु० (५ । २ । २ ।)

अरिरीश्वर इति मा० वि० । सेवकः इति सा० । २. तोदः गृहस्थः इति मा० वि० ।

६२—१. वेधा उमद्विधाना परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतीषि करोति इति सा० ।

१९—‘अस्मे देहि’ इति अ० ।

[१००] अग्ने^३ यजिष्ठा^१ अध्वरे^२ देवान्^{३,२} देवयते^{३,१} यज^२ ।

१० ३ ३ १२ २२ ३ २ ३ १०२
 कृता मन्द्रो वि राजस्यति सिधः ॥ ३ ॥ अ० ३ । १० । ७ ॥

[१०१] ज्ञानं संत मातृभिर्मध्यामाशासत श्रिये ।

ॐ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अथ ध्रुवा रयीणां चिकेतदा ॥ ५ ॥ अ० १० । १०२ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (भुव) नित्य, कभी विचलित न होने वाला (सप्त मातृभिः^१) सात माताओं, सृष्टि के निर्माता पाच भूत, महत् अङ्कार

१०१—'जज्ञान सप्तमाक्षरः', 'विधामक्षासप्त' 'चिकेतयत्' इति श्रु० 'अन्विके-
नयत्' इति । सा० ।

२. सप्तमानरः— मस छन्दसि 'सप्त षोष्ठा' सप्त सोमस्थ, ३१
(मा० वि०) ।

इनसे (जज्ञान) सृष्टि को प्रकट करता हुआ (श्रिये) अपने विभूतिरूप शोभा या आश्रय के लिये (मेधाम्) उत्तम धारणा शक्ति पर (आशासत) वश करता है। वही परमेश्वर (रयीणां) समस्त ऐश्वर्यों को (आर्चिकेतर) भली प्रकार से जानता है।

अध्यात्म में—यह ध्रुव आत्मा प्रमाता, इन्द्रियों से ज्ञान करता हुआ (श्रिये) अपने कल्याण के लिये (मेधाम् आशासत) मेधा बुद्धि को धारण करता है। (रयीणाम्) सब प्राणों के धीर्यों को जानता है।

सप्त मातरः=सात प्रमाता, ज्ञान साधन सात मुख्य प्राण हैं जिनको उपनिषत्कार सात ज्वाला, सात अग्नि, सात रथ, सात अश्व, सात अग्नि, सात वह्नि आदि नामों से पुकारते हैं। (नासिकेत) अग्नि ध्रुव अग्नि है जिसका ज्ञान अध्रुव यज्ञ काण्ड से नहीं होता। 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्'। का० उप० ॥ इनको ही सात छन्द, सात होता, सात सोम संस्थाओं के नामों से भी पुकारते हैं।

[१०२] ^{३ २४} ^{३ १} ^{२ ३ १} ^{३२} ^२
उन स्या नो दिवा मतिरदितिरुत्यागमत् ।

^{१२} ^{२ ३ १ २} ^{३२ ३ १ २}
सा शंताता मयस्करदप सिधः ॥६॥ अ० ८। १८। ७ ॥

मा० —(उत स्या) और वह (अदितिः^१) कभी खण्डित न होने वाली, दद, ईश्वरीय बलवती, सत्य, (मतिः) मननशक्ति, (दिवा) प्रतिदिन (उत्या) हमारी रक्षा के लिये (न. आगमत्) हमें प्राप्त हो। (सा) वह (शंताता) शान्ति उत्पन्न करने वाली (मय. करत्) आभ्यन्तर सुख और आनन्द दे। और (सिधः^२) शत्रु या दोष जिनका सत्य ज्ञान से

१००—'शुन्नाति,' 'उतत्या' इति पाठभेदौ। 'सुधः', 'सिधः' इति पाठभेदौ।

१. मकलप्रपञ्चधारणेन्द्रदीना इतिस्कन्दस्वामी। अदितिर्देवमाता (मा०वि०)

२. सिधिराधनार्थः (सा०)

बाध होना सम्भव है, ऐसे भ्रम अज्ञान और विपर्यय या मिथ्या ज्ञानों को वह (अप) दूर करे ।

[१०३] ई^१डि^२ष्वा^३ हि^१ प्र^२ती^३व्या^२श्र^२यज^३स्व^२ जा^२तवे^१दसम् ।

च^३रि^१ष्णु^२ धू^२मम^३गृ^२भी^३तशो^२चि^३शम् ॥७॥ ऋ० ८ । २३ । १ ॥

भा०—(जातवेदसं) पदार्थों का ज्ञान करने वाले (चरिष्णु) व्यापक, दूरगामी ज्ञान साधनों से सम्पन्न, (धूमम्) सबको कंपाने वाले, सब के प्रवर्तक, (अगृभीतशोचिषम्) अप्रतिहत कान्ति से सम्पन्न, कभी न बुझने वाले, अमर, (प्रति-न्यां) प्रत्येक देह या पदार्थ में व्यापक आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप अग्नि को ही, हे पुरुष ! तू (ईडिष्व हि) उपासना किया कर और (यजस्व) उसी को प्राप्त कर, उसी में आत्म समर्पण कर ।

[१०४] न^१ तस्य^२ मायया^३ च^१ न^२ रिपु^३री^२शीत^३ मर्त्यः^१ ॥

यो^३ अग्नये^१ ददा^२श हव्यदा^३तये ॥८॥ ऋ० ८ । २३ । १५ ॥

भा०—(य.) जो पुरुष (हव्यदातये) ज्ञानदाता (अग्नये) अग्नि परमात्मा और आचार्य के प्रति अपने को (ददाश) समर्पण कर देता है (तस्य) उस पुरुष का (रिपुः) शत्रु (मर्त्यं चन) मनुष्य भी (मायया) बुद्धि द्वारा (न ईशीत) कभी उस पर वश नहीं कर सकता ।

[१०५] अप^३ त्यं^१ वृजि^२न रिपु^३ स्तेन^२मग्ने^३ दुरा^२ध्यम् ।

द^१विष्टमस्य^२ सत्पते^३ कृ^२धी सुगम् ॥९॥ ऋ० ५ । ५१ । १३ ॥

१०३—'प्रतीव्यं' इति श्रु० ।

१०४—'हव्यदातिभिः' इति श्रु० ।

भा०—हे (सत्पते) सत्पुरुषों के प्रतिपालक ! (त्व) उस (वृजिनं) पापशील, त्याग करने योग्य (रिपुं) हिंसक, शत्रु, (स्तेनं) चोर, (दुरा ध्यम्) दुःख से वश करने योग्य, (दविष्टं । हृदय से दूर, द्वेषी पुरुष को (अय-अस्य) दूर कर । और हमारे लिये उसको (सुग) सुखसे वश करने योग्य (कृधि) बना दे ।

[१०६] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २} श्रुष्टयन् नवस्य मे स्तोमस्य वीर विशपते ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥ अ० ८ । २३ । १४॥

भा०—हे (वीर) वीर्यवन् ! हे विशपते ! प्रजा के पालक ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (मे) मेरे (नवस्य) नूनन (स्तोमस्य) स्तुति को (श्रुष्टी') श्रवण करके (मायिन-) माया, छल कपट आदि से युक्त, मायावी (रक्षसः) राक्षसों और दुष्ट भावों को (तपसा) अपने तेज से (नि दह) सर्वथा भस्म कर ।

इति प्रथमा दशति. । इति एकादशः खण्डः

—१०७—

॥ ६० २ ॥ १-४ प्रयोगो भार्गव. सौमरि. काण्वो वा । २, ३, ५, ६, ७

सौमरि. । ८ विश्वमनाः वैयश्व. ॥ कठुप् ॥

[१०७] ^{१ २ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र मे णिष्ठाय गायत क्रतावन् बृहत् शुक्रशाचिपे ।

^{३ १ २ ३ १ २} उप स्तुतासो अग्नये ॥१॥ अ० ८ । १०३ । ८ ॥

१०६—'तपसा' इति अ० ।

१०७-१. श्रुष्टि इति स्नात्यादश्वेति निगदितः । वलोपरछान्दसः ।

भा०—(माहिष्ठाय^१) सप्रसे अधिक दानशील (ऋताग्ने) यज्ञ करनेहारे, सत्यमय, (बृहते) महान्, (शुक्रशोचिषे) देदीप्यमान, कान्ति से युक्त (अग्नये) प्रकाश स्वरूप, ज्ञानी परमेश्वर का हे (उप स्तुतासः^२) हे स्तोतागण ! (प्रगायत) उत्तम रूप से कीर्तन करो ।

[१०८] प्र सो अग्ने तवोतिभि सुधीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।

यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥ ऋ० ८ । १९ । ३० ॥

भा०—हे अग्ने ! (यस्य) जिसके (त्वम्) तू (सख्यम्) मैत्रीभाव को (आविथ) प्राप्त कर लेता है (स) वह (तव) तेरे (सुधीराभि) उत्तम शक्तिसम्पन्न, (कतिभिः) रक्षासाधनों द्वारा और (वाजकर्मभि) अज्ञ के उत्पादन और ज्ञान के सम्पादन और बल के कार्यों से (तरति) सब विघ्नों को पार कर जाता है ।

[१०९] तं गूर्ध्या म्वरुं देवा सो देवमरति दधन्विरे ।

देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥ ऋ० ८ । १५ । १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (तं) उस (स्व-नरं) सत्र के नेता अथवा उस सुखस्वरूप, मार्गमार्ग के पथदर्शक, परम (देवम्) देव की (गूर्ध्या) स्तुति कर, उसके गुणों का गान कर । (देवास) देव-विद्वान् लोग इन्द्रिया या पंचभूत उस (देवम्) प्रकाशमान देव को (अरतिं^१) सर्वज्ञ या अति

१०८—'सुधीराभिस्तरते वाजकर्मभि' इति ऋ० ।

'सख्यमावर.' इति ऋ० । 'मावरे' इति स० सा० ।

वाजकर्मभि. इति पाठ शुद्धः, साम्नो 'वाजकर्मभि' इत्याम्नानात् (अनु०)

१०९—'गूर्ध्या', 'हव्यमोहिरे' इति ऋ० ।

१ अरतिम् अलंयति सर्वज्ञमिति मा० वि० ।

प्रीतिमान् स्वामी (दधान्विरे) स्वीकार करते हैं । वह (देवत्रा) दिव्यगुण सम्पन्न विद्वान्, पञ्चभूतों और इन्द्रियों में (हव्यं) उनके भीतर शक्ति ज्ञान और भाग्य पदार्थों को (ऊहिषे) पहुँचाता है ।

[११०] मा^१ नो^२ हृणीथा^{१ १ २ ३} अतिथि^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २} वसुरग्निः^{३ १ २} पुरुप्रशस्त एषः ।

यः सुहोता^{३ १ २} स्वध्वरः^{३ २} ॥४॥ अ० द । १०३ । १२ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (नः) हमारे (अतिथि) अतिथि के समान पूजनीय देव के प्रति (मा हृणीथा) क्रोध या अनादर मत कर । (एष) यह (पुरु-प्रशस्तः) बहुत उत्तम प्रशंसा और आदर करने योग्य है । वह (वसु) वास देने योग्य सबके भीतर बसने वाला और सबको बसाने वाला (अग्निः) अग्नि के समान ज्ञान रूप प्रकाश से सम्पन्न है । (यः) जो (सुहोता) उत्तम पदार्थों का दाता और प्रतिगृहीता और (स्वध्वरः) उत्तम हिंसा रहित कार्य का अनुष्ठाता, पालक है ।

[१११] भद्रा^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} नो आग्निराहुता भद्रा रातिः^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} सुभग भद्रा अध्वरः ।

भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥ अ० द । १९ । १९ ॥

भा०—(नः) हमारा (आहुत) भली प्रकार उपासित, (अभि-) परमेश्वर (भद्र^३) हमारे कल्याण के लिये हो । हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्य-वान् अग्ने ! परमेश्वर ! (रातिः) हमारा दिया दान हमें (भद्रा) कल्याण-कारी सुखकारी हो । हमारा (अध्वरः) हिंसा रहित कार्य, यज्ञ भी (भद्रः) कल्याणकारी, सुख शान्ति और ऐश्वर्य का दायक हो, (उत) और (प्रश-स्तयः) हमारे सकीर्तन आदि भी (भद्रा) कल्याणकारी सुखप्रद हों ।

११०—‘ मा नो हृणीतामतिथिर्वसु’ इति अ० १. मा हृणीथा. मा क्रोत्सी इति । मा०

वि० । हणि० क्रुध्यतिकर्मा । नि० २ । १२ ॥

[११२] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देव देवत्रा होतारभमर्त्यम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

अस्य यजम्य सुकृतुम् ॥६॥

अ० ८ । १२ । ३ ॥

भा०—(यजिष्ठं) दान आदि करने हारे, सर्वोपास्य (देवत्रा देवे) देवों के देव, (होतारम्) सब पदार्थों के दाता, (भमर्त्यम्) अविनाशी मरणरहित, (अस्य यजम्य) इस जीवनयज्ञ के (सुकृतुम्) उत्तम प्रकार से सम्पादन करने हारे (त्वा) तुझ को (ववृमहे) हम धरण करते हैं, तेरा भजन करते हैं ।

[११३] तदग्ने शुभ्रमाभर यत्सासाह सवने कञ्चिदग्निणम् ।

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मन्यु जनस्य दूष्यम् ॥७॥

अ० ८ । १६ । १५ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (तद्) वह 'शुभ्रम्' अन्न, धन, ज्ञान और बल (आभर) हमें प्राप्त करा, जो (सवने) हमारे घर में, यज्ञगृह में, हमारे शरणस्थान में (कञ्चित्) हर किसी प्रकार के (अग्निणम्) पापभोगी, चोर, (जनस्य मन्युं) सर्वसाधारण प्राणियों के क्रोध के पात्र (दूष्यं) दुष्ट पुरुष को (सासाह) दशामके ।

[११४] यद्वा उ विशपति शितः सुभोतो मनुषो विशे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विश्वेदग्निः प्रति रक्षासि सेधति ॥८॥ अ० ८ । १७ । १३ ।

भा०—(यद्वा उ) जब भी (शित) मन्यु और न्याय युक्त स्थ-
चस्था के भंग होने पर वीचण हुआ (विशपति) प्रजाओं का पालक,

११३—'यत्सासहम्मदने' 'जनस्य दूष्य' इति अ० । 'दूष्य' इति च स० सा० ।

१. दूष्य-दुर्बिय पापधिय. इति नि० ५ । ४ । ३ ॥

११४—'मनुष्यो विशे' इति अ० ।

प्रभु (मनुष्यो, विश्वे) मनुष्यों और प्रजाओं के निमित्त (सुप्रति) प्रसन्न, दत्तचित्त होता है, तब (अग्निः) अग्नि स्वभाव, पापों का दाहक तेजस्वी वह (विश्वा इत्) सब प्रकार के (रक्षासि) राक्षसों को (प्रति सेधति) दूर करता है ।

राजा प्रजा को बसाने के लिये वह प्रजा के घातक प्राणियों और आततायी पुरुषों को तीक्ष्ण स्वभाव होकर दूर करे और प्रजा पर सदा प्रसन्न रहे ।

अध्यात्म पक्ष में—विश्वपति, इन्द्रियों का राजा आत्मा जब योगादि साधनों से तीक्ष्ण होकर इस देह में स्वच्छ, निर्मल, सुप्रसन्न हो जाता है तब वह आसुरी वृत्तियों पर विजय पाता है और व्युत्थानों को दूर करता है।

इति द्वितीया दशति । इति द्वादशः खण्डः ।

इत्याग्नेयं काण्डम् ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारमीमांसातीर्थविरुद्धोपशोभितश्रीमत्पंडितजयदेव शर्मणा विरचिते सामवेदालोकाभाष्ये आग्नेय काण्डे समाप्तम् ।

ओ३म्
अथात ऐन्द्रं कारुडम् ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

॥८०३॥ अ०—१ अयुर्बाह्विस्पत्यः । २ श्रुतकृशः सुकक्षो वा । ३ हर्यनः प्रगाथः । ४,

५ श्रुनकक्षः । ६ इन्द्रमातरो देवजामयः अपिकाः । ७, ८ गोरूक्तयस्त्र्यक्षिणौ ।

९ मेधातिथिगङ्गिरसः । १० काण्वः । गायत्री ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[११५] तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्त्वेने ।

२ ३ ३ २ ३ १ २
श यद्वे न शाकिने ॥६॥ अ० ६ । ४५ । २२ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) तुम लोग (सत्त्वेने^१) वीर्यवान्, सत्यस्व
रूप सदा विद्यमान रहने वाले (पुरुहूताय^२) इन्द्रियगण, प्रजाओं और
मनुष्यों द्वारा ज्ञान धन और भक्ति द्वारा पूजित (गवे) गौ, पृथ्वी और
वेदवाणी के लिये (शाकिने) शक्तिमान् राजा, बैल या किसान के समान
(यत्) जो (श) कल्याणकारी है (तत्) उस इन्द्र का (सुते) अपने
यज्ञ में (सचा) एक साथ मिलकर (गायत) कीर्तन करो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११६] यन्ते नून शतक्रतविन्द्र ह्यभितमो मदः ।

१ २ ३ १ २ २ १
तेन नून मदः मदः ॥२॥ अ० ८ । ६२ । १६ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और क्रियाओं में कुशल !
हे (इन्द्र^२) ऐश्वर्यशील ! (य) जो (ते) तेरा (ह्यभितमः) कीर्तिजनक
ऐश्वर्यपूर्ण (मदः) हर्ष का कारण आनन्द रूप है (तेन) उसीसे
(मदेम) तृप्तिकारी आनन्दरस में (मदे) स्वयं भी प्रसन्न रह और हमें
भी प्रसन्न कर ।

११५—१ सत्त्वेने 'इन्द्रो गायत्री' सा० । सत्=सत्य तबते ।

२ पुरु इति इन्द्रियम् । ६० उ०

[११७] गाव उपवदा चटे मही यज्ञस्य रप्सुदा ।

उभा कर्णा हिरण्यया ॥ ३ ॥ अ० ८ । ७२ । १२ ॥

यजु० । ३३ । १६ ॥

भा०—हे (गावः) गौश्रो ! वाणियो ! रश्मियो ! नदियो ! (अवटे) यज्ञस्थान, रक्षास्थान, ईश्वररूप, गंभीर स्थान में (उपवद) आओ, अपना तात्पर्य प्रकाशित करो । अर्थात् गोए जिस प्रकार रक्षास्थान में, रश्मिमें सूर्य में और नदियों गंभीर गर्त, जलाशय या समुद्र में आश्रय पाती हैं इसी प्रकार हे वाणियो ! तुम सकल रक्षक परमेश्वर में लगती हो । (मही) विशाल यह पृथ्वी और यह द्यौलोक (यज्ञस्य) यज्ञ का (रप्सुदा) उत्तम फल देनेवाले हैं । (उभा) दोनों (हिरण्यया) हरणशील, भोग्य लोकों के प्राप्त कराने में (कर्णा) माधनभूत हैं ।

[टि०—इस मन्त्र पर सब भाष्यकारों के मत भिन्न २ हैं । यजुर्वेद में महीधर और उवट के मत में—“वे गोए कूप के समीप आवे और पृथ्वी और द्यौ यज्ञ का फल देनेवाली है और इनके दोनों कान सोने के हैं ।” सायण के मत से—‘ हे (गावः) यज्ञकर्त्ताओ ! तुम महावीर के पात्र की स्तुति करो यह यज्ञ का फल देता है । उस कूपदे के दोनों कान सोने के हैं ।’ स्वामी तुलसीराम के मत से—‘यज्ञकुण्ड के समीप हे वाणियों ! तुम इन्द्र की स्तुति करो जिसमे यज्ञभूमि वेदपाठ के प्रवाहवाली हो और श्रोताओं के दोनों कान प्रकाशमय हों ।’ इनमें कर्मकारण्ड को लक्ष्य करके

११७—उपावनावत इति पाठभेदः, अ०

१ यजुर्वेद अग्न इत्यस्या अवट गर्तमिति उवटमहीधरयोः सम्मतोर्थः अवती-
त्यवत रक्षारथल । अवट कूपम् । रक्षादायदत्तादेव इन्द्रोप्यवटवृद्धवाच्यः
शरण्यत्वाद्भव । अवतीत्योम् । समानधातुवशाद् ओकारः परमेश्वर एव
सर्वस्तुतिनाञ्चा शरणमित्यवनात्म् ।

पञ्च के विनियोग के अनुसार सायण महीधरादि की पदयोजना संगत है। परन्तु अध्याहार और उल्लेखार्थता का दूषण है। यही दोष तुलसीरामजी के अर्थ में भी है। हमारी सम्मति में 'ओम्', 'अवत', 'अवट' ये तीनों शब्द रक्षार्थक अव धातु से बने हैं, इसलिये यह मन्त्र परमात्मा की स्तुति पर लगना चाहिये।]

[११८] ^{३ १ २} अरमश्वाय ^{३ १ २ ३ २ ३ १ २} गायत श्रुनकक्षार गव ।

^{३ १ २ ३ १ २} अरमिन्द्रम्य धाम्न ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । ६० । २५ ॥

भा०—हे श्रुतकक्ष) हे वेदविज्ञान को अपने कुक्षि अर्थात् हृदय में रखने वाले ! (अश्वाय अरं गायत) व्यापक प्रभु या शीघ्र गमनशील, मोक्षा आत्मा के गुणों का वर्णन करो (गवे अरं) गौ, ज्ञानस्वरूप आत्मा, या इन्द्रियों में श्रेष्ठतम इन्द्रियस्वरूप अन्तरात्मा का या ज्योति, रश्मिरूप भीतरी रत्न का उत्तम रीति से वर्णन करो। (इन्द्रस्य^१) सब इन्द्रियों के मालिक, स्वयं इन्द्र, महान् आत्मा के (धाम्ने, तेजः सामर्थ्य का (अर गायत) खूब गुण गाओ।

[११९] ^{१२ ३२} तमिन्द्र ^{३ २ ३ २ ३ १ २} वाजयामसि मह वृत्राय हन्तवे ।

^{१२ २२ ३ १ २} स वृषा वृषभो भुवत् ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ६१ । ७ ॥

भा०—(त) तम (इन्द्रं) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु की हम (वाजयामसि) ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं। (मह) बड़े भारी (वृत्राय) विघ्नकारी ज्ञान के आवरण करने वाली तामस प्रवृत्तियों को (हन्तवे) विनाश, करने के

११८—'श्रुतकक्षो अर' इति ऋ० ।

१, इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रनष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (पा० अ०

५ । २ । ६३) इतीन्द्रशब्दाद् घञ् । इन्द्रियम् ।

लिये (सः) वह (वृषभः) ज्ञान और सुखों की वर्षा करने वाला और (वृषा) समर्थ, बड़ा बलवान् (भुवत्) है ।

[१२०] त्वामिन्द्र बलादधि सहसो जात भोजसः ।

त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥ ६ ॥ अ० २०। १५३। २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (बलाद्) बल से, और (सहसः) शत्रुदमन करी सहनशक्ति से, (भोजसः) कान्ति और प्रभाव से (जातः सन्) प्रकट होकर ही (वृषन्) हे वृष तुल्य ! सबके भीतर उत्पादक शक्ति के देनेदार ! समस्त सुखों के वर्षक ! (त्वं) तू (वृषा इद्) वृषा वीर्य सेचन में समर्थ ही (असि) है, तू ही सयमें बलवान् श्रेष्ठ और सबका जन्मदाता और मूल कारण है ।

[१२१] यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यन्मि व्यवर्त्तयत् ।

चक्राण आपश दिवि ॥ ७ ॥ अ० ६। १४। ५ ॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञ प्रजापति (इन्द्रं) आत्मा को (अवर्धयत्) बढ़ाता है (यद्) क्योंकि यज्ञ ही (दिवि) सूर्य के आश्रय, आकाश में (आपश) लटकाकर (आ चक्राणः) चक्र के समान चलाता हुआ (भूमिं) भूमि को (वि अवर्त्तयत्) विशेषरूप से घुमाता है । इस अर्थ से 'इन्द्र' का अर्थ 'सूर्य' और 'यज्ञ' का अर्थ 'सौर जगत्' या प्रवर्त्तक प्रजापति होता है । समस्त ब्रह्माण्ड में इस सौर जगत् के अनुकरण में ही यह यज्ञवेदी और छोटे अनुपात में यह देह रूप यज्ञभूमि बनी है, वेदमन्त्रों में समान रूप से तीनों का वर्णन किया गया है । अध्यात्म पक्ष में—इस जीवन-यज्ञ में इन्द्र आत्मा के सामर्थ्य को बढ़ा दिया है अर्थात् देहरूप कर्मभूमि को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में बहने दिया । और बौलोक रूप मत्स्य में ब्रह्म विद्यमान है, इत्यादि ।

[१२२] ^{१ २ ३ २ ४ ३ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२} यदिन्द्राह गथा त्वर्माशाय वस्व एक इत् ।

^{३ २ ३ १ २} स्तोता म गोसखा स्यात् ॥ ८ ॥ अ० ८ । १४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) तू (एक इत्) अकेला ही (वस्व) धन, विभूति, ज्ञान, जीवन शक्ति का (ईशाय) वश करता है उसी प्रकार (यद्) यदि (अहं) मैं जीवभी अपनी इन्द्रियों और वसुरूप प्राणों को वश करने में सगर्थ होजाऊँ तो (गोसखा) इन्द्रिया के समान ही ख्याति से सम्पन्न यह (मे) मेरा आत्मा भी (स्तोता) इस ईश्वर महान् आत्मा की स्तुति करने वाला (स्यात्) होजाय ।

[१२३] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२} पन्थ पन्थमित्मोतार आधावत मघाय ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २} सामं वीराय शूराय ॥ ९ ॥ अ० ८ । २ । १५ ॥

भा०—हे (सांतार) ज्ञान सम्पादन करने वाले साधन मेरे इन्द्रियों ! अथवा हे ज्ञानयोगी पुरुषों ! (मघाय) सबसे अधिक प्रसन्न होने वाले (वीराय) सामर्थ्ययुक्त वीर, विशेष प्रकार से तुम सबको प्रेरणा देने वाले (शूराय) बलवान् पराक्रमी, आत्मा या परमात्मा के विषयक (पन्थ पन्थं) प्रशंसनीय, उत्तम २ (सोमं) यथार्थ अनुभव रूप आनन्दरस को (आधावत) प्राप्त करने के लिये शीघ्र पहुँचो, शीघ्रता करो ।

संक्षिप्तिदि प्राप्त करने वाले साधक की यही भावना होती है ।

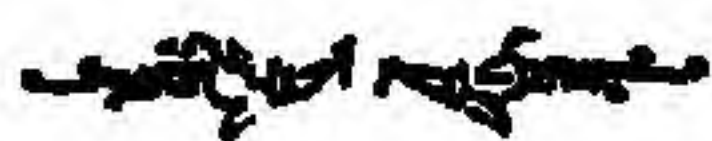
[१२४] ^{३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} इदं वसां सुत्तमन्धः पिना सुपूर्णमुदरम् ।

^{१ २ ३ १ २ ३} अनामयिन् वीरमा तै ॥ १० ॥ अ० ८ । २ । १ ॥

भा०—हे (वल्लो) शरीर में बसने वाले देव ! या शरीर में द्रव्य इन्द्रियों और अन्तःकरण आदि को बसाने वाले इन्द्र ! आत्मन् ! तू (इन्द्रम्) इस (सुनम्) उत्पन्न किये (अन्ध.) अन्न, जीवन धारण सामर्थ्य को (सुपूर्णम् उदरम्) खूब पेट भर कर (पिय) ग्रहण कर । हे (अगाभयिन्) भयरहित वीर, यह सब सोम आदि आत्मा (ते) तेरे किये हम (हरिम्) देते हैं, भेंट करते हैं ।

“नयादस्यानिस्तपति भयात्तपति सूर्यः” इत्यादि, उपनिषद् को यही संगति होती है । आत्मा को राजा के दृष्टान्त से बृहदारण्यक में उत्तम रीति से समझाया है ।

इति तृतीया दशतिः । इति प्रथमः खण्डः ।



॥ ६० ५ ॥ अ० ३ । ८१ । सुकश्यामकक्षी । ३ भारद्वाजः । ४ श्रुतकक्षः । ५, ६ मधुच्छन्दा । ७, ८, ९, १० त्रिशोकाः । ११ वसिष्ठ । गायत्री ॥

[१२५] उद्दुग्धमि श्रुतामघं वृषभं नर्यासम् ।

अस्तारमि सूर्य ॥ १ ॥ अ० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—हे (सूर्य) समस्त जगत् को प्रेरणा करने वाले आत्मन् ! तू (श्रुतामघम्) प्रसिद्धि धन, ज्ञान और कीर्ति सम्पन्न (वृषभम्) सुख और आनन्द को वर्षा करनेवाले, सर्वश्रेष्ठ (नर्यासम्) मनुष्यों के हितकारी कार्य करने और मन संकल्प करने वाले (अस्तारम्) अपने प्रतिपक्षियों और काम क्रोध आदि शत्रुओं को मार गिराने वाले, परात्मी वीर पुरुष के प्रति (इद् ह) ही तू (उद् एषि) ऊपर उठता है, उदित होता है ।

सदाचारी, परोपकारी काम क्रोधादि के जीतने वाले पुरुषपुंगव का आत्मा सूर्य के समान उन्नति को प्राप्त होता है ।

[१२६] ^{२ ३ ४ २} यदद्य ^{२२} कष्य ^{३ १ २ ३ १ २} वृत्रहनुदगा अभि ^२ सूर्य ।

^{३ १ २} सर्वं ^{३ १ २} तदिन्द्र ^{३ १ २} ते वश ॥ २ ॥ अ० ८ । १३ । ४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) सूर्य के समान मेघ और अज्ञान-अन्धकार या विघ्नों के नाश करने हारे ! हे (सूर्य) समस्त जगत् के समान इस देह के प्रेरक ! हे आत्मन् ! (अद्य) आज (यत् कत् च अभि) जिस किसी पदार्थ के मन्मुख (उद् अगा) तू उदित होता है (सर्वं तत्) वह सब (ते) तेरे ही (वशे) वश में है । आत्मवान् पुरुष जिस बात पर अपना संकल्प बाधते हैं वही उनके वश में हांजाता है । शौनक ने यह मन्त्र, पाप नाश करने और जगत् भर को वश करने की साधना का मूलमन्त्र लिखा है ।

यदद्यकक्षेयुदिते रघौ स्तुत्वा पुरदरम् ।

गृण्यसपाहतं रिप्रं वश्य वा कुरुते जगत् । (ऋग्विधाने शौनक)

[१२७] ^{३२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} य आनयत्परावत् सुनीती ^{३ १ ३ २ ३ १ २} तुर्वशं यदुम् ।

^{३ १ ३ २ ३ १ २} इन्द्र स ना युवा सखा ॥ ३ ॥ अ० ६ । ४५ । १ ॥

भा०—(य०) जो (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सुनीती) उत्तम नीति, उपाय साधन द्वारा (तुर्वश) कामनाओं से बंधे और (यदुं) कुपय में गये पुरुष को (परावत्) बहुत दूर से भी (आनयत्) सन्मार्ग पर लेआता है (स०) वह (न०) हमारा (युवा) सदा जवान, अजर, अमर, नित्य, (सखा) उष्ट मित्र और समान ख्याति वाला, हमारे आत्मा या हृदय देश में विराजमान परमात्मा या आचार्य है । यहा इन्द्र आत्मा, परमात्मा, आचार्य तीनों पर समान भाव से लगता है ।

१. 'तुर्वशं'—तुर्वी हिंसायाम् । भ्वाटि । क्लेरशच् । हिंसन्ति आहिंस्यन्ते व्याध्यादिभिर्वा । यद्वा तूर त्वरणहिंसनयोः । दिवादिः । यद्वा तुर्वश. काम

पुषामिति तुर्वशाः । यद्वा चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वशा एषामिति चतुर्वशाः
सन्तः, चकारलोपेन तुर्वशाः । दे० य० । तुर्वश इति मनुष्यनाम ।
नि० २। ३ ॥

‘यदुम्’—यदुः, यमेर्हुक् इति भोजः । यम्यते नियम्यते आचार्येण
अपथप्रवृत्ताराज्ञा वा । यदुरिति मनुष्यनाम । नि० २। ३ ॥

तुर्वश, हुङ्यु, अनु, यदु, और पुरु ये ऐतिहासिक पुरुष भी हुए हैं ।
सायण ने इतिहासपरक ही अर्थ किया है । परन्तु वेद में ये सब मनुष्य
के पर्याय शब्द हैं । धात्वर्थों के भेद से भिन्न २ गुण के मनुष्यों के ये
वाचक हैं । जैसे—(१) ‘तुर्वी हिंसाया’ धातु से अशच् प्रत्यय करने से तुर्वश
शब्द बनता है । जो प्राणियों को मारे या व्याधि से पीड़ित हों । (२) तुर्वश=
जिन को काम अर्थात् पुण्या हो वे तुर्वश कहाते हैं । या ३) जो धर्म अर्थ,
काम, मोक्ष चारों को अपने धरा करलें वे ‘तुर्वश’ कहाते हैं । उसी प्रकार
‘यदु’ वे मनुष्य हैं जो कुमार्ग पर पैर धरने पर राजा व आचार्य द्वारा नियम
व्यवस्था में लाय जावें । आर्यसाहित्य में देव को इष्ट, यन्धु कहा जाता है
और आचार्य को भी सुहृद् माना गया है । ‘सुहृद् भूत्वा आचार्य उपदिशति’
(पात० महाभाष्य)

[१२८] मा न इन्द्राभ्याश्दिशः^{१ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २} सुरा अक्षुषा यमत् ।

^{३ १ २ ३ २} त्वा युजा वनम तत् ॥४॥ अ० ८ । ६२ । ३१ ॥

भा०— हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् ! (आ दिशः) चारों दिशाओं
से भी (नः) हमारे (अभि) प्राप्ति (अक्षुषु) रात्रि, अन्धकार युक्त
कालों में, राक्स तामस अवस्थाओं में भी (सुरः) चुपके २ छुपा मारने
वाला चोर या हिंसक जन्तु या काम क्रोध आदि शत्रु (नः मा अभि आ
यमत्^१) हम पर काबू न करके, फास न ले, बल्कि हम (तत्)

वस समय (त्वा युजो) तुम्ह अपने मंडायक द्वारा उसे (वनेम) मार डालें ।

अहु रात्रिनाम । नि० १ । ७ ॥ २. यम परिवेषणे (भवति)
३. अथ क्रय हिसार्थाः वन चेति अदि०

[१२६] ^{१२} इन्द्रं ^{३ २ ३ २ ३ २} सानवि रयि सजित्वानं सदासम् ।

^{१ २ ३ १ २} वपिण्डमृतय भर ॥ ५ ॥ अ० १ । ७ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सानास) उत्तम प्रकार से विभाग करने योग्य (सनित्यान) अपने शत्रु पर विजय दिलाने वाले, (सदासहं) निरन्तर आने वाले आक्रमणों को महन करने वाले, (वपिण्डं) शत्रु पर चायों और आगुधों की वर्षा करने वाले या बहुत अधिक (रयि) सेना को (कनये) रक्षा क लिये (आ भर) प्राप्त कर । आत्मा के पद में रयि-प्राण या आत्मिक ज्ञान, बल जो शरीर में स्थान २ पर गढ़ा हुआ है, सब दोषों पर विनय करता है सब कष्टों को सहता है, सब सुखों को उत्पन्न करता है और निरन्तर गति करता है ।

रयि रीङ् गतौ —रीयने गच्छति इति रयि । पद्मा रातेर्दानार्थस्य । गच्छत्याक्रामति शत्रून् इति रयि सेना । कौशायत्तात्वाद् भृतिरयिता सेना वा रयि । सजित्वानं सदासहमिति विशेषणबलाद्रयि सेनार्थः ।

[१३०] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २} इन्द्रं वयं महायन इन्द्रमर्मे हवामह ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} युज वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ६ ॥ अ० १ । ७ । ५ ॥

भा०—(महायने) बड़े '२' सग्राम के अवसर में और (अर्मे) छोटे-मोटे परस्पर के कलह या चोरी आदि के अवसर पर भी (वयं) हम लोग (वृत्रेषु) विघ्न और उपद्रवों और विघ्नकारियों पर (वज्रिण) सदा तलवार या सेना-बल को या दण्ड को धारण करने हार, (युज) सदा के

सङ्गप्रक, (इन्द्रम्) राजा को (अर्थ) हम (इवामहे) बुझाते हैं उसके गुण कीर्तन करते हैं। यहा इन्द्र शब्द राजा वाचक है। राजा के दृष्टान्त से उःनिषदे में मुख्य प्राण और आत्मा का वर्णन किया गया है। आत्मा पक्ष में (महावने) बड़े भारी रोगसाधन और (अर्भे) सूक्ष्म विचार में भी (वृत्राणि) आत्मा पर पर्दा डालने वाली तामस, व्युथान वृत्तियों पर (वज्रिणम्) सूक्ष्मगति या वर्जक शक्ति अर्थात् असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण करने वाला विवेक स युक्त आत्मा का स्मरण करे। जैसे काठक में "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुपतम्।" कठ० बल्ली २ ॥

महाधनमिति संग्रामनाम (नि० ३। १८।)। अर्भो हरतेः।

[१३१] अपिबन् कद्रुवः सुनामन्द्रः सङ्गवाहः।
तत्रादिदिष्ट पौत्यम्। ७। अ० ८। ४६। २३॥

भा०—(इन्द्र) राजा (सङ्गवाहे) हजारों प्रकार से शत्रु को परास्त करने के लिये (कद्रुवः) विद्वान् ज्ञानी के। (सुतम्) ज्ञान का (अपिबत्) पान करता, उपयोग करता है (अत्र) वही (पौत्यं) उसका बल (अत्रादिदिष्ट) अधिक चमकता है।

बाहुर्बाधते, परान् बाधते इति बाहु इति देवराजो यत्वा। कद्रुः कवेतः सौं कद्रु विद्वान्। अत्रादिपु औणादिकं निपातनम्। दृष्टा ०। ३। १५२। १॥

आत्मपक्ष में कण्व मन। बाहु=कर्म। मेघ, बाहु=अलधार। इत्यादि।

[१३२] अथमिन्द्र त्वायामिप्रनानुमा वृषन्।
विद्धीत्वाइस्य नो वसो॥ ८॥ अ० ७। ३१। ४॥

१३१—,अत्रादिदिष्ट' इति अ०। अत्रादिदिष्टति स० सा०।

१३२—'प्रणोनुम' 'विद्धी त्व' इति अ०।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! हे (वृषन्) हे सबसे श्रेष्ठ सुखों के वर्षा करने वाले ! (वषन्) हम (आयवः) ज्ञानशील मनुष्य (त्वा) तुम्हें को (अभि प्र नोनुमः) निरन्तर प्रणाम करते हैं । हे (वसो) सब के भीतर वास करने वाले (न०) हमारे (अस्य) इस सबको तू (विद्धि) निश्चय पूर्वक जानता ही है ।

[१३३] आ घा ये अग्निमिन्धत स्तृणन्ति बहिरानुपक् ।

येषामिन्द्रा युवा सखा ॥ ६ ॥ अ० द० ४५ । १ ॥

भा०—(वे) जो विद्वान् लोग (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (इन्धते) प्रज्वलित करते हैं और (येषां) जिनका (युवा) अजट, अमर, सदा तरुण, अक्षय बल वाला (इन्द्र०) आत्मा (सखा) मित्र हैं । वे (आनुपक्) निरन्तर (बहिः^१) अपने कर्मबन्धन, देह को (स्तृणन्ति^२) काट डालते हैं । आत्मा के ज्ञान और प्राण दोनों स्वरूपों को जान लेने वाले विद्वान् कर्मबन्धन से मुक्त होजाते हैं ।

‘बहिः’ धान्य को कहते हैं । देह की उपमा उपनिषदों में धान्य और वृक्ष से दी है । जैसे १. ‘सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः’ (काठकम्) २. ‘ऊर्ध्वमूलं अवाक्शास्त्र एषोऽश्वत्थः सनातनः ।’ ‘अहं वृक्षस्य शेरिषा’ (तै० उ०)

[१३४] मिन्धि निध्वा अपक्षिषः परि बाधो जहो मृधः ।

वसु स्पार्ह नदा भर ॥ १० ॥ अ० द० ४५ । ४० ।

१३३—१. बृहेर्नलोपश्च । वृद्धि वृद्धौ । यस्य त्रिधात्ववृत्त बहिः, अ० ८ ।

१०२ । ४ अत्रापि बहिः शरीर त्रिधातुज वर्णितम् । यथा भागवते-

‘यस्यात्मबुद्धिं कुणपे त्रिधातौ’० इत्यादि ।

२ वृश्चति, कृन्तति, स्तृगात्यादयः पर्याया धातवः सर्वं वक्ष्यमाणम् ।

नि० २ । १६ ॥

भा०—(विश्वा द्विषः) सब द्वेष करने वालों को हे राजन् !
आत्मन् ! (अप भिन्वि) दूर ही काट डाल और (बाध) पीड़ा पहुंचाने
वाले, (मृधः) संग्रामकार। हिंसक, सेनाओं को (परि जहि) सब शोर
नाश कर । स्पर्हम्) हमारी अभिलाषा के पात्र (तद्) उस (वसु)
हमारे भीतरी आत्मरूप धन का (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवीति
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवीति । वेद के शब्दों में आत्मा 'स्पर्हं' वसु
या सबसे अधिक प्रिय धन है । 'तद्' यह शब्द उस विस्मृत को याद
कराता है जिसको हम अविद्या के कारण भूल गये हैं जिसका मैत्रयी ने
याज्ञवल्क्य से पूछा—येनाहं नामृतास्या किमहं तेन कुर्याम् । यदेव भगवान्
वेद तदेव मे ग्रही । इस पर याज्ञवल्क्य ने उक्त सिद्धान्त कहकर कहा ।
'एतावदरे खलु अमृतम् ।' यह 'तद्' अन्य उपनिषदों में भी है जैसे—'तदेव
शुक्रं तद् ब्रह्म तदु नात्येति कश्चन, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ ८० ५ ॥ १ काण्वो घोरः । २ विशोकः । ३ वत्सः काण्वः । कुसीदी काण्वः ।

४ मेधानिधिः । ५ श्रुतकक्षः । ७ श्यावाश्वः । ८ प्रगाथः काण्वः । ९ वरस ।

१० हरिमिठः । गायत्री ॥ षण्जः ॥

३ १ २

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[१३५] इद्रेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।

१ २ २ २ ३ १ २

नियामं चित्रमृज्जने ॥ १ ॥ अ० २ । २७ । २ ॥

भा०—(एषां) इन मर्तों प्राणों के (हस्तेषु) हाथों में (कशा)
कशा है । (यद् वदान्) यह जो बात कहते हैं (इह एव शृण्वे) उसको

१३५—१. हस्तो हन्तेः, प्राशुर्हने इति । निरु० १, ३, २ ।

मैं यहां ही सुनता हूं । वह कशां (चित्रं) अद्भुत प्रकार से (नियामं) नियम, व्यवस्था को (अञ्जतं) साध रही है ।

‘कशा’ का वर्णन अथर्ववेद (का० ६ । सू० ११) में किया है । जैसे -
 “य एति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ।”

पश्यन्त्यस्याश्चरित पृथिव्या पृथक् नरो बहुधा भीमसमाना ।

“अग्नवानान् मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नसिः ।”

साधक प्रत्यक्षदर्शी अपि कहता है कि मैं उन मरुतों की कशा (इन्द्र) के नाद को सुनता हूँ वह विचित्र प्रकार से सबका व्यवस्था में बांधे हैं । अथर्व में इसको ‘मरुतामुग्रा नसिः’ प्राणियों को उग्र रूप हाकर बाधने वाली बनलाया है । इसका स्पष्ट विवरण त्रिपुरदहन के अलंकार की व्याख्या में शिव के जगन्नाथ के महारथ पर मरुत् सारथि के हाथों में ओंकार का इन्द्रा बनलाया है । शि० पु० । योगी लोग उसी ओंकार के अनाहत नाद को सुनते हैं । उसी का यहा विवरण है ।

[१३६] इम उ त्वा विन्रदान् मखाय इन्द्र सोमिनः ।

पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १६ ॥

भा०—(पुष्टावन्तः) पुष्टिकारक पदार्थ घान्न दाना आदि को हाथ में लिपे पशुमालक पुरुष । यथा) जिन प्रकार स्नेह में अग्ने (पशु) पालन पशु को दम्वते हैं उसी प्रकार हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इमे) ये (सोमिनः) सोमरस या आत्मज्ञान के धारण करने वाले पुरुष तेरे (रुद्राय) मित्र (स्वा) हृमकों दंरुत हैं ।

स्नेह प्रदर्शनमात्र समान धर्म दिखाया गया है । आत्मज्ञान साधक पुरुष नानास्तुति ज्ञान चर्चा एवं ध्यान साधना द्वारा अन्नरासा एवं मद्य को युक्ताते हैं, उनके प्रेम में उसको निरन्तर निहारते हैं कि “अथ दर्शन

देता है, अब देता है. अब ! अब ! । गीता में जैसे — ' देवा.अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकः शिष्यः ।'

[१३७] ^{१ २}समम्य ^{३ २ ३ २ ३ २}मन्यत्रे ^{३ १ २}विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।

^{३ १ २ ३ २}समुद्राय च सिन्धवः ॥ ३ ॥ अ० ८ । ६ । ४ ॥

भा०—(अस्य) इन इन्द्र के (मन्यत्रे) क्रोध के सामने या मनन ज्ञान, संकल्प के समक्ष (विशा) समस्त (विशः, प्रजापु (नमन्त) ऐसे झुकती हैं, जैसे (सिन्धवः)। शिष्या (समुद्राय इव) समुद्र में समाजाने के लिये आपसे आप बढ़ती ही हुई चली जाती हैं ।

इन 'मन्यु' को गीता में व्यास ने कहा है ।

"कालोऽस्मि लोकदयकृष् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।"

इस श्रुति की व्याख्या की गई है । जैसे—

यथा तदीना बहवोऽभ्युबेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति ।

तथा तवाभी नरकोरुवीरा विशन्ति चक्राण्यभिचिन्तयन्ति ॥

गीता ११ । २८ ।

झुकना, जैसे—'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः' । गीता ११ । ३६)

[१३८] ^{३ २ ३ २ ३ २ २}देवानामिद्वौ महत्तदावृणीमहे वयम् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २}वृणामस्मभ्यमूनये ॥ ४ ॥

अ० ८ । ७२ । १ ॥

भा०—(वृणाम्) सुखों और ज्ञानों की धार बरसाने वाले (देवानाम्) विद्वान् गुरुओं या प्राणों की (इत्) ही (महत् तत् अब) बड़ी भारी उमर रहा या शरण को हम (अस्मभ्यम्-कृतये) अपनी रक्षा के लिये (आ वृणीमहे) सब प्रकार से चाहते हैं ।

तैत्तिरीय उप० (च० १ । अनु० १०) में जैसे— " यदि त कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः

युक्ताः आयुक्ताः अलुक्ता धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तन्ते तथा तत्र वर्तन्ते । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतद्रूपास्यम् ।

सद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपवेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव । गी० अ० २ । ३४-३५॥

[१३६] ^{३ २ ३ १ २}सोमानां ^{३ १ २}स्वरणं ^{३ १ २}कृणुहि ^{३ १ २}ब्रह्मणस्पते ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ २}कक्षीवन्त य औशिजः ॥ ५ ॥

अ० १ । १८ । १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्मणस्पते ! ज्ञानिन् ! (सोमानां) ज्ञानों के योगसाधन से प्राप्त अनुभवों या रसों को प्राप्त करने के लिये (कक्षीवन्तं) कक्ष, छाती में रहने वाले या प्रसिद्ध प्राण को (स्वरणं) सुख से गमन करने वाला एवं (वेदाप्यमान) बलसम्पन्न (कृणुहि) कर (य.) जो प्राण (औशिजः) वश द्वारा साध लिया गया है ।

इस प्रकरण को तैत्तिरीयशास्त्रा में हम प्रकार स्पष्ट किया है—“सोम स्वरणमित्याह सोमपीथमेव अवदन्धे । कृणुहि ब्रह्मणस्पते इत्याह ब्रह्मवर्चस-मेवावदन्धे इत्याह ।” अर्थात् ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मणस्पति है । उसको ज्ञान में प्रसरता प्राप्त करने का उपदेश है । इसी प्रकार ‘कक्षीवान्’ के विषय में यास्क कहते हैं ‘कक्षीवान् कक्ष्यावान् । उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः । (नि० ६ । ३ । १) कक्षो गाहते कसः इति नामकरणः । ख्यातेर्वा अनर्थकोऽ-भ्यासः । किमस्मिन् ख्यानमिति । कपतेर्वा तत्सामान्यान्मनुयकक्षः । (नि० ७ । १ । ५)” हम प्रकार कक्षीवान्, ज्ञानवान् ख्यातिमान्, सहायवान् । औशिजः=कान्तिसम्पन्न या कामनासम्पन्न । कक्षः=मनुष्य या प्राणी की कोख, ‘

उनमें निवास करने वाला कहीवान् है । और वही शरीर में जठराग्नि के बल से उत्पन्न होने के कारण 'औशिज' कहाता है । ज्ञानी पुरुष उसके ज्ञान और योगसाधनों द्वारा स्वरण=अधिक शक्ति सम्पन्न, बलवान्, देवी-प्यमान करें ।

[१४०] ^{१ २} बोधन्मना ^{३ १२} इदस्तु नो ^{३ १} वृत्रहा ^३ भूर्यासुतिः ।

^{३ १ २} शृणोतु शक्र आशिषम् ॥ ६ ॥ अ० ८ । ६३ । १८ ॥

भा०—(नः) हमारा (शक्र.) शक्तिशाली आत्मा (वृत्रहा) तामस आवरणों का नाश करने वाला (भूर्यासुतिः) अति अधिक सम-हित वृत्ति वाला होकर, (बोधन्मनाः) ज्ञानशील चित्त वाला (इत्) ही (अस्तु) हो । और वह (आशिषम्) आशीर्वाद, उत्तम कामना को (शृणोतु) सुने ।

[१४१] ^{३ १ २} अद्य नो देव सवितः ^{३ १ २} प्रजावत्सर्वो ^३ सौभगम् ।

^{१ २ ३ १ २} परा दुष्पञ्च्यं सुव ॥ ७ ॥ अ० ५ । ६२ । ४ ॥

भा०—हे (सवित) सब के प्रेरक, उत्पादक, प्रकाशमान् देव, आत्मन् ! (नः) हमारा (प्रजावत्) अपनी प्रजाओं के समान (सौभगं) उत्तम कल्याण (अद्य) आज, प्रतिदिन (सर्वो) उत्पन्न कर । (दुष्पञ्च्यं) चित्त में से दु संकल्पों के कारण होने वाले तन्दाकालिक प्रमाद को (परा सुव) दूर कर ।

योग के साधनों को करते हुए साधक के आग्रहपूर्वक संयम द्वारा इन्द्रियों का बाह्य निरोध होजाने पर भी मन की पूर्व वासवाएं तन्दा के

१४०—'बोधिन्मना' इति अ० ।

१४१—'अधानो', 'दुःपञ्च्य' 'दुष्पञ्च्य' इति अ० ।

अवसर पर, दुःस्वप्नों का कारण होती हैं । उनको दूर करने और शुभ विचारों के प्रबल होने की इस मन्त्र में प्रार्थना है ।

[१४२] ^{२ ५-२ ३ ५२ २२ ३ २ ३ १ २} कौ३ स्य वृषभा युवा तुविग्रीवो अनानतः ।

^{३ ५२ २२} ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥ ८ ॥ ^{१ २ ३ १ २} श्र० ८ । ६४ । ७ ॥

भा०—(वृषभ.) इन्द्रियरूप गौओं में बैल के समान 'मोक्षा सर्वः' श्रेष्ठ, मेघ के समान सुखों का वर्षक, (युवा) सदा अजर, (अनानतः) कभी किसी के आगे न मुकने वाला, स्तब्ध, (तुविग्रीव) बहुतसी ग्रीवा वाला, इन्द्र (स्य. क) वह आत्मा कहा है ? (तं) उसको (क) कौन (ब्रह्मा) ब्रह्मा को जानने वाला विद्वान् (सपर्यति) उसकी पूजा करता है । अर्थात् हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम उस अप्रतर्क्य, अबाध्मनसगोचर सहस्रशीर्ष पुरुष की विवेचना करो और उसके सचे उपासक ब्रह्मज्ञानी की भी पहचान करो ।

कथमिन्द्रो बहुग्रीव ? उच्यते । परमात्मस्वरूपत्वात् । 'सर्वत पाणिपाद नत् सर्वतोऽङ्घ्रिशिरोमुखम् । सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति, इति मा० वि० । तुवीति बहुपर्याय । (नि० ३ । १ । ३ ।) ग्रीवा निगदद्यात् कश्म्येति अनुदात्त प्रक्षान्ताभिपूजितयोरिति प्लुतिरनुदात्तश्च (पा०),

इन्द्र बहुग्रीव किम् प्रकार है ? गीता कहती है—

“बहुवक्त्रेनेत्र महाबाहो बाहुबाहुरूपादम् ॥”

बहूदरं बहुदंष्ट्राकराल ॥ अ० ११ । २३ ॥

अनेक चक्षुःनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।

सर्वाङ्गैर्मयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

जैसा वेद में भी लिखा है—‘सहस्रशीर्षो पुरुष. सहस्राक्षः सहस्रपात्’
(यजु० ३१ । १ ॥)

[१४३] उपहरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।

धिया विप्रो अजायत ॥ ६ ॥

श्रु० ८ । ६ । २८ ॥

भा०—(गिरीणां) पर्वतों के (उपहरे) तट प्रान्त में और (नदीनां च) नदियों के (संगमे) संगम स्थान पर (धिया) ज्ञान शक्ति और कर्म के अभ्यास से (विप्र.) मेधावी पुरुष (अजायत) तैयार हुआ करता है ।

तपस्वी लोग एकान्त गिरिकन्दरा और प्राकृतिक रमणीय नदी संगमों पर ध्यान, ज्ञान, तप, जप करके शक्तिमान् होते हैं । आत्मा के पक्ष में—(गिरीणां) मेरुचूड के पोरुओं के समीप और इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन (नदीनां) नाडियों के संगम स्थान त्रिकुटी में ध्यान लगाने से दिव्य ज्ञानवान् पुरुष सिद्ध हो जाता है । अथवा—'गिरय = स्तोतारः । नद्यः = मरस्वत्यः । धीरध्ययनम् । कवियों, ज्ञानप्रवक्ताओं के पास वेदवाणियों के परस्पर संगम स्थल, सभा स्थानों में अध्ययन करने और मनन करने से विप्र-विद्वान्, ब्रह्मज्ञानी होजाता है ।

[१४४] प्र सत्ताजं चर्षणीनामिन्द्र स्तोता नव्यं गीभिः ।

नरं नृपाहं मादृष्टम् ॥ १० ॥

श्रु० ८ । १६ । १ ॥

भा०—(चर्षणीनाम्) तत्त्वदर्शी, आचारवान् पुरुषों के बीच (सत्ताजं) प्रकाशमान, (नव्यं) स्तुति करने योग्य, (इन्द्रं) ऐश्वर्यसम्पन्न (नरं) सबके नेता, (नृपाहं) सब मनुष्यों को अपने तेज से दबाने वाला, (मादृष्टं) सबसे अधिक पूजनीय परमेश्वर की (प्र स्तोत) उच्चम रीति से स्तुति करो ।

१४३—'संगमे च नदीनाम्' इति श्रु० ।

१. शु म्बुनौ (बुदादि) नव्य स्तुतियोग्यमित्यर्थः ।

चर्षण्यः चर्यावन्तः चर्याशीलाः । चरंतरनिरौणादिः । कृषेर्वा ।
बद्धा चापितारो दृष्टारः । विचर्षण्यः पश्यतिकर्मा । (नि० २ । २)

चर्षण्यश्चापिता दृष्टा इति स्कन्दस्वामी । चर्षण्यो मनुष्याः । (नि०
२ । ३ ।)

इति पञ्चमी दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥



॥८०६॥ अ०—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । २ मेधातिथिः । ३ गोतमः । ४ भट्टाज ।

५ विन्दुः पूनक्षो वा । ६, ७ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । ८ वरमः काण्व ।

९ शुनःशेषः । १० शुनःशेषो वामदेवो वा ॥ इन्द्रो देवता ॥

गायत्री । षड्जः ॥

[१४५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} अपादुशिप्रथन्धस सुदक्षस्य प्रहोषिणः ।

^{२ ३ २ ३ १ २} इन्द्रारिन्द्रो यवाशिर ॥ १ ॥

अ० ८ । ९२ । ४ ॥

भा०—(शिप्री) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला या प्राणों का स्वामी (इन्द्र) ऐश्वर्यशील आत्मा (सुदक्षस्य) कार्यसम्पादन में कुशल, बलसम्पन्न, (प्रहोषिणः) उत्तम रीति से हवन, दान-आदान करने वाले (इन्द्रो) प्रदीप्त, (यवाशिरः) अन्न के सारभूत अंश से मिल कर परिपक्व (अन्धसः) प्राणधारण सामर्थ्य को (अपात्) पान या पावन करता है ।

'प्रहोषिन्'—इसकी व्याख्या देखिये (गीता अ० ४ । २३-३१ ।) इसमें बहुत से यज्ञ दर्शाये हैं जैसे १. ब्रह्मर्पण ब्रह्महवियाग । २. इन्द्रियों की संयम में आहुति । ३. शब्दादि ब्राह्म विषयों की इन्द्रियों में आहुति, ४. ज्ञानेन्द्रिय चार ५. प्राणेन्द्रिय कर्मा की सयमार्गि में आहुति, ६. द्रव्ययज्ञ, ७. तपोयज्ञ ८. योगयज्ञ, ९. स्वाध्याय यज्ञ १०. ज्ञानयज्ञ, ११. अपान में प्राण की आहुति, १२. प्राण में अपान की आहुति, १३.

प्राणों की प्राणों में आहुति इत्यादि । इनके कर्त्ता सभी 'प्रहोषी' है । इनमें सबसे श्रेष्ठ सुदृढ़ ज्ञानी वह है जो अपने ज्ञानाग्नि अर्थात् चेतना शक्ति में सब कर्म-शक्ति अर्थात् अज्ञ की जीवन शक्ति को एक करके कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है ।

[१४६] इमा उ त्वा पुरुवसोभि प्र नोनवुगिरः ।

गावो वत्सं न धेनवः ॥ २ ॥ अ० ६। ४५। २५ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! एवं हे इन्द्रियों में भी सामर्थ्य रूप से बसाने वाले आत्मन् । (इमाः) ये (गिरः) वाणियां वेदवाणिया (धेनवः) दूध देनेहारी, (गावः) गौएं (न) जैसे अपने (वत्सं) बछड़े के पास चली जाती हैं उसी प्रकार (त्वाः) तुम्हको ही (अभि प्र नोनवु) साक्षात् स्तवन करती हैं ।

जैसे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति उप० ।

[१४७] अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥ अ० १। ८४। १५ ॥

भा०—(अत्र ह) यहा निश्चय से (त्वष्टुः) दीप्तिमान्, तेजस्वी सूर्य की (गोः) गमनशील किरण का (अपीच्यम्) कुछ सुषुप्त अंश ही (चन्द्रमसो गृहे) चन्द्रमा के घर में (नाम) गया हुआ है । (इत्था अमन्वत) ऐसा मानते हैं ।

इस प्रकरण में प्राण ही त्वष्टा है जो गर्भगत पुरुष को ६, १० मास में शनैः २ बनाता है । गर्भाशय का गुप्तभाग चन्द्रमा का घर है जो १६ कलायुक्त है । जो क्रम से एक पक्ष में घटता और १५ दिन में बढ़कर पुनः ऋतुकाल में बेला के समान उचित होता है । उस स्थान पर भी

१४६—१. इमा उता शतक्रनोऽभिप्रणोनवुगिरः । इन्द्र वत्सं न मातरः । अ० ।

सृष्टिकर्ता परमात्मा की ही यह शक्ति है जो गर्भ में भी गुप्तरूप से विद्यमान है । उस गर्भ में भी गति है । उसमें भी मुख्य प्राण-आदित्य का ही अंश प्रसुप्तरूप में शनैः २ बढ़ता है । अथवा त्वष्टा पुरुष को कहते हैं पुरुष का धीयांश ही गर्भाशय में जाता है । जैसा उपनिषद् में लिखा है । 'पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति । यदतद् रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म, इत्यादि (एत० उप० अ० २ । १-६) । प्राणरयि की विवेचना करते हुए उपनिषत्कार (प्रश्न० उ०) ने पुरुष को आदित्य और प्राण और स्त्री को चन्द्र और रयि माना है । इस मन्त्र को उद्धृत करके यास्कने लिखा है—“अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम् । आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति इति । सुपुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः इत्यपि निगमो भवति । सोऽपि गौरुच्यते, अन्नाहगोरमन्वतेति तदुपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः ।

अर्थ —आदित्य भी 'गौ' कहाता है । इसकी एक रश्मि चन्द्रमा को प्रकाशित करती है । जैसे यजुर्वेद (१८ । ४०) में लिखा है । इस सुपुम्णा को भी 'गौ' कहते हैं जैसे 'अन्नाह गोरमन्वत' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान आगे यास्क ने (४ । ४) में किया है कि अन्नाह गो. सममसत आदित्य-रश्मयः । स्व नाम अपीच्य अपगतमपचितमपहितमन्तर्हित वाऽमुत्र चन्द्रमसो गृहे ।”

आधिदैविक पक्ष में यास्क का यह व्याख्यान है । परन्तु शरीर पक्ष में उपनिषदों का मूल सिद्धान्त ग्रहण करने योग्य है । उपनिषदों में गर्भ में जीव की स्थिति एवं पुष्टि और जन्म और शरीर-रचना जीवनयात्रा आदि के प्रश्नों की खूब सूक्ष्म विवेचना की है । छान्दोग्य के तृतीय प्रपाठक में आदित्य की सप्त रश्मियों की विवेचना मुख्य प्राण को व्यक्त करके की है ।

[१४८] यदिन्द्रो अनयाद्रितो महोरपो वृषन्तमः ।

तत्र पूषा भुवत्सचा ॥४॥ अ० ६। ४६। ४ ॥

भा०—(यद्) जब (वृषन्तमः) सर्वत्र, लोम २ में रस का वर्णन उत्तम रूप से करने वाला (इन्द्रः) आत्मा (रितः) गति करने वाले (महीः अपः) बड़ी नादियों को (अनयद्) समस्त शरीर में पहुंचाता है (तत्र) वहां (सचा) साथ ही वह (पूषा) पोषण करने वाले सामर्थ्य से भी युक्त (भुवत्) हो जाता है ।

आत्मा ही देह में सर्वत्र रस पहुंचाता है और पुष्टि भी करता है । विशाल ब्रह्माण्ड में ईश्वर की शक्ति वर्षा भी करती है और अन्न भी उत्पन्न करती है ।

[१४९] गौर्धयति मरुतां अवस्युर्माता मघोनाम् ।

युक्ता वही रथानाम् ॥५॥ अ० ८। ९४। १ ॥

भा०—(मघोनां) जीवन-यज्ञ के सम्पादन करने वाले (मरुतां) प्राणों की (माता) उत्पादक, जननी (गौ) चेतनस्वरूपा चित्तिशक्ति (अवस्युः) अन्न की या ज्ञान की कामना करती हुई (धयति) अपना सोम-रूप ज्ञान पिताती और वह स्वयं (रथानां) रथस्वरूप दूर तक जाने वाले प्राणेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में (युक्ता) जुत कर (वही) उन को बठा रही है । आत्मा की चेतना शक्ति इन्द्रियों को चेतन करती है वही उनको पदार्थों तक पहुंचाती है ।

मरुतों की गौ की व्याख्या देखिये—अथर्ववेद (का० १०। सूक्त १०) यह वशा रूप गौ है ।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोसारः पृष्ठे अस्याः ।

ये दवास्तस्या प्राणन्ति ते वशा विदुरेकधा ॥

वही गां 'पृक्षि' कही है । इसका वर्णन ऋग्वेद (८ । १०० । १०-११) में इस प्रकार है ।

“यद्वाम् वदन्त्यविचेतनानि, राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।

चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं द्रुदुहे पयासि क्वचिदस्याः परम जगाम ।”

[१५०] उप नो हरिभिः सुतं याहि मदाना पते ।

उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ३१ ॥

भा०—(मदाना पते) 'सब' आनन्दों और ज्ञान, विवेकों के पालन करने हारे, (न.) हमारे (हरिभिः) ज्ञान इन्द्रियों द्वारा (सुतं) उत्पादित ज्ञान को (उप याहि) तू प्राप्त कर । (न) हमारे (हरिभिः सुतम्) प्राण इन्द्रियों द्वारा किये कर्म और उनसे उत्पन्न सुख भोग को तू (उप याहि) प्राप्त हो ।

[१५१] इष्टा होत्रा अस्तुतन्द्र वृधन्ता अध्वरे ।

अच्छ्रावभृथमाजसा ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ९३ । २३ ॥

भा०—(अध्वरे) इस हिंसारहित या कभी नष्ट न होने वाले जीवन मय या आत्मज्ञानमय यज्ञ में (इष्टा) याग करने वाले या विषयरूप इन्द्रियों की आहुति प्राप्त करने वाले (होत्रा) प्राण विषयाहुति को भीतर के चितिशक्ति की ज्वाला में हवन करनेवाले सात ऋषि, सात इन्द्रिया (इन्द्र वृधन्त.) आत्मा के ऐश्वर्य, ज्ञान गौरव को बढ़ाते हुए (आजसा) ज्ञान और बल से (अवभृथम्) पूर्ण समाप्ति के अवभृथ

स्मान पर्यन्त (अच्छा) उत्तम रूप से (असूक्ष्म) यज्ञ करते हैं और विसर्जन करते हैं ।

ब्राह्म यज्ञ की आध्यात्म व्याख्या का यह मूलमन्त्र है । शिर में सात छिद्र, २ आस्र, २ नाक, २ कान, १ मुख ये सात ऋषि, सात होता हैं मुख्य आसन्य प्राण-आत्मा 'इन्द्र' है, वाक् सरस्वती यज्ञ की सम्पादिका भिषक् है, चित्तिशक्ति शची है । इत्यादि वैदिक अलंकार हैं । विशेष देखो छान्दोग्य उप० (अ० ३। ख० १६, १७ ।)

[१५२] ^{३ २४}अहमिन्द्र ^{३ ५२ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।

^{३ ५२ २४}अहं ^{३ ५२ २४}सूर्य इवाजनि ॥ ८ ॥

अ० ८। ६। १० ॥

भा०—(अहम्) मैं (इत् हि) ही निश्चय से (पितुः) अपने पालक पिता परमेश्वर के (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान, वेद और शक्ति सामर्थ्य के लिये (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को (परि-जग्रह) सब ओर से ग्रहण करूं । (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) होऊँ ।

चतुष्पाद् ब्राह्म की उपासना का फल उपनिषत्कार कहते हैं—“भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।” (छान्दो० अ० ३। ख० १८ ।) ऋत की मेधा का ग्रहण देखिये छान्दोग्य (अ० ३। ख० १५) हममें वसुधान कोश (खजाना) अपने पिता से प्राप्त किया जा रहा है । जिसका वर्णन उपनिषत्कार ने किया है—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिवुहो न जीर्यति ।

दिशो ह्यस्य सक्तयो चौरस्योत्तरं नित्यम् ॥

स एवं कोशो वसुधानस्तस्मिन् विधमिदं श्रितम् ॥

इसका वर्णन देखिये तैत्तिरीय उप० (अनु० ४ ।)

[१५३] रेवतीर्नः सधमाद् इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।

क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ ६ ॥

अ० १ । ३० । १३ ॥

भा०—(इन्द्रे) आत्मा के (सधमादे) हमारे साथ २ हर्ययुक्त सुप्रसन्न होजाने पर (नः) हमारी (रेवतीः) प्रायेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिया (तुविवाजाः) खूब बलवती होजायं । (याभिः) जिनके साथ हम (क्षुमन्त) अन्न, भोग, गृह आदि से सम्पन्न होकर (मदेम) आनन्द अनुभव करें । गृहस्थ पक्ष में—रेवतीः=स्त्रियः । राष्ट्र पक्ष में—रेवती=प्रजा ।

[१५४] सोमः पृषा च चेतुर्विधास्तं सुक्षितीनाम् ।

देवत्रा रथ्योर्हिता ॥ १० ॥

भा०—(सोमः) सबका प्रेरक और सबका उत्पादक और (पूषा) सबका पोषण करने हारा परमात्मा (देवत्रा) समस्त देव, पाँचों भूतों और भौतिक शक्तियों में और आत्मा दैहस्थ इन्द्रियों में व्यापक है और वही (विधास्ता सुक्षितीनाम्) समस्त निवास योग्य भूतों, दुनियाओं और समस्त प्राणियों के (रथ्योः) दोनों प्रकार के कर्म और भोग योनियों के (हिता) हितकारी होते हुए (चेततु) साधार व्यवहार का ज्ञान कराते हैं, एवं सन्मार्ग पर चलने के लिये चेताते हैं ।

दो ही मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है एक उपदेश से, दूसरी आवश्यकता या निज अनुभव से । परमात्मा प्राणियों को एक तो सोम अर्थात् ज्ञान दान् परम गुरु के रूप में अपियों के हृदय में ज्ञान प्रेरित करता है । दूसरा पूषा अर्थात् प्राणी शरीर की आवश्यकता भूख प्यास आदि से प्रेरित होकर पदार्थों को खोजते हैं और निजी अनुभव से अपने हित अहित का ज्ञान करते हैं । ईश्वर दोनों रूप से उनको ज्ञान दे रहा है । जैसे रोटी के टुकड़े

से कुत्ते को सधाते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी अन्नादि की वासना से पृथ्वी पर अन्नादि रखकर प्राणियों को उसके खोजने और प्राप्त करने के मार्ग में सधाता है । जीव भी कर्म फल, सुख दुःख भोग २ कर पुनः ज्ञानमार्ग पर आजाते हैं । जीवों के भोगों की व्यवस्था करने वाला वह 'पूषा' है । विद्वानों के हृदय में ज्ञान प्रेरणा करने और सबको उत्पन्न करने से वह 'सोम' है । दो भिन्न २ व्यवस्थाओं के भिन्न २ रूप पृथक् २ दर्शाने के निमित्त द्विवर्चन का प्रयोग है ।

इति षष्ठी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।



॥ ६० ७ ॥ अपिः—१, ४ अनुकम्पः । २ वसिष्ठः । ३ मेधातिथिप्रियमेधौ । ५ हरिमिथिः । ६, १६ मधुच्छन्दाः । ७ त्रिशोक । ८ कुसीदः ।

९ शुन.शेषः । इन्द्रो देवता ॥

[१५५] ^{२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ५ २ २} पान्तमा वा अन्धस इन्द्रमभिप्रगायत ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} विश्वासाहं शतक्रतुं महिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥ अ० ८।९२।१॥

भा०—(वः) आप लोग (अन्धसः) जीवन धारण कराने वाले अन्न के सूक्ष्म, रस रूप सोम को (आ-पान्तम्) अभिमुख प्रत्यक्षरूप में प्राप्त करने वाले, (विश्वासाहं) सब को अभिभव करने, समस्त इन्द्रियों से बढ़ जाने वाले, सबको परास्त करने वाले (शतक्रतुं) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ, सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त, (चर्षणीनां) तत्त्वदर्शियों के (महिष्ठं) एकमात्र आनन्द देने वाले, या इन्द्रियों में शक्ति देने वाले, पूजनीय उपास्य देव आत्मा और परमात्मा की (अभि प्रगायत) साक्षात् स्तुति करो ।

[१५६] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र च इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।

^{१ २ ३ १ २} सखायः सोमपावने ॥ २ ॥

अ० ७ । ३१ । १ ॥

५५६—१, के गै स्तुतौ । स्तुतिः प्रज्ञा इति यास्कः (नि० २ । ७ । ३ ।)

भा०—हे (सखाय०) समान कीर्ति वाले मित्र ! (व०) आप लोग (सोमपान्ने) सोम ज्ञान, अन्न रस का पान करने वाले, (हर्यश्वाय) विषयों के प्रति लगेजाने वाले, इन्द्रिय साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र, अपने अन्तरात्मा को (मादनं) प्रसन्न करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से गान करो, उसका कीर्तन करो, उसका ज्ञान करो ।

[१५७] ^{३ १ २} वयसु ^{३ १ २} त्वा ^{३ १ २} तदिदृथा ^{३ २ ३} इन्द्र ^{१ २} त्वायन्तः ^{१ २} सखायः ।

^{१ २} कएवा ^{३ १ २} उक्थेभिर्जरन्ते ॥ ३ ॥ अ० ८ । २ । १६ ॥

भा०—(वयम्) हम और (कएवाः) मेधावी विद्वान् लोग, हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वायन्तः) तेरी कामना करते हुए, तेरे प्रेमी, तुम्हें प्राप्त करने में लगे हुए (सखायः) समान ख्याति वाले (तदि-इद् अर्था०) उस परम तत्त्व तुम्हको एकमात्र अपना इष्ट प्रयोजन जानते हुए (त्वा) तेरी (उक्थेभिः) मन्त्रों द्वारा (जरन्ते) स्तुति करते हैं, तेरे स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

[१५८] ^{१ २ ३} इन्द्राय ^{३ १ २} मदने ^{३ १ २} सुतं ^{३ १ २} परि ^{३ १ २} षोभन्तु ^{३ १ २} नो गिरः ।

^{३ १ २} अर्कमर्चन्तु ^{३ १ २} कारवः ॥ ४ ॥ अ० ८ । १२ । १९ ॥

भा०—(नः) हमारी (गिरः) वेदवाणियों (मदने) हर्ष, प्रसाद युक्त (इन्द्राय) आत्मा के योग्य (सुतं) सोम, ज्ञान और उत्तम पदार्थ को (परिषोभन्तु) वर्णन करें । (कारवः) कर्मण्य, विद्वान् लोग (अर्कम्) उस पूजा के योग्य उपास्यदेव की (अर्चन्तु) उपासना करें ।

इसके पूर्व भी अन्धस्, सोम आदि शब्द आये हैं जिनका अर्थ यज्ञ प्रकरण में पाशिक लोगों ने सदा सोमलता का रस ही लिया है, परन्तु उपासना या आत्म विज्ञान काण्ड में ज्ञान और अन्न का सूक्ष्म रस और भोग्य पदार्थ ही लेना उचित है । वेद में भी इन शब्दों को उस अर्थ में

प्रयोग किया है। जैसे (अ० ८। ६४। १०)—“अयं ते मानुषे जने सोमः पुरुषु सृयते। तस्येह प्र द्रवा पिव ॥” प्रत्येक मनुष्य में उसकी (पुरुषु) इन्द्रियों में वह सोम उत्पन्न होता है जिसके लिये हे आत्मन्; तू आ और पान कर।

[१५६] अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि वर्हिषि ।

एहीमस्य द्रवा पिव ॥ ५ ॥

अ० ८। १७। ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (अधि वर्हिषि) प्रति यज्ञ और प्रति देह में (निपूतः) प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा संशोधित, संस्कृत किया जाता है। (ईम्) इम समय (अस्य) इसके पान करने के लिये (एहि) आ और (द्रव) शीघ्र आ, (पिव) पान कर।

वर्हिः, यज्ञः, धान्यम्, कुशाः शरीरम्, अन्तरिक्षम् ये इत्यादि पर्याय हैं।

[१६०] सुरूपकृत्तुमूतय सुदुधामिव गोदुहे ।

जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ६ ॥

अ० १। ४१ ॥

भा०—(गोदुहे) दूध के दोहने के लिये जिस प्रकार (सुदुधाम्) उत्तम रूप से दूध देने वाली गाय को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार (सुरूपकृत्तुम्) उत्तम ज्ञान और कर्म सम्पादन करने वाले इन्द्र को (उतये) अपने को पापाचरण से बचाने के लिये (द्यवि-द्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम स्मरण करते और उसकी स्तुति करते हैं।

[१६१] अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।

तृम्पा व्यश्नुहो मदम् ॥ ७ ॥

अ० ८। ४५। २२ ॥

१६०—द्यवि द्यवि इति अद्वर्नामि । नि० १। २।

भा०—हे (वृषभ) अन्तरात्मा में सुख की वर्षा करने हारे श्रेष्ठ !
(सुते) सोम=ज्ञान या साधना, कर्म के उचितरूप से होजाने पर उसके
(पीतये) रस पान करने के लिये (सुतं) उत्तम ज्ञान का (त्वा अभि
सृजामि) तेरे सन्मुख ही सम्पादन करता हूँ । (तृप्प) नू उससे तृप्त हो
और (मदम्) हर्ष, सुख को (वि अश्नुहि) प्राप्त कर ।

योगी, अवधूत लोग समाधि-रस को मधुररस से तुलना देते हैं और
आत्मा को बुलाते हैं । धर्ममेघ समाधि की सिद्धि प्राप्त होजाने पर आत्मा
की वह अवस्था होजाती है ।

[१६२] यं इन्द्रं चमसन्वा सोमश्चमूषु ते सुतः ।

पिबेदस्य त्वमीशिपे ॥ ८ ॥

अ० ८ । द० २ । ७ ॥

भा०—(य सोमः) जो सोम है (इन्द्र) आत्मन् ! (चमसेषु) चमस
पात्रों में (सुतः) तैयार किया है वह (ते) तेरे लिये (चमूषु) छांटे २
पीने के पात्रों में भी है । (अस्य इव) इसको ही तू (पिब) पानकर
(त्वम्, ईशिपे) तू ही इसका समर्थ स्वामी है ।

'चमसेषु'—सूर्यपङ्क में चमस मेघ हैं, आत्मपङ्क में प्रत्येक पुरष का
मस्तक चमस है । जैसा उपनिषद् में "अर्चोग् बिलश्चमस ऊर्ध्वपुष्पः" ।
"चम्वौ चावापृथिव्यौ" । आँलोक और पृथिवी लोक 'चमू' हैं । शरीर में
यही स्थान मस्तक ही है । उसमें भी सात इन्द्रियाँ उस इन्द्र के आचमन
पात्र हैं, उनमें वह ज्ञान प्रदण करता या मस्तक के कोष्ठ (Colls) ही
उसके नाना प्रकार से सोमास्वादन के निमित्त पात्र हैं । इन्द्र ही आत्मा है ।
इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या देखो (ऐतरेय उप० २५०) "स एतमेव

१६२—१. नमु, मदनं म्वादि । चमन्नि मधयन्नि गत्रेति (मा०) चमस इति
संघनाम । नि० १० । १ ।

पुरुष ततमपश्यद् इदमदर्शमिदमदर्शमिती२ । तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह
वै नाम तमिदन्द्र सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देवाः ॥

[१६३] योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।

सखाय इन्द्रमृतये ॥ ६ ॥

अ० १ । ३० । ७ ॥

भा०—(योगे योगे) प्रत्येक समाधि काल में और (वाजे वाजे)
प्रत्येक ज्ञानप्राप्ति के अवसर में या प्रत्येक बलकर्म के अवसर में
(तवस्तरम्) अति बलशाली, अति वेगवान् (इन्द्रम्) इन्द्र आत्मा को हम
(सखायः) सब मित्र के समान प्रेमीजन (हवामहे) बुलाते हैं या उसका
गुणगान करते हैं ।

योगः—“तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणाम्” । गीता० ।
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । पात० योगसूत्र १ । १ ॥

दो ही कार्य बल से सम्पादन किये जाते हैं एक घोर संग्राम और
दूमरा ध्यानयोग । दोनों में बली आत्मा को ही स्मरण किया और उसको
ही पुकारा जाता है । योगी को “बलेषु इस्तिबलादीनि” । हाथियों का बल
तक भी प्राप्त हो जाता है । संग्राम के अवसर पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन
के आत्मा को चेताया । वह वाज या संग्राम के अवसर पर इन्द्र का
आवाहन था ।

[१६४] आत्वेता निषीदतेन्द्रमभिप्रगायत ।

सखायः स्तोमवाहसः ॥ १० ॥

अ० १ । ५ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (आ एत तु) आओ और (आ
निषीदत) आमने सामने आकर बैठ जाओ । हे (स्तोमवाहसः) स्तुतियों
को धारण करने हारे विद्वान् लोगो ! (इन्द्रम् अभि प्रगायत) आत्मा
का उत्तम रीति से साक्षात् दर्शन करके उसका यथार्थ वर्णन करो ।

ताण्डय ब्राह्मण में त्रिवृत्, पञ्चदशं, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयाविंश और चतुर्विंश, चत्वारिंश और अष्टाचत्वारिंश इस प्रकार ६ स्तोमों का वर्णन किया है । इनका विशेष प्रकार से गान करने का प्रकार उक्त ब्राह्मण में ही दर्शाया है ।

इति सप्तमी दशति० । इति पञ्चम खण्ड ।



॥ द० ८ ॥ १ विश्वामित्रः । २ मधुच्छन्दाः । ३ कुसीदः काण्व० । ४ प्रियमेध० ।

५, ८ वामदेवः । ६, ९ श्रुतकक्ष० । ७ मेधातिथिः । १० विन्दु० ॥

इन्द्रो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

[१६५] इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते ।

पिबा त्वा३स्य१ गिर्वण२ ॥ १ ॥ अ० ३ । ५१ । १० ॥

भा०—हे (राधानां पते) हे समस्त धनों, ज्ञानों और साधनों के स्वामी ! (इदं) यह (अोजसा) बलपूर्वक (सुतं) निष्पादित (गिर्वणः) हे धाणी से कथन या प्रशंसा करने तु योग्य (अस्य) इस ज्ञान को (तु) भी (आ पिब) पान कर ।

[१६६] महा इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे ।

धौर्न१ प्रथिना२ शवः३ ॥ २ ॥ अ० १ । ८ । ५ ॥

भा०—(महान्) बड़ा आत्मा (न०) हमारे (पुर० च) आगे सदा विद्यमान रहता है । (वज्रिणे) सब भयों के वारण करने हारे उम आत्मा की (महित्वम् अस्तु) महिमा वर्ना रहे । (शवः) उसका बल, ज्ञान (प्रथिना) विस्तृत होने से (धौः न) धौलोक या सूर्य के समान है ।

१६५—'अन्वोजसा' इति अ० ।

१६६—'पुरश्च नु' इति अ० ।

[१६७] ^{२२ २२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २} आ तू न इन्द्र क्षुमन्त चित्रं ग्रामं सङ्गृभाय ।
^{३ १ २ २} महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥ अ० ८। ८१। १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (महा हस्ती) बड़े भारी हस्त=धारक प्रयत्न वाला तू (क्षुमन्तं) अन्न, और गृह से सम्पन्न (ग्रामं) ग्रहण करने योग्य (चित्रं) ज्ञान को (दक्षिणेन) उत्तम साधन से (आ संगृभाय) संग्रह कर ।

[१६८] ^{३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} अभि प्र गोपतिं गिरिन्द्रमर्च यथा विदे ।
^{३ २ ३ १ ३ १ २} सुनु सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥ अ० ८। ६६। ४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (गोपतिं) वाणी और, शक्तियों, इन्द्रियों के स्वामी पालक (सत्यस्य सुनुम्) सत्य को उत्पन्न करने वाले, (सत्पतिम्) सत्य पदार्थ या सज्जनों के पालक (इन्द्रम्) इन्द्र को (यथा विदे) यथार्थ ज्ञान के लिये (अभि प्र-अर्च) साक्षात् रूप से स्तुति कर ।

[१६९] ^{१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} कया नश्चित्र आमुचदूती सदावृधः सखा ।
^{३ १ २ ३ २} कया शचिष्ठया वृता ॥५॥ अ० ४। ३१। १ ॥

भा०—(सदावृधः) सत्य के बल से अधिक बढ़ने वाला इन्द्र (चित्र.) ज्ञान करने योग्य, पूज्य अद्भुत, (नः) हमारा (कया) किस अपूर्व (कया) रक्षण करने वाले सामर्थ्य या ज्ञान से और (कया) किस (शचिष्ठया) शक्तिसम्पन्न बलयुक्त या बुद्धिमत्तायुक्त आश्चर्यमय शक्ति से, (कया वृता) और किस व्यवहार से (सखा) हमारा मित्र (आमुचद्) हो ।

[१७०] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्वायतम् ।
^{१ २ ३ १ २} आख्यावयस्यूनये ॥६॥ अ० ८। ६२। ७ ॥

भा०—हे विद्वान् स्तोतः ! (सन्नासाहं) सब को एक साथ विजय कर लेने हारे (वः) तुम्हारे (विश्वासु) समस्त (गीर्षु) वाणियों में (आयतम्) विद्यमान, वर्णित (त्यम्) उस आत्मा को (कृतये) अपनी रक्षा के लिये (आद्यावयसि) साक्षात् कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७१] सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
३ २ ३ १ २
सन्ति मेधामयासिषम् ॥७॥ ऋ० १ । १८ । ६ ॥

भा०—(सदसस्पतिं) शरीर के भीतर यथास्थान विराजमान, इन्द्रियों के पालक (अद्भुत) अभूतपूर्व, (इन्द्रस्य प्रियम्) अन्तरात्मा के अत्यन्त प्रिय, (काम्यं) कामना करने योग्य, (सन्ति) सत् असत् का विभाग करने हारे, (मेधाम्) धारणावती ऋकृष्ट आत्मबुद्धि को देने हारे विवेक को (अहम्) मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊँ ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७२] ये ते पन्था अत्रो दिवो येभिर्व्यश्चमैरयः ।
३ २ ३ ३ १ २
उत श्रोपन्तु नो भुवः ॥८॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! (ये) जो (पन्थाः) मार्ग (ते) तेरे (दिवः अथ) बौलोक, प्रल्लायद, मस्तक कपाल के नीचे हैं (येभि) जिन्हों से (व्यश्चम्) नाना प्रकार के अश्वों, इन्द्रियों को (ऐरयः) प्रेरित करता है वे और (नः भुवः) हमारे प्राण या कर्मेन्द्रिय (उत) भी (श्रोपन्तु) तेरी आज्ञा को सुनते हैं ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७३] भद्रं भद्रं न आभरेमूजं शतक्रतो ।
१ २ ३ १ २
यदिन्द्रं मृडयासि नः ॥९॥ ऋ० ८ । १३ । ७८ ॥

भा०—हे शतक्रतो, हे शतप्रज्ञ ! (इन्द्र) आत्मन् ! (यद्) जब (नः) हमें (मृडयासि) सुखी करते हो तब (भद्रं भद्रं) करपाणकारी,

सुखकारी, (इषम्) अन्न और (ऊर्ज) बल को (आ भर) प्राप्त कराते हो ।

[१७४] अस्ति सोमो अथ सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥ ऋ० ८। ६४। ४ ॥

भा०—(अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान या सूक्ष्म अन्न रस, (सुतः) निष्पन्न हुआ है (अस्य) इसको (स्वराजः) प्राण के बल से गति करने वाले, या स्वयं चेतन (मरुतः) इन्द्रियगण, प्राणगण या विद्व-जन (पिबन्ति) पान करते हैं (उत) और (अश्विना) प्राण और अपान भी या विद्वान् श्री पुरुष भी उसी का पान करते हैं ।

इत्यष्टमी दशतिः । इति पष्ठः खण्डः ।



॥ ८० ९ ॥—१ इन्द्रमातरो देवजामयः । २ गोधा । ३ दध्यङ् माथर्वणः ।
४ प्रस्कण्वः । ५ गोतमः । ६ मधुच्छन्दाः । ७ वामदेवः । ८ वत्सः ।
९ शुनः शेषः । १० वातायन उरुव ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । पङ्चः ॥

[१७५] ईक्ष्यन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
चन्वानासः सुवीर्यम् ॥१॥ ऋ० १०। १५३। १ ॥

भा०—(ईक्ष्यन्ती) गतिशील, ज्ञानशील (अपस्युव) कर्म करने की इच्छावाली इन्द्रिया (जातं) प्रकट हुए (सुवीर्यम्) उत्तम बलशाली (इन्द्रम्) आत्मा को (चन्वानासः), भजन करती हुई या उसको प्राप्त करती हुई (उपासते) उसकी उपासना करती है ।

सायण ने इन्द्र-माताओं पर यह मंत्र लगाया है । इन्द्र आत्मा के माता, प्रमा के साधन इन्द्रियां ही यहां अभिप्रेत हैं । जैसा ऐतरेयब्राह्मण

में लिखा है—‘ इन्द्रिये ’ कहा करती हैं “तव उप स्मसि” तेरी ही हैं । इत्यादि ।

[१७६] ^१ न^२ कि^३ देवा इनीमसि^३ न^{१२} कयायोपयामसि^{२२} ।

^३ मन्त्रश्रुत्य^१ चरामसि^२ ॥२॥ ऋ० १० । १३४ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (देवाः) हम इन्द्रियमय (नकि इनीमसि) कुछ भी बधादि नहीं करते, (नकि आयोपयामसि) और न कुछ मूल करते हैं । (मन्त्रश्रुत्य) मनन संकल्प द्वारा जो कुछ हम सुन सकते हैं तदनुसार हम (चरामसि) आचरण करते हैं । प्रजा लोकों के पक्ष में—हम मन्त्र और श्रुति वेद के अनुसार चलें । हम दोष न करें ।

[१७७] ^३ दापो^{१२} आगात्^{२२} बृहद्गाय^३ द्युमद्गामन्नाथर्वण^{२३} ।

^३ स्तुहि^२ देवं^{३१} सवितारम्^२ ॥ ३ ॥ अथर्व० ६ । १ । १ ॥

भा०—साधक^१ अपने ही आत्मा के प्रति कहता है, हे (बृहद्गाय) बृहत्साम का गान करने वाले या प्राण-स्वर से गान करनेहारे ! हे (आथर्वण, जीवन का नाश न करनेहारे आत्मन् ! हे (गामन्) गतिशील ! आत्मन् ! (द्युमद्, दोष) दीक्षिमान्, सब अन्धकारों का नाश करने हारा ईश्वर (आगात्) अथ अन्तरात्मा में उदित होगया है । अतः उस (सवितारं) सबको प्रेरणा करनेहारे (देवं) प्रकाशस्वरूप देव को (स्तुहि) तू कीर्त्तन कर । विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा के उदय के अवसर पर साधक की यही दशा होती है ।

१७६—‘नकिदेवा’ ‘मिनीममि’ इति च ऋ० । ‘पजांमिरपिक्क्षेमिरप्राभि सरभामहे’ इति अभिक्र पाठः, ऋ० ।

१७७—‘दोपो गाय बृहद्गाय द्युमद्देहि । आथर्वण देव सवितारम्’ । इति अथ० ।

१. सगमानमंसामन्त्रयते । सा० ।

[१७८] ^{३ २ ३ १२ २४ ४ २४} एषा उषा अपूर्णा व्युच्छति प्रिया दिवः ।

^{३ १ २ ३ २} स्तुष वामश्विना बृहत् ॥ ४ ॥ अ० १। ४६। १ ॥

भा०—(एषा) यह (उ) ही (उषाः) ज्योतिष्मती प्रज्ञा (अपूर्णा) साधक के अनुभव में पहले कभी न आई हुई, अपूर्व, (दिवः प्रिया) सस्तक या मूर्धाभाग को पूर्ण करने वाली या सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा के अति प्रिय होती है । हे (अश्विना) गमनशील प्राण और अयान ! आप दोनों के इस उत्तम दशा की प्राप्ति के निमित्त (बृहत्) खूब (स्तुषे) अच्छी प्रकार गुण कहता हूँ । साधारणतः उषा के पक्ष में स्पष्ट है ।

[१७९] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २४} इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राय प्रतिष्कृतः ।

^{३ १ २ ३ १२ २४} जघान नवतीर्नव ॥ ५ ॥ अ० १। ८४। १३ ॥

भा०—(इन्द्रः) आत्मा (दधीचः) ध्यान द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा की (अस्थभिः) तमोनाशक शक्तियों द्वारा (अप्रतिष्कृतः) किसी से भी पराजित न होकर (नव नवतीः) ८१० (वृत्राणि) ज्ञान के आवरण करने वाले विघ्नों को (जघान) नाश करता है ।

आत्मा की शक्ति प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस्, तमस्, तीन कालों के भेद से ६ प्रकार की हुई । प्रभाव, उत्साह और मन्त्र तीन शक्तियों के भेद से २७ प्रकार की हुई । फिर साविकादि के सम विपक्ष होने से ८१ प्रकार की, दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार की हो जाती है । इतनी प्रकार की शक्तियों से वह इतनी ही व्युत्थान वृत्तियों पर विजय करता है ।

इन्द्र की कथा भी आलंकारिक है, स्थानाभाव से नहीं लिखते ।

[१८०] ^{२४ ३ १२ २४ ३ १ २ ३ १२ २४} इन्द्रे हि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।

^{३ १ २ ३ १२ २४} महो अभिष्टिरोजसा ॥ ६ ॥ अ० १। ९। १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (इहि) आ साक्षात् हो । (अन्धसः) प्राण की सूक्ष्म धारणाशक्ति की (विधेभिः) समस्त (सोमपर्वभिः) वीर्य के पालनकारी सामर्थ्यों से तू (मत्सि) प्रसन्न और तृप्त होता है और (ओजसा) अपने बल से (महौ अभिष्टिः) बड़ी प्रबल इच्छा शक्ति वात्सा हाजाता है ।

[१८१] आ तू न इन्द्र वृत्रहन्स्माकमर्द्धमा गहि ।

महान्महीभिरुतिभिः ॥ ७ ॥

ऋ० ४ । ३२ । १ ॥

भा०—(वृत्रहन्) हे तामस आवरणों और विघ्नों के निवारक । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (महीभिः) बड़ी २ (उतिभिः) शक्तियों द्वारा तू (महान्) महान् है । तू (अस्माक) हमारे (अर्द्धम्) समीप (आगहि) आ ।

[१८२] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।

इन्द्रश्चर्मैव रोदसी ॥ ८ ॥

ऋ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(तत् अस्य ओजः) उस महान् आत्मा का सूर्य के समान वह ओज (तित्विषे) चमकता है (यत् , जिससे वह (उभे रोदसी) धौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) चमड़े की तरह (समवर्तयत् , सब ओर ढक रहा है, व्याप्त करता है । अथवा—इस आत्मा का वह सामर्थ्य है जिससे वह प्राण अपान दोनों को चर्म या वस्त्र के समान धारण करता है ।

[१८३] अयमु ते समतासि कपोत इव गर्भधिम् ।

वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ ९ ॥

ऋ० १ । ३० । ४ ॥

भा०—(अयम्) यह साधक जिस प्रकार (कपोतः) कपोत (गर्भधिम् इव) अपनी कपोती के पास आता है उसी प्रकार (ते) तेरे पास (सम् अतसि) आता है, इसी कारण (न) हगारे (तद् वचः) उस वचन को (ओहसे) प्रेम से श्रवण करता है ।

[१८४] वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।

प्र न आयूषि तारिपत् ॥ १० ॥ अ० १० । १८६ । १ ॥

भा०—(वात०) वायुरूप सर्वव्यापक सब का प्राणस्वरूप आत्मा (न०) हमारे । हृदे) अन्त करण में (शम्भु) कल्याण और शान्ति-कारक, (मयोभु) सुखकारी (भेषजम्) आधि व्याधि को शान्त करनेहारे ओषधि को (आ वातु) प्राप्त कराए और (न) हमें (आयूषि) समस्त जीवन को (प्र तारिपत्) पार कराए ।

जैसे मङ्गल जगन्नाथ पण्डितराज ने कहा है—

आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेम निजं वान्छसि ।

श्रीकृष्णोति रसायनं रमय रे शून्यैः किमन्यैः रसैः ॥

फलतः, इष्टदेव में ओषधि आदि की भावना भी भक्त कर लेते हैं ।

इति नवमी. दशति । इति सप्तम. खण्ड. ।



॥ ८० १० ॥ अ०पि—१ कण्वः । २, ३, ६ वत्सः । ४ अतकशः । ५ मधु-
च्छन्दा । ६ वामदेवः । ७ इरिमिठ ॥ ८ वारुणिः सत्यधृतिः ॥ इन्द्रो
द्वता ॥ गायत्री छन्दः ॥ षट्ज. स्वरः ॥

[१८५] ये रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रा अर्थमा ।

नमि. स दभ्यत जन. ॥ १ ॥ अ० ४ । १७ । ३ ॥

भा०—प्रचेतम) उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न (वरुण०) वरुण, सबसे श्रेष्ठ (मित्र) मित्र, नयका स्नेही और (अर्थमा) अन्तर्यामी, न्यायकारी जन (य)

जिसकी (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (स.) वह (जन.) मनुष्य (नकि. दम्यते)
कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता । बृहदारण्यकोपनिषद् के (अ० ३) में
'इमं देवों की पिण्ड और ब्रह्माण्ड में स्थिति का निर्णय किया है ।

[१८६] गव्यो^३ षु^२ र्यो^३ यथा^१ पुरा^२ भव्यो^३ रथया^२ ।

वरिवस्या^३ महोनाम्^२ ॥ २ ॥ अ० ८ । ४६ । १० ॥

भा०—हे साधक ! (यथा पुरा) पूर्व के समान (गव्या) गौ आदि
पशुओं की इच्छा से, (अभ्यशा) अभ्य आदि शीघ्रगामी साधनों की कामना
से और (रथया) रथों की कामना से (उत) और (महोनाम्) धनों के
प्राप्त करने के लिये तू (वरिवस्य) उपासना कर । अध्यात्म में—गौ=इन्द्रिया,
अभ्य=मन और रथ=शरीर । इन तीनों को उत्तम रीति से बश करने और बलवान्
बनाने की कामना से इन्द्र=आत्मा और परमेश्वर की उपासना आवश्यक है ।

[१८७] मा^३ मत्त^२ इन्द्र^३ पृश्नया^१ घृतं^२ दुहत्^३ आशिरम्^२ ।

एनामृतस्य^३ पिण्युषी^२ ॥ ३ ॥ अ० ८ । ६ । १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (इमा. पृश्नयः) ये रसों
तक पहुँचने वाली इन्द्रिया (अतस्य पि-युषी) अत=सत्य ज्ञान को पान
करती हुई (एनाम्) इस अनुभवगम्य (आशिरम्) मस्फुटित हुए (घृतं)
विशेष ज्ञान, दीप्ति, कान्ति को (अतस्य) जल पान करके दूध को गोमो
क समान (दुहते) उत्पन्न करती हैं ।

[१८८] अया^३ धिया^२ च^३ गव्यया^१ पुरुणा^२ मन्पुरुण्डुत^३ ।

यत्सोम^३ सोम^२ आभुव^१ ॥ ४ ॥ अ० ८ । ६ । १९ ॥

१८६—'वरिवस्य महामह' इति । अ० । 'महोनाम्' इति पाठो विवरणमस्ति ।

१८८—'आभन' इति । अ० ।

भा०—हे (पुरुनामन्) हे सहस्रों, बहुतसे नामों से पुकारे जाने वाले, हे (पुरुस्तुत) नाना प्रकारों से स्तुति के पात्र ! आत्मन् ! (अया गव्यया) हम इन्द्रियों के अनुकूल कामना (धिया च) और ध्यान द्वारा भी (यत्) जो तू (सोमेसोमे) प्रत्येक सोम अर्थात् ज्ञान में (आमुवः) प्रकट होता है । इसीमे तू साक्षात् किया जाता है ।

‘प्रतिबोधविदित मतम्’ । इति केन उ० ।

[१८६] पावका न. सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।

यज्ञं वष्टु त्रियावसु ॥ ५ ॥ अ० ८ । ४५ । २६ ॥

भा०—(सरस्वती) वेदवाणी (पावका) हृदय को पवित्र करने वाली (वाजेभि) ज्ञान और कर्मों द्वारा (वाजिनीवती) शक्तिसम्पन्न होकर (धियावसु) ध्यान, धारणा और ज्ञानाभ्यास द्वारा अन्तःकरण में वास करने वाली (यज्ञं वष्टु) हमारे जीवन-यज्ञ को धारण करे । ज्ञान-योग के साथ कर्मयोग द्वारा ही वेद के मन्त्र हृदय को पवित्र करते और जीवन को चिरायु और सफल करते हैं ।

[१९०] क इमन्नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।

स नो वमून्याभरात् ॥ ६ ॥

भा०—(इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र आत्मा को (नाहुषीषु^१) कर्म-बन्धन में बंधी मनुष्य प्रजाओं में (सोमस्य) गुण-कीर्त्तिन और ज्ञान-सम्पादन द्वारा (क तर्पयात्) कौन तृप्त कर सकता है ? अथवा (कः) सुखमय प्रजापति ही (स०) वह परमेश्वर ही (न०) हमारे (वसूनि) ज्ञानों और ऐश्वर्यों को (आभरात्) सदा प्रदान करे ।

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामयं च चिन्तयेत् । (स्फुट)

१९०—१. नहुष इति मनुष्यनाम (नि० २ । ३) नष्टत्वेः कर्मभिः पूर्वकृतैः ।

[१६१] आ याहि सुपुमा हि त इन्द्र सोम पिवा इमम् ।

एद वर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥

अ० १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ! (हि) क्योंकि हम (ते) तेरे लिये (सुपुम) ज्ञान को उत्तम रूप से सवन, सम्पादन करते हैं अतः तू (आ याहि) आ प्रत्यक्ष हो । और (इमं) इस (सोम) सोमरूप ज्ञान को (पिब) पान कर । (इद) यह (मम) मेरा दिया (वर्हिः) यज्ञ या हृदयरूप आसन है इसमें (आ सद) विराज ।

[१६२] महि त्रीणामवरस्तु द्युक्ष मित्रस्यार्यमणः ।

दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ८ ॥

अ० १० । १८५ । १ ॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, आदित्य या प्राण (अर्यमण) अर्यमा अन्तर्यामी आत्मा और (वरुणस्य) वरुण अपान, (त्रीणाम्) इन तीनों की (महि अवः) बड़ी रक्षा और (दुराधर्षं द्युक्ष) असह्य तेज (अस्तु) हो । अथवा आदित्य या मित्र चक्षु में स्थित है । यम या अर्यमा हृदय में ठेका हुआ शब्दा और दक्षिणा में विराजमान है । रेतस्=वीर्य में वरुण स्थित है ।

[१६३] त्वाचतः पुरुवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।

स्मनि स्थातर्हरीणाम् ॥ ९ ॥

अ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) शरीर और इन्द्रियों में आवास करने वाले । (इन्द्र) आत्मन् । (हरीणाम् प्रणेत) हे इन्द्रियों के प्रेरक । हे (स्थातः) निम्न अविचाली, कूटस्थ पुरुष । हम (त्वाचत) तेरे समान स्वामी के ही (वमि) हैं । इन्द्रियगण आत्मा को पृथं प्रजागण भृत्यादि राजा को इसी प्रकार कहते हैं ।

इति दशमी दशति । इति अष्टम गण्ड ।

द्वितीयः प्रश्नः समाप्तः ॥

१६२—'वयोस्तु द्युक्षन्' इति । अ० ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (१)

॥ द० १ ॥ ऋषि - १ प्रगाथ. । २ विश्वामित्र. । ३, १० वामदेवः । ४, ६
श्रुतकक्षः । ५ मधुच्छन्दाः । ७ गृत्समद । ८, ९ भरद्वाज । इन्द्रो
देवता । गायत्री । षड्जः ॥

[१६४] उ^१ त्वा^२ मदन्तु^३ सोमा^१ कृषुष्व^२ राधो^३ अद्रिचः^१ ।

अव^१ ब्रह्मद्विपो^२ जहि ॥ १ ॥

ऋ० । ६ । १ ।

भा०—हे (अद्रिचः^१) संहारकारी अभेद्यशक्ति से युक्त ! हे आत्मन्,
जीव ! (त्वा) तुझको (सोमा) सोम ज्ञान और ऐश्वर्य (मदन्तु)
हर्ष दें । तू (राध.^२) ज्ञान, धन कृषुष्व सम्पादन कर (ब्रह्मद्विपः)
वेद ज्ञान से द्वेष करने हारे पुरुषों और द्वेषयुक्त भावों को (अव जहि)
नाश कर ।

[१६५] गिर्वेण^१ पाहि^२ न^३ सुतं^४ मधो^१ धाराभिरज्यसे^२ ।

इन्द्र^३ त्वादातमिद्यशः^४ ॥ २ ॥

भा०—हे (गिर्वेण.) वेदवाणियों द्वारा कीर्तन करने योग्य ! तू (न)
हमारा (सुतं) सम्पादन किया स्तुतिरूप हव्य (पाहि) पान कर,
स्वीकार कर । (मधो.) मधु=ब्रह्मज्ञान, अमृत, ऋग्वेद की (धाराभि.)
धारणाओं, ऋचाओं द्वारा (अज्यसे) तुम्हारा स्तवन, सेवन, मजन, ज्ञान
किया जाता है । हे आत्मन् ! (त्वादातम् इद्) यह तुम्हारा ही प्रकाश-
मान (यश.) यश, सामर्थ्य है ।

देखो—“य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्” इत्यादि (कठ०
ष० ४ । ५ ।)

[१६६] सदा व इन्द्रश्चर्कपदा उपोनु स सपर्यन् ।

न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥३॥

भा०—(वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील वह इष्टदेव
(सदा) नित्य (आ चर्कपद) अपने समीप आकर्षण करता है । और
(सः) वह (नु) ही (सपर्यन्) आदर, प्रेम करता हुआ (इन्द्र)
आत्मा, परमात्मा (शूरः) शीघ्र गति वाला या ज्ञान सम्पन्न (देवः) देव
क्या (न वृतः) नहीं वरण किया जाता ? वह सबसे अधिक वरण
करने योग्य है ।

[१६७] आ त्वा विशन्तिवन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।

न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥ अ० ८ । ६२ । २२ ॥

भा०—(इन्द्रवः) समस्त ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुम में (सिन्धवः,
समुद्रम् इव) जिस प्रकार नदिया समुद्र में प्रवेश करती हैं उसी प्रकार
(विशन्तु) प्रवेश करें । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तुम से (न
अतिरिच्यते) कोई भी बढ़ नहीं सकता, तुम से पृथक् नहीं रह सकता ।
आसपक्ष में—(इन्द्रवः) द्रवणशील इन्द्रिया प्राणगण आत्मा रूप समुद्र
में नदियों के समान प्रविष्ट हैं । उससे कोई भी बढ़ नहीं सकता ।

[१६८] इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।

इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ५ ॥ अ० १ । ७ । १ ॥

भा०—(गाथिनः) गायकों का गान करने वाले, सामगायक
(इन्द्रम् इव) आत्मा को ही (बृहत्) बृहत्साम द्वारा (अनू

पत्त) स्तुति करते हैं । (अर्किणः) अर्चा करने वाले ऋग्वेदी (अर्केभिः) अपने स्तुति पाठों व ऋग्वेद के मन्त्रों से (इन्द्रम्) आत्मा को ही स्तुति करते हैं और (वागीः) यजुर्वेद के मन्त्र भी (इन्द्रम्) आत्मा की ही (अनूपत) स्तुति करते हैं ।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति इति काठक उप० ।

[१६६] इन्द्र इपे ददातु न ऋभुक्षणमृभु रायिम् ।

वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥ अ० ८ । १३ । ३४ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (इपे) हमारी इच्छानुकूल (नः) हमें (ऋभुक्षणम्) बड़े भारी (ऋभुं) तेज, सम्पन्न, सत्यसामर्थ्य से युक्त (रायिम्) धन, अन्न, ज्ञान का (ददातु) दान करे । (वाजी) सर्वज्ञ, ऐश्वर्यवान् वह हमें (वाजिनं) ज्ञान एवं कर्म बल का भी (ददातु) दान करे ।

[२००] इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदप चुच्यवत् ।

स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥७॥ अ० २ । ६१ । १० ॥

भा०—(अङ्ग) हे मनुष्य । वह परमेश्वर (महद् भयम्) बड़े भारी भय को (अभीषत्) दूर करता है । भयको वह अपचुच्यवत् । परे हटा देता है (सः हि) क्योंकि वह (स्थिरः) स्थिर, कूटस्थ और (विचर्षणिः) सब को देखने वाला, सबका निरीक्षक है ।

[२०१] इमा उ त्वा सुत सुत नक्षन्ते गिर्वणो गिरः ।

गावो वत्स न धेनवः ॥८॥ अ० ६ । ४५ । २८ ॥

२०१—'वत्सं गावो' इति पाठभेदः, अ० ।

भा०—हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा जानने योग्य । (त्वा उ) तुम्हको ही (सुतेसुने) प्रत्येक ज्ञानयज्ञ में (इमा गिर) ये वेदवाणिया (धेनव गाव वत्स न) दूध पिलाने वाली गाय जिम् प्रकार अपने बछड़े के पास जाती हैं उसी प्रकार (नक्षन्ते) पहुचती हैं तरा वर्णन करती हैं ।

[२०२] ^{२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ ३} इन्द्रा नु पूषणा वय सख्याय स्वस्तये ।

^{३ १ २ ३ २ ३ २} हुवेम वाजसातये ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६७ । १ ।

भा०—(इन्द्रा पूषणा) सर्वैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र और सबके पालक पूषा परमात्मा को हम लोग अपने (सख्याय) मित्रता, (स्वस्तये) अपने कल्याण और (वाजसातये) ज्ञान बल आर अन्नादि सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (हुवेम) प्रार्थना करते हैं ।

[२०३] ^{१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २} न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन् ।

^{२ ३ ३ ३ २} न कथेव यथा त्वम् ॥ १० ॥ अ० ४ । ३० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर । (त्वदुत्तरं) तुम्ह से ऊचा और तुम्ह से अधिक सूक्ष्म, परम कारण (न कि) कोई भी नहीं है । हे (वृत्रहन्) आवरणकारी तामस बिन्नों को दूर करने हारे । (ज्यायो न अस्ति) और कोई दूसरा तुम्ह से अधिक बड़ा एव प्रशंसा करने योग्य भी दूसरा नहीं । (यथा त्वम्) जैसा तू है (एव नकि) इस प्रकार का और कोई नहीं, तू अद्वितीय है ।

न त्वत्तमोस्त्यभ्यधिकं कुतोऽन्य० । गी० ॥

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिन् ॥ कठ० उप० ॥

इति प्रथमा दशति । नमः सण्डः ॥

॥ ६० २ ॥ ऋषिः—१, ४ त्रिशोकः । २ मधुच्छन्दाः । ३ वशोदव्यो वत्सोवा ।

५ सुवक्षः । ६, ९ वामदेवाः । ७ विश्वामित्रः । ८ गोपूतयशस्वत्किनौ ।

१० शुनखः ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री षड्ज ॥

[२०४] ^{३ १ २ ३ २ २ ३ १ २} तरणिं वो जनानां व्रदं वाजस्य गोमत ।

^{३ २ ३ १ २ २ ३ ३ २} समानमु प्र शंसिपम् ॥१॥ अ० ८ । ४५ । २८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व०) आप सब (जनाना तरणिम्) मनुष्यों को तारने वाले पार करने वाले, (व्रद) दान देने वाले या कष्टों को काटने वाले, (गोमत) इन्द्रियों और पशु आदि से सम्पन्न (वाजस्य) धन अन्न और ज्ञान के (समानम् उ) और सब के प्रति समान भाव से देने वाले, निष्पक्ष सर्वव्यापक प्रभु की मैं (प्र शंसिपम्) स्तुति करता हू ।

[२०५] ^{२ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २} असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।

^{३ १ २ ३ १ २ १ २} सजापा वृषभ पतिम् ॥२॥

भा०—हे 'इन्द्र' परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (गिरः) इन वेदवाणियों को (असृग्रम्) प्रकट करता हू । क्योंकि (सजापा) प्रेम से या कामना से प्रेरित स्त्री जिम प्रकार (पतिम्) अपने पति के प्रति जाती है उसी प्रकार (वृषभं सर्वश्रेष्ठ, धर्म से देदीप्यमान, सबके पालक (स्वा प्रति) तेरे प्रति ही समस्त वाणियां (उद् अहासत) जा रही हैं ।

[२०६] ^{३ २ ३ २ ३ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २} सुनीथो वा न मर्त्या य मरुता यमयमा ।

^{३ २ ३ १ २} मित्रस्पान्त्यद्रुहः ॥ ३ ॥ अ० ८ । ४६ । ४ ॥

भा०—(स मर्त्यः) वह पुरुष (सुनीधः) उत्तम मार्ग में चला जाता है (य) जिसको (मरुतः) देव, विद्वान् लोग, और (य) जिसकी (अर्थमा) न्यायकारी, (मित्रः) सब का स्नेही और (अहुहः) बिना द्रोह रहित पुरुष (पान्ति) रक्षा करते हैं ।

भगवान् और सन्तों का कृपापात्र पुरुष धन्य है ।

[२०८] यद्वीडोवन्द्र यत् स्थिरं यत्पशोने परामृतम् ।

वसु स्वाहे तदामर ॥४॥ अ० ८ । ६ । ४५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) (यद् वीडौ) जो शत्रुओं से न दबने वाले, (यद् स्थिरं) जो स्थिर रहने वाले, और (यत् पशोने) जो विचारशील पुरुष में (परामृतम्) रहा करता है (तद्) वह (स्वाहे वसु) सब के अग्नि लावा के योग्य बल, धन और स्थिरता और ऐश्वर्य (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

[२०९] श्रुत वो वृत्रहन्तमं प्र शर्वं चपरीनाम् ।

आशिष राधसे महे ॥५॥ अ० ८ । ६ । ६३ ॥

भा०—(वः) आप लोग (श्रुतम्) वेद में विख्यात या ज्ञात में प्रसिद्ध (शर्वं) उत्कृष्ट बलशाली (वृत्रहन्तमं) विघ्नों के नाश करने वालों में सबसे श्रेष्ठ की (चपरीना) प्रजाओं की (आशिषे) उत्तम कामनाओं की पूर्ति और (महे) श्रेष्ठ (राधसे) साधना या ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (प्र) उपासना करो ।

[२०६] अरे त इन्द्र अवसे गमेम शूर त्वावतः ।

अरे शक्र परेमणि ॥६॥

२०७, परिशाने इति पाठ प्रातिशाख्यानसारी कौथमानामव ।

२०८-आशुष इति पाठमद अ०

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (शूर) शत्रुओं के हिंसक ! (त्वावतः ते) तेरे समान ! अद्वितीय तेरे ही (यवसे) कीर्तिगान करने के लिये हम (अरं गमेम) खूब खगे रहें । हे (शक्र) सर्वशक्तिमन् ! (परंमणि) तेरी परमता सौंदर्य, परम रूप में ही हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमेम), लीन रहें, मग्न हों ।

[२१०] ^{३ १ २} धानावन्तं ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।

^{१ २ ३ १ २} इन्द्र प्रातर्जुपस्व नः ॥ ७ ॥

अ० ३। ५०। २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (न.) हमारे (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में (धानावन्तं) ध्यान धारणा से सम्पन्न, (करम्भिणम्) सुख को प्रारम्भ करने वाले, (अपूपवन्तम्) अति समीपता दिलाने वाले अथवा दूर और निकट सर्वत्र विद्यमान (उक्थिनं) ज्ञानसम्पन्न, सोम, आत्मा को (जुपस्व) प्रदण करो, स्वीकार करो ।

मुँने जौ 'धाना' कहाते हैं, दही से मिले सत्तू 'करम्भ' कहाते हैं । पके पुरोडाश को 'अपूर' कहा जाता है । प्रतिनिधिवाद से, सूक्ष्मतत्त्व जब स्पष्ट होजायं तो वे ही 'धाना' हैं । ध्यानयोग से विवेक द्वारा पवित्र किया सत्य ज्ञान 'सक्तु' है । उसका विशेषरस अनुभव 'दधि' है, जिसका मथन करने पर या विशेष परिपाक होने पर प्राप्त ब्रह्मज्ञान 'अपूप' है जिसमें आत्मा उस ब्रह्म के समीपतम होजाता है । अथवा [अप-उप-वन्=अपूपवात्] वह दूर और निकट के सब पदार्थों को प्राप्त है । उस समय अपूर्व ब्रह्मास्वाद 'उक्थ' है, तद्वान् आत्मा 'उक्थी' है । उसको स्वीकार करने की प्रार्थना है ।

[२११] ^{३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अपां फेनन नमुचं शिर इन्द्रोदवर्तयः ।

^{३ १ २ २ ३ १ २} विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ८ ॥

२११—स्फुटायते वर्धते स फेनः । अप, अति अज्ञानात्म, कर्मनाम च, नि० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (यत्) जब (विश्वा० स्पृध०) अपने से स्पर्द्धा करने वाली सब तामस वृत्तियों को (अजय०) विजय करले तब (नमुचं) कभी न पीछा छोड़ने वाले मृत्यु वा कर्मबन्धन का भी (शिर०) शिर या आध्रय (अपा फेनेन) ज्ञान और कर्मों के बल से अथवा आस पुरुषों के शुद्ध ज्ञानोपदेश से (उद् अवर्त्तय) काट डाल ।

[२१२] ^{३ १ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} इमे त इन्द्र सोमा सुतासो ये च सोत्वाः ।

^{१ २} तेषां मत्स्व प्रभूवसो ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (इमे) ये (सोमा०) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (सुतास०) निष्पादन किये हैं (ये च) और जो (सोत्वा) अविष्य में निष्पादन किये जायेंगे (तेषा) उनसे हे (प्रभूवसो) साम धर्मसम्पन्न ! शरीर के वासी आत्मन् ! (मत्स्व) तू सदा प्रसन्न रह ।

[२१३] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} तुभ्यं सुतास सोमाः स्तोत्रं वर्द्धिचभावमो ।

^{३ १ २} स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय ॥ १० ॥ अ० द० ६३ । २५ ॥

भा०—हे (विभावमो) तेज कान्तिसम्पन्न ! (इन्द्र) आत्मन् ! (सोमा) सोम, य समस्त अन्तः आनन्द रस (तुभ्य) तेरे लिये (सुतास) निष्पादन किये गये हैं (वर्द्धि) देहरूप यह आसन अथवा ब्रह्मस्वरूप महान् आध्रय (स्तोत्रं) विस्तृत किया गया है । तू (स्तोतृभ्य) सत्य २ गुणकार्त्तन करने वालों को (मृडय) चुम्बी कर ।

इति द्वितीया दशति । दश० खण्ड ।

—ॐ नमः—

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

॥ द० ३ ॥ १ शुभ्र श्रेष्ठः । अ० अ० । ३ तिमोर ४, ९ नेषानिधि । ५

गोनमः । ६ अ० अ० । ७ विश्वानिधि । ८ प्रमृताः ॥

इन्द्रो देवता । गाथो ॥ ५८ ॥

[२१४] आ^२ व^३ इन्द्र^२ किंवि^३ यथा^२ वाजयन्तः^३ शतक्रतुम् ।

मं^१हिष्ठं^२ मिश्रं^३ इन्दुभिः ॥ १ ॥ अ० १ । ३० । १ ॥

भा०—(व.) आप लोग (इन्दुभिः) सोमों, ज्ञानों, स्तुतियों द्वारा (शतक्रतुं) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त (मंहिष्ठ) दानशील, पूजनीय, (इन्द्रं) आत्मा को (वाजयन्तः) बल और ऐश्वर्य की कामना करते हुए (आ सिञ्च) इस प्रकार तृप्त करो यथा जिस प्रकार (किंवि) कार्य-साधन करने वाले हथियार या यन्त्र को घृत तैल आदि से सींचते हैं । अथवा—जिप प्रकार (किंवि) जलपूर्ण कूप के आश्रय से (वाजयन्तः) अन्न चाहने वाले कृषक खेत को जल से 'सेचन' करते हैं उसी प्रकार प्रभु का आश्रय लेकर समाधि रसों से क्षेत्ररूप आत्मा का सेचन करो ।

[२१५] अतश्चिन्द्र^१ न^२ उपायादि^३ शतवाजया ।

इषा^३ सहस्र^२वाजया ॥ २ ॥ अ० ८ । ९२ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! राजन् ! (अतश्चिन्द्र) इस कारण से ही (शतवाजया) सैकड़ों प्रकार के बलों से सम्पन्न और (सहस्र-वाजया) सहस्रों या अनेक बलों से युक्त (इषा) या इच्छा शक्ति या सेनासहित (न.) हर्ष (उपयादि) प्राप्त हो ।

[२१६] आ^२ बुन्द^३ वृत्रहा^२ ददे^३ जातः^२ पृच्छादिमातरम् ।

क^३ उभ्रा^२ के^१ हं शृण्वरे ॥ ३ ॥ अ० ८ । ९५ । ४ ॥

भा०—(वृत्रहा) विघ्नों को निवारण करने द्वारा राजा (जातः) शक्ति सम्पन्न होकर ही (बुन्द) दण्ड देने और शत्रु का नाश करने हारे-वाण या हथियार को (आददे) धारण करता है । और (मातरम्) अपने

उत्पन्न करनेहारी मातृतुल्य प्रजा से (वि पृच्छात्) नाना प्रकार से पूछता है कि (के उग्राः) तुम्हें कष्ट देने वाले भयंकर कौन हैं और (के ह शृण्वरे) कौन हिंसा करते हैं । अथवा—(के ह शृण्वरे) कौन श्रवणशील विद्याभ्यासी और (के उग्राः) कौन उग्र, बलवान्, धीर क्षत्रिय हैं । शक्ति धारी पुरुष को जब प्रजा राजा बनाती है तब वह राजदण्ड हाथ में लेता है और प्रजा के दुःखदायी आततायी लोगों को खूब छानवीन करके उन को दण्ड देता है अथवा उनमें बलवान् और विद्वान् प्रजा के शासन और शिक्षण में नियुक्त करता है । आत्मपक्ष में—माता=यथार्थ अनुभवशील चित् शक्ति, बुन्द=ग्रोकार, वृत्र=अज्ञान, उग्रा=विधेयक भाव या प्राणगण और श्रवणशील ज्ञानेन्द्रियगण हैं ।

[२१७] ^{३ १ २} बृवदुक्थं ^{३ १ २ ३ १ २} हवामहे ^{३ १ २} सुप्रकरस्नमूतये ।

^{१ २ ३ २ ३ १ ३} साध कृण्वन्तमवसे ॥४॥ अ० द । ३२ । १० ॥

भा०—हम (ऊतये) रक्षा के लिये (सुप्रकरस्नम्) अपने हाथों को फैलाये (बृवदुक्थ) अति अधिक क्षयातिमान् और (अथसे प्रजा की रक्षा करने के लिये (साध कृण्वन्त) साधन करने वाले राजा के समान परमेश्वर को बुलाते हैं ।

[२१८] ^३ ऋजुनीती ^{३ १ २} नो वरुणो ^{३ १ २} मित्रो ^{३ २} नयति ^{३ २} विद्वान् ।

^{३ २ ३ २ ३ १ ३} अथमा दैवै सजोपा ॥५॥ अ० १ । ६० । १ ॥

भा०—(वरुण) सब कष्टों का निवारण करने द्वारा, (मित्र) सब का स्नेही (विद्वान्) सर्वज्ञ (अथमा) अन्तर्ग्रामी न्यायकारी (दैवै) विद्वान् पुरुषों से (सजोपा) सनान रूप से प्रेम करने वाले राजा के समान परमेश्वर । ऋजुनीती) धर्मयुक्त नीतिमार्ग से (न.) हम सब को (नयति) ले जाता है ।

२१८—'नयति विद्वान्' इति अ० ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[२१६] दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्नितत् ।

३ २ ३ २ ३ २

वि भानुं विश्वथाऽतनत् ॥ ६ ॥

भा०—(दूरात्) दूर (सतः) विद्यमान रहकर भी परमेश्वर सूर्य के समान (यत्) जब (अरुणप्सुः) प्रातःकालिक प्रभा के समान कान्तिमान् (इह एव) यहां ही (अशिश्नितत्) चमकता है तब (भानुं) कान्ति, प्रजा या दीप्ति को (विश्वथा वि अतनत्) सब ओर फैलाता है ।

साधक की साधना की सिद्धि के लक्षण विशेष दीप्ति का मस्तक पर विशेष रूप से चारों ओर दीखना ही है । जैसा लिखा है—

‘व्यद्युतद् व्यद्युतदा न्यमीमीपद्’ इत्यादि । केन उ० । तद्दूरे तद् अन्तिक इत्यादि । ईश उ० ।

१ २

३ १२ २२

[२२०] आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।

३ १ २

मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥ अ० १ । ६२ । १६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र, वरुण, प्राण और अपान (घृतैः) दीप्ति का (गव्यूतिम्) इन्द्रियों के मिलने के स्थान त्रिपुटीभाग को अथवा गायों के बाँधे के समान एकमात्र आश्रयस्थान आत्मा को (आ उक्षतम्) योगज आनंद-रसो से खूब सेचन करो । हे (सुक्रतू) उत्तम प्रजा और कर्म के सम्पादन करने वाले तुम दोनों ! (नः) हमारे (रजांसि) रजोभाव से युक्त इन्द्रियों को अथवा हमारे लोकों को धौ और पृथिवी या दिन और रात्रि के समान (मध्वा) मधु अर्थात् विशेष चेतना या सवित्सिद्धि द्वारा (उक्षतम्) सेचन करो ।

२१९—‘यत्सत्यरणप्सु’, ‘विश्वथातनत्’ इति अ० ।

२२०—१, मधु धमतेर्गतिर्गमणः ।

प्राण और अपान की साधना से त्रिपुटी में दीप्ति और इन्द्रियों में विशेष स्फूर्ति उत्पन्न होती है जिसको 'सधित् ज्ञान' कहते हैं ।

[२२१] उहु त्ये सुनवा गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत ।

वाथा अभिज्ञु यातवे ॥ ८ ॥ अ० १ । ३७ । १० ॥

भा०—(त्ये) वे (गिरः सुनवा) वाथों के उत्पादक मरुद्गण (यज्ञेषु) अपने निवासस्थान इन्द्रिय-स्थानों, कार्यव्यापारों में (काष्ठाः) अपने जाने की दिशाओं, मार्गों पर इस प्रकार गमन करते हैं जैसे (वाथा) गौण ह्मभारते समय (यातवे) गति करने के लिये (अभिज्ञु) घुटने के प्रति झुककर (अत्नत) जाती हैं । यहा प्राणों के संचार का स्वरूप पत-लाया गया है ।

[२२२] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पासुले ॥ ९ ॥ अ० १ । २२ । १७ । यजु० ५ । १२ ॥

भा०—(विष्णुः) देह में सर्वव्यापक वह आत्मा (इदं) इस प्रकार (विचक्रमे) गति करता है कि (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदम्) अपनी शक्ति को (निदधे) स्थापन करता है । और (अस्य) इसकी वह शक्ति सामर्थ्य (पासुले^१) इन्द्रियों के शयन करने के स्थान देह में (समूढम्) उत्तम रूप से प्रकट है । परमात्मा पद में—ईश्वर की शक्ति तीनों लोकों में है । 'पासुलो लोकाः' । इस ब्रह्माण्ड भर में उसकी शक्ति समूहित या व्याप्त है ।

२२१—'अज्ञेष्वत्नत' इति पाठः, अ० ।

२२२—'पाशुरे', 'पासुरे' इति पाठः, य० ।

१. पद पयतेर्मतिर्गमणः ।

२. पासुवः पादः, सुयन्ते इति वा, पञ्चा. शेरत इति वा (नि० ११ । १८)

आत्मा की त्रेधा शक्ति अन्न से रस का ग्रहण इन्द्रिय से ज्ञान निष्पादन और देह में प्राण और रस का संचरण ।

इति तृतीया दशतिः । एकादशः खण्डः ।



॥ ८० ४ ॥ अपि.—१, ७, ८ मेधातिथिः । २ वामदेवः । ३, ५ मेधातिथिप्रियमेधौ । ४ विश्वामित्रः । ६ कौरसो दुर्मित्रः । ६ विश्वामित्रो गार्धिनोऽभीपाद उदलो वा । १० श्रुतवक्षः ॥ इन्द्रो देवता ॥

गायत्री छन्दः ॥ षड्ज. स्वरः ॥

[२२३] अतीहि मन्युषाविणं सुसुवांसमुपरय ।

अस्य रातौ सुतं पिव ॥ १ ॥ अ० ८ ३२ । २१ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू (मन्युषाविणं) क्रोध को उत्पन्न करने वाले भाव को (अति इहि) छोड़ दे । (सुसुवांसम्) उत्तम रूप से संचालन करने या उत्तम रस सम्पादन करने वाले के (उप ईरय) पास ही सदा स्वस्थ रूप से प्राप्त हो । (अस्य रातौ) उसके आनन्द की दशा में ही तू (सुत) उत्तम ज्ञान का (पिव) आस्वादन कर ।

[२२४] कद् प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।

तदिद्वयस्य वर्धनम् ॥ २ ॥

भा०—(महे प्रचेतसे) बड़े भारी ज्ञानवान् (देवाय) इष्टदेव के लिये (कद् उ) कुछ भी, तुच्छसा भी (वचः) वचन (शस्यते) स्तुति रूप में कहा जाय (तद् इत् हि) वह ही (अस्य) इस वक्ता के (वर्धनम्) वृद्धिकारक होता है ।

२२३—समुपरये, 'अस्य रातौ सुतं पिव' इति श्रु० ।

"अणुरप्यस्य धर्मस्य प्रायेते महतो भयात्" गीता० । ईश्वर की नित्य थोड़ी आराधना भी आत्मा के बल को बढ़ाती है ।

उ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ २ २
[२२५] उक्थं च न शस्यमानं नागोरयिराचिकेत ।

१ १ उ १ उ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥ अ० ८ । २ । १४ ॥

भा०—(अयिः) सर्वव्यापक, परमेश्वर (अगो०) इन्द्रिय या वाणी रहित अज्ञानी का (शस्यमान) पढ़े हुए (उक्थं चन) स्तुतिपाठ का भी (न आचिकेत) क्या नहीं जानता ? और क्या (गीयमान) गाये गये (गायत्रं) गायत्र साम को भी नहीं जानता ? जानता ही है वह उसको भी स्वीकार करता ही है ।

१ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[२२६] इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिषो वाजानां च वाजपतिः ।

१ २ उ २ उ १ २
हरिवान्सुतानां सखा ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (उक्थेभि०) गुणकीर्तनों से (मन्दिष) प्रसन्न होने वाला (वाजानां च) और ज्ञानसम्पन्न पुरुषों में (वाजपति) ज्ञानों का एकमात्र स्वामी (हरिवान्) इन्द्रिय आदि ज्ञानसाधनों से एवं ईश्वरपक्ष में—पञ्चभूत आदि प्रकृति विकारों से सम्पन्न नू (सुताना) निष्पादित कर्मों, ज्ञानों और उत्पन्न लोकों का (सखा) मित्र है ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[२२७] आयात्यप न सुत वाजभिर्माह्वीयथा ।

उ १ २ उ १ २
महो ह्य युयजानिः ॥५॥

भा०—हे परम आत्मन् ! (न) हमारे (सुत) प्रसन्न ब्रह्मानन्द-रस या आत्मा रूप सोम के (उप आयाहि) समीप आइये, प्राप्त कीजिये । (वाजेभि) अर्धों, ज्ञानों और बलों से (मा ह्वीयथा) हमें मत हारिये ।

२२५—'मगोरयिराचिकेत' इति १० ।

आप (महान्) बड़े वीर्यवान्, सामर्थ्यवान् (युवजानि०) अपने प्रपौत्र को भी अपने समक्ष देखने वाले वृद्ध के (इव) समान पूज्यतम हैं ।

‘युवजानिः—’ जीवति तु वश्ये युवा (पा० ४ । १ । १६३) शाल-
क्रेयुवापत्य पुमान् इत्यादि व्याख्यानदर्शनाद्युपसंज्ञात्मिकी शास्त्रासिद्धा च
प्राचीनकालपरिचिता । जनरौण्यादिकोऽभिज्ञ बाहुलकात् (उ० ४ । ५१ ।)

३ १ २ ३ १२ २४ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[२२८] कदा वनो म्तां हयंत आ अच श्मशारुधद्वा ।
३ १ ३ २ ३ १ १
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ ६ ॥ अ० १० । १०५ । १ ॥

भा०—हे (वसो) सबके प्राणाधार, सबमें बसने और सबको बसाने वाले ! (स्तोत्रं हयंत०) स्तोत्र या वेदज्ञान का आहरण या लाभ करने वाले पुरुष के लिये तुम (कदा) कब (श्मशा) शरीर के भीतर संचरण करने वाले (वा०) जीवनरूप जल को (आ अचारुधद्) रोकत हो ? कभी नहीं । (दीर्घं) दीर्घ, लम्बा चौड़ा (सुतं) जीवन (वाताप्याय) प्राण को आयमन करने वाले का ही प्रदान करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[२२९] ब्राह्मणादिन्द्र राधस पिवा साममृतूरनु ।
३ १ ३ १२ २२
तवदं सख्यमस्तृतम् ॥ ७ ॥ अ० १ । १५ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्राह्मणात्) ब्रह्म को जानने हारे (राधस) साधना करने वाले विद्वान् के (सोम) ज्ञान और अस्मादि रस को (अतून् अनु) प्राणों और इन्द्रियों के साथ (पिब) तू पान कर । (तव) तेरा (इदं) यह (सख्यं) इन्द्रियों के या साधकों के साथ का मैत्रीभाव (अस्तृतम्) कभी नहीं टूटता ।

उ १ २ ३ १ २ उ १ २
[१३०] वयं घाते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र भिर्वण ।

१ २
त्वं नो जित्वा सोमपा ॥ ८ ॥ अ० ८ । ३२ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे परमात्मन् ! हे (भिर्वणः) एक-
मात्र वाणी द्वारा स्तुति करने योग्य ! (वयं) हम इन्द्रियगण और हम
साधकगण (अपि) भी (ते ह) तेरे ही (स्तोतार स्म) स्तुति करने
वाले हैं । (त्वं) तू (सोमपाः) सोम को पान करने द्वारा होकर (नः)
हमें भी (जित्वा) तूत कर, हमें भी बलवान् कर । जो सम्बन्ध प्रजा का
राजा से और साधकों का प्रभु से है वही इन्द्रियों का आत्मा से है ।

१ २ ३ १२ २२ उ २ ३ १ २
[२३१] एन्द्र पृच्छ कासुचिन्मृमणं तनूपु धेहि नः ।
उ २ ३ १ २
सत्राजिदुग्र पौस्यम् ॥ ९ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे (उग्र !) हे बलवान् ! (पृच्छ) तुझे
स्पर्श करने वाले (कासु चित् तनूपु) किन्हीं देहों में (नः) हम (मृमणं)
मनुष्यों के मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन को (धेहि) धारण कर और
करा । हे (सत्राजिद्) समस्त सत्-पदार्थों पर विजय करनेवाले ! (कासु-
चित्) किन्हीं में (नः पौस्यं) हमें बल धारण करा ।

अर्थात् तू किन्हीं को ज्ञानी ब्राह्मण बनाता और किन्हीं को दृष्टि
उत्पन्न करता है ।

उ १२ २२ उ २ ३ १२ २२ उ २ उ २
[२३२] एवाहसि वीर्युरेवा शूर उत स्थिरः ।
उ २ ३२ उ १ २
एवा ते राध्यं मनः ॥ १० ॥ अ० ८ । १२ । २८ ॥

२३०—'अपिष्मसि' इति क० ।

भा०—हे इन्द्र आत्मन् ! क्योंकि तू (हि) निश्चय से (वीर्युः) सामर्थ्यवान् वीर को चाहने वाला (एव असि) ही है । और तू (शूरः) शूर और (स्थिर एव) स्थिर ही है, इसलिए (ते मनः) तेरी मननशील मति या ज्ञान भी (राध्यम् एव) आराधना या साधना करने योग्य ही है, अनुकरण करने योग्य है ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वादशः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

॥ ८० ५ ॥ ऋषिः—१, ६, ६ वसिष्ठः । २ भरद्वाजः । ३ वाल्खिल्याः । ४ नोधाः । ५ कलिः प्रागाथः । ७ मेधातिथिः । ८ भर्गः । १० प्रगाथः । काण्वः ॥ देवता—१—८, १० इन्द्रः । ६ मरुतः । वृद्धी । मध्यमः ।

[२३३] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।

ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

अ० ७ । ३२ । २२ ॥

भा०—हे (शूर) शूर ! सर्वत्र व्यापक, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (अस्य जगतः) इस जगत् के और (तस्थुषः) स्थावर संसार के भी, (ईशानम्) सामर्थ्य देने वाले प्रभु (स्वर्दृशम्) आदित्य द्वारा सबको प्रकाशित करनेहारे या आदित्य के समान सबको समान भाव से देखनेहारे (त्वा) तुम्हको हम (अदुग्धाः धेनवः इव) न दुही गई, नई व्याई हुई गौएं जिस प्रकार अपने बत्स को देखकर सुकती और दम्बारती हैं उसी प्रकार (नोनुमः) आदर से, प्रेम से देखते, सुकते और स्तुति करते हैं ।

[२३४] ^{१२}त्वामिच्छि ^{२२}हवामहे ^{३१२}सातौ ^{२२}वाजस्य ^{३१२}कारवः ।

^{३१}त्वां ^२धृभेभ्विन्द्र ^३सत्पतिं ^{१२}नरस्त्वा ^३काष्ठास्वर्वतः ॥ २ ॥

श्र० ४ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (वाजस्य सातौ) धन, अन्न, ज्ञान और बल के विभाग और प्राप्ति के अवसर पर (त्वाम् इव हि) तुझको ही हम (कारवः) स्तुतिकर्ता लोग (हवामहे) स्मरण करते, पुकारते हैं । (धृत्रेषु) विद्वत् के अवसरों पर (सत्पतिं) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वां) तुझको ही याद करते हैं । (अर्वतः) गतिशक्ति सूर्य आदि पदार्थों के (काष्ठासु) सीमाएं नियत करने के लिये अथवा ज्ञान शील-भोक्ता इन्द्रियों की भोग मर्यादाओं को सीमित करने के लिये (नरः) विद्वान् लोग तेरा ही स्मरण करते हैं ।

[२३५] ^{३१२}अभि प्र वः ^{२२}सुराधसमिन्द्रमर्च ^{३१२}यथा विदः ।

^१यो ^२जरितृभ्यो ^{३१२}मघवा ^{३१२}पुरुवसुः ^{२१२}सहस्रेणत्र ^{३१२}शिक्षति ॥ ३ ॥

श्र० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोग (सुराधसम्) उत्तम ज्ञान रूप धनसम्पन्न (इन्द्रं) परमेश्वर को (यथा) यथार्थ रूप से (विदे) जानने के लिये (अभि प्र अर्च) उसकी अच्छी प्रकार उपासना करो । (यः) जो (मघवा) धन-यज्ञादि से सम्पन्न (पुरुवसुः) अति धनाढ्य, या सब शरीरों में व्यापक रहकर (सहस्रेण इव) मानो हजारों प्रकारों से (शिक्षति) शिक्षाएं देता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

[२३६] ^१न ^२वो ^३दस्ममृतीपिह ^{३२३}वसामिन्द्रानमन्धसः ।

^{३२}अभि वत्स ^३न ^{२२}स्वसरेषु ^{३२३}धेनव इन्द्रं ^{३२}गीभिर्नवामहे ॥ ४ ॥

श्र० ८ । ८८ । १ ॥

२३४—‘साता’ इति क० ।

भा०—(वः) आपके (दस्मं) बाधक, शत्रुओं का नाश करने वाले, (ऋतिसहं) बाधाओं को दूर करने वाले, (वसोः) शरीर में आत्मा के वास कराने वाले, सबमें बसने वाले (अन्धसः) प्राण धारण कराने वाले अजरस को प्राप्त करके (मन्दानं) अत्यन्त प्रसन्न होने वाले (इन्द्रं) आत्मा को (स्वसरेषु) अपने २ देहों में हम इन्द्रियगण आर विद्वान्जन उसी प्रकार (अभि नवामहे) स्तुति करते हैं जिस प्रकार (धेनवः) नवप्रसूता गौपं (वत्सं न) बछड़े के प्रति हम्भारती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२३७] तरोमिर्वो विद्वसुमिन्द्रं सन्वाध ऊतये ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
बृहद्वायन्तः सुतसोमे अध्वर हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥

अ० ८। ६६। १ ॥

भा०—हे इन्द्रियगण ! हे साधकजनो ! (वः) तुम्हारे (तरोभिः) वेगों, गतियों द्वारा (विद्वसुम्) ज्ञान के प्राप्त करने हारे (सन्वाधः) आप लोग जब पीड़ा सहित हों तो (ऊतये) अपनी रक्षा के निमित्त (बृहद्) बृहत्साम द्वारा (इन्द्रम्) इस ऐश्वर्यवान् अपने प्रभु का (गायन्तः) कीर्त्तन करते हुए (सुतसोमे अध्वरे) सोम निष्पादन करने योग्य याग में जिस प्रकार (कारिणं भरं न) ऋत्विग् लोग अपने पोषण-कर्त्ता यजमान का बुझाते हैं उसी प्रकार बुझाया करें, उसका स्मरण किया करो ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२३८] तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तथैव सुदुवम् ॥ ६ ॥

अ० ७। २२। २० ॥

भा०—(तरणिः) अति वेगवान् या संसार से तराने वाला, आत्मा (पुरन्ध्या) देहरूप पुर को धारण करने वाली बुद्धि को (युजा) अपना

साथी बना कर, समाधि द्वारा (धाजं) अन्न आदि कर्म फल और ज्ञान
पेश्वर्य को (सिपासति) ठीक प्रकार से विवेक करता है । (तष्टा इव) जिस
प्रकार बड़ई (सुदुवं) उत्तम गति करने योग्य (नेमि) चक्र के हाल को
झुकाता है । उसी प्रकार हे इन्द्रियगण ! मैं साधक (पुरुहूतं) प्रत्येक देह
में बल संचार करने वाले (व. इन्द्रम्) तुम्हारे स्वामी आत्मा को (गिरा)
वेद की अच्चा एवं स्तुति से (आ नमे) अपने प्रति झुकाता हूँ । यह
आत्मा के मनोवेग को खच्य करके कहा है ।

[२३६] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १} पिवा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।

^{३ १ २} आपिनो बाधि सधमाधे वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥ ७ ॥
अ० ८ । ३ । १ ॥

भा०—(इन्द्र) हे आत्मन् ! (नः) हम इन्द्रियों के (गोमतः)
अपनी गति से सम्पादित (रसिनः) भोग या ज्ञान के सुख या बल से
सम्पन्न (सुतस्य) उत्पादित ज्ञान का (पिवा) पान कर, उपभोग कर
(मत्स्व) और प्रसन्न और तृप्त हो । (नः) हमारे (सधमाधे) एक ही
साथ आनन्द भोग करने के स्थान, शरीर में (आपिः) बन्धु के समान
हमें सदा प्राप्त होकर तू (न) हमें (बोधि) ज्ञानवान् कर । (ते धियः)
तेरी ज्ञानमय वृत्तियाँ (वृधे) और भी अधिक उन्नति, वृद्धि के लिये
(अस्माँ) हमें (अवन्तु) रक्षा करें ।

^{२ ४} [२४०] ^{३ १ २ ३ २ ३} त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।

^{१ २ ३} उद्वावृषस्व भगवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥ ८ ॥
अ० ८ । ६१ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (चेरवे) तेरी सेवा परिचर्या करने
हारे अपने संचक के पास (आ इहि) आ, साक्षात् हो । और (वसुत्तये)

सुख से प्राण धारण करने योग्य वसु या प्राणों का दान करने के लिये (भगं) भजन या सेवन करने योग्य ऐश्वर्य, या सेवने योग्य प्रभु को (विदाः) प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर । हे (मधवन्) शक्तिमन् ! (गविष्टये) इन्द्रियों के इष्ट साधन करने के निमित्त (उद् वायुपस्व) उत्तम रीति से सुखों की वर्षा कर । (उत् अश्वम् इष्टये) और इन्द्रियों में व्याप्त जा भोजन रूप आत्मा, अश्व है उसके मले के लिये भी उत्तम रीति से बल दान करा ।

१४ २२ ३ २ ३१२ २२ ३ १ २
[२४१] न हि वश्चरम चन वमिष्टः परि मंसते ।

३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
अस्माकमद्य मरुतः सुतं सचा विश्वं पिवन्तु कामिनः ॥६॥

अ० ७।५९।३॥

भा०—(वसिष्टः) मुख्य प्राण (वः) तुम इन्द्रियों में से (चरमं चन) अन्तिम का भी (न हि) नहीं (परिमंसते) तिरस्कार करता । हे (मरुतः) इन्द्रिय मार्गों में विचरण करने वाले प्राणो ! (अस्माकं सुतं) हमारे उत्पन्न किये हुए ज्ञानरस में (विश्वे कामिनः) सब अपने रसपान की कामना करने वाले आप लोग (सचा) एक साथ (पिवन्तु) आनन्दामृत का पान करो । इसका विवरण देखो बृहदा० उप० (अ० ६।१) में वसिष्ट प्राण का प्रकरण । अथवा—(वसिष्टः) परमेश्वर (चरमं चन नहि परिमंसते) सबसे पिछड़े हुए का भी अनादर नहीं करता । हे (मरुत) मनुष्यो ! (अस्माकम् कामिनः) हममें से जो भी परम रस के अभिलाषी हैं वे (विश्वे सचा पिवन्तु) सब आकर समाहित होकर आनन्द रस का पान करें ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेषु स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (गीता)

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[२४२] माचिदन्याद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २ ३ १
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते सुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥

अ० ८ । १ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (अन्यत् चित्) और कुछ वस्तु की (मा विशंसत) स्तुति मत करो । (मा रिषण्यत) व्यर्थ के जाल में अपना नाश मत करो, खिल मत होओ । (इन्द्रम् इत्) आत्मा, परमात्मा का ही (स्तोत) स्तुति करो । (सुते) उत्पादित ज्ञानवश या आनन्द में मे (सचा) एकसंग (वृषणम्) सबसे श्रेष्ठ आत्मा के प्रति (सुहु.) चार चार (उक्था च शंसत) वेद के सूक्तों का गान करो ।

इति पञ्चमी दशति. । प्रथम. खण्ड. ।



॥ द० ६ ॥ अ०—१ आङ्गिरसः पुनहन्मा । २, ३ मेधातिथिर्मेध्यातिथिः । ४ विधामित्रः । ५ गौतमः । ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७, ८, ९ मेध्यानिधिः ।

१० देवातिथिः काण्वः ॥ इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

मध्यम. स्वरः ॥

१ ३ १२ २२ २ ३ ३ १२ ३ १ २
[२४३] नक्रिष्ट कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।

३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २
इन्द्र न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृश्वसमधृष्टं धृष्टुमोजसा ॥१॥

अ० ८ । ७० । ३ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (यज्ञै) यज्ञों द्वारा अपने को (विश्वगूर्तम्) सबसे प्रशंसित, (अश्वसम्) ज्ञान सम्पन्न (ओजसा) अपने तेज से (धृष्टम्) किसी से न पराजित होने वाले (धृष्टुम्) विपत्तियों को धैर्य से सहने वाले (इन्द्रम् न) राजा के समान (कर्मणा) कर्म द्वारा

अपने को (सदावृधम्) सदा उन्नति-मार्ग पर बढ़ाने वाला (चकार) बना लेता है (तं) उसको (नकिं नशद्) कोई नाश नहीं कर सकता ।

[२४४] य ऋते चिदभिधिषः पुरा जन्मभ्यः आतृदः ।

सन्धाता सन्धि मघवा पुरुवसुर्निष्कर्ता विदुतं पुनः ॥२॥

अ० ८। १। १० ६

भा०—(यः) जो आत्मा (अभिधिषः) आश्लेषण करने वाले द्रव्य के (ऋते चित्) बिना ही (पुरा) पूर्व ही (जन्मभ्यः) जीवों के (आतृदः) अलग २ हुए अङ्गों के भी (सन्धिम्) जोड़ों को (सन्धाता) जोड़ता है वह (पुरुवसु) समस्त इहों में रहने वाला (मघवा) जीवन यज्ञ का स्वामी आत्मा (विदुतम्) शस्त्र से कोट को भी (पुनः) फिर २ (निष्कर्ता) खूब अच्छी तरह से वैसा ही बना देता है । इस रहस्य का स्पष्टीकरण देखो ब्राह्मणों के प्रति याज्ञवल्क्य का प्रश्न (बृह० उप० अ० ३। ब्रा० ६। क० २८) और (अथर्ववेद का० ११। सू० १८। म० ११-१४)

[२४५] आ त्वा सहस्रमाशतं युक्ता रथे हिरण्यये ।

ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वदन्तु सोमपीनये ॥३॥

अ० ८। १। २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (हिरण्यये) एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने योग्य आत्मा से युक्त (रथे) रथ में, देह में (युक्ता) लगे हुए (आ सहस्रम्) हजारों और (आ शतम्) सैकड़ों (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म=अन्नकी पोषक शक्ति से जुड़े हुए अथवा (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म को समाहित चित्त से साक्षात् करने वाले (केशिनः) ज्ञानतन्तुओं

से सम्पन्न ज्ञानी (हरयः) हरण करने वाले घोड़ों के समान प्राणगण
एवं विद्वानजन (सोमपीतये) सोमरस का पान करने के लिये (त्वा)
तुम्हको (वहन्तु) वहन, धारण करें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[२४६] आ मन्त्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमणिः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव तौ इहि ॥४॥
अ० ३ । ४५ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मन्त्रैः) अत्यन्त प्रशंसा योग्य, उत्तम
हर्ष के देने वाले, (मयूररोमणिः) मोर के लोमों के समान लोमों तथा
आनील विद्युत् कान्ति से सम्पन्न ज्ञानतन्तुओं से युक्त, (हरिभिः) अनु
भवा को तुम्ह तक पहुँचाने वाले ज्ञानसाधनों को (याहि) प्राप्त हो ।
(त्वा) तुम्ह को (केचित्) कोई भी (पाशिनः न) जाल वाले लोगों के
समान धन्धनकारी प्रलोभन (न निचेमु) न बाध लें । और तू (तान्)
उनकां (धन्वा इव) धनुंधारी के समान (अति इहि) अतिक्रमण कर ।
राजा के पक्ष में स्पष्ट ही है ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[२४७] त्वमङ्ग प्रशसिषो देवः शशिष्ठ मर्त्यम् ।
२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्दितेन्द्र प्रवीमि ते वचः ॥५॥
अ० १ । ८४ । १६ ॥

भा०—(अङ्ग) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू (देव) स्वयं सच
का प्रकाशक होकर भी हे (शशिष्ठ) सब गतिमान् और शक्तिमान् पदार्थों
और ज्ञानवानों में श्रेष्ठ ! (मर्त्यम्) मरणधर्मा देह कां (प्र शंसिष)
प्रशंसा योग्य उत्तम धेनन बनाना है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वदन्य)
तूरे में दूसरा कोई (मर्दिता) मुर्ख का देने हारा (न अस्ति) नहीं है ।

इसलिये (ते) तेरी ही (वचः) स्तुतिपरक वाणी को मैं (ब्रवीमि) कहता हूँ ।

[२४८] त्वमिन्द्र यशा अस्यजीपी शवसस्पतिः ।

त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुत्रनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥

अ० ८। १०। ५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू (अजीपी) अजु, कुटि-
लता रहित मार्ग में अपने भक्तों को प्रेरणा करने वाला, (शवसस्पतिः)
बल का स्वामी, शक्तिमान्, (यशाः असि) यश.स्वरूप है । (त्वं)
तू (एक इत्) अकेला ही (पुत्र-अनुत्त.) देहों में विना किसी से प्रीति
होकर स्वतन्त्र रूप से, (चर्षणीधृतिः) स्वतः सब मनुष्यों में धारक
प्रयत्न होकर (अप्रतीनि) न दबने वाले (वृत्राणि) विघ्नों को (हंसि)
नाश करता है ।

[२४९] इन्द्रमिदेवतातये इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।

इन्द्रं समीके वनिनो हवामहे इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥

अ० ८। ३। ५॥

भा०—(देवतातये) देव, विद्वानों एवं इन्द्रियों की भलाई के लिये
(इन्द्रम् इद्) आत्मा या ईश्वर को ही हम (हवामहे) पुकारते हैं । (अध्वरे
प्रयति) हिंसारहित यज्ञ के प्रारम्भ होने पर भी (इन्द्रं) परमात्मा को हम
पुकारते हैं, (समीके) समान रूप से ध्यान, विचार, ज्ञान गति करने के
अवसर पर या सग्राम में हम (वनिनः) सब भक्तजन (इन्द्रं) उस
ईश्वर को ही राजा के समान स्मरण करते हैं और (धनस्य सातये) धन
के विभाग और प्राप्त करने के लिये भी (इन्द्रं) ईश्वर को (हवामहे)
आह्वान करते हैं ।

२३८—, एक इत्पुत्रानुत्तश्चर्षणीधृता' इति अ० ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २२
[२५०] इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।

उ १ २ उ १ २ उ २ उ १२ २२
पावकवर्णा. शुचयो विपश्चिताऽभिस्तोभैरनूयत ॥ ८॥

अ० ८ । ३ । ३ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) बहुत ऐश्वर्य वाले एवं बहुत लोकों को बसाने और उनमें बसने वाले ईश्वर ! (मम) मेरी (याः) जो (इमा गिरः) ये वाणिया (त्वा) तुम्हको (वर्धन्तु) बढ़ाती हैं, प्रसिद्ध करती हैं और (पावकवर्णाः) सबको अपने तेज से पवित्र करनेहार, ईश्वर का वर्णन करने वाले (शुचयः) शुद्ध चित्त वाले (विपश्चितः) कर्म और प्रज्ञा का संचय करने हारे विद्वान् लोग (त्वा) तुम्हको (स्तोभैः) स्तुति-मन्त्रों से (अभि अनूयत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

२ ३ १२ २२ उ २ उ १ २
[२५१] उद्गु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।

उ १ २ उ १२ २२ उ २ उ १ २
सत्राजिनो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥ ९॥

अ० ८ । ३ । १५ ॥

भा०—(त्ये) वे (मधुमत्तमा.) ब्रह्मविद्या से सम्पन्न (गिरः) वेदमन्त्र और (स्तोमास.) स्तुतिमन्त्र (सत्राजितः) सब कष्टों पर विजय पाते हुए, (अक्षितोतयः) अक्षय बलशाली (वाजयन्तः) ज्ञान से सम्पन्न, वेगवान् (रथा इव) रथों के समान (धनसाः) धनों को प्राप्त कराते हुए (उद्गु ईरते) उत्पन्न होते हैं, ऊपर आते हैं, प्रकट होते हैं ।

१ २ उ २ उ २ उ १२ उ २ उ
[२५२] यथा गौरो अयाकृन्त नृप्यन्नत्येवरिणम् ।

उ १ २ उ २ उ उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २
आपिन्वेन प्रपित्वे तृयमागहि कावेपु सु सचा पिय ॥ १०॥

अ० ८ । ४ । ३ ॥

भा०—(यथा,) जिस प्रकार (गौरः) गौर मृग या इन्द्रियों के पीछे भागने वाला ब्यसनी पुरुष (तृप्यन्) प्यासा, तृष्णा से सताया हुआ (अपाकृतम्) जल से या रस से भरे (इरियाम्) जलाशय या भोगपदार्थ के प्रति (एति) जाता है । उसी प्रकार हे (इन्द्र, आत्मन् ! आप (नः आपित्वे अपित्वे) हमारी बन्धुता को प्राप्त करने पर (कण्वेषु) मेधावी पुरुषों में (त्वं) शीघ्र ही (आगहि,) प्राप्त हो और (सच्चा) साथ ही (सु पिब) उत्तम रूप से सोमरस का पान कर ।

इति षष्ठी दक्षतिः । द्वितीयः खण्डः ॥



॥ ८० ७ ॥ अग्नि — १ सर्गः । २ रेभः काश्यपः । ३ जमदग्निः । ४, ५ मेधा-
तिथिः । ५, ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७ वसिष्ठः । ८ रेभः । १० मरद्वाजः ॥

देवता—१, २, ४—१० इन्द्रः । ३ आदित्याः ॥

बृहती छन्द ॥ मध्यमः स्वरः ॥

[२५३] शम्भूः^{३ २३ १ २} शचीपते^{३ २ ३ १ २} इन्द्र विश्वाभिरुतिभिः^{३ १ २} ।

^{१ २ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥

अ० ८ । ६१ । ५ ॥

भा०—हे (शचीपते) सब शक्तियों और प्रज्ञाओं के पालक ! हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विश्वाभिः), सब प्रकार की (उतिभिः) शक्तियों से (उ सु शग्धि) तू हमारी इष्ट पूर्ति कर । हे (शूर) शूर ! (वसुविद), आश्यों के प्राप्त करने, कराने और जानने वाले, (यशसं), इन्द्रियों के धीर्यस्वरूप, एवं यशस्वी (भगं न) ऐश्वर्य के समान (त्वा) तेरे (हि) ही (अनु चरामसि) हम अनुकूल चलते हैं । इन्द्रियों की आत्मा के प्रति और भगों की ईश्वर के प्रति उक्ति है ।

[२५४] या इन्द्र भुज आभर स्ववा असुरेभ्यः ।

स्तोतारभिन्मघघ्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तवर्हिष ॥२॥

अ० द० १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (या भुजः) जिन भोग करने योग्य शक्तियों को (असुरेभ्यः) असुररूप प्राणों से तू (आभर) प्राप्त करता है (स्ववान्) सुख और प्रकाश से युक्त है (मघघन्) यज्ञ के स्वाभिन् ! तू अस्य) इसके द्वारा (स्तोतारम् इत्) अपने यथार्थ गुण कथन करने वाले को ही (वर्धय) बढ़ा और (ये च) जो (स्व) तेरे लिये ही (वृक्तवर्हिष,) अपना यज्ञ फैला कर बैठे हैं या तेरे में लीन होने के लिये अपने देह का बन्धन काट चुके हैं उनको बढ़ा । आत्मा प्राणों के बलों से साधक को ही आनन्द देता है और शक्ति को बढ़ाता है । राजा भी जिन ऐश्वर्यों को दुष्ट पुरुषों से छीन के लावे उससे वह विद्वानों को और गृहस्थों को बढ़ावे ।

[२५५] प्र मित्राय प्रार्थम्ये सचध्यमृनावसो ।

वरुथ्येऽवरुण छन्धं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥ ३ ॥

अ० द० १०१ । ५ ॥

भा०—हे (अतावसो) सत्य ज्ञान में ही काम करनेहार ज्ञानिन् ! (मित्राय) अपने हृदय के स्नेही के लिये (प्र गायत) उत्तम गान कर । (प्रार्थम्ये) न्यायकारी और अत्यौमी, (वरुथ्ये) अपने गृहस्वरूप देह के हितकारी (वरुणे) सच विद्वों के निवारक (राजसु) तेजस्वी राजाओं में स्वछन्दता से विचरने वाले राजा के समान । राजसु छ शं तेजस्वी पदार्थों में सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर या प्राणों में व्याप्त आत्मा को लक्ष्य करके (छन्धं) वंदानुसार (स्तोत्रं) स्तुतिकारक (सच य, सधन करने

योम्य, हृदयग्राही (वचः) स्तुति वचन का (प्र गायत) उत्तम रूप से गान करो ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२५६] अभि त्वा पूर्वपीतये इन्द्र स्तोमेभिरायव ।

उ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
समीचीनास ऋभवः समस्वरक्षदा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥

अ० ८। २। ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् । (आयवः) दीर्घ जीवन की कामना करने वाले मनुष्य (पूर्वपीतये) पूर्ण जीवन का रसपान करने के अभि-प्राय से (त्वा) तुमको (स्तोमेभिः) वेद के स्तोत्रों द्वारा (अभि) साक्षात् ज्ञान करते हैं । (समीचीनासः) सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न (ऋभवः) प्राणविद्या के वेत्ता, ज्ञानी लोग (त्वाम् समस्वरन्) तुमको प्राणरूप से साधते एवं स्तुति करते हैं । और (रुदाः) ज्ञान के उपदेष्टा विद्वान्जन अथवा प्राणगण भी (पूर्व्यं) पुरातन या पूर्ण या सबसे पूर्व पूजनीय तुमको ही (गृणन्ते) स्तुति करते हैं ।

उ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[२५७] प्र व इन्द्राय वृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।

उ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥

अ० ८। ८६। ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) प्राणो ! वा विद्वानो ! (वः) आप लोग (वृहते इन्द्राय) बड़े सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये (ब्रह्म अर्चत) वेद द्वारा स्तुति करो । अथवा उस महान् आत्मा के साक्षात् के लिये अन्न और बल का प्राप्त करो या (ब्रह्म) ब्रह्म परमेश्वर की उपासना करो । वह (शत-क्रतुः) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी (शतपर्वणा वज्रेण) सैकड़ों पावनकारी, पर्व वाले ज्ञानवज्र द्वारा (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने वाला (वृत्रं हनति) आवरणकारी मेघ को सूर्य के समान और नाश को राजा के समान अज्ञान या पाप का नाश करता है ।

उ १२ २२ उ १ २ उ १ २
[२५८] वृत्रहन्त्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।

उ २ ३ १ २ उ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
येन ज्योतिरजनयन्नुतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ६ ॥
अ० ८ । ८६ । १ ॥

भा०—(मरुतः) हे प्राणायण ! हे विद्वान् पुरुषो ! (वृत्रहन्तमम्) वृत्र=अज्ञान पाप का नाश करने में सबसे श्रेष्ठ साम का (वृहत्-हन्त्राय) बड़े भारी हन्त्र के लिये (गायत) गान करो । (येन) जिससे (ज्ञता-वृधः) सत्य ज्ञान को बढ़ाने वाले विद्वान् लोग (देवाय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (देव) प्रकाशमान (जागृवि) सदा जागे रहने वाले, अमर (ज्योतिः) प्रकाश को (अजनयन्) प्रकट करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[२५९] इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रभ्यो यथा ।

१ २ ३ १ २ उ १ २ ३ १ २ २२
शिक्षा णा अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ७
अ० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) अपने बेटों के लिये धन और विद्या आदि देता है उसी प्रकार (न) हमारे लिये (क्रतु) प्रज्ञा को (आ भर) प्राप्त कराओ । हे (पुरुहूत) प्रजाओं द्वारा स्मरण किये गये राजा के समान आत्मन् ! परमेश्वर ! (यामनि) इस ब्रह्ममार्ग में (न) हमें (शिक्षा) शिक्षा दो । हम (जीवा) जीवराज्य (ज्योतिः) ज्ञानमय ज्योति के (अशीमहि) प्राप्त करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ उ १ २
[२६०] मा न इन्द्र परावृणुमवा नः सधमाद्ये ।

१ २ ३ २ ३ उ २ ३ १ २ उ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणुक् ॥ ८ ॥
अ० ८ । ३७ । ७ ॥

२६०—'सधमाद्ये' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (नः) हमें (मा परावृणक्) कभी परित्याग मत कर । (नः) हमारे (सधमाये) एक सग आनन्द प्राप्त करने के स्थान यज्ञ, देह आदि स्थानों में (भव) हमारे सग रह । (त्वं) तू (नः) हमारी (ऊतो) एकमात्र रक्षा है । और (त्वम् इन्) तू ही (नः आप्यम्) हमारा एकमात्र प्राप्त करने योग्य उद्देश्य, लक्ष्य है । नू (नः) हमें—(मा परा-वृणक्) कभी मत त्याग ।

यह इन्द्रियों का आत्मा के प्रति और भक्तों का भगवान् के प्रति वचन है । देखो उप० बृह० अ० ६ । ब्रा० १ । “ते प्राणा होचुर्मा भगव उत्कर्माः न शक्यामस्वदृते जीवितुमिति” ।

उ २ २ उ १ २ उ २ ३ २ ३ १ २
[२६१] वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्षवर्हिषः ।

उ १ २ उ १ २ उ १ ० ३ १ २

पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥६॥

अ० ८ । ३३ । १ ॥

भा०—(वयं) हम प्राणगण या भक्तजन (सुतावन्तः) अपने कर्मफल प्राप्त करके या ज्ञान सम्पादन करके वृक्षवर्हिषः) बर्हि—अर्थात् जीवनयज्ञ को समाप्त कर या ज्ञान द्वारा देह के बन्धन को काट कर (आपः इव) अपने तट बन्धनों को तोड़कर बहने वाले जलों के समान (पवित्रस्य) वेद के पवित्र ज्ञान के (प्रस्रवणेषु) प्रवाहों के तटों पर, हे (वृत्रहन्) अज्ञान के अन्धकारावरणों को छिन्न भिन्न करनेवाले देव । तेरे (स्तोतारः) सत्य-गुणों का गान करने वाले (आसते) बैठे हैं ।

प्राणों का ज्ञानमय स्तोता के रूप में बैठने का अलंकार देखो—

(बृहदा० उप० अ० २ । ब्रा० २ । ३ ।) ‘तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना’ ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
 [२६२] यादिन्द्र नाहुषीष्वा ओजां नृम्यां च कृष्टिषु ।
 ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२३ १२ १२ ३ १ २
 यद्वा पञ्चक्षितीनां धुम्नमाभर सत्रा विश्वानि पौस्या ॥१०॥
 अ० ६ । ४६ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (नाहुषीषु) शरीर-बन्धनों में बधी हुई प्राण-धारी प्रजाओं में (यत्) जो (ओजः) तेज और (कृष्टिषु) अपने कर्म-फल प्राप्त करनेवाले मनुष्यों में जो (नृम्याम्) धन है (यत् वा) या जो (पञ्चक्षितीना) आमा की पांचों भूमियों में (धुम्न) कान्ति या ऐश्वर्य है वह और (सत्रा) यद्वा २ (विश्वानि पौस्या) समस्त बल पराक्रम (आभर) हमें प्राप्त करा ।

लघिमा गरिमा आदि अष्ट सिद्धिमें और नव निधियों तथा अन्यान्य बल की प्रार्थना है ।

इति मत्तमी दशतिः । तृतीय खण्डः ।



॥ द० ८ ॥ अविः—१ मेधातिथिः । २ रेमः । ३ वल्मः । ४ भरद्वाजः । ५ नृमेधः । ६ पुरुहन्मा । ७ नृमेधपुरुमेधौ । ८ वमिष्ठः । मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च ।

१० कलि ॥ इन्द्रो देवताः ॥ बृहती । मध्यमः ॥

३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
 [२६३] सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता ।
 ४ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
 वृषाह्युग्रं शृणिष्वे परावति वृषा अर्वावनि श्रुतः ॥१॥
 अ० ८ । ३३ । १० ॥

भा०—हे (उग्र) बलवान् ! (सत्यम्) सत्य ही- (इत्था) इस प्रकार का (वृषा इह् असि) वृ सुखों का वर्पक ही है । और (वृषजूति) श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित तू (नः) हमारा (अविता) पालन करने वाला

(वृषा हि शृण्विषे) 'वृषा' साक्षात् धर्ममय ही सुना जाता है और (परावति । दूर और (अर्वावति) समीप भी तू (वृषा उ) 'वृषा' अर्थात् आनन्दवन ही (श्रुतः) प्रसिद्ध है ।

२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६४] यच्छ्रुत्वासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अतस्त्वा गीर्मेर्गुगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ अविवासति २

अ० ८ । ९७ । ४ ॥

भा०—हे (शक्र) शक्तिमन् ! (यद्) चाहे तू (परावति) दूर, मुक्ति की दशा में हो और (यद्) चाहे हे (वृत्रहन्) हे पापों के नाश करने हारे ! (अर्वावति) समीप, देह में विद्यमान रह, (अतः) तो भी हे (इन्द्र) आत्मन् ! प्रभो ! (केशिभिः) विशेष ज्ञान दीसियों से सम्पन्न विद्वानों और (गीर्मेर्) वेदवाणियों से (गुगद्) प्रकाश की तरफ शीघ्र जाने वाला होकर (सुतावान्) आनन्दरस का सम्पादक है । साधक पुरुष (त्वा) तुझको ही (अविवासति) प्रकट करता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

३ २ ३ १ २ २

[२६५] अभि वां वीरमन्धसो मर्देषु गाय गिरा महाविचेतसम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्र नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥ ३ ॥

अ० ८ । ९६ । १४ ॥

भा०—(व०) आप लोग (मन्धसः मर्देषु) अन्न या प्राण धारण कराने वाले चिदात्मा, या अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञान के द्वारा प्राप्त आनन्द के अवसरो पर (महाविचेतसम्) अत्यन्त अधिक ज्ञान और चेतना युक्त (वीरं) वीरवान्, (श्रुत्यं) श्रुति, वेद में प्रसिद्ध (शाकिन) सर्व शक्तिमान्, (नाम) सबको नष्ट करने हारे (इन्द्रं) ईश्वर को (यथा

वच) जिस प्रकार वेदवचन की आज्ञा है उसी प्रकार (गिरा) वेद की आज्ञा द्वारा (गाथ) स्तुति करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६६] इन्द्र त्रिधातु शरण त्रिवरुथं स्वस्तये ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

छर्दि र्यच्छ मघन्नदभ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमभ्यः ॥ ४ ॥

अ० ६ । ४६ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मघवद्भ्यः) यज्ञ करने हारे ऐश्वर्य और विभूतिमान् अथवा निष्पाप कर्मों वाले साधकों और (मह्यं च) मेरे लिये (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धातुओं से बने, (त्रिवरुथं) तीनों दोषों का वारण करने हारे (शरणं) देह के (स्वस्तये) कल्याण के निमित्त (यच्छ) प्रदान कर । (एभ्यः) उक्त कर्मठ पुरुषों की ओर से (दिद्युम्) वज्रस्वरूप (छर्दिः) आच्छादक बन्धन को (यावया) हटा ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ २

[२६७] आयन्त इव सूर्य विश्वेदिन्द्रम्य भक्षत ।

१ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

वसुनि जातो जनिमान्योजसा प्रतिभाग न दाधिमः ॥ ५ ॥

अथर्व० ८ । ९९ । ३ ॥

भा०—(सूर्य इव) सूर्य के समान सब के प्रेरक आत्मा का (आयन्त) आश्रय लेते हुए (विश्वा) समस्त (जाता) उत्पन्न हुए और (जनिमानि) आगे उत्पन्न होने हारे (वसुनि) प्राणी सब (इन्द्रस्य इत्) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही दिये ऐश्वर्य का (भक्षत) भोग करें । इस कारण उसके ही (ओजसा) बल से हम (भागं न) प्राप्त दायभाग के समान उसको (प्रति दीधिमः) समझें ।

२६७—'वसुनि जाते जनिमान्', 'दीधिम' इति श्रु० ।

[२६८] न सीमद्वय आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः ।

एतत्त्वाचिद्य एतशा युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥

अ० ८। ७०। ७ ॥

भा०—हे (दीर्घायो) नित्य आत्मन् ! (अदेव०) इष्टदेव से रहित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (तत्) उस परम (इपम्) सबके अभिलाषा के योग्य लक्ष्य को (न आप , नहीं प्राप्त करता । अथवा— (अदेवः मर्त्यः इपं न आपतत्) ईश्वर को छोड़ कर मनुष्य अपने अभिलाषित अन्न के समान भोग्य पदार्थ या इष्टलोक को भी नहीं पहुँचता । अथवा—माधव के मत से—(इपं न आपतत्) अपने गन्तव्य परम पद या मार्ग को नहीं चल सकता । (एतत्त्वा^१) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अश्व आदि साधनों से युक्त पुरुष जिस प्रकार (एतशः) अपने घोड़ों का (युयोजते)रथ में लगाता है और राह पर डाल देता है । उसी प्रकार सबको मन्मार्ग पर लेजाने वाला (इन्द्रः) महान् ऐश्वर्यशील परमात्मा ही (हरी) उसके घोड़ों को (युयोजते) ठीक मार्ग पर ले जाता है ।

‘भगवान् के आश्रय से ही सीधा मार्ग और इष्ट फल मिलता है, नहीं तो आदमी भटक जाता जाता है ।

[२६९] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूपत ।

उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीपम ॥७॥

अ० १। ९०। १ ॥

२६८—‘हरी इन्द्रो युयोजते’, ‘आपतदिष’ इति ‘य एतशा’ इति अ० । आप तद् इपम् । इति पाठः सायणसम्मतः आप तद् इपमिति (तु० सा०) ‘आप तद् इपम्’ इति मा० वि० ।

१. ईपतिगैतिकर्मा (नि० २। १४।), २. प्राप्तगन्तव्याः, इति (मा० वि०)

२६९—‘हव्य इन्द्रः’, ‘भूपतु’, ‘वृत्रहन्’, ‘ऋचीपम.’ इति अ० ।

भा०—(विश्वासु) सब (समस्तु) एकत्र आनन्द उत्सवों में (न.) हमारा (इन्द्रं) स्तुतिवचन (इन्द्रम्) उस ईश्वर को (आ भूपत) सु-भूषित करे, उसका गुणगान करे । हे (वृत्रहन्) विघ्ननिवारक ! सब से अधिक शत्रुओं का नाश करने हारे हे (ऋर्चापम) सब स्तुतियों में समानरूप से विद्यमान ईश्वर । (ब्रह्माणि) वेदस्तवन और वैदिक कर्म (सवनानि) यज्ञ यागादि सब उपासना कर्म तुझको ही (उप भूपत) शोभा देते हैं ।

१२ २२ ३ २ ४ ३ १ २ ३ २
[२७०] तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।

३ १२ २२ ३ २ १ ३ १ २ ३ १ २

सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिप्त्वा गोषु वृण्वते॥८॥

अ० ७ । ३२ । १६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (अवमं) सबसे नीचे का (वसु) बसने योग्य पृथिवी लोक भी (तव इद्) तेरा ही है । (त्वं) तू (मध्यमं वसु) बीच के लोक, अन्तरिक्ष लोक को भी (पुष्यसि) पोषण करता है । और तू आप (परमस्य) सब से उत्कृष्ट (विश्वस्य) ससार में (राजसि) प्रकाशमान है । अथवा—हे आत्मन् ! (अवमं वसु) निकृष्टतम प्राणि तेरा ही विकास है । (मध्यम) मध्यम श्रेणी के प्राणी को भी तू ही पुष्ट करता और (परमस्य) उच्च कोटि के प्राणी में भी तू ही प्रकाशित है । (त्वा) आपको (गोषु) समस्त गतिशील योनियों, लोकों, और आत्मपक्ष में—इन्द्रियों में से भी (नकि) कौन नहीं (वृण्वते) वरण करता ? अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा—नकि) कोई भी तुम्हें न वृण्वते) नहीं रोकता । तेरी शक्ति सर्वत्र व्यापक है ।

१२२३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२७१] कंयथ केदासे पुरुत्रा चिद्वि ते मनः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
अलपि युध्म स्रजकृत्पुण्ड्रं प्र गायत्रा अगासिपु ॥९॥

अ० ८ । १ । ७ ॥

भा०—हे (पुरन्दर) हे देहरूप अपने पुरी को अपनी शक्ति से विदारण करने हारे आत्मन् ! (क इयय) तू कहां २ गति करता है ? (क इत् असि) और तू कहा २ रहता है । (पुरुषा चित् हि) बहुत से स्थलों पर या इन्द्रियों के भीतर चित्स्वरूप में (ते) तेरी (मन०) मननशील स्वरूप शक्ति (अत्तर्हि) गति करती है । हे (युष्म !) हे विषयवापना या रागद्वेषादि से युद्ध करनेहारे ! हे (खजकृत्) ख=इन्द्रियों के द्वारों में उत्पन्न विषयग्राहक सामर्थ्यों के विधातः ! (गायत्रा०) स्तुति करनेहारे विद्वान् जन और प्राणराण (म अगासिषु) तेरी ही महिमा गाते हैं ।

३१२ ३१२ २२ ३२ ३१२
[५७२] वयमनमिदाह्योऽपीपेमह वज्रिणम् ।

१ २ ३१२ २२ ३२ ३२ ३१ २ ३०

तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुत ॥१०॥

अ० ८।६६।७॥

भा०—(वयं) हम (एनम् इत्) इस (वज्रिणम्) ज्ञानरूप वज्र को धारण करनेहारे आत्मा को ही (ह्य०) गत काल में (इह) इस देह में (आ अपीपेम) खूब ज्ञानरस पान कराते रहे । (अद्य) आज (श्रुते सवने) इस वेदानुकूल यज्ञ उपासना में (तस्मा उ) उस ही इन्द्र के लिये (सुत) ज्ञानरस या आनन्दरस को लाओ और (नून) निश्चय स (भूषत) उसकी शोभा बढ़ाओ ।

गत जीवन में भी ज्ञान सम्पादन किया, इस जीवन में भी करो और ज्ञान से उसकी शोभा करो । विद्यातपोभ्या मृनात्मा । मनु. ।

इति गष्टमी दर्शति । चतुर्थः खण्डः ।

॥ ६० ९ ॥ अपि—१, ६ पुनहन्मा । २ भर्गः ३ हरिमिठिः । ४ जमदग्नि ।

५, ७ देवातिथिः । ८ वसिष्ठः । ९ भरद्वाज । १० बालकिल्या ।

देवता-१-३ ४-८ १० इन्द्रः । ९ इन्द्राग्नी । ४ सूर्यः ॥

बृहती ॥ मध्यमः ॥

१२ २२ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २
[२७३] यं राजा चर्षणीना याता रथेभिरधिगुः ।

१ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
विश्वासां तरुता पृतनाना ज्येष्ठं या वृत्रहा गृणं ॥१॥

ऋ० ८ । ७० । १ ॥

भा०—(यः) जो (चर्षणीनां) द्रष्टा इन्द्रियों या मनुष्यों का (राजा) शासक, प्रकाशक या उनके बीच में स्वतः प्रकाशमान है और जो (रथेभिः) रथों करने, भोग करने के साधन देहों या प्रायेन्द्रियों से (याता) विषयों तक गमन करने हारा, (अधिगुः) इन्द्रियों पर वश करने हारा अधिष्ठाता है और (य) जो (वृत्रहा) सब अज्ञानों का नाशक, (विश्वासा) समस्त (पृतनाना) सेनाओं के समान वासनाओं तथा मनुष्यों का (तरुता) विनाशक या पार करनेहारा है उस (ज्येष्ठम्) सब से श्रेष्ठ आत्मा की मैं (गृणे) स्तुति करता हूँ ।

राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

'अधिगुः'—'अधिकृतशब्दस्य अधिभाव इति दे० य० । पृतना इति मनुष्यनाम । नि० २ । ४ ॥ सग्रामनाम च । नि० २ । १७ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२७४] यन इन्द्र भयामहे ननो नो अभयं कृधि ।

१ २ ३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २ २२
मधवञ्छाग्ध तव तक्ष ऊनय वि द्विषो वि सृधो जहि ॥२॥

ऋ० ८ । ६२ । १३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत) जिससे हम (भयामहे) भय करते हैं (न) हमें (तत्) उससे (अभयं) भयराहित (कृधि) कर । हे 'मधवन्' ! (तव-तत्) तेरा वह यत्न है कि (न, ऊनये) हमारी रक्षा के लिये (शधि) नू समर्थ है, हम कारण (द्विष.) नाना द्वेष करने हारे

३७४—'तवञ्छ कृतिनि.' इति ऋ० ।

[२७७] अश्वी रथी सुरूप इद् गोमान् यद्विन्द्र ते सखा ।
 श्वान्नभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप॥५॥

अ० द० ४ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यदा) जब (ते सखा) तेरा मित्र (अश्वी) बलवान् प्राण, इन्द्रिय सम्पन्न (रथी) उत्तम देहरूप रथ से युक्त (सुरूप.) उत्तम रुचि या कान्तिमान् रूप से युक्त और (गोमान् इद्) उत्तम ज्ञान इन्द्रियों और उत्तम धाणी से युक्त हो जाता है तब वह (सदा) नित्य ही (श्वान्नभाजा) धन धान्य से युक्त (वयसा) अपनी आयु से और (चन्द्रै.) आह्लादकारी या चिरकाल तक आनन्दकारी सज्जनों के साथ (सभाम्) तेरे समान कान्ति या सत्संग को (उपयाति) प्राप्त होता है ।

जितेन्द्रिय ज्ञानी, उत्तम प्रवृत्ति से युक्त पुरुष ही सत्संग से युक्त हो जाता है । राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

[२७८] यद्व्याव इन्द्र ते शतं शत भूमीरुत स्युः ।
 न त्वा वाजिन्त्सहस्र सूर्या अनु न जातमपरादसी ॥ ६ ॥

अ० द० ७० । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यद् व्याव. शत) यदि द्यौलोक भी सैकड़ों (उत भूमी. शत) और भूमिया भी सैकड़ों (स्यु) हों वे और हे (वाजिन्) सर्व शक्तिमन् ! (सहस्र सूर्या) हजारों सूर्य और (अपरादसी) यह सब ब्रह्माण्ड भी (वि अनु जातम्) तेरे पीछे पैदा हुआ (त्वा न अप) तुम्हें पूरी तरह से व्याप नहीं सकता ।

‘ज्यायान् पृथिव्या ज्यामानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लो-
 क्येभ्य’ इति बृहदा० उप० । ‘एकाशेन स्थित जगत्’ । गी० ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः (गी० ११।१२।)

[१७६] यादेन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा ह्यसे नृभिः ।

सिमा पुरु नृपूना अस्यानवसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥७॥

ऋ० ८। ४। ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) क्योंकि (प्राग्) प्राची दिशा में, पूर्व में (अपाग्) पश्चिम में, (उदङ्) ऊपर में (न्यग् वा) या नीचे सर्वत्र (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (ह्यसे) तेरी स्तुति की जाती है तू ही पुकारा जाता है । (सिम्-आ) सर्वत्र (पुरु) देहधारियों में (आनवे) प्राणधारियों में (तुर्वशे) इन्द्रियों के वश करने हारे योगियों या इन्द्रियों के अधीन मनुष्यों में भी तू (नृपूतः) नेता, उत्तम पुरुषों द्वारा अभिषिक्त नृपति के समान पूजित (असि) है ।

[२८०] कस्तमिन्द्र त्वावसवामर्त्या दधर्षति ।

श्रद्धा हि ते मघवान् पार्ये दिवि वाजं वाजं सिपासति ८

ऋ० ७। ३२। १४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! हे (वसो) सबको बसाने और सब में बसाने हारे ! (तं त्वा) उस स्मरण करने योग्य तुझको । कः नर्त्य) कौन पुरुष (आ दधर्षति) अपमानित कर सकता है । (वाजी) जानी पुरुष (श्रद्धा) सत्य धारण करने हारा, (मघवान्) यज्ञ कर्मादि और ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर (पार्ये दिवि) पार करने योग्य प्रकाश में, या संसार को पार करने हारे ज्ञानप्रकाश में रहता हुआ तेरे प्रति (वाजं) अपने ज्ञानमय भेट को (सिपासति) तेरे अर्पण कर देता है ।

१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २
[२८१] इन्द्राग्नौ अपादिय पूर्वांगात्पद्वतीभ्यः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

हित्वा शिरां जिह्वा रारपच्चरत्त्रिशत्पदान्यक्रमीत् ॥ ६ ॥

श्र० ६ । ५६ । ६ ॥

भा०—(इन्द्राग्नौ) इन्द्र वायु और प्राण और अग्नि सूर्य और आत्मा के बलपर (इयं) यह उपा या चित्-शक्ति (अपात्) बिना पैरों के भी (पद्वतीभ्यः) चरणवाली प्रजाओं से (पूर्वा) पूर्व ही (आगात्) आजाती है । (हित्वा शिरः) अपने शिर को त्याग कर (जिह्वा) अपनी व्यापन शक्ति ग्रहणशक्ति से (रारपत्) शब्द करती हुई (चरत्) गति करती हुई (त्रिशत् पदानि) तीस पद (अक्रमीत्) गति करती है ।

यजुर्वेद में इसका उपा देवता है । सायण ने उपा पक्ष में ३० पद ३० मुहूर्त कहे हैं । चितिशक्ति के पक्ष में ८ वसु ११ रुद्र और १२ आदित्य ये सब शरीर में ही हैं । उन पर वश करती है । यद्यपि ये ३१ हैं तो भी एकादश रुद्रों में दश प्राण ११ वा स्वय आत्मा है । अतः वह ३० प्राण ही गिने जायगे । आत्मा स्वतः चितिशक्ति से भिन्न नहीं । इन्द्र अग्नि उपा और ३० चरण सब मिलकर ३३ देवता हुए ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८२] इन्द्र नदीय एदिहि मितमेधाभिरूतमिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टाभरा स्वापे स्वापिभिः ॥१०॥

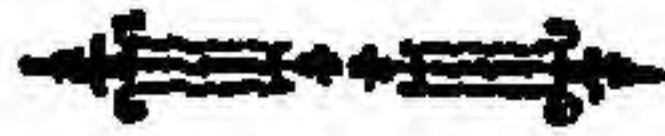
श्र० ८ । ५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मितमेधाभिः) ज्ञानयुक्त धारणावती बुद्धियों वाली (कतिभिः) अग्नी रक्षण शक्तियों के साथ तू (आ एहि इत्) हमें प्राप्त हो । हे (शन्तम) सुखकारक ! (शन्तमाभिः) अत्यन्त शान्तिदायक (अभिष्टिभिः) हमारी सुख कामनाओं सहित और हे (स्वापे) सुख को प्राप्त करने

२८१—'हित्वीशिरो जिह्वा वाचदन्' इति श्र० ।

हारे हे सुषन्धो ! (स्वापिभिः) सुखदायक शक्तियों द्वारा तू (आ) हमें प्राप्त हो ।

इति नवमी दशति । पञ्चमः खण्डः ।



॥ ८० १० ॥ अपिः—१ नृमेधः । २, ३ वसिष्ठः । ४ भरद्वाज । ५ परच्छेपः ।
६ वामदेवः । ७ मेध्यातिथिः । ८ भर्गः । ९, १० मेधातिथिमेध्यातिथि ॥
देवता १-४, ७-१० इन्द्र । ५ वरुणः ॥ बृहती ॥ मध्यमः ॥

३ ७ ३ १ २ ३ १ ७ ३ ७ ३ १ २

[२८३] इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।

३ १ २ २ ३ १ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आशुं जेतारं होतारं रथीतमममूर्तं तुम्रियावृधम् ॥१॥

अ० ८। ९६। ७ ॥

भा०—(व) आप लोग (ऊती) अपनी रक्षा के निमित्त (अजरं) कभी जीर्ण न होने वाले (प्रहेतारं) इन्द्रियों या विद्वानों को उच्चम रीति से प्रेरणा करने वाले, (अप्रहितम्) स्वयं किसी से प्रेरित न होने वाले, स्वतन्त्र, (आशुम्) सर्वव्यापक, अति शीघ्रगामी, (जेतारं) सबके विजेता, उत्कृष्ट, (होतारम्) ज्ञान और भोग के दाता । रथीतमम्) सब देहधारियों में सब से श्रेष्ठ, (अमूर्तम्) किसी से भी न मारे जाने वाले, अमर, (तुम्रियावृधम्) तमोनिवारक, ज्ञान के वर्धक, आत्मा की शरण में (इत) आओ । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में समाप्त है ।

१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ २ २

[२८४] मां पु त्वा वाद्यतश्च नारे अस्मन्निरीरमन् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

आरात्ताद्वा सधमादन्न आगहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥ २ ॥

अ० ७। १२। १ ॥

२८३—'तुम्रियावृधम्' इति अ० ।

२८४—'आरात्ताचित्' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वा) तेरे लिये (वाधतः) बल
करते हुए, ज्ञानवान् मेधावी पुरुषों, या इन्द्रियगण को (आरे) समीप
से (मा३ उ सु निरीरिमन् चन) क्या तू खूब नहीं रमाता है ? रमाता ही
है । इसलिये हे इन्द्र ! (आरात्-तात्) दूर से (वा) भी (नः सधमादं)
हमारे एकत्र रमण करने के स्थान, आत्मा, हृदय या कीड़ा भूमि, शरीर में
(आगहि) व्याप्त हो । (इह वा सन्) और यहाँ ही रहकर (उप श्रुधि)
हमारे वचन सुन ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८५] सुनोत सोमपात्रे सोममिन्द्राय वाज्रिणे ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २४ ३ १२ २२ ३१२ ३२
पचता पक्कौरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणने मयः ॥३॥

अ० ७ । ३२ । ८ ॥

भा०—हे विद्वानो ! हे इन्द्रियगण ! (सोमपात्रे) सोम का पान
करने हारे (वाज्रिणे) वज्र, तमोनाशक या वैराग्यसाधक साधनों
से सम्पन्न (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सोमं) सोम, आनन्दरस को
(सुनोत) उत्पन्न करो । उसके (पक्की) पक्वान, पक्वज्ञान परिपुष्ट
अनुभव (पचत) पकाओ, तैयार करो, प्राप्त करो । (अवसे) अपनी
रक्षा के लिये । कृणुध्वम्) बल करो । वह (पृणन् इत्) सध को पालन
करता हुआ ही (मय पृणत) सुख कल्याण करता है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२८६] य सन्नाहा विचर्षणिरिन्द्र तं ह्रमेह धयम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सहस्रमन्यो तुविनृम्या सत्पते भवा समत्सु नो वृधे ॥४॥

अ० ६ । ४६ । ३ ॥

भा०—(यः) जो आत्मा (सन्नाहा) सध जन्तुओं का नाशक और
(विचर्षणि) सध का द्रव्य है । (त इन्द्र) उस पेशवर्धवान् को (धयम्)

अर्थ—'सहस्रमन्यो' इति पाठभेदः, अ० ॥

हमारे) हम पुकारते, स्मरण करते हैं । हे (सहस्रमन्यो) सहस्रों
मन्युओं, ज्ञानों से युक्त । हे (तुविनृम्या) बहुधन ! हे (सत्यते) सज्जनों के
प्रतिपालक ! (समस्तु) हमारे आनन्द उत्सवों के अवसरों पर (नः वृधे)
हमारी उन्नति के लिये (भव) हो ।

देखो केनोपनिषद् में देवों की विजय-कथा ।

१ २ ३ २ ३ २
[२८७] शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्यतम् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
मा वा रातिरुपदसत्कदाचनास्मद्रातिः कदाचन ॥५॥

अ० १। १३९। ५ ॥

भा०—हे (शचीवसू) शक्ति स्वरूप धन से सम्पन्न ! अपने बलपर
सब को वास या जीवन को देने हारे प्राण और अपान स्वरूप अश्वियो !
या हे प्रज्ञा और कर्म के धनी स्त्री पुरुषों, (शचीभिः) अपनी शक्तियों
से (दिवानक्तं) रात दिन (नः दिशस्यतम्) हमें सम्पन्न करो । (वा
रातिः) आप लोगों की दानशीलता या आहुति (मा कदा चन उपदसत्)
कभी नष्ट न हो, न रुके और (अस्मद् रातिः) और हमारी दी आहुति
या दान भी (कदाचन मा उपदसत्) कभी नष्ट न हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८८] यदा कदा च भीदुप स्तोता जरेत मर्त्यः ।

१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
आदिहन्देत वरुणं विषा गिरा धर्त्तारं विप्रतानाम् ॥६॥

भा०—(भीदुपे) सकल संसार पर सुखों बलों, और ज्ञानों के वर्षक
ईश्वर के लिये (मर्त्यः) मनुष्य (स्तोता) स्तुतिकर्त्ता (यदा कदा च)
जब कभी (जरेत) स्तुति करे (आत् इत्) सब ही (विप्रतानान् धर्त्तारं)
नाना प्रकार के कर्मों के धारण करने हारे विरुद्धाचारियों को रोकने वाले

(वरुण) पाप निवारक सर्व श्रेष्ठ ईश्वर को (विषा गिरा) विशेष रूप से पालन करने वाली वेदवाणी से ही (वन्देत) स्तुति करे ।

३ १२ २ १ ३ २ ३ १ २

[२८६] पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यः सन्मि० लो हयोर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥७॥

श्र० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (मेध्यातिथे ।) मेधा, बुद्धि से गम्यमान, पवित्र अतिथे । विना किसी निर्दिष्ट काल के हृदय में विराजमान होने वाले अतिथि के समान पूज्य । या नित्य व्यापक परमात्मन् । (अन्धस, मदे) प्राण धारण करनेवाले पदार्थ के उद्योग या आनन्द लाभ के निमित्त (इन्द्राय) इस आत्मा के (गाः) इन्द्रियों की (पाहि) रक्षा कर । (य) जो (इन्द्रः) आत्मा (हयोः सन्मि० लः) दोनों प्रकार के वाह्य और भीतरी इन्द्रियों से संनिकर्ष को प्राप्त होकर (हिरण्यय) हित और सुखजनक ज्ञान लाभ करने वाला है वही (इन्द्र, वज्री) सब अज्ञानों का वर्जन करनेवाला आत्मा, (हिरण्यय) प्रकाशरूप ज्योतिर्मय ज्ञान का प्राप्त करनेवाला है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

[२६०] उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

सत्राच्या मधवान्तसोमपीतये त्रिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥

श्र० ८ । ६२ । १ ॥

भा०—(इन्द्र) आत्मा (न) हमारे (अर्वाग्) आभ्यन्तर मानस और (इदं च) इम प्रत्यक्ष, उच्चारण किये हुए, (उभय) दोनों प्रकार के (वच) वचनों को (शृणवत्) सुनने द्वारा (मधवान्) नाना गेश्वरों से सम्पन्न, (शविष्ठ) चलवान् आत्मा (सोमपीतये) परमेश्वर के द्विथे परमसुख

२८९.—‘पाहिगायान्धसो’ इति, एतद्वाक्यं इति सचा वज्रो रथो दिग्ययः’

इति च श्र० ।

रूप सोमरस पान करने के लिये (सग्राच्या धिया) सत्यानुकूल धुदि से सम्पन्न होकर (आगमत्) हमें प्राप्त हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६१] मह चन त्वाद्विवः पराशुल्काय दीयसे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

न सहस्राय नायुताय वज्रियो न शताय जतामघ ॥६॥

अ० ८ । १ । ५ ॥

भा०—(त्वाद्विवः) हे अन्धकार का हरण करने हारे ज्ञानवन् ! (वज्रिवः !) हे वज्र को धारण करनेहारे आत्मन् ! (मह चन शुल्काय) बड़े भारी मूल्य के बदले भी (न परा दीयसे) तुम्हको नहीं दिया जा सकता, तुम्हें त्याग नहीं किया जा सकता । हे सैकड़ों ज्ञानकर्मी से सम्पन्न ! (न जताय) न सौ के बदले और (न सहस्राय) न हजार के बदले, और (न आयुताय) न लाख के बदले ही तुम्हें दिया जा सकता है ।

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २

[२६२] वस्यो इन्द्रासि मे पितुरुत आतुरमुञ्जतः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

माता च मे हृदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

अ० ८ । १ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (अमुञ्जत) प्राप्त धन का भोग न करने वाले या मेरा पालन न करने हारे (मे पितुः) मेरे पिता से और (आतु) माई से भी आप (वस्यान् अग्नि) अधिक श्रेष्ठ, अधिक ऐश्वर्यवान् हो । हे (वसो) वसो ! भीतर बसेन हारे ! तू और (माता च) मेरी माता अववा सब विश्व को निर्माता तुम दोनों (समा) समान रूप से (मे) मुझ को (वसुत्वनाय) ऐश्वर्य लाभ करने और (राधसे) कार्य में सिद्धि प्राप्त कराने के लिये (हृदयथः) मेरा भोजन आच्छादन द्वारा पालन करते हो ।

इति दशमी दशतिः । पष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्ध प्रपाठकः, तृतीयः, प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

२६१—'परा शुल्काय देयाम' इति अ० ।

अथ चतुर्थ. प्रपाठक (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ द० १ ॥ अपि.—१ वसिष्ठ. । २, ६, ७ वामदेव. । मेधातिथिमेध्यातिथी विश्वामित्र इत्येके । ४ नोधाः । ५ मेधातिथि. । ८ श्रुष्टिगु. काण्वो. ।

बालसिल्या. वा । ६ मेध्यातिथि । १० नृमेधः ॥ देवता—१—६,

८—१० इन्द्र. । ७ बहु. ॥ गृह्णी ॥ मध्यमः ॥

उ १४ २२ ३ १ २ ३ १ २

[२६३] इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः ।

१२ २२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ २

ताँ आमदाय वज्रहस्त पीतये हरिम्यां याह्योक आ ॥१॥

अ० ७ । ६२ । ४ ॥

भा०—(इमे) ये (दध्याशिर) दधि से मिश्रित या ध्यान योग से प्राप्त (सोमासः) सोम, ज्ञान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुन्विरे) सम्पादित किये हैं, हे (वज्रहस्त) हाथ में ज्ञान रूप वज्र को धारण किये हुए आत्मन् ! (मदाय) अपने अन्तः प्रसन्नता हर्ष के लिये (तान् आ-पीतये) उनको साक्षात् पान करने के लिये (हरिम्या) ज्ञान और कर्म या दोनों प्रकार के इन्द्रियों से (ओकः) इस देह में (आ याहि) तू आ ।

उ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६४] इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मधो. पपान उप नो गिर. शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वण ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते मदाय) तेरे हर्ष के लिये (इमे) ये (उक्थिनः सोमाः) ब्रह्मज्ञान सम्पन्न सोम=विद्वान् जन या समस्त ब्रह्मानन्द रस (चिकित्रे) प्रतीत होते हैं । तू (मधो. पपान) ब्रह्मविद्या रूप मधु का पान कर । (न गिर) हमारी वेदवाणियों (उप शृणु) श्रवण कर । हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा भजन करने योग्य देव ! तू (स्तोत्राय) गुणकीर्तन करने हारे पुरुष को (रास्व) अभीष्ट फल दे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६२] आ त्वावेद्यं सर्वदुग्धां हुवे गायत्रवेपसम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रं धेनुं सुदुधामन्यामिषमुरुधाराभरङ्कृतम् ॥ ३ ॥

अ० ८।१।१० ॥

भा०—मैं (सर्वदुग्धाम्) सब प्रकार के ज्ञानरस को दुग्धरूप से देने हारी, (गायत्रवेपसम्) स्तुति गान करने हारे की रक्षा करने हारे शरीर वाली, (सुदुधाम्) सुगमता से दुही जाने योग्य (इषम्) अन्नस्वरूप अथवा वलस्वरूप (उरुधाराम्) बड़े भारी ब्रह्माण्ड को धारण करनेहारी या बहुत धाराएं वर्षाने वाली (अरङ्कृतं) अत्यन्त अधिक पर्याप्त धन धान्य पैदा करनेहारी या सुभूषित (इन्द्रं) परमेश्वर या आत्मारूप (त्वा) तुझ (धेनुं) गाय कामधेनु माता की (हुवे) मैं स्तुति करता हूँ ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३

[२६६] न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

यच्छिद्वासि स्तुवते मावते वसु न किपदा मिनाति ते ॥४॥

अ० ८।८८।३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार बिजुली को (बृहन्तः अद्रयः न वरन्ते) बड़े २ मेघ और पर्वत धरण करते हैं उसी प्रकार (त्वा) तुझको (वीडवः) वीर्य-सम्पन्न, (बृहन्तः) बड़े २ (अद्रयः^१) विद्वान् लोग (न वरन्ते^१) क्या स्वीकार नहीं करते ? करते ही हैं । अथवा वे (न त्वा वरन्ते) तेरा धारण नहीं करते, विरोध नहीं करते, तेरा निषेध नहीं करते, तेरी सत्ता स्वीकार करते हैं । (यत्) क्योंकि (मावते स्तुवते) मेरे

१ भक्षणार्थस्य अन्तेर्विदारणार्थस्य दृष्टान्तेर्वा रिन् प्रत्ययः । अस्ति तमः

इत्यद्रिर्ज्ञानी । न दीर्यते मोहादिना वा इत्यद्रिः सयमी ।

२९६—'यच्छिद्वासि' इति अ० ।

समान स्तुति करनेहारे पुरुष को तू (यत् वसु शिञ्चमि) जो वासयोग्य धन, बल प्रदान करता है (ते तद्) तेरे दिये उस धन को न कि. आ-मिनाति) कोई भी नाश नहीं कर सकता । विद्युत् पक्ष में बड़े २ (अद्वयः) मेघ या पर्वत भी उसको ढाप नहीं सकते ।

[२६७] ^{१ ३ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २} क ई वेद सुते सचा पिबन्त कव्यो दधे ।

^{३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २} अयं यः पुरो वि भिनत्योजसा मन्दान शिप्रयन्धसः ॥५॥

अ० ८ । ३३ । ७ ॥

भा०—(सुते) जीवनयज्ञ में (सचा) इन्द्रियगण के एक साथ (पिबन्त) सोम का पान करते हुए आत्मा को (क ई वेद) कौन जाने ? और कौन जाने कि (कव्यो दधे) वह कितनी आयु धारण करता है । (य०) जो आत्मा (शिप्री) वेगवान्, अपनी कर्मगति से एक देह से देह-न्तर में गमन करने द्वारा, (अन्धस० मन्दान०) अज्ञ द्वारा हर्ष को प्राप्त होता हुआ (ओजसा) अपने तेज से (पुर०) अपने भोग भूमियों, देहों को (वि भिनत्ति) तोड़ डालता है और मुक्त हो जाता है ।

देह में आत्मा इन्द्रियों के साथ रस भोगता है, परन्तु उसकी उन्न को कोई नहीं जानता । वह अपने कर्मगति से देहों में भ्रमण करता और अजरस को भोगता और ज्ञान से देहमुक्त हो जाता है ।

[२६८] ^{१ २ ३ १ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} यदिन्द्र शासो अत्रत च्यावया सदसस्परि ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

अस्माकमंशुं मघवपुरुस्पृहं वसव्ये अत्रिबर्हय ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! आत्मन् ! (यत्) क्योंकि (सदस०परि) हमारे देह, घर या सभा स्थान के पास रहने वाले (अत्रतम्) व्रत या नियम का पालन न करने हारे पुरुष का तू (शास) शासन कर और (च्यावय) अधिकार से च्युत करदे । हे मघवन् ! (पुरुस्पृहम्) इन्द्रियों या प्रजा के अग्नि

लापाओं के योग्य, उनके प्रिय, (अस्माकं) हमारे (अशु) भाग को (वसव्ये)
इस वास योग्य देह या देश में (अधि वह्य) और अधिक बढ़ा दे।

१ २ ३ ७ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ७

[२६६] त्वष्टा नो दैव्यं वचः पञ्चन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

३ १ २ २ २ ३ १ ७ ३ १ २ ३ २ ३ १ ७ ३ १ ७

पुत्रैर्भ्रातृभिरादितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वच ॥ ७ ॥

भा०—(त्वष्टा) समस्त संसार को गढ़ने वाला या कान्तिसम्पन्न
(पञ्चन्य) प्रजा जनों का बरसते मेघ के समान अत्यन्त हित करने हारा,
(ब्रह्मणस्पति) वेद और वेदज्ञों का स्वामी, (अदिति) किसी से भी
खण्डित न होने हारा, अखण्ड, परमेश्वर (नः दैव्यं वच) हमारे देव
सम्बन्धी वेदवाणियों की (पातु) रक्षा करे। वही हमारे (पुत्रैः भ्रातृभिः
सह) पुत्रों और भाइयों के साथ (दुष्टरं) दुस्तर (त्रामण) रक्षा करने
योग्य (वचः) प्रतिज्ञा वचन की (पातु) पालन करे।

३ ७ ३ २ ३ १ २ ३ १ ७ ३ १ २

[३००] कदाचन स्तरीरासि नेन्द्र सश्वसि दाशुषे ।

३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

उपोपन्नु मधवन् भूय इत्तु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ८ ॥

अ० ८।५१।७ ॥

भा०—हे आत्मन् ! आप (कदाचन) कभी भी (स्तरी न असि)
'हिंसक नहीं हैं। अथवा—आप (स्तरी) मृतवत्सा गौ के समान दूध न
देने हारे नहीं है। प्रत्युत, (दाशुषे सश्वसि) दानशील पुरुष को और भी
देते हो। हे मधवन् ! (ते देवस्य) तुम्हें देव का (दान, दान (उपोपन्नु इत्तु
नु) बराबर समीप ही समीप (पृच्यते इत्तु नु) प्राप्त होता ही रहता है।

३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ ७

[३०१] युद्धवाहिं वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।

३ १ २ ३ १ ७ ३ २ ३ २ ३ १ २

अर्वाचीनो मधवन्त्सोमपीतये उग्र कर्णमिरागदि ॥ ९ ॥

अ० ८।३।१७ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्तम्) उत्तम रीति से विघ्नों का नाश करनेहारे (इन्द्र) परमेश्वर ! आत्मन् ! तू (हरी) दोनों प्रकार के धारण और आकर्षण बलों और दोनों प्रकार के इन्द्रियगण को (युष्मद्) नियुक्त कर । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् ! (परावत) दूर देश या इन्द्रियों से अगम्य दशा से भी तू (उग्र.) अत्यन्त वेगवान् होकर (सोमपीतये) आनन्दरूप सोमपान करने के निमित्त (ऋज्वेभिः) दर्शन करनेहारे इन्द्रियसाधनों या मरुत् नामक प्राणों सहित (अर्वाचीनः) साक्षात् रूप में (आगहि) प्राप्त हो ।

२ ३ १२ २२ ३ १ २
[३०२] त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्ययः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २

स इन्द्र स्तामवाहस इह श्रुष्युष स्वसरमागहि ॥ १० ॥

श्र० ८ । ९९ । १ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्र को धारण करने वाले शक्तिमन् ! (भूर्ययः नरः) भरण पोषण करनेहारे नेता लोग, (ह्यः) पूर्वकाल में (त्वाम् इत्) तुझको ही (आ अपीप्यन्) पुष्ट करते थे । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (स्तामवाहसः) स्तुतिकर्त्ता या अन्न को धारण करने हारे पुरुषों की स्तुतियों को (इह) यहां (स) वह तू (श्रुषि) श्रवण कर और (स्वसर) स्वयं कर्मानुसार अर्थात् आत्मा के चल से चलने वाले स्वयं गति करने हारे देहरूप गृह में (आगहि) आ विराजमान हो ।

इति प्रथमा दशतिः । मसमः खण्ड ।



॥ द० २ ॥ अथि.—१, २, ७, ८ वमिष्ठः । ३ अभिनो वैवस्वतो । ४ प्रमृग्यः ।

५ मेधातिथिमेध्यातिथी । ६ देवातिथिः । ७ नृमेधः । १० नोधा ॥ देवता—४

—१० इन्द्र । १ उग्रः । २, ३ अदिवनो ॥ वृद्धो ॥ भवनः ॥

३०२—‘स्तोनवाहमामिह’ इति श्र० ।

[३०३] प्रत्यु^{१ २} अदर्श्यायत्यु^{३ २} च्छन्ती^{१ २} दुहिता^{३ २} दिवः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमा ज्योतिष्कृणोति सूनरी॥१॥

अ० ७।८।१।१॥

भा०—(दिवः दुहिता) सूर्य की प्रभा के समान प्रकाशमान परमात्मा से उत्पन्न हुई शक्ति (उच्छन्ती) अन्धकार को दूर हटाती हुई (प्रति उ अदर्शि) सबको दिखाई दे रही है । वह (मही) महान् विस्तारयुक्त होकर (तमः) अन्धकार को उपा काल के समान (अप वृणुते उ) दूर हटाती है । और वह (सूनरी) उत्तम नेत्री, पथदर्शिका (ज्योति कृणोति) सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देती है । यह मन्त्र मन्त्रमय वेदवाणी और प्रबुद्ध चित्ति शक्ति और उपा तीनों पर समान रूप से है । साधक की यह दशा ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा का उदयकाल कहा जाता है । यह आदित्यवर्ण पुरुष के दर्शन का पूर्वकाल है ।

^{३ १ २ ३ २ १ ३ २ १}
[३०४] इमा उ वां दिविष्टय उस्मा हवन्ते अश्विना ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १}
अयं वामहेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथ ॥२॥

अ० ७।७४।१॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! प्राण और अपान शक्तियो ! हे (उस्मौ) वास कराने हारो ! (इमाः दिविष्टयः) ये द्युस्थान या मस्तक में गति करने हारी सात हृन्दिषो (उ) मी (वा) आप दोनों की (हवन्ते) महिमा को बतलाती हैं । (अयं) यह मैं आत्मा या मन (अवसे) अपने जीवन की रक्षा के लिये (वाम्) आप दोनों को (अहे) पुनः २ भीतर से बाहर, बाहर से भीतर बुलाता हूँ । हे (शचीवसू) शक्ति द्वारा

चास कराने हारो । आप दोनों (विश विश) प्रति देह में (गच्छय)
गमन कर रहे हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०५] कुष्ठः को वाग्भिवना तपानो देवा मर्त्य ।
३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
घृता वामश्रया क्षयमाणोऽशुनेत्यमु आद्वन्यथा ॥ ३ ॥

भा०—[प्र० १] हे (अभिनौ) देह में व्यापक प्राण और अपान
(वाम्) आप दोनों (कुस्थ) कहा स्थित हो ? [प्र० २] (वाम्)
आप को (को मर्त्य) कौन मरणधर्मा पदार्थ (तपान्) तप्त करता है ।
[उत्तर १] (वाम्) आप दोनों (अश्रया) शरीर की भोजन करने की
शक्ति द्वारा (घृता) तापित होकर गति करते हो । [द० २] (यथा
आद्वन्) जिस प्रकार भोगों और ऐश्वर्यों का भोक्ता राजा, शासक (अशुना)
अपने समस्त देशव्यापी बल से (क्षयमाण) देश भर में विराजमान
होकर मृत्यों को चलाता है और तपाता है (इत्थम् उ) उसी प्रकार
(आद्वन्) व्यापक आत्मा (क्षयमाणः) देह में रहकर (अशुना) अपने
व्यापक भोग-कर्म शक्ति द्वारा आप दोनों को तपाता है, गति देता है । और
(अश्रया) अशाना और पिपासा द्वारा आप दोनों (घृता) पीड़ित होकर
उसके शासन में गति करते हो । (इसका विवरण देखो बृह० उप०
अ० १, ब्राह्मण २)

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०६] अथ वा मधुमत्तमं सुत सोमा दिविष्टिषु ।
१ २ १ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
तमश्विना पिबतं तिरो अन्ध धत्त रक्षां न दाशुष ॥४॥
अ० १ । ४७ । २ ॥

भा०—हे (अभिनौ) अभियो । प्राण और अपान । (वा) आप
दोनों के लिये (दिविष्टिषु) चेतनासम्पन्न इन्द्रियों की एपसाओं में, या

देवयज्ञों में (अयं) यह (मधुमत्तम) अत्यन्त मधुर (सोम०) सोमरस अन्न रस, ज्ञानरस (सुत०) सम्पन्न किया गया है । (तिरः शब्द) विगत काल के सम्पादित (तं) उसको (पिबतं) पान करो शरीर में ग्रहण करते हो और (दाशुषे) अपना ज्ञान या पदार्थ या प्राण को अपान में और अपान को प्राण में हविरूप से दान करने हारे साधक को (रत्नानि) रमणीय, सुखकारी साधन बल आरोग्य (धत्तं) प्राप्त कराओ ।

प्राणापान का यज्ञ देखो गीता (अ० ४। २६। ३०) और छान्दो० उप० अ० ३।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०७] आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नह ज्या ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भूर्णि मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिपत् ॥५॥

अ० ८। १। २० ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर (अहं) मैं (ज्या) उत्कृष्ट प्रशंसा योग्य (सोमस्य गल्दया^१) सोम की धारारूप वाणी से (त्वा) तुमको (सदा आ याचन्) नित्य प्रार्थना करता हूँ । (सवनेषु) यज्ञकर्मों और उपासनाओं में (मृगं न) सिंह के समान दुष्टों पर (चुक्रुधं) क्रोध करते हुए (भूर्णिम्) संसार भर के भरण करने हारे (ईशान) स्वामी जगदीश्वर की (क न) कौन नहीं (याचिपत्) प्रार्थना करता ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०८] अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्र पिपासनि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उपो नून युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृषहा ॥६॥

अ० ८। ४। ११ ॥

३०७—'मात्वा' इति 'याचन्नह गिरा' इति च अ० ।

१. गल्देति वाङ्माग (नि० १। ११) धमनयो वा इति (नै० ६। २४)

३०८—'उपनूयं' इति अ० ।

भा०—हे (अध्वर्यो) कभी नष्ट न होने वाले ! अहिंसित ! आस्थित मन ! अहंकार ! (सोम) सोमरूप आनन्दरस को (इन्द्र) आत्मा (पिपासति) पान करना चाहता है । (त्वं सोम दात्रय) तू उस आनन्दरस को चुआ, उत्पन्न कर । (वृषदा) विघ्न और तमों के निवारक आत्मा ने (नून) निश्चय से (वृषणा) सब काम्य सुखों की वर्षा करने हारे एवं बलवान् (हरी) हरणशील साधन, प्राण और अपान दोनों को (उपयुजे) जोड़ ही लिया है और वह (आ जगाम च) आभी गया है । साधक अपने अहंकारयुक्त आत्मा से सम्बोधन करता है । देखो प्राणाभि-होत्र उप० (ख० ४) 'अहंकारोऽध्वर्युः'

उ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
[३०६] अभीपतस्तदामरेन्द्र ज्यायः कनीयसः ।

उ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पुरुवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरे भरे च हव्यः ॥७॥

ऋ० ७ । ३२ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (ज्याय) सबसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ ! (कनीयसः) अपने से छोटे (ईपतः) आप से साहाय्य चाहने हारे मेरे लिये (तद् अभि आ भर) अच्छी प्रकार सब ओर से उस अभिलाषा योग्य पदार्थ को प्राप्त करा । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् (हि) क्योंकि आप (पुरुवसुः) अनेक प्रजाओं को वास कराने हारे (भरे भरे च) और प्रत्येक यज्ञ में (हव्यः) स्तुति योग्य हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[३१०] यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमाशीय ।

उ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तोतारमिदधिपे रदावसो न पापत्वाय रंसिपम् ॥८॥

ऋ० ७ । ३२ । १८ ॥

३०६—'मघवन्त्वनामि' इति ऋ० ।

३१०—'स्तोतारमिदधिपे रदावसो न पापत्वाय रसिपम्' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (यावत् त्वम्) जितने ऐश्वर्य का तू मालिक है—(यद्) यदि (एतावद्) इतना ऐश्वर्य (अहम्) मैं (ईशीय) प्राप्त कर लूं तो हे (रदावसो !) समस्त पदार्थों के देने हारे ! मैं (स्तोता-रम् इद्) स्तुति करने हारे, सत्य ज्ञान के दर्शाने हारे विद्वान् को ही (दधिपे) दे डालूं । (पापत्वाय) पाप के कर्मों के लिये (न रंसिषम्) कभी न दूं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३११] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुण्यतः ॥६॥

अ० ८। ६६। १।

भा०—हे (इन्द्र त्वं) तू (प्रतूर्तिषु) संग्रामों में या बल के कार्यों में (विश्वा स्पृधः) समस्त स्पर्द्धा करने हारी सेनाओं या दुर्वासनाओं के (अभि-असि) मुकाबले पर डट जाता है और उनको परास्त करता है । हे (तूर्य) शत्रु के नाश करने हारे ! (त्वं) तू (तरुण्यतः) हिसा करने की चेष्टा करने वाले शत्रुओं के प्रति (वृत्रतू असि) सब उपद्रवों का नाशक है । और तू ही (अशस्तिहा) शासन को न मानने हारे उद्दण्डों को नाश करने हारा (जनिता) प्रजाओं के पिता के समान है ।

१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[४१२] प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ ॥१०॥

भा०—(यः) जो तू परमेश्वर (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (दिवः) द्यौलोक के (सदोभ्यः) वास भूमियों से भी (परि) परे तक (प्ररिरिक्षे) दूरतक फैला हुआ है । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! इसलिये

३१२—'प्रहिरिषि' 'पिष अन्तेभ्यस्परि' 'अनुस्वया विवक्षिथ' इति च न्द० ।

(पार्थिवं रज) यह पृथ्वी लोक (त्वा) तुझ को (न विव्याच) कभी व्याप्त नहीं कर सकता । तू (अतिविश्वं) इस समस्त ब्रह्माण्ड को अतिक्रमण करके (ववक्षिथे) उसको वहन करता है, धारण करता है ।

इति द्वितीया दशति । अष्टमः खण्डः ।

॥द० ३॥ ऋषि — १, २, ६ वसिष्ठः । गातुरात्रेयो गृत्मयदो वा । ४ पृथुर्वैन्यः ।
५ सप्तगु । ७ गोरिवीनिः । ८ वेनो भार्गवः । ९ बृहस्पतिर्नकुलो वा ।

१० सुहोत्र ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् । नेवतः ॥

१ २ ३ ५ २ २ ३ ७ क २ २ ३ १ २ ३ १ २
[३१३] असावि दवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रा जनुपेमुवोच ।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वाधामासि त्वाह यश्व यज्ञैर्वोधा नः स्तोममन्धसा मदपु॥१॥
अ० ७ । २१ । १ ॥

भा०—(गो ऋजीकम्) इन्द्रियों द्वारा ऋजुना से प्रत्यक्ष रूप में, साक्षान् सम्बन्ध द्वारा प्राप्त (देव) दिव्य स्वभाव गुण युक्त, आनन्ददायक (अन्ध) ज्ञान, साम (असावि) प्राप्त किया । (इन्द्र) आत्मा (जनुपा) उत्पत्तिकाल से ही (इम्) अप्रत्यक्ष रूप में (अस्मिन्) इस ज्ञान में (उवोच) समवेत है, समवाय सम्बन्ध से है । अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है । हे । हर्यश्व ।) हरणशील भोग साधनों से सम्पन्न । (त्वा) तुझको (यज्ञे) ज्ञानयज्ञों अथवा अन्तर्यामियों द्वारा (वाधामासि) ज्ञान करते हैं । और तू (न) हमारे (स्तोत्रं) सत्य ज्ञान कथाओं को (अन्धस मदपु) सोमरूप ज्ञान की उत्कृष्ट आनन्द दशा में (बोध) जाना कर ।

१ २ २ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३१४] योनिष्ट इन्द्र सद्ने अकारिनमा नृभ पुच्छन् प्रयादि ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २
असो यथा नोऽविता वृथश्चिद्दे वसुनि ममदश्च सोमै॥२॥
अ० ७ । २४ । १ ॥

३१३—'वृषेय' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते सदेन) तेरे निवास योग्य गृह, इस देह में (योनिः अकारि) तेरे प्रकट होने का स्थान बना है । (तम्) उस स्थान पर हे (पुरुहुत) इन्द्रियों या बहुतसे भक्तों द्वारा निरन्तर स्मरण किये गये आत्मन् ! (नृभिः) अपने नेता, प्राणरूप मरुतों के सहित तू (आ प्र याहि) सब और से हटकर वहां ही प्रकट हो और (यथा) जिस प्रकार से (नः) हमारा (वृधः) बढ़ाने हारा (चित्) और (अविता) पालनकर्त्ता (असः) बन और (वसुनि) धन, आनन्द (दद) दान कर (सोमः च) और सोमों द्वारा (ममदः) आनन्द का उप-भोग कर ।

अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सा इन्द्रयोनिः । यन्नासौ केशान्तो विवर्तते व्यपोह्य शीर्षकपालं सत्यात्मप्राणारामं मनः आनन्दम् शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपास्त्व (तैत्तिरीयोपनि० अनु० ६ चक्षी १ ।)

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३१५] अद्दत्समसृजो वि खानि त्वमर्थवान् बह्वधानाँ अरम्यः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् सृजद्धारा अव यद्दानवान् हन् ॥३॥
अ० ५ । ३२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू ने (उत्सम्) ऊर्ध्वस्थान मूर्धा भाग को (अद्दः) विदारण किया, और (खानि) इन्द्रिय द्वारों को (वि-असृज.) तू ने स्वयं रचा और (त्वम्) तू ने (अर्थवान्) गति शील (बह्वधानान्) आघात प्रतिघात करते हुए प्राणों को (अरम्यः) व्यवस्थित किया । और (यद्) जब तू ने (महान्तं) बड़ाभारी (पर्वतं) पुरुओं वाला देह (विव.) प्रकट किया और (यत्) जो (दानवान्)

३१५—'अरम्य' इति, सृजोविधार अवदानव इन् इति च अ० ।

ज्ञान देने हारे इन प्राणों को (आवहन्) प्रेरित करता और (धारा-) ज्ञान स्मृतिरूप धाराओं को, या अक्षरस की धाराओं को, या इन्द्रिय नादियों को उन छिद्रों में प्रवाह रूप से (विद्युजद्) विशेष रूप से प्रेरित करता है। इसका स्पष्टीकरण ऐतरेयोपनिषत् १म, २य, ३य खण्ड में देखिये वहा ही इन्द्र का स्पष्टीकरण भी है। और देखो (बृहदारण्यक उप० अ० १ ब्रा० ४)

‘उत्स उत्तरणाद् उत्सहनाद्गोनत्तेर्वा (निरु० १० । १ । ५) स्नानि इन्द्रियाणि, (काठक उ०) । पराम्बि स्नानि व्यतृणत् स्वयभूः ।’ रम्याति विंसर्जनकर्मा, संयमनकर्मा वा (नि० १० । १ । ५)

[३१६] सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा मनिश्यन्तश्चिस्तुविष्मन् वाजम्।
आ नो भर सुवित यस्य कोना तनात्मना सह्यामी त्योता ॥४॥
श्रु० १० । १४८ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हम (वाजे सनिष्यन्तः) मोक्ष्य पदार्थ का सेवन करते हुए भी (त्वा सुष्वाणासः) तेरे लिये ही उनका रस सम्पादन करते हुए हम (स्तुमसि) तेरी स्तुति करते हैं। इसलिये (नः) हमारे लिये (सुवितं) उत्तम यज्ञ पेश्य को (आ भर) प्राप्त करा। (यस्य) जिसकी (कोना) कामना करते हुए हम (तना) स्वयं आपसे आप (त्वा उता.) तेरे से राबित रहकर या तेरे में विरोधे हुए रहकर (तना) मूल्य उत्तम २, विस्तृत अनुभवों को (आ सह्याम) प्राप्त करें। प्राणों का आत्मा के प्रति और मर्कों का ईश्वर के प्रति यह वचन है।

[३१७] जगृक्षा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूययो वसुपते वसूनाम्।
विश हि त्वा गोपनि शूर गानामस्मभ्यं चित्रं पुष्यं नयि दा ५
श्रु० १० । १० । १ ॥

३१६—‘चारुन्मना मना मनुवान इति श्रु० ।

३१७—‘इन्द्रभाने’ इति पाठभेदः श्रु० ।

भा०—हे इन्द्र ! (वयं वसुयवः) हम प्राणों की कामना या देह में स्वयं वसु होने की कामना करते हुए (ते) तेरा (दक्षिणं) दाया, क्रिया सम्पन्न (हस्त) हाथ (जगृह्य) ग्रहण करते हैं । हे (वसुना) वसुओं के बीच में (वसुपते) प्राणों के पालक ! आत्मन् (त्वा) तुमको (गोना गोपति) इन्द्रियों के बीच में इन्द्रियों के स्वामी के समान (विश्व दि) निश्चय से जानने हैं । (अस्मभ्यम्) हमें (धिन्) सदा बढ़ने वाले या चितिशक्ति से युक्त या ज्ञानसम्पादन करने वाले (वृषणं) सब सुखों के देने वाले, पुष्टिकारक (रयिं) प्राण, अन्न, बल (दाः) दा ।

३ १ २ ३ १ २

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[३१८] इन्द्रं नरो नमयिता हवन्ते यत्पार्या युनजते त्रियस्ता ।

३ १ २ ३ १ २

३ २ ३ १ २

३ १ २ ३ १ २

शूरो नृपाता श्वसश्चकाम आ गोमतिं व्रजे भजा त्वं नः ॥६॥

अ० ७। २७। १ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि आत्मा (पार्याः) व्यापार, चेष्टा करने वाले या भरणपोषण करने में समर्थ (त्रियः) ज्ञान और कर्तों की (युनजते) आयोजना, प्रबन्ध करता है इसलिये (नरः) विद्वान् लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा के समान परमेश्वर या आत्मा को नमयिता) संग्राम, यज्ञ, व्यवस्था की स्थापना के अवसर पर (हवन्ते) उमको बुलाते या स्मरण करते हैं । शूरः) शूरवीर (नृपाता) मनुष्यों का उचित विभाग करने द्वारा (चकमे) कामना करने वाले (गोमतिं व्रजं) हमारे अभिलषित गोओं के बाड़े के समान इन्द्रियों से सम्पन्न व्रज, गोष्ठ या देह में (त्वं) तू (नः) हमें (श्वसः) अन्न बल आदि (भजा) प्राप्त करा ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३१९] वयः सुवर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमंधा ऋषयो नाधमानाः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २

अप ध्वान्तमूर्खुहि पूर्व्वं चतुर्मुमुग्धस्मान्निधयेव यद्वान् ॥७॥

अ० ३०। ७३। १२ ॥

भा०—(वय०) दूर तक गति करने हारे, दूरदर्शी, (सुपर्णा०) उत्तम ज्ञान और बल की याचना करते हुए, (ऋषयः) विद्वान् लोग और आत्म-पक्ष में—इन्द्रिया (इन्द्रम् उपसेवु) इन्द्र आत्मा आचार्य, परमेश्वर के समीप शिष्य भाव से पहुँचे और कहने लगे (ध्वान्त) हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को (अप ऊर्णहि) दूर कर । (चक्षुः) हमारी आत्मा को (पूर्धि) शक्तिमान् कर, तेज से भर दे और (निधया इव वद्वान्) ज्ञान में बड़े हुए के समान हमको (सुमुनिध) मुक्त कर ।

इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, शिष्यों का गुरुजानी गुरु के प्रति, ऋषियों, ज्ञानियों का परमात्मा के प्रति यह वचन है ।

१ २ ३ २४ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
[३२०] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरग्युम् ॥८॥

अ० १० । १२६ । ६ ॥

भा०—हे ज्ञानस्वरूप । तेजस्विन् आत्मन् । (नाके) दुःख रहित मोक्षमार्ग में (हृदा वनन्त) अपने हृदय या मन से तेरी कामना करते हुए, (उपपतन्त) गमन करते हुए (हिरण्यपक्ष) हितकारी और मनोहर पक्षों या प्रार्थों या साधनों से युक्त, (वरुणस्य दूतं) सब पापों के वारण करने हारे जगदीश्वर के दूत, संदेश या ज्ञान को प्राप्त कराने हारे (यमस्य) सब के नियन्ता वायु या ईश्वर के (योनौ) प्रकट होने के स्थान या अन्तरिक्ष में (शकुनं) शक्ति से सम्पन्न, (भुरग्युम्) अमणशील वा सब के पालन पोषण करने हारे (त्वा) तुम्हको (यत्) जो (अभि-अन्न क्षत) सर्वत्र देखते हैं । इस आनन्दमय ब्रह्म आत्मा के नाना पक्षों का विवरण देखो तौत्तरीय उप० (आनन्दवल्ली अनु० १ से ६ तक) वहाँ इस शकुन के पक्षों और पुच्छ आदि का नाना रूप से प्रदर्शन कराया है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२१] ब्रह्म जगानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

क ३२ २ १ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सबुध्न्या उपमा अस्य विष्टा सतश्च योनिमसतश्च विवः ६

अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान् तेजस्वी परमात्मा (प्रथमं) सबसे प्रथम (जगानं) प्रादुर्भूत या प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (सीमं अतः पुरस्तात्) इस समस्त ससार की रचना के पूर्व ही (सुरुचः) उत्तम कान्तियों का (वि आवः) पुञ्ज बनाकर प्रकट करता है (सः) वह परमात्मा (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश (विष्टा) विशेष रूप से स्थिति करने हारे ब्रह्माण्ड को भी स्थापित करता है । और (सतः च) इस समस्त सत् रूप में प्रकट जगत् (असतः च) और अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल आश्रय को भी (विवः) वही प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२२] अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विरप्शिने वज्रिण शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः १०

अ० ६ । ३२ । १ ॥

भा०—विद्वान् लोग (महे वीराय) बड़े भारी वीर, (तवसे) बलवान्, (तुराय) वेगवान् (विरप्शिने) ज्ञानवान् (वज्रिणे) चिह्नों और उपद्रवों के निवारक, वज्र बल के धारण करने वाले, (स्थविराय) अचल कूटस्थ (अस्मै) हम परमात्मा के लिये (पुरुतमानि) बहुत से (अपूर्व्या) ।, उसको पूर्ण रीति से वर्णन करने हारे अपूर्व (वचांसि) नाना वचन (तक्षुः) प्रकट करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । नवमः खण्डः ।



॥ ६०४ ॥ अपि — १ २. ४ विरक्षीर्द्युतानो मरुतो वा । बृहदुक्थः । ५ वाम

देवः । ६ द्द यमिष्ठः । ७ विश्वामित्रः । ८ गोरिवीर्यः ॥ इन्द्रो देवता ॥

छन्दः १-५, ७-९ विराट् । त्रिपदा विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२३] अत्र द्रुप्लो अशुमनीमतिष्टदियान. कृष्णो दशभि. सहस्रै।

३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आवत्तमिन्द्र शच्या धमन्तमप स्नीहिति नृमणा अथ द्वाः१॥

ਸ਼ੁੱਭ । ੧੬ । ੧੩ ॥

भा०—(द्रव्य) द्रव्यशील, गतिमान्. (कृष्णः) विजेखन संक-
र्षण या संश्लिष्य करने द्वारा मुख्य प्राण (दशभिः) अर्थों को प्रकाशित
करने वाले (सहजैः) वेगवान् प्राणों सहित (ह्यानः) गति करता हुआ
(अंशुसतीम्) व्यापनशील चेतना से युक्त चित्तिशक्ति का (अव प्रतिष्ठत्)
आश्रय लेता है । (इन्द्रः) आत्मा (शब्दा धमन्तम्) अपनी शक्ति द्वारा
आस प्रवास लेते हुए (तम्) उसको (आवत्) प्राप्त होता है (नृमया)
सब नरों में मनन शक्ति रूप वह आत्मा (स्तीदिति) अवधारित करने हुए
उस प्राण को (अप अध धाः) नीचे अर्गों में भी प्रेरित करता है ।

प्राण की गति को अपान तथा अन्यान्य अधोगामी स्थानों में प्रेरण करने में आत्मा के संकल्प ही कारण है। इसको साधुआदि भाव्यकारों ने कृष्णासुर को मारने की कथा गढ़ कर लगाया है, यह असंगत है।

३१२ ३२ ३१२ ३१ २ ३१ २ ३१२ ११

[३२४] वृत्रन्व त्वा एवसंशान्तिमाणा विश्व देवा अजहुर्ये सभाय

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

३१२ ३ १ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २

मरुद्भिरिन्द्र सण्यं तं असम्बन्धेमा विभवाः पृतना जयासि२

क्र० ८ । ६६ । ४ । ४

भा०—(वृत्रस्य) आघरणकारी इस तामस देह के (असथाद्) आस प्रभास से (ईयमाणाः) गति करते हुए (विश्वे देवाः) सब देव-गण, मरुद्गण, अमुख्य प्राण, चक्षु आदि (ये) जो (सखायः) मित्र (त्वा) तुम्हको (अजहुः) छोड़ देते हैं अन्तर्मुख न होकर बहिर्मुख हो जाते हैं, तो भी हे आत्मन् ! (ते सख्य, तेरा मैत्रीभाव (मरुद्भिः) उन प्राणों इन्द्रियों से (अस्तु) बना ही रहता है । (अस्य) इसी कारण (इमा) इन (विश्वाः) समस्त (पृतनाः) भरण पोषण योग्य प्राणियों के देहों को (जयासि) तू अपने वश रखता है ।

ईप् गतिर्दिसादर्शनेषु, भ्वादिः । ईप् उञ्छे, भ्वादिः । पृतना इति मनुष्यनाम, (नि० २।४।)

उ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[३२५] त्रिधुं दद्राण समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २२ ३ २ ३ १२ २२
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥३॥

अ० १०।५५।५॥

भा०—(त्रिधुं) विधमनशील, धौकनी के समान विशेष रीति से शरीर में गति करने वाले, (समने) समान रूप से प्राण धारण करने के कार्य में (बहूनां) बहुतों को (दद्राणं) गति देने वाले, (युवानं सन्तं) युवा, बलशाली होते हुए मुख्य प्राण को भी (पलितः) पुराण पुरुष आत्मा (जगार) अपने भीतर लीन कर लेता है । (देवस्य) उस आत्मदेव के (काव्यं) ज्ञान—सामर्थ्य को (पश्य) देख (ह्यः) जो भूत काल में (समानः) निरन्तर जीवित रहा, (स अद्य) वह आज भी (महित्वा) उस 'स्व' अपने महिमा या बड़प्पन में (ममार) अपना प्राण को त्याग देता है अर्थात् उसमें ही लीन हो मुक्त हो जाता है ।

देखो स्पष्टीकरण उपनिषदों के अप्यय-प्रकरण एकायन-प्रकरण और स्व महिमा में संप्रतिपत्ति प्रकरण ।

परमेश्वर पक्ष में—(विधु) चन्द्र को जिस प्रकार पूर्ण हो जाने के बाद भी सूर्य अमावास्या में अस्त लेता है उसी प्रकार (बहूनां) बहुत से प्राणों के बीच में सबसे अधिक (युवान सन्तं) युवा अति बलवान् सत् स्वरूप आत्मा (विधुं ददायां) चन्द्र के समान आल्लाहकारी एवं गतिशील आत्मा को (पालितः) सर्वव्यापक, पुराण परमेश्वर (जगार) अपने भीतर ले लेता है (देवस्य) उस महान् परमेश्वर के बनाये (काश्यं परय) इस संसारमय ज्ञानस्वरूप कवि विद्वान् परमेश्वर की बनाई रचना को देख कि (आद्यममार) जा अज मरता है (सः) वह (ह्यः) फिर दूसरे दिन (समानः) प्राण धारी होकर जीता है । अर्थात् पुनः जन्म लेता है । और जो ही जगत् अबनष्ट होता है वह पुन. बनता है ।

देखो अथर्व० पालित सूक्त । का० ६ । १ । १० ॥

२ ३ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३२६] त्वं ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र ।
 ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 गूढं द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः॥४॥
 अ० ८ । ९६ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं ह) तू ही (जायमानः) प्रकट होते समय (त्यत्-सप्तभ्यः) उन सातों (अशत्रुभ्यः) कभी न सोने दारे, निरन्तर चलने वाले शर्पिण्य प्राणों को (शत्रु) एकमात्र सुलाने वाला, अपने में लीन करने हारा, या शातयिता, उनके वंग को कम करने हारा या उनको इन्द्रियरूप में शिरोदेश में फोड़कर बनाने वाला (अभवः) है । और उसके बाद तू ही (गूढं) गुहा या बुद्धि में स्थित (द्यावा पृथिवी) अन्तरिक्ष एवं सूर्य और पृथिवी के समान मूधाभाग और शेष शरीरभाग को (अन्व विन्दः) प्राप्त करता है । और (विभुमद्भ्यः) सत्तावान् बलवान्, (भुवनेभ्यः) प्राणों से (रणं) रमण, विनोद, आनन्द की मात्रा स्वयं (धाः) धारण करता है, अर्थात् भोग करता है ।

३ ५२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [५२७] मेडि न त्वा वज्रिणं मृष्टिमन्तं पुरुषस्मानं वृषभं स्थिरप्सुम्
 ३ ५२ ३ १ २ ३ ५२ २२ ३ १ २ ३ १ २
 करोष्यस्तस्मिन् रूपीर्दुवस्युरिन्द्र ध्रुवं वृत्रहणं गृणीषे ॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (दुवस्यु.) परिचर्या, सेवा की इच्छा करने वाला तू (अयं :) अपनी गतिशील इन्द्रियों को (तरुपीः) पदार्थों या भोग्य विषयों तक चले जाने योग्य (करोषि) कर लेता है। इस कारण मैं (मेडि न) मेल करने वाले योगी के समान (वज्रिणं) वर्जन करने वाले बल वैराग्य द्वारा सब पदार्थों के ज्ञानपूर्वक संग त्याग से सम्पन्न (मृष्टिमन्तं) पापों को भून देने वाली परिपक्व, सम्यग् बुद्धि से युक्त (पुरुषस्मानं) इन्द्रियों को आश्रय देने वाले (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ (स्थिर-प्सुम्) कूटस्थ, अचल, नित्य, ध्रुव (ध्रुवं) प्रकाशस्वरूप, (वृत्रहणं) तम-स्वरूप देहबन्धन को नाश करने वाले (त्वा) तेरी मैं (गृणीषे) स्तुति करता हूँ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३२८] प्र वां महेमहे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्रसुमति कृणुध्वम् ।
 १ २ ३ १ २ २ ३ २
 विशः पूर्वीः प्रचर चर्षणिप्राः ॥ ६ ॥

अ० ७। ३१। १० ॥

भा०—(वः) आप लोग (महे वृधे) महिमा से बढ़ने वाले (महे) बड़े भारी आत्मा के लिये (प्र भरध्वं) उत्तमरूप से इष्ट पदार्थ अन्न और ज्ञान का संग्रह करो (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न आचार्य आत्मा या परमेश्वर के निमित्त (प्र सुमति) उत्तम २ विचार या मनन (कृणुध्वम्) किया करो। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (चर्षणिप्राः) विद्वानों को ज्ञान से पूर्ण करने वाले आप (पूर्वीः विशः) पास करने वाली श्रेष्ठ धर्मात्मा प्रजाओं के पास (प्र चर) उत्तमरूप से आओ, प्राप्त होओ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
 [३२६] शुन हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नत्तमं वाजसातौ ।
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानि॥७॥

अ० ३ । ३० । २२ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस (भरे) भरण पोषण करने हारे (वाज-
 सातौ) अन्न और ज्ञान के साधन कार्य में (शुन) ज्ञानसम्पन्न, सर्व-
 व्यापक, (मघवानम्) ऐश्वर्यसम्पन्न, (नत्तम) सबसे उत्तम नेता, (शृण्व-
 न्त) सबकी प्रार्थनाओं को सुनने हारे (उग्रम्) दुष्टों के प्रति उग्र स्वभाव
 वाले (समत्सु) सम्राटों और उत्सवों में (वृत्राणि) उपद्रवकारियों को
 (घ्नन्तं) नाश करने हारे, (धनानि) नाना विभूतियों को (संजितं)
 स्वयं जीतने हारे (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा के समान (समत्सु) योगज हथों
 या आनन्द प्राप्ति के अवसरों में (वृत्राणि घ्नन्तम्) आचरणकारी तामस
 भावों का नाश करने वाले और (धनानि संजितम्) ऐश्वर्यों पर विजय
 करने वाले आत्मा और परमेश्वर को (हुवेम) हम स्मरण करें, पुकारें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३३०] उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वनिष्ठ ।
 १२ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 आ यो विश्वानि श्रवसा ततानां पशोता म ईवतो वचासि ॥
 अ० ७ । २३ । १ ॥

भा०—हे (वनिष्ठ) चागू ! या विद्वन् ! (श्रवसा) ज्ञान की प्राप्ति
 के लिये (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों का (उदु ऐरत) उच्चस्वर से पाठ कर ।
 (समर्ये) यज्ञ आदि विद्वानों की संगति में (इन्द्रं) उस परमात्मा की
 (महय) उपासना कर (यः) जो (श्रवसा) अपने सामर्थ्य से
 (विश्वानि) समस्त ब्रह्माण्डों को (आततान) रचता है और (यः) जो
 (मे) मुझ (ईवतः) ज्ञानी पुरुष के (वचासि) वचनों को (उप श्रोता)
 समीपतम होकर श्रवण करता है ।

उ १२ २२ उ १२ २२ उ १२ २२ उ १२ २२
 [३३१] चक्रं यदस्याप्स्वानिषत्तमुतां तदस्मै मध्विचच्छद्यात् ।
 उ १२ २२ उ १२ उ २ उ १२ २२ उ १ २
 पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोवदधा ओषधीषु ॥६॥
 अ० १० । ७३ । ६ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर का (यद्) जो (चक्र) सृष्टिक्रम
 (अप्सु) प्रजाओं में (आनिषत्तम्) विद्यमान है । (उत उ) और (अस्मै)
 इस सृष्टिचक्र के लिये (मधु इत्) विशेष मधुर, अन्नादि जीवनरस को
 ही (चच्छद्यात्) गुप्तरूप से रखता है और (यद्) जो (ऊधः) ऊपर
 उठा हुआ रस का भण्डार, समुद्र, मेघ और पर्वत (पृथिव्यां) इस पृथिवी
 पर (अति-सितं) खूब मलपूर्वक वधा हुआ है उससे ही वह (गोषु)
 गौओं में और (ओषधीषु) ओषधियों में (पय) पान करने योग्य रसको
 (अदधाः) आधान करता है ।

अन्न से प्राणयोग्य, मेघों से अन्न, यज्ञ से मेघ, कर्म से यज्ञ, ब्रह्म से
 कर्म, अक्षर से ब्रह्म, ऐसा 'चक्र' है, देखो (गी० अ० ३ । १४, १५)

इति चतुर्थी दशति । दशमः खण्डः ।

॥ द० ७ ॥ अग्निः—१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः । २ मृगो भरद्वाजो वा । ३ वासुको
 विमदो वा । ४-६, ६ वामदेवः । ७ विश्वामित्रः । ८ रेणुः । १०
 गोतमः ॥ देवता—१-६, ६, १० इन्द्रः । ७, ८ पर्वतेन्द्रौ ॥

त्रिष्टुप ॥ धेवत ।

उ ३ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २
 [३३२] त्यमूषु वाजिनं देवजुतं सहोचानं तरतारं रथानाम् ।
 १ २ उ १ २ उ २ उ २ १ २ उ १ २
 अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥
 अ० १० । १७८ । १ ॥

३३२—तूर्णमश्नुते इति तार्क्ष्यः । तार्क्ष्य इति अश्वनाम । नि० १ । १४ ॥

भा०—हम लोग (त्व) उस (वाजिन) ज्ञान, वेग, कर्म से युक्त, (देवजूनं) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों से पूजित, तर्पित, (सहोचानं) सहनशीलता एवं बल से युक्त, (रथाना तरुतारं) इन रथरूप देहों या गतिशील नक्षत्रों और ग्रह उपग्रहों को गति तथा परस्पराकर्षण की अद्भुत व्यवस्था द्वारा चलाने हारे, (अरिष्टनेमिं) शुभ मार्ग में सबको नियम में संचालन करने हारे, (पृतनाजं) सब मनुष्य प्रजाओं के भीतर प्रकट होने हारे, (आशुं) सर्वत्र व्यापक या कर्मफल के दाता या भोक्ता (तार्क्ष्यम्) अत्यन्त वेगवान् या व्यापक परमात्मा और आत्मा का (इह) यहां इस अन्तःकरण में (आहुवेम) आह्वान करते हैं ।

[३३३] ^{३ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहव सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
^{३ २ ३ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} हुवे नु शक्रं पुरुहुतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा धत्विन्द्र ॥२॥
 अ० ६ । ४७ । ११ ॥

भा०—(त्रातारम् इन्द्रं) अक्षादि से पालक परमेश्वर को, (अवितारम् इन्द्रं) रक्षक ईश्वर को और यज्ञों, उपासनाओं से (सुहव) सुख से योग्य, या सुगमता से स्मरण करने योग्य, (शूरं) वीर्यवान् (इन्द्र) परमात्मा को, (शक्रं) शक्तिमान् (पुरुहुत) इन्द्रियों या प्रजाओं से पूजित (इन्द्रं) परमात्मा और आत्मा को (नु) ही (हुवे) मैं स्तुति करता हूँ । (इदं हविः) इस योग्य स्तुति को (मघवा) वह ऐश्वर्ययुक्त प्रभु (इन्द्रः) आत्मा (वेतु) स्वीकार करे ।

[३३४] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २} यजामह इन्द्रं वज्रदाक्षिणं हरीणां रथ्याश्च विव्रतानाम् ।
^{१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ २ २ ३ १ २ २} प्र शमश्रुमिदो धुवदूधवा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राघवा ॥३॥
 अ० १० । २३ । १ ॥

३३३—'शूरमिन्द्र', 'हवामि शक्र', 'धास्विन्द्र', इति अ० ।

३३४—'रथ्य विव्रतानान्', 'प्रमश्रुमिदो', 'दयमानो' इति अ० ।

भा०—(वज्रदण्डिणं) विघ्नो और पापों के निवारण करने के कार्य में चतुर, (विप्रतानां) निकम्मे या विपरीत कर्मों में जाने वाले (हरीणा) इन्द्रियों के (रथ्या) उत्तम सारथी (इन्द्रं) आत्मा की ह्रम (यजामहे) उपासना करते हैं । वह (इमश्रुभिः^१) शरीर में व्याप्त शिराओं द्वारा सबको (दोधुवद्) गति देता हुआ (ऊर्ध्वधा) सब से उच्च (भुवद्) रहना हुआ सेनापति के समान (सेनाभिः) अपनी आसकारिणी सेनाओं, के समान बन्धनरज्जुओं द्वारा (विराधसा) विशेष साधना द्वारा (भयमानः) सब को कंपाया करता है ।

उ २ उ १ २ उ उ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[३३५] सप्राहणं दाधृषिं तुष्टमिन्द्र महामपारं वृषभ सुवज्रम् ।

उ २ उ १ २ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
हन्ता या वृत्रं सनितात वाजं दाता मघानि मघवा सुराधा ॥४॥

अ० ४ । १७ । ८ ॥

भा०—(सप्राहणं) सब विघ्न और उपद्रवों के नाशक (दाधृषिं) सबको दवाने वाले (तुष्टं) सबके प्रेरक, (अपारं) अपार, (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ, (सुवज्रं) उत्तम वज्र को धारण करने वाले, (महाम्) बड़े भारी और (य. वृत्रहन्ता) जो वृत्ररूप अज्ञान को मारता (उत वाज सनिता) ज्ञान और अज्ञ का विभाग कर देनेहारा, (सुराधा.) उत्तम साधनों और धनों से सम्पन्न या उत्तमरूप से आराधन करने योग्य, (मघानि दाता) ऐश्वर्यों और कर्मफलों को देनेहारा है उसको (इन्द्रं) 'इन्द्र' कहो, जानो ।

१ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[३३६] यां नो वनुष्यन्मभिदाति मर्त्त उगणा वा मन्यमानस्तुरा वा ।

उ २ उ १ २ २ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोता ॥५॥

१. इमनि शरीर शेरत इति इमश्रुभिः शिराः । इम शरीर निरु० ३।१।५ ।

भा०—(यो मर्त्त) जो मनुष्य (वनुष्यन्) मारने की इच्छा से (न , अभिदाति) हम पर प्रहार करता है । (उगणा वा मन्यमानः) या अपने को बहुतसे योद्धाओं सहित बलवान् मानता हुआ, (तुरो वा) या आवेश में आया हुआ, (विधी) प्राणविनाशक (युधा) हथियार से या (शवसा) बल से हमारे प्रति (अभिदाति) आता और प्रहार करता है, हे परमेश्वर ! सेनापते ! (श्वोता.) हम तेरे से रक्षित होकर (वृषमण.) खूब पुष्ट शरीर होकर (तम्) उस दुष्ट के प्रति (अभि-स्याम) मुकाबले पर दृढ़ जायें और उसे दबावें ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३७] यं वृत्रेषु क्षितय स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते ।

१२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् य विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्र॥६॥

भा०—(यं) जिसको (वृत्रेषु) उपद्रव और विप्लवों के अवसर पर या ज्ञान के आवरण करनेहारे कारणों के उपास्थित होने पर (क्षितय.) देश निवासी प्रजाएं और देह की इन्द्रिया (स्पर्धमानाः) एक दूसरे से बढ़ने की इच्छा करने हारी (हवन्ते) स्तुति करती हैं, (य) जिसका (युक्तेषु) संग्रामों में या योगक्रियाओं में योगरत पुरुषों के बीच (तुर-यन्त) परस्पर हिंसा करते हुए या व्युत्थान दशाओं पर या विघ्नेषु पर विजय करते हुए साधक (हवन्ते) स्मरण करते हैं । (यं शूरसातौ) जिसे शूरवीरों के संग्राम में स्मरण किया जाता है । (यम् यपाम्) जिसको प्रजाओं के बीच में पुकारा जाता है और (यम् उपज्मन्) जिसको भूमि पर अन्न आदि लाभ के लिये पाट किया जाता है और (य विप्रास.) जिसको ज्ञान के अभिलाषी विद्वान् लोग (वाजयन्ते) स्तुति करते हैं (स इन्द्र.) यह 'इन्द्र' है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २३ ३ १ २ २ ३ १ २
 [३३८] इन्द्रापर्वना वृहता रथेन वामीरिष आवहतं सुदीराः ।
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
 वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिड्या मदन्ता ॥७॥

अ० ३ । ५३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! और हे (पर्वत) सबको पूरण,
 पावन और नृस करने हारे परमेश्वर ! आप दोनों (वृहता रथेन) बड़े रथ
 या रमण साधन के द्वारा (सुदीरा.) उत्तम वीर्यसम्पादक या, उत्तम स-
 न्तानजनक, (वामीः) मनोहर । इष.) अस्त्रादि भोग्य पदार्थ (आवहतं)
 प्राप्त कराओ । हे (देवा) दोनों दानशील देवो ! (अध्वरेषु) यज्ञ आदि
 हिसारहित जीवोपकारी कार्यों में (हव्यानि) आदान योग्य पदार्थों को
 (वीतं) स्वीकार करो । (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा और (इड्या) अन्न
 के उत्तम अंशों से (मदन्ता) प्रसन्न, नृस होते हुए (वर्धेथा) पुष्ट होओ ।
 अध्यात्म पक्ष में इन्द्र=आत्मा और पर्वत=शरीर, आधिभौतिक में इन्द्र=
 सूर्य, पर्वत=मेघ या विद्युत् और पर्वत ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
 [३३९] इन्द्राय गिरो आनशितसर्गा अपः प्रेरयत् सगरस्य बुधात् ।
 १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
 यो अक्षरेणैव चक्रियौ शुचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥
 अ० १० । ८६ । ४ ॥

भा०—जो परमेश्वर (सगरस्य बुधात्) अन्तरिक्ष के प्रदेश या ऐन्द्रा
 से मेघ के समान (अपः प्रेरयत्) जलों को नीचे वर्षण करता है और (य.)
 जो (अक्षरेण) धुरे के बल पर (चक्रियौ इव) दो चक्रों के समान शची-

३३८—'मदन्ताम्' इति पाठः कालिकाणा अजमेरादि मस्तरणगतः प्रामादिकः ।

सायणादिभाष्यविरोधादसंगतेश्च ।

३३९—'चक्रियौ' इति अ० ।

भिः) अपनी शक्तियों से (पृथिवीम् उत धाम्) पृथिवी और धौलोक को (तस्तम्भ) थामे हुए हैं । उस (इन्द्राय) सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिये (अनिशितसर्गाः) अखण्डित रचना वाली (गिर.) वेदवाण्या स्तुति करने हारी हैं ।

उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ १ २
[३४०] आत्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरुचिदर्शान् जगम्याः॥

उ १ २ २ ३ १ २ उ २ उ १ २ २ २ उ १ २ २ २
पितुर्नपातमादधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरा दीद्यानः ॥६॥

अ० १० । १० । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सखायः) तेरे समान ख्याति चाहने वाले, तेरे स्नेही (सख्या) मित्रभाव से (त्वा) तुम्हको (आववृत्यु.) प्रेम करते हैं या अपनाते हैं । तू (तिर.) तिर्यग् योनियों में (पुरु) इन्द्रियों या प्रजाओं में (चिद्) चेतनावान् होकर (अर्णवम्) देह में (जगम्याः) प्रविष्ट है, उसको प्राप्त है । तू (अस्मिन् क्षये) इसनिवासयोग्य देह में (प्रतरा) अति उत्तम प्रकार से (दीद्यान) प्रकाशमान होता हुआ, (वेधा) ज्ञान सम्पन्न होकर (पितु.) सबके पालन करनेहारे परमेश्वर के समान (पात) हमारी रक्षा (आदधीत) कर । इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा या परमेश्वर के प्रति कथन है ।

२ उ १ २ उ २ उ उ २ उ १ २ उ १ २ उ २
[३४१] को अद्य युक्ते धुरि गा क्रनस्य शिमीधतो भामिनो दुर्हणायून् ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २ २ २ उ २ उ २ उ १ २
आसन्नोषामप्सुवाहो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् १०

अ० १ । ८४ । १६ ॥

३४०—' नित्सखाय सख्या, ववृत्या तिरः पुरुचिदर्शनं जगन्वान् । पितुर्नपातमादधीत वेधा अथि क्षमि प्रतर दीद्यान.' । इति अ० ।

१. यमी अपि, अग्वेदे ।

३४१—'आसन्नोऽहो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्' इति अ० ।

भा०—(अद्य) वर्तमान में (ऋतस्य) इस गतिमान् जीवित देह-
रूप रथ के (धुरि) धुरा में (शिमीवतः) कामना करने हारे (भामिनः)
आवेश से युक्त, (दुः-हृणायुन्) दुःशील (अप्सुशहः) अपने अभिलाषित
पटायों में शरीर को लेजाने वाले (मयोभून्) सुख उत्पन्न करनेहारे
(गाः) बैलों के समान, इन्द्रियों को (कः) कौन (युक्ते) लगाता है ?
(एषां आसन्) इनके मुख में (यः) जो (एषां) इनकी (मृत्या)
मरण पोषण सामग्री को (ऋणधत्) उत्तम रूप से देता है और उनका
पालन पोषण करता है (सः) वह ही (जीवात्) जीवन धारण
करता है ।

इति पञ्चमी दशनिः । एकादशः खण्डः ।



॥ ६० ६ ॥ ऋषि.—१ मधुच्छन्दाः । २ जेता माधुच्छन्दसः । ३, ६ गौतमः ।

४ अत्रिः । ५, ८ तिरश्चीः । ७ काण्वो नीपातिथिः । ९ विश्वामित्रः ।

१० अंयुर्वाहिस्पत्यः ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ १४ २५ ३ २ ३ १ २
[३४२] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।

३ १ २

३ २ ३ १ २

ब्रह्माणस्त्या शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

अ० १ । १० । १ ॥

भा०—हे शतक्रतो ! (त्वा) तुझको (गायत्रिणः) गान करनेहारे
उद्गाता, सामगायक (गायन्ति) गान करते हैं । (अर्किणः) ऋग्वेदी
विद्वान् (त्वा अर्चन्ति) वेदमन्त्रों द्वारा तेरे गुणगान करते हैं । (ब्रह्माणः)
और अथर्ववेद या चारों वेदों के विद्वान् ब्रह्मा लोग (त्वा) तुझको (वंशम्
इव) अपने वंशधर, प्रथम पुरुषा के समान (उद्वं येमिरे) उद्वकोटि पर
मानते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३४३] इन्द्रं विश्वा अनीवृधन्तसमुद्रव्यचसं गिरः ।
 ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २
 रथीतमं रथीना वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ २ ॥

अ० १ । २१ । १ ॥

भा०—(विश्वा- गिरः) समस्त वेदवाणिषां (समुद्रव्यचसं) आ-
 काश के समान सर्वत्र व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) महारथियों में सर्वश्रेष्ठ
 महारथी के समान देहधारियों में सब से विराट् देह, ब्रह्माण्ड को धारण
 करनेवाले, सबके प्रेरक, (वाजानां) सब ज्ञानवान् पुरुषों के (सत्पतिं)
 सच्चे स्वामी, या सज्जनों के पालक और (पतिं) सबके पालक (इन्द्रं)
 परमेश्वर को (अनीवृधन्) बढ़ा कहती हैं, उसकी महिमा को बढ़ाती हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३४४] इममिन्द्रसुतं पिव ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा अतस्य सादने ॥ ३ ॥

अ० १ । २४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (इमे) इस (अमर्त्यं) मरणधर्मी पुरुषों को प्राप्त
 न होने वाले, या कभी नष्ट न होने वाले, दिव्य, (ज्येष्ठं) सब से उत्कृष्ट,
 (मदं) आनन्दस्वरूप, (सुतं) योगज ज्ञानसम्पन्न रस को (पिव) पान
 कर । (अतस्य) सत्य ज्ञान के (सादने) उत्पन्न होने की स्थिति में
 (शुक्रस्य) शुद्धस्वरूप, शुक्ल, कान्ति की (धारा-) धारणाशक्ति, धारा या
 प्रवाह (त्वा) तेरे प्रति (अभि अक्षरन्) बहते हैं ।

पतञ्जलि ने योगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—‘निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्म-
 प्रसादः’ । जिस पर व्यासदेव ने लिखा है “अशुद्ध्यावरणमन्तापेतस्य
 प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छ- स्थितिप्रवाहो
 वैशारद्यं । यदा निर्विचारस्य समाधिदैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवति
 अध्यात्मप्रसादः । मूलार्थविषयः क्रमानुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः’ । अतः

भरा तत्र प्रज्ञा । (पात० सू०) तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते
तस्या 'श्रुतंभरा' इति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा । नच तत्र विषयसं-
ज्ञानगन्धोऽपि ॥” इमी प्रकार ऐतरेय उप० में भी लिखा है । अर्थात् नि-
र्मल चित्त होजाने पर स्वच्छ स्थिति प्रवाह होजाता है तब योगी के सत्य-
ज्ञान का प्रज्ञा-नमन खुल जाता है ।

३ २ ३०३ ३ १ २
[३४५] यदिन्द्र चित्रं मे इह नास्ति त्वादानमद्विवः ।

३ १ २ ३ १ २
राधस्तन्नो विद्वत्स उभया हस्त्याभर ॥ ४ ॥

अ० ५। ३९। १ ॥

भा०—हे अद्विवः ! सब अन्धकारों को दूर करनेहारे इन्द्र ! (मे)
मेरा (इह) इस संसार में (यद्) जो (त्वादातं) तेरे से दानरूप में
प्राप्त करने योग्य (नास्ति) नहीं हुआ है (तद् राधः) वह धन या सिद्धि
हे (चित्र) पूजनीय ! हे (विद्वत्सो) विद्वानों के एकमात्र प्राणस्वरूप !
(न.) हमें (उभया हस्त्या भर) दोनों हाथों से, दिला खोलकर दे ।

३ १ २ २ ३ ३० ३ १ २ ३ १ २
[३४६] शुभी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यनि ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूद्धिं महौ असि ॥ ५ ॥

अ० ८। ६५। ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (त्वा) तुम्हें (सपर्यन्ति) उपासना
करता है उस (तिरश्च्या) पूर्ण रूप से शरीर में गति करनेहारे प्राण, या
पूर्ण ज्ञानी साधक की (हवं) स्तुति का (शुधि) श्रवण कर, स्वीकार
कर । हे इन्द्र ! तू (महान् असि) बड़ा है, इसलिये (सुवीर्यस्य) उत्तम
वीर्यसम्पन्न (गोमतः) पशु एवं इन्द्रिय और वाणी आदि से युक्त (रायः)
धनों और ज्ञानों से हमें भर दे ।

३४५—‘यदिन्द्र चित्रं मेह नास्ति’ इति अ० ।

१ २ ३ १ २ ४ १ २ ३ १ २
[३४७] असावि साम इन्द्र ते शनिष्ठ घृण्णवागहि ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्तिन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥ ६ ॥

अ० १ । ८४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (ते) तेरे लिये (सोमः) सोम, ऐश्वर्य और ज्ञानानन्द (असावि) उत्पन्न किया जाता है । हे (शनिष्ठ) अति वलिष्ठ ! हे (घृण्णो) सबको परास्त करनेहारे ! (आगहि) आ जा, समीप आ जा । (इन्द्रिय) यह इन्द्रिय और चित्त अथवा तेरी विभूति या ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (सूर्य न) सूर्य जिस प्रकार (रश्मिभिः) अपनी रश्मियों से (रजः) इस ब्रह्माण्ड को पुर वेता है उसी प्रकार (आ पृणक्तु) सब ओर से भर दे ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[३४८] एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ७ ॥

अ० ८ । ३४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! अपने (हरिभिः) ज्ञान प्राप्त करानेहारे साधनों, इन्द्रियों से (कण्वस्य) कर्णों से संचित इस वेद, या देही, या प्रज्ञावान् आत्मा की (सु स्तुति) उत्तम स्तुति या उपभाग को (उप आयाहि) प्राप्त कर और भोग कर । हे (दिवावसो) अपने तेज से प्राणरूप होकर यत्नेहारे जीव ! (अमुष्य) उस तेरे (दिव) इस बौलोक को (शासता) शासन करनेवाले जगदीश्वर के (दिव) दिव्य कान्ति को (यय) चला, ना, प्राप्त कर ।

३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[३४९] आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुनेषु गिर्वेण ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अभि त्वा समनूपत गावो घत्स न धेनवः ॥ ८ ॥

अ० ८ । ९५ । १ ॥

भा०—हे गिर्वणः ! वेदवाणियों द्वारा ज्ञान करने योग्य (सुतेषु) योगसाधनों में, यज्ञों में (गिरः) वेदवाणियां (रथीः इव) वेगवान् रथारोहियों के समान (त्वा अस्थुः) तेरे ही प्रति आ जाती हैं । (गावः) ये वेदवाणियां (धेनवः चत्सं न) गौपं जैसे अपने बछड़े के प्रति आती हैं उसी प्रकार (त्वा अभि सम् अनूपत) तेरी ही प्रत्यक्षरूप से स्तुति करती हैं ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५०] एनो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥ ६ ॥

अ० ८। ६५। ७ ॥

भा०—हे विद्वानो ! आप लोग (आ इत) आओ, (नु) और (शुद्धं इन्द्रं) विद्या और तप से पवित्र (शुद्धेन साम्ना) स्वरसंस्कारों से शुद्ध सामगान द्वारा, (शुद्धैः उक्थैः) पवित्र ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा (वावृध्वांसं) महिमा से बड़े (इन्द्रं) परमेश्वर को (स्तवाम) स्तुति करें । (शुद्धैः) शुद्धिजनक तपों से यह (आशीर्वान्) शुभ आशीर्वादों से युक्त होकर (ममत्तु) आनन्द प्रसन्न रहे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३५१] यो रयिं वां रयिन्तमो यो धुर्मर्धुम्वत्तमः ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमः सुतः स इन्द्र तंसस्ति स्वधापने मदः ॥ १ ॥

अ० ६। ४४। १ ॥

भा०—(यः) जो स्वयं (रयिन्तमः) सबसे उत्तम ऐश्वर्य, है और (यः धुर्मे) जो कान्तिशो, ओजों और ऐश्वर्यों से (धुम्वत्तमः) अत्यन्त

३५०—'शुद्ध आशीर्वान्' इति अ० ।

३५१—'यो रयिवो' इति अ० ।

१ २ ३ १, ३ १ २ ३ २
[३५३] आ नो वयो वयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम् ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
महान्तं पूर्वनेष्ठाम् । उग्र वचो अपावधीः ॥२॥

भा०—(नः) हम लोग (वयःशयं) जीवन भर को समाप्त करने
हारे, कालरूप. (महान्तं) बड़े भारी, (गह्वरेष्ठाम्) हृदयगुहा में स्थित,
(वय) जीवनप्रद. (वयःशयं) जीवन भर में व्यापक वक्त को (आ)
हमें प्रदान कर । और (पूर्वनेष्ठां) प्रारम्भ काल से संसार को नियम से
चञ्चल करने वाले (महान्तं) उग्र महान् परमेश्वर की हम स्तुति करते हैं । हे
पुरुष ! (उग्र वचः) उग्र वचनों को (अपावधीः) दूर मार भगा ।
और सौम्यगुण सीख के सब हृदयों में महान् प्रभु का आवास जानकर
और उसी को समस्त संसार का व्यवस्थापक जान कर किसी को कठोर
वार्त्ता से मत सता ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३५४] आ त्वा रथं यथोत्तमं सुस्नाय चर्तयामसि ।

३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ १ २
तुविक्राममृतीपहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥ ३ ॥

अ० ८।६८।१॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार से हमें (रथं) अपने हंस रमणसां-
धन=रथरूप देह को (सुस्नाय) उत्तम मनन करने योग्य ज्ञानरूप धर्म
की प्राप्ति के लिये (आचर्तयामसि) पुनः धारण करते हैं, उसी प्रकार हे
(शविष्ठ) बलवान् ! (तुविक्रमिम्) नाना प्रकार के महान् कष्टों के सम्पा-
दन करनेवाले (मृतीसहं) इन्द्रियों और दुःखदायी विषयों के अभिभावक,
(सत्पति) सज्जनों के स्वामी, (त्वा) तूफ परमेश्वर को भी (आचर्त-
यामसि) बार २ अपने में धारण करते हैं । मोक्षार्थ ज्ञानप्राप्ति के लिये

जहां पुनः २ जन्म ग्रहण करना आवश्यक है वहां मोक्ष के लिये पुनः भगवदाराधन भी आवश्यक है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[३५५] स पूर्यो महोनां चेन क्रतुभिरानजे ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे ॥ ४ ॥

श्र० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—(सः) वह (चेनः) विद्वान् (महोनां) पूजनीय पुरुषों में से भी (पूर्यः) सबसे पूर्व, पूजा के योग्य है जो (क्रतुभिः) कर्मों और ज्ञानों द्वारा (आनजे) सबको प्रेरित या प्रकट करता है । (यस्य द्वारा) जिसको साधन बनाकर (मनुः पिता) मननशील स्वामी, परमात्मा (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (धियः) अपनी बुद्धियों को (आनजे) प्रेरित करता है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[३५६] यदी वहन्त्याशवो आजमाना रथेष्व ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २

पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥ ५ ॥

भा०—(यद्) जहां और जब भी (रथेषु) रथसाधन या वेग-चान् साधनों पर, गतिशील इन्द्रियों के आश्रय (आशवः) शीघ्रगामी मरुद्गण, प्राण्यगण (आजमानाः) कान्तिमान्, तेजस्वी होकर (ई) इस आत्मा के (मदिरं) पुष्टिकर (मधु) ज्ञान या आनन्द की मात्रा को (पिबन्तः) पान करते हुए (वहन्ति) पहुंचा देते हैं, वे (तत्र) वहां (श्रवांसि) वेदवचनों, अनाहत नादों को (कृण्वते) साक्षात् करते हैं ।
जैसा कहा है—

“आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञा लभते योगमुत्तमम् ।”

(योग व्या० भा० । सू० ४८)

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३५७] त्यमु वो अप्रहृणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥ ६ ॥

अ० ६।४४।४॥

भा०—(वः) आप लोगों के प्रति मैं (त्यम् उ) उस ही (इन्द्र) श्रेष्ठवान्, (विश्वासाहं) सब को सहन करने हारे, (नरं) नेता, (शचिष्ठं) सब से अधिक शक्तिमान्, (विश्ववेदसं) सबको जानने हारे, सर्वज्ञ, (अप्रहृणं) किसी से न मारा जाने हारे, (शवसस्पति) बल के द्वारा सबके पाक्षक स्वामी की (गृणीषे) स्तुति करता हूं, उसका उप-देण करता हूं ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३५८] दधिक्राव्णो अकारिपं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुरमि नो मुखा करत् प्र न आयूंषि तारिपत् ॥७॥

अ० ४।३६।६॥

भा०—(जिष्णोः) सब पर विजय प्राप्त करने हारे, (वाजिन बलवान्, (अश्वस्य) सर्वव्यापक, (दधिक्राव्णः) शरीर को धारण करके योनि से योनि में गति करने हारे आत्मा, अथवा ब्रह्माण्ड भर को स्वयं धारण करके चलाने हारे परमेश्वर का (अकारिपं) मैं वर्णन करता हूं । वह (नः) हमारे (मुखा) रूपादि विषयों को भीतर लेने वाले मुख, इन्द्रियों को (सुरमि) उत्तम रूप से कार्य करने हारे, बलवान्, कर्पा निपुण, (करत्) करे और (नः आयूंषि) हमारे जीवों को (प्र तारि-पत्) तार दे, कृतार्थ करे, बढावे ।

३५७—'नर महिष्ठ विश्वचर्षणिम्' इति अ० ।

उ २ उ १२ २४ उ १२ २२
[३५६] पुरां भिन्दुर्युवा कविरामितौजा अजायन ।

२ उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ २
इन्द्रा विश्वस्य कर्मणा धर्ता वज्री पुरुषदुनः ॥ ८ ॥

अ० १ । १२ । ४ ॥

भा०—(पुरां भिन्दु) समस्त देहों को कारण में लय कराकर उनका भेदन कराने द्वारा, सबको मुक्ति देनेद्वारा, (युवा) सबका सगी, (कवि) सबके हृदयों के भीतर का भी जानने द्वारा, क्रान्तदर्शी, मेधावी (अमितौजा) अनन्तशक्ति और बल से युक्त, (विश्वस्य कर्मण धर्ता) समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य को धारण करने द्वारा (वज्री) सबका संहारक, सर्वशक्तिमान् (पुरु-स्तुत) सबसे स्तुति करने योग्य, एकमात्र उपास्य देव (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमेश्वर ही है ।

इति सप्तमी दशतिः । प्रथमः खण्डः ।



॥ द० ८ ॥ अ०—२, ३, ५ प्रियमेधाः । २, १० वामदेवः । ४ मधुच्छन्दाः ।

६ भरद्वाज । ७ अग्निः । ८ प्रस्तावः । ९ आप्त्यस्त्रिः ॥

देवता—१-७ इन्द्रः । ८ उषा । ९ विश्वेदेवाः । १०

अरुमामे ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[३६०] प्र प्र वस्त्रिष्टुममिपं चन्दद्वीरायेन्द्रवे ।

उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २
धिया वो मेघसानये पुरन्ध्या विवासनि ॥ १ ॥

अ० ८ । ६९ । १ ॥

भा०—(व) आप लोग (चन्दद्वीराय) दीर्घों से सम्मानित, (इन्द्रवे) ऐश्वर्यशील आत्मा का (त्रिष्टुमं) मन वाणी और कर्म तीनों द्वारा प्रशंसित, (इपं) सोम आदि अन्न या अभिलाषित कामनाओं को (प्र प्र)

उत्तम रीति से प्रकट करो । (पुरं-धी) इस देह या ब्रह्माण्ड रूप पुर को धारण करने हारी (धिया) उत्तम धारणावती बुद्धि से वह आत्मा (मेघसातये) पवित्र ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये (वः) आप लोगों को (आ विवासति) संयुक्त करता और अभिलषित फल प्रदान करता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३, २ ३ २ ३ १ २

[३६१] कश्यपस्य स्वर्विदा याचाहुः सयुजाविति ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

ययोर्विश्वमपि त्रतं यज्ञं धारा निचार्य ॥ २ ॥

भा०—(स्वर्विदः) ज्योतिः स्वरूप सुख को साक्षात् करनेहारे (धीरः) विद्वान् लोग (यौ) जिन प्राण और अपान को (कश्यपस्य) योगी, साधक, दृष्ट आत्मा के (सयुजौ) नित्य के सहयोगी, साथी (आहुः) बतलाते हैं और (ययोः) जिनके (विश्वम् अपि) सभी (त्रतं) कर्मों को (यज्ञं निचार्य आहुः) जीवन या प्राणापानमय यज्ञ के निमित्त ही निश्चय करते हैं ।

॥ सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात प्राण, अपान, चित्त और अहंकार, मन, बुद्धि आदि साथी समझने चाहियें । आविदैविक पक्ष में मित्रावरुण, सूर्य और मेघ खेने चाहियें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६२] अर्चत प्रार्चना नरः प्रियमेधासो अर्चत ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ २

अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् घृण्वर्चत ॥ ३ ॥

अ० ८ । ६९ । ८ ॥

भा०—हे (प्रियमेधासः) उत्तम बुद्धि वाले (नरः) पुरुषों ! आप (पुरम् घृण्वं इद्) इस पुर, ब्रह्माण्ड और इस पिण्ड को धारण करनेहारे आत्मा और परमात्मा की ही (अर्चत) स्तुति करो, (प्र अर्चत) और उत्तमरूप से गुणगान करो और (अर्चत) उपासना करो । हे (पुत्रका-)

पुरुषों को दुःखों से त्राण करने हारे लोगो ! उसी की (उत अर्चन्तु)
प्रार्थना उपासना किया करो ।

उ १२ २२३ २ ३ १२ ३ १ २
[३६३] उक्थमिन्द्राय शंस्य चर्द्धनं पुरु निष्पिधे ।

उ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शक्रो यथा सुतेषु नो रारणत् सख्येषु च ॥ ४ ॥ ऋ० १ । १० । १ ॥

भा०—(पुरु निष्पिधे) इन्द्रियों या प्रजाओं में सब प्रकार की गति
देनेहारे, व्यापक (इन्द्राय) आत्मा की (चर्द्धनं) महिमा दर्शाने वाला,
(उक्थं) वेदमन्त्र (शंस्य) उच्चारण करना चाहिये । (यथा) जिससे
(शक्रः) वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर (सुतेषु) हमारे पुत्र पौत्रों या यज्ञों में
और (सख्येषु च) मित्रों और मित्रता के कार्यों में भी (नः) हमें
(रारणत्) प्रसन्न रखे ।

उ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] विश्वानरस्य वरूपतिमनानतस्य शवसः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एवैश्च चर्पणीनामूनी हुवे रथानाम् ॥ ५ ॥

ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) इन्द्रियगण ! या प्रजाओ ! (विश्वानरस्य)
समस्त संसार के नेता, (अनानतस्य) किसी से न हारने वाले, (शवसः)
बल के (पतिं) पालक ईश्वर को (चर्पणीना) सब प्रजाओं के (एवैश्च)
व्यवहारों के लिये और (रथाना उतये) इन देहस्वरूप रथों की रक्षा के
लिये (व) आप लोगों को (हुवे) आह्वान करता हूँ ।

उ १ २ ३ १ २२ ३ १ २ २२ ३ १ २
[३६५] स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तम्य शमतः ।

उ १२ २२३ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो धंहो न तरनि ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । २ । ४ ॥

३६५—‘अथ यस्ते सुदानवे धियामर्त्त शमतः । ऊतीष०’ । इति ऋ० ।

भा०—हे ईश्वर ! (य०) जो (दिवो नरः) द्यौलोक नेता, सूर्य के समान ज्ञान से प्रकाशमान पुरुष (ते) आपके (धिया) ध्यान करने से (शमतः) शान्तवृत्ति (मर्तस्य) पुरुष के (स वा) अनुकूल व्यवहार करता है (सः) वह (बृहतो दिवः) महान् दिव्यस्वरूप, परम पुरुषरूप आपकी (कृती) रक्षा में ही (द्विपः) अपने आगे आने वाले सब अप्रिय पदार्थों को (अंहः न) पाप के समान (तरति) पारकर जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३६६] विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो ।

१ २ ३ १ २
अथा नो विश्वचर्षणे शुम्नं सुदन्नं मंहय ॥ ७ ॥

अ० ५ । सू० १ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (विभोः) नाना सामर्थ्यवान् (ते) तेरे (राधसः) धन की (रातिः विभ्वी) दानराशि बड़ी भारी है । हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों और कर्मों से सम्पन्न ! हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के दष्ट ! हे (सुदन्न) उत्तम दाता ! (नः) हमें भी (शुम्नं) उत्तम धन (मंहय) दान करो ।

यजु० अ० ३० में इस विचित्र धन का विभाग दर्शनीय है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[३६७] वयश्चिसे पतत्रिणो द्विपाञ्चतुष्पादर्जुनि ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उपः प्रारक्षतूरनु दिवो अन्तेभ्यरुपरि ॥ ८ ॥

अ० १ । सू० १ । ३ ॥

भा०—हे (अर्जुनि !) गमनशील ! हे रश्मियों, कान्तियों से सम्पन्न (उपः) प्रभात वेला के समान हृदय के अन्धकारों को नाश करने वाली प्रज्ञे ! (ते ऋतून् अनु) तेरी प्रेरणाओं के पीछे (दिवः) द्यौः, सूर्य के

समान तेजस्वी आत्मा, या प्रकाशित मूर्धाभाग के (अन्तेभ्यः परि) दि-
शाओं के परले सिरे या प्रान्तभागों से। (पतत्रिणः) उबनेहारे (वयः-)
पक्षिगण के समान परमहंस विद्वान्गण, और अध्यात्म में इन्द्रियगण
(द्विपात्) और दो पाये मनुष्य और (चतुष्पात्) चौपाये पशु (चित्) भी
(भारन्) गति करते हैं। यह उषा के रूपक में चितिशक्ति का वर्णन किया
गया है। द्यौः=मूर्धा। पतत्रि=ज्ञान इन्द्रियगण। द्विपात्=हाथ, चतुष्पाद=
पैर आदि। विशोका प्रज्ञा का उदय ही उषा का उदय कहा गया है।

उ १२ २२३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[३६८] अमी ये देवा स्थन मध्य आरोचने दिवः।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

कद् अतं कद्मृतं का प्रत्ना व आहुतिः ॥ ६ ॥

अ० १ । १०५ । ५ ॥

भा०—(ये अमी देवाः) जो ये देवगण (आरोचने) कान्तिमान्
(दिवः मध्ये) द्यौलोक के मध्य में (स्थन) विद्यमान हैं। हे देवो ! मैं
आप से प्रश्न करता हूँ कि (वः) आप लोगों का (अतं कद्) सत्य २
तत्त्व क्या है ? (कद् अमृतम्), आपका अमृतस्वरूप किस प्रकार का है ?
(वः) आपको (प्रत्ना) प्राचीन (आहुतिः) स्मरण करने और तर्पण
करने का पदार्थ क्या है ? अर्थात् आपका प्राचीन मूलमूल नाम और
वास्तविक द्रव्य क्या है ?

इन तीनों प्रश्नों के क्रम से उत्तर देखिये अ० १ । सू० १०५ । मन्त्र
१२, १५, १६ ।

उ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६९] ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते ।

१२ २२

३ २ ३ १ २

वि ते सदसि राजतां यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥ २० ॥

भा०—(याभ्यां) जिन ऋग्वेद और सामवेद से (कर्माणि) यज्ञ
आदि समस्त संसार के कर्म (कृण्वते) करते हैं उन (ऋच) ज्ञानमय

अग्नेद और (साम) सर्वत्रव्यापक, सामवेद का (यजामहे) हम स्वाध्याय करते हैं । (ते) वे दोनों (सदसि) यज्ञों और सभाओं में (राजतः) विराजते हैं और (देवेषु) विद्वानों में (यज्ञं) यज्ञ दानादि को (वि वृत्त) वहन करते हैं, प्राप्त कराते हैं ।

इति अष्टमी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ।

॥६० ९॥ अपि—१, रेभः । २ सुवेदाः शैरिशिः, सुवेदः शैलुषिर्वा । ३ वामदेव । ४, ७, ८ सव्यः सत्यो वा आङ्गिरसः । ५ विश्वामित्र । ६ कृष्णः कृष्टो वा आङ्गिरसः । ६ मरद्वाजः । १० मेघातिथिः । ११ कुत्सः ॥ देवता—१—८, १०, ११ इन्द्र । ९ धावापृथिवी ॥ छन्दः—१—६, ११ जगती । १० महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—१—९, ११ निषादः । १० पञ्चमः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[३७०] विश्वा.पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
ऋत्वे वरे स्थेमन्यासुरीमुतोऽग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥

अ० ८। १७। १० ॥

भा०—(विश्वा) समस्त (पृतनाः) व्यापार करनेहारे (नरः) नेता लोग (सजू) परस्पर मिलकर (अभिभूतरं) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न को अपना स्वामी (ततक्षुः) बनाते हैं और (राजसे) अपने अधिक उन्नतरूप से शोभा पाने के निमित्त (वरे) अत्यन्त उत्तम (स्थेमनि) स्थिर (ऋत्वे) कार्य में (आसुरीम्) सब विघ्नकारियों के संहारक (उग्रं) उग्र (ओजिष्ठं) कान्तिसम्पन्न, बलवान् (तरसं) घेनवान्, (तरस्विनं) आलस्यरहित, चतुर पुरुष को (इन्द्रं

३७०—'ऋत्वा परिष्ठ वर आसुरि', 'सर्वे' इति क० ।

जजनुः च) अपना इन्द्र प्रभु भी प्रकट करते हैं । अध्यात्मपक्ष में-इन्द्रियों ने जीव को अपना स्वामी चुनते हैं । देखो (बृहदारण्यक उप० ६ । १ ।)

१ २ ३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ४ ३ १ २ ३ २ ३ २
[३७१] अत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्दस्युर्नर्यं विवेरप ।

२ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

उमे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसात्ते शुष्मात्पृथिवीचिदद्रिव २

ऋ० १० । १४७ । १ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) अखण्ड ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (प्रथमाय) सबसे श्रेष्ठतम, सबसे पूर्व विद्यमान, सब के आदि कारण (मन्यवे) माननीय या ज्ञानस्वरूप (ते) तुम्हें (अत्-दधामि) सत्य रूप मानकर धारण करता हूँ, तुम्हें सत्य ज्ञानस्वरूप मानता हूँ । (यद्) क्योंकि तू (दस्युं) नाशक उपदधी को (अहन्यद्) मारता है और (नर्यं) मनुष्यों के हितकारी (अप.) जल आदि पदार्थों कर्मों और ज्ञानों को (विवे) प्रकट करता है । (यत्) और क्योंकि (र्त्वा) तेरे बल पर ही (रोदसी) द्यौलोक और पृथिवी लोक (उमे) दोनों (धावताम्) गति कर रहे हैं । हे (अद्रिव.) ज्ञान और बल से युक्त सब के संहारकारिन् ! (पृथिवी चित्) यह अतिविस्तृत अन्तरिक्ष भी (ते शुष्मात्) तेरे बल से (अनु भ्यसात्) भय करता है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ४ ३ १ २ १ २ ४ ३ १ २
[३७२] समेत विश्वा ओजसा पतिदिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्

२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २

स पूर्यो नूननमाजिगीपन्तं वर्तनीरनुवावृत एक इत् ॥३॥

भा०—हे (विश्वाः) समस्त प्रजाओ ! (ओजसा) अपने ओज या तेज से (यः एक एव मू.) जो स्वयं अकेला, सामर्थ्यवान् सत्स्वरूप,

३७१—'अहन्यद् दृष्ट' इति 'उमे यत्त्वा भवतो रोदसी अनुरेजते' इति च ऋ० ।

समस्त जगत् का उत्पादक है, (जनानाम् अतिथि.) और जो समस्त प्राणियों के भीतर व्यापक है, उस (पति) सब के पालक परमेश्वर की शरण में (सम्पुत) आजाओ । (स पूर्य.) वह सबसे पूर्व विद्यमान होकर (नूतनम्) पुनः बाद में उत्पन्न (आजिगीपन्तं) इस संसार की शक्तियों पर विजय चाहने वाले मानव पुरुष के लिये (पुरु इत्) एक ही (वर्तनी.) मार्ग (अनु वावृते) है ।

‘स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।’ यो० सू० ।

नान्यः पन्था विद्यते अयनाय । यजु० ।

उ १ २ उ २ ३ ० उ २ उ २ ३ १ २
[३७३] इमे ते इन्द्र ते वयं पुरुषदुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।

० ३ २ २ उ २ ३ १ २ उ १ २ ३ २ १ २ उ १ २
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सद्यत् क्षोणीरिव प्रति तद्धर्यं नो वच ३

ऋ० १ । ५७ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे (प्रभूवसो) ! प्रभूत धनसम्पन्न ! हे (पुरु-स्तुत) सब प्रजाओं से स्तुति किये गये ! (ये वयं) जो हम (त्वा आरभ्य) तुझ से ही प्रारम्भ करके (चरामसि) यात्रा कर रहे हैं । (इमे ते) ये वे हम सब (ते) तेरे ही हैं । हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र विषय ! (गिर) इन सब वेदवाणियों को (त्वत् अन्यः) तुझ से दूसरों को (नहि सद्यत्) प्राप्त नहीं होता अर्थात् वे सब तेरी ही स्तुति करते हैं । (तत्) इसलिये (नः वच) हमारी वाणी को तू (क्षोणीः इव) माता पृथ्वी के समान (प्रति हर्यं) स्वीकार कर, श्रवण कर । जैसे सब पदार्थ ढ़ोंके जाकर भूमि पर ही आ गिरते हैं उसी प्रकार सब वाणियां ईश्वर पर ही आ गिरती हैं । इस कारण हे भगवन् ! हमारी वाणियों को भी तू ही स्वीकार कर ।

३७३—‘प्रति नो हर्यं तद् वचः’ इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३७४] चर्षणीधृतं मघधानमुक्त्या३ मिन्द्रं गिरौ वृहतीरभ्यनूपत ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वावृधानं पुरुहंतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे ॥५॥

श्रु० ३ । ५१ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (चर्षणीधृतं) समस्त मनुष्यों को धारण करने हारे, (मघधान) ऐश्वर्यसम्पन्न, (उक्त्या) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (वावृधानं) महिमा में बड़े, (पुरुहंतं) प्रजाओं से पूजित, (अमर्त्यं) अमर, नित्य (दिवेदिवे जरमाणं) प्रतिदिन स्तुति किये गये (इन्द्रं) परमेश्वर को (वृहती गिरः) हमारी वृहती छन्द की वेदवाणियाँ अथवा अति ज्ञानसम्पन्न, बहुतसी स्तुतियाँ (अभि अनूपत) सत्य स्वरूप चर्चन करती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३७५] अच्छा च इन्द्रं मतयः स्वर्ग्युवः सधीचीर्विश्वा उशतीरनूपत

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्यु मघधानमूतये ॥६॥

श्रु० १० । ५३ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मर्यं पतिं) अपने पतिरूप पुरुष को (जनयः) लियाँ (परिष्वजन्ते) आर्त्तिगम करती हैं और जिस प्रकार अभीष्ट प्राप्ति के लिये (शुन्ध्यु) व्यवहार में शुद्ध, (मघधानं न) महाजन के पास प्रजा आती हैं वही प्रकार (स्वर्ग्युवः) आनन्द और स्वर्ग के सुखका संग कराने वाली, (सधीचीः) एकमात्र पढ़ी गई (विश्वा मतयः) समस्त स्तुतियों (च) आप लोगों की (अच्छा उशती-) उत्तम रूप से कामना करती हुई (इन्द्रं अनूपत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करती हैं ।

उ २३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३७६] अभि त्वं मेघं पुरुहुतमृगिमया मेन्द्रं गीर्भमदता वस्वो अर्णवम्
 २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ २
 यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभिप्रमर्चत ॥७॥

अ० १ । ५१ । १ ॥

भा०—(त्वं) उस चिरस्मर्याय, (मेघं) सब सुखों के वर्षानेहारे, (पुरुहुतं) प्रजाओं के स्तुतिपात्र, (अग्नियं) ऋचाओं अर्थात् वेदमन्त्रों में प्रतिपाद्य, (वस्व-अर्णवम्) सब जीवनोपयोगी साधनों, प्रायों और वास कराने वाले ब्रह्माण्डों के एकमात्र महासमुद्र, (मंहिष्ठं) दान-शील, (विप्रं) ज्ञानी, (इन्द्रं) उस ईश्वर को (भुजे) अपने पालन पोषण के निमित्त (अभि प्रमर्चत) निरन्तर स्तुति करो. (यस्य) जिसकी (द्यावः न) ज्ञानमय किरणें ही मानो (मानुषं विचरन्ति) मनुष्यलोक को नाना प्रकार से व्यापती हैं ।

२३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
 [३७७] त्वं सुमेघं महया स्वर्विन्द शतं यस्य सुभुव साकमीरित ।
 २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 अत्यं न वाज हवतस्यदं रथमेन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृत्तिभिः ॥८॥

अ० १ । ५२ । १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (त्वं) उस (सुमेघ) उत्तम सुखों के वर्षक, (स्वर्विन्दं) स्वर्ग, मोक्ष का आनन्दलाभ करानेहारे की तू (महया) पूजा कर । (यस्य सुभुव) जिस उत्तम सत्तावान्, सबके मूलकारण ईश्वर के बनावे (शतं) सैकड़ों कार्यस्वरूप ब्रह्माण्ड (साकम् इरते) एक साथ गति कर रहे हैं । मैं (अवसे) रक्षा के लिये (सुवृत्तिभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (अत्यं वाजं न) अतिक्रमण करनेहारे घोड़े के समान (हवतस्यदं) उत्तम स्तुतियों से हृदयों में द्रवित होने वाले, (रथम्) रमणीय, परम मनोहर, रस-स्वरूप (इन्द्रं) समस्त पेशवरों के स्वामी, परम ईश्वर को (आ ववृत्या) पुनः २ वर्त्तन करूं, पुनः स्मरण करूं, जपू ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[३७८] घृतवती भुवनानामभिश्चर्यां पृथ्वी मधुदुधे सुपेशसा ।

१ २ ३ १ २ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरं भूरिरेतसा ॥

श्र० ६ । ७० । १ ॥

भा०—(घृतवती) दीप्ति से युक्त, (भुवनानाम् अभिश्चर्या) समस्त भुवनों का आश्रयरूप (उर्वी) बहुत बड़ी, (पृथ्वी) बहुत विस्तृत, (मधुदुधे) समस्त प्राणियों के जीवनरूप रस का दोहन करनेहारी, (सुपेशसा) सुन्दर मनोहारी रूप वाली, (भूरिरेतसा) बहुत प्रकार के स्थावर जगमों के बीजों को धारण करने हारी, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वरुणस्य धर्मणा) सर्वश्रेष्ठ, सबके धरण करने योग्य परमेश्वर के सामर्थ्य से (विष्कभिते) अधर आकाश में बड़ी हैं ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३७९] उभे यादन्द्र रोदसी आपप्राथोपा इव ।

३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २
महान्तं त्वा महीनां सम्म्राज चर्पणीनाम् ।

३ १ २ २ ३ १ २ २
दधी जनित्र्यजीजनद्द्रा जनित्र्यजीजनत् ॥ १० ॥

श्र० १० । १३४ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) जो (उभे) दोनों (रोदसी) घौ और पृथिवी को (उपाः इव) प्रातः कालिक सूर्यप्रभा के समान (आपप्राथ) चारों ओर से प्रकाशित कर देते हो इसी कारण (महीना महान्तं) बड़ों में बड़े (चर्पणीना) मनुष्यों के (सम्म्राजं) राजारूप आपको (देवी जनित्री) दिव्य गुणवाली वेदमाता (अजीजनद्) वैसा ही प्रकट करती है, (भद्रा जनित्री) कल्याणकारिणी वेदमाता (अजीजनत्) वैसा ही प्रकट करती है ।

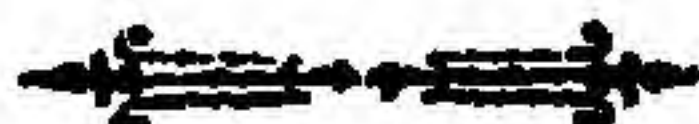
२३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १२ ३ १२ ३ १ २
[३८०] प्रमन्दिने पितुमर्चता वचां यः कृण्वगर्भा नरहृन्निजिभिना ।

३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अवस्यथो वृषणं च ज्ञदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि ॥११॥

अ० १ । १०१ । १ ॥

भा०—(प्रमन्दिने) उत्कृष्ट हर्ष, आनन्दयुक्त ईश्वर के लिये (पितु-
मत्) सारवान् (वच०) वाणिजा (अर्चत) उच्चारण करो । (यः) जो
अपने प्रभाव से (कृण्वगर्भा) पाप को अपने भीतर धरनेहारी दुष्प्रवृत्तियों
को (निजिभिना) सरल ज्ञान से (नि-अहन्) नाश करता है । (अव-
स्यव०) रक्षण की इच्छा करने हारे (वृषणं) सुख वर्षण करने हारे
(ज्ञदक्षिणं) विघ्नविनाशकों में श्रेष्ठ (मरुत्वन्तं) प्राणों के ओर प्रजाओं
के आश्रय परमेश्वर को हम (सख्याय) अपने मित्रभाव के लिये
(हुवेमहि) आह्वान करते हैं ।

इति नवमी दशति । तृतीय खण्डः ।



॥ ८० १० ॥ अथे — १ नागद. । २, ३ गोशुक्तयदवृत्तिनौ । ४ पर्वत. ।

५-७, १० विश्वमना वैयध० । ८ नृमेध० । ९ गौत्रम ॥ इन्द्रो

देवता ॥ उष्णिक् । अश्विनः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३८१] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विदे वृधस्य दक्षस्य महौ द्वि पः ॥१॥ अ० ८ । १३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सुतेषु सोमेषु) सोमरूप हर्षकारी
ज्ञान-दशाएँ वरयज्ञ होने पर (उक्थ्य क्रतु) वेदानुकूल कर्म और ज्ञान को
(दक्षस्य वृधस्य विदे) अत्यन्त बड़े हुए बल के लाभ के लिये (पुनीषे)

३८०—'इवामहे' इति अ० ।

३८१—दक्षता महान्निह सः इति अ० ।

प्राप्त करता है । क्योंकि (' महान् हि स') वह ईश्वर महान् है । सचिस्-
द्वियों की प्राप्ति के अनन्तर अणिमादि सिद्धियों का जय होता है, तभी
वह महान्, सम्राट् आदि बनता है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[३८२] नमु अभि प्र गायन पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।

१ २ ३ १ २, ३ १२ २२
इन्द्र भीमिस्ताविषमाविवासत ॥२॥ अ० ८ । १५ । १ ॥

भा०—(पुरुहूतः) समस्त प्राणों या प्रजाओं से स्मरण किया गया
(पुरु स्तुतः) प्राणों या प्रजाओं द्वारा स्तुति किया गया (तम् उ) उसका
ही (अभि प्रगायत) कीर्तन करो ॥ हे विद्वान् लोगों ! (तविष) महान्
(इन्द्र) ईश्वर को ही (आविवासत) सब के सामने प्रकट करो, उसकी
उपासना करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३८३] तं त मद् गृणीमसि वृषणं पृष्ठु सासहिम् ।

३ १ २ ३ १ २
उ लोककृत्नुमद्विवा हरिश्चियम् ॥ ३ ॥ अ० ८ । १५ । ४ ॥

भा०—हे (अद्विष) ज्ञानसम्पन्न !, (ते) तेरे (त) उस (वृषणं)
मय प्राणियों के पोषक (पृष्ठु सासहिम्) सब सघर्षों में भी कभी नष्ट न
होने वाले, सब से बढ़कर (लोककृत्नुम्) संसार के उत्पादक (हरिश्चियम्)
हरणशाल, ज्ञानियों के आश्रय देने योग्य (मद्) आनन्द-रस की (उ)
ही (गृणीमसि) चर्चा करें ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[३८४] यत्सामिमिन्द्र शिष्यावि यद्वा घ भित आप्न्ये ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यद्वा मरुत्सु मत्स्ये समिन्दुभिः ॥४॥ अ० ८ । १२ । १६ ॥

३८३—'पृष्ठु' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (यत् सोमम्) जिस सोम, सघेक प्रेरक, सर्वोत्पादक चीये या परमानन्दरस को (विष्णुधि) सर्वव्यापक ईश्वर में (यद् वा घ) या (आप्ये) परम समाधि में प्राप्त (भित्ते) तीनों भूमियों को क्रमशः करने वाले योगी आत्मा में, (यद् वा मरुसु) जो प्राणों, इन्द्रियों या भूमियों में या प्रजाओं में विद्यमान पाते हैं उन सब (इन्द्रुमि) आनन्दों से हे देव ! तू ही (सुमन्दसे) आनन्दस्वरूप प्रकट होता है ।

आनन्द की मीमांसा देखो (तैत्तिरीय उप० आनन्दवल्ली)

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[३८५] एद् मधोर्भदिन्तरं सिञ्चध्वर्यो अन्धसः ।

३ २४ ३ १२ २२ २ १ २
एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥५॥ अ० ८। २४। १६ ॥

भा०—हे (ध्वर्यो) अहिंसक पालक (सदावृधः) सदा बढ़ने वाला, महामहिम, (वीरः) सामर्थ्यवान्, प्रभु । एवा हि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है । अतः (मधोः अन्धसः) मनोहर आनन्दकारी अन्न के (मदिन्तरं) अति अधिक आनन्दप्रद मृत्तिकारी अंश को उसी के लिये (आ सिञ्च) आ से चन कर । अन्न और मधु की विवेचना बृहदारण्यक उपनि० में स्पष्ट की है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[३८६] एन्दुमिन्द्राय सिञ्चन पिवाति सोम्यं मधु ।

१२ २२ ३ २
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥ अ० ८। २४। १३ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (इन्द्राय) उस इन्द्र के लिये (इन्दुम्) आह्लादकारी, कान्तिसम्पन्न, ज्ञानमय सोम का (आसिञ्चत) सेचन करो, वह (सोम्यं मधु) शान्तिदायक मधु का (पिवाति) पान करे, वही (महित्वना) अपनी महिमा से, ही (राधांसि) बहुतसी विभूतियां (प्र चोदयते) प्रकट करता है, प्रदान करता है ।

३८५—'मधो,' 'अध्वर्यो अन्धसः' इति च ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३८७] एतौन्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।

३ १ २ २ २ ३ २ ३ ३ २

कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥ अ० ८ । २४ । ६६ ॥

भा०—हे (सखायः) हे मित्रो ! (एत उ तु) आद्यो । और (स्तोम्य) स्तुति के योग्य, (नरं) नेता, (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें । (यः) जो (विश्वाः कृष्टीः) समस्त मनुष्यों पर (एक इत्) अकेला ही (अभि-अस्ति) व्यापक शासक है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ २
[३८८] इन्द्राय साम गायन विषाय बृहते बृहत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥ अ० ८ । २८ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् सामगायको ! (बृहते) महान् (विषाय) विद्वान् (ब्रह्मकृते) ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने वाले (विपश्चिते) मेधावी, (पनस्यवे) स्तुति के योग्य (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (बृहत् साम) बृहत् नामक साम (गायत) गान करो ।

२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३८९] य एक इद्विद्यते वसु मर्ताय दाशुषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

ईशानो अप्रतिष्कृत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥ अ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(यः) जो (एक इत्) अकेला ही (दाशुषे मर्ताय) दान शील पुरुष को (वसु विद्यते) नाना रूप से धनधान्य देता है (अङ्ग) हे मनुष्यो ! वह (इन्द्रः) परमेश्वर (अप्रतिष्कृतः) सयमे बढ़कर, किसी से भी पराजित न होने वाला (ईशानः) सबका स्वामी है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३९०] सखाय आशिषामहे ब्रह्मेन्द्राय घञिणे ।

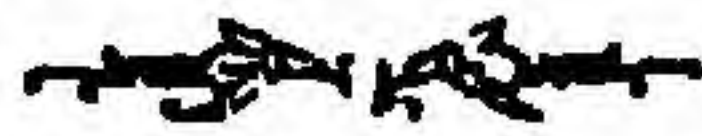
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

स्तुष ऊषु वा नृत्तमाय घृणाय ॥१०॥ अ० ८ । २४ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजने ! (वज्रिणे) सर्व विद्वानेवारक, वज्ररूप ज्ञान को धारण करने हारे (इन्द्राय) परमेश्वर के प्रतिपादन लिये (ब्रह्म) वेद प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की (आशीषामहे) कथा चर्चा करते हैं । (व.) आप लोगों के प्रति मैं (उ नृतमाय) उस पुरुषोत्तम (धृष्यावे) सबमे बढ़ जाने और सबको पराजय करने हारे परम वशी परमेश्वर के (सुरतुपे) यथार्थ स्वरूप का वर्णन करता हूँ ।

इति दशमी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः । चतुर्थं प्रपाठकञ्च समाप्तः ॥



अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

॥३० १॥ अषि.—१ प्रणयः । २ भरद्वाजः । ३ नृमेघः । ४ पर्वतः । ५

७ इरिमिठिः ६ विश्वमना । ८ वर्मिष्ठः ॥ देवता-१-४, ८

इन्द्रः । ५ ७ मादिन्याः । ६ अग्निः ॥ छन्दाः-१-७

उज्जिक् । ८ विराडुज्जिक् ॥ अपमः ॥

उ १२ २२ उ १ २ उ २ उ १ २

[३६१] गृणं तदिन्द्र ते शत्रु उपमा देवतातये ।

१२ २२ उ १२ २२

यद्वंसि वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥ अ० ८। ६० । ८ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत्) क्योंकि तू (ओजसा) अपने सामर्थ्य और बल से (वृत्रम्) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार को (हंसि) विनाश करता है । हे (शचीपते) सर्वशक्तिमन् ! (ते) तेरे (शत्रु) बल की (देवतातये) विद्वानों के लिये (उपमा) अनुरूप (गृणं) स्तुति करता हूँ । अर्थात् बल के सभी कार्यों में इन्द्र की ही उपमा दी जाती है ।

३९१—'उपम' इति श्रुते । 'भद्राः इन्द्रस्य रातयः' इति सूक्तं यापि प्रवपदमधिकम् अ० ।

० ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३६०] यस्य त्यच्छम्बरं मेदे दिवोदासाय रन्धयन् ।

३ १२ २२ ३ १२ २२
 अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिव ॥ २ ॥

श्र० ६ । ४३ । १ ॥

भा०—(यस्य मेदे) जिसके तृप्तिकारक प्रसाद और आनन्द स्वरूप (दिवोदासाय) प्रकाश के आश्रयस्थान सूर्य, आदित्य ब्रह्मचारी के लिये (त्यत् शम्बरं) उस शान्तिवर्षक मेघ या धर्ममेघस्थ आत्मा के स्वरूप को (रन्धयन्) साधता हुआ, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (स. सोम.) वह सोम, साधक योगी ओषधिरस के समान (ते) तेरी प्राप्ति के लिये (अयं) वह (सुतः) तैयार हुआ है । तू उसे (पिव) पान कर, अपने शरण में ले, स्वीकार कर ।

१ २ ३ १ २
 [३६३] इन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोहा ।

३ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २

गिरिर्न विश्वतः पृथुः पानर्दिवः ॥३॥ श्र० ८ । ९८ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे प्रिय ! सबसे उत्कृष्ट ! हे (सत्राजिद्) सबको विजय करने हारे ! हे (अगोहा) अगोप्य सब के प्रति प्रकाश करने योग्य ! कभी न छिगने हारे ! तू (दिवः पतिः) सूर्य का भी स्वामी (गिरिः न) पर्वत के समान (विश्वतः पृथुः) सब प्रकार से विशाल है । तू (न.) हमारे समीप (आ गधि) आ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३६४] य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।

३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २

येनाहंसि न्यरात्रणं तमीमहे ॥४॥ श्र० ८ । १२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! हे (शविष्ठ) यक्षिष्ठ ! (य) जो (सोमपातम) अति अधिक सोम, आनन्दरस पान करने में श्रेष्ठ (मदः) अत्यन्त मृग, हृष्ट या दत्तचित्त होकर तू (चेतति) ज्ञानवान् हो जाता है

(येन) जिससे तू (अग्निं) दूसरों के कर्मफल को छीनकर स्वयं खाजाने वाले ढाकू के समान तृष्णा, काम, क्रोध या लोभ युक्त चित्त को (निःश्रांति) विनाश करता है इस (तं) उसको (ईमहे), ज्ञान करते हैं ।

३ १२ २४ ३ १४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] तुभे तुनाय तत्सु नो द्वाधीय आयुजविसे ।
१ २ ३ १ २

आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥५॥ अ० ८ । २४ । २४ ॥

भा०—हे (सुमहसः) तेजस्वी (आदित्यासः) आदित्यरश्मियों के समान तेजस्वी विद्वान् गुरुओं ! (नः तुभे) हमारे पुत्र (तुनाय) और सन्धान चलाने वाले पौत्र और (नः) हमारे (जीवसे), जीवन के निमित्त (तद्) वह (द्वाधीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (सु कृणोतन) करो ।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[३६६] वेत्था हि निर्ऋतनि वज्रहस्त पारवृजम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥६॥ अ० ८ । २४ । २४ ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) वज्र को हाथ में लिये वीरके समान बलवान् ! ज्ञान वन् ! (निर्ऋतनि) दृष्ट चित्तवृत्तियों के (पारवृजम्) परित्याग करना (वेत्था हि) तुम वैसे ही निश्चय जान जैसे (शुन्ध्युः) शोध लगाने वाला दृष्टेदृष्ट, गुरुचर या परिशोध करने वाला आदित्य (परिपदाम्) चारों तरफ जाने वाले चोरों या पक्षियों को जानता है ।

१२ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[३६७] अपाभीवामप सृधमप सेधत दुर्मतिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

आदित्यासोऽयुयांतना नोऽशंसः ॥७॥ अ० ८ । १८ । १०

भा०—हे (आदित्यासः) आदित्य रश्मियों ! विद्वान् पुरुषों ! प्राणों ! (नः) हमारे (अपाभीवाम्) रोगों को (अप सेधत) दूर करो, (सृधम् अप)

हमारे आधाजनक भीतरी शत्रु को दूर करो और (दुर्भेतिम्) दुष्ट मति वाले पुरुष, तथा दुःखदायी दुःसंख्य को (अप सेधत) दूर करो । (न) हमें (अहस) पापों से (युयोतन) पृथक् करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[३६८] पिंचा सोममिन्द्र मन्दतु त्वाऽय ते सुपाव हर्यश्वादि ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सोतुर्गोभ्या सुयतो नार्वा ॥८॥ अ० ७ । २२ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सोमन् पिच) सोम, आनन्दरस का पान कर । हे (हर्यश्वा) हरणशील अश्वरूप प्राणों से युक्त ! (सोतु) प्रेरणा करने वाले सारथि के (गोभ्या) गायुओं से (सुयत) उत्तम रूप से नियन्त्रित (नार्वा न) घोड़ों के समान (स) वह आनन्दरस (यम्) जिसको (अदि) मेघ के सदृश वर्षण करने वाला धर्ममेघ समाधि (ते) तेरे लिये (सुपाव) उन्मूलन करता है वह (त्वा मन्दतु) तुम्हको आनन्दित करे ।

इति प्रथमा दशतिः । पञ्चम. खण्ड ।

॥ द० २ ॥ अपि — १ — ६, ६, १० मौमरिः । ७, ८ नृमेघः ॥ देवता—१, २, ४, ५, ७ — १० इन्द्र । ३, ६ मरुत ॥ ककुप् ॥ अयमः ॥

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६९] अभ्रातृभ्या अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।
३ १ २ ३ १ २
युधदारित्वमिच्छसे ॥ १ ॥ अ० ८ । २१ । १३ ॥

भा०—हे इन्द्र । (त्व) तू (जनुषा) अरुने प्रकट होने के काल से ही (अभ्रातृभ्या) शत्रुरहित, अज्ञातशत्रु (अना) बिना नेता के, बिनायक, (अनापि) बन्धु बान्धवों से रहित, अद्वितीय, (सनाद्) पुराण पुरुष ।

३६९—उभयतिगतिरुर्मा । नि० २ । १४ ।

(असि) है। तो भी (युधा इत्) योग द्वारा ही (आपित्वम्) तुम बन्धुता को (हृत्क्षसे) चाहते हो, स्वीकार करते हो।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४००] या न इदमिदं पुरा प्रवस्य आनिनाय तमु व. स्तुषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखाय इन्द्रमूनये ॥ २ ॥ अ० ८। २१। १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! जो (न.) हमारे लिये (इदम्-इदम्) यह, यह, नाना प्रकार का, उत्तम उत्तम, (पुरा)-पहले काल में, पूर्व जन्म में (वस्य.) आच्छादन योग्य, या निवासयोग्य भोग्य देह आदि (अ आनिनाय) प्राप्त कराता रहा, (तम् उ इन्द्रं) उसी आत्मा या परमेश्वर की (न) आप के प्रति (स्तुषे) स्तुति करता हू।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०१] आगन्ता मा रिपययत प्रस्थावाना मापस्थात समन्यवः ।

३ १ २
दृष्ट्वा चिद्यमयिष्णवः ॥ ३ ॥ अ० ८। २०। १ ॥

भा०—हे मरुतो, प्राणो ! और विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (आगन्त) आओ, (मा रिपययत) मरो मत, दुरी मत होओ। हे (प्रस्थावानः) निरन्तर गति करने हारो ! (समन्यव) क्रोधयुक्त या ज्ञानयुक्त होकर (मा अपस्थात) भुरे मार्ग पर मत मटकों, क्योंकि आप लोग (दृष्ट्वा चित्) दृढ़, बलवान् पदार्थों को भी (यमयिष्णवः) नियमन कर लेते हो, वश करने में समर्थ हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०२] आयाह्वयमिन्दवे श्वपते गोपते उर्वरापते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सौमं सोमपते पिव ॥ ४ ॥ अ० ८। २१। ३ ॥

भा०—हे (श्वपते !) इन्द्रियों के स्वामिन् ! हे (गोपते) वाणी के माजिक ! हे (उर्वरापते) प्रजनन-शक्ति के स्वामिन् ! हे (सोमपते !)

ज्ञानवान् । तू (सोमं पिब) सोम, ज्ञान, आनन्द और बल का पान कर, उसका लाभ कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[४०३] त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ध्रुवीमहि ।
३ १ २ २ ३ १ २
संस्थे जनस्य गोमतः ॥ ५ ॥ अ० ८ । २१ । २१ ॥

भा०—हे (वृषभ !) सर्वश्रेष्ठ ! (त्वया ह स्विद्) तुम्हें ही (युजा) सहायक द्वारा (गोमतः) वाणी से सम्पन्न (जनस्य) पुरुषों के (संस्थे) संघ में (श्वसन्तं प्रति) श्वास लेते हुए प्राणी के प्रति (ध्रुवीमहि) तेरी स्तुति करते हैं ।

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
[४०४] गावश्चिद् वा समन्यवः सजात्येन मरुतः सवन्धवः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १
रिहते ककुभा मिथः ॥ ६ ॥ अ० ८ । २० । २१ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गण ! प्राणो ! विद्वानो ! आप लोग (गावश्चिद्) गतिमान्, ज्ञानवान् रहते हुए ही (समन्यवः) ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति से युक्त (सवन्धवः) सब समानभाव से एक स्थान पर ही बधे हुए, प्रेम से युक्त (सजात्येन) समान स्थान पर या समान जाति में उत्पन्न होने के कारण (मिथः) परस्पर (ककुभाः) विस्तृत होकर भी (रिहते) परस्पर मिलते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०५] त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्यं शतक्रतो विचर्षणे ।
३ १ २ ३ १ २
आ वीरं पृतनासहम् ॥ ७ ॥ अ० ८ । १८ । १० ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञावाले ! हे (विचर्षणे) सब लोकों के द्रष्टा ! हे (इन्द्र) आत्मन् ! हमें (नृम्यं) धन और (ओजः) बल (आभर) प्राप्त करा । और (पृतनासहं) सेनाओं का मुकाबला

करने हारे या प्रजा का भार सहन करने हारे (वीर) वीर, सामर्थ्यवान् पुरुष को (आ भर) प्राप्त करा ।

२ ३ ६ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०६] अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम इमहे ससृग्महे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

उदेव वमन्त उदभिः ॥ ८ ॥

अ० ८ । ९८ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (गिर्वणः) वायियों के एकमात्र पात्र ! (उदा इव) जिस प्रकार जल (उदभिः) अन्य जलों में (वमन्त) मिल जाते हैं वसी प्रकार हम (काम) अपनी कामनाओं द्वारा (त्वा उप इमहे) तेरे पास आते हैं और (ससृग्महे) तेरे साथ मिल जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४०७] सीदन्तस्ते वया यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे ।

३ १ २ २ २

अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ९ ॥

अ० ८ । २१ । ५ ॥

भा०—(यथा वयः) रश्मियों के समान (गोश्रीते) गोरस से मिश्रित, (मधौ) मधुर, (मदिरे) आनन्दप्रद, (विवक्षणे) विशेष सुख या मुक्ति में लेजाने वाले, (ते) तेरे स्वरूप में हम (सीदन्तः) विराजमान होकर हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तेरी (अभि नोनुमः) प्रत्यक्ष रूप से स्तुति करते हैं, अर्थात् तेरे आनन्द-रस में मग्न होकर हम तेरी स्तुति करते हैं ।

३ २ ३ १ २ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
[४०८] वयमु त्वामपूर्व स्थूरं न कश्चिन्नूरन्तोऽवस्यवः ।

१ २ ३ १ २

वर्जिश्चिन्नं हवामहे ॥ १० ॥

अ० ८ । २२ । १ ॥

भा०—हे वर्जिन् ! हे (अपूर्व) अपूर्व ! सभसे आदि में विद्यमान (वयं) हम लोग (अवस्यवः) अपनी रक्षा चाहने हारे, (स्थूरं न)

गुणों में अधिक स्थितिमान् पुरुष को जिस प्रकार (दक्षित्) कोई प्रजा लोग भरण पोषण करते हैं उसी प्रकार (चित्र) पूजायोग्य (स्वा) युक्त को (भरन्त) भरण या धारण करते हुए (हवामहे) हम तेरी स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीया दशतिः । पष्ठ खण्ड ॥



॥ द० ३ ॥ अपि.—१—८ गौतम० । ९ प्रित० । १० अवस्यु ॥ देवताः—१—८ इन्द्र० । ६ विभेक्ष० । १० गद्विनो ॥ पत्तिश्छन्द ॥ पञ्चमः ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ उक्त २२
[४०६] स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः ।
उर २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
या इन्द्रण सयावरीवृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरन् स्वराज्यम् १
ऋ० १ । ८४ । १० ।

भा०—सूर्य और राजा के दृष्टान्त से आत्मा और ईश्वर का वर्णन करते हैं । (गौर्य) शुभ्र किरणों या गमनशील सेनाओं के समान इन्द्रिया या चित्तवृत्तिया, और प्रजापु (विषूवत) सर्वव्यापक, (मधोः) सब मनोहर गुणों से युक्त, मधुर, (स्वादो) तृप्तिकारक, परमानन्द रस का (इत्था) इस प्रकार से (पिबन्ति) पान करती हैं कि (या) जो वे (वृष्णा) सब परम आनन्द घरसानेहारे इस इन्द्र के साथ (सयावरी) गमन करती हुई (मदन्ति) आनन्द लाभ करती हैं और (वस्वी) आवास करने वाली वे (स्वराज्यम्) अपने ही राष्ट्र के समान देह या इस संसार रूप ईश्वर के कुटुम्ब की (अनु शोभथा) शोभा बढ़ाती हैं । (मधु की व्याख्या देखो बृहदा० २ । ५)

३०९—'शोभते' इति श्रु० ।

३ २३ ३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४१०] इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २
शविष्ठ वज्रिजाजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् २
अ० १। ८०। १।

भा०—हे वज्रिन् ! हे (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! (इत्था) इन प्रकार से (हि) निश्चय (सोमे) उस आनन्दरस के बल पर (इव) ही (मदः) आनन्दयुक्त विद्वान् जिस प्रकार (ब्रह्म) वेद द्वारा (वर्धनम्) अपने ज्ञान की वृद्धि या वसति (चकार) करता है । (अहिम्) सूर्य जिस प्रकार मेघ को भेदन करता है उसी प्रकार (स्वराज्यं) अपने राष्ट्र या प्रताप को (अनु अर्चन्) प्रकट करते हुए आप अपने (ओजसा) बल से (पृथिव्या) इस पृथिवी के आवरणकारी विघ्न को (नि शशाः) विनाश करते हैं । अग्यात्म वेदियों की स्वराज्य की चर्चा उपनिषदों में स्थान २ पर है ।

० ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
[३११] इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।

२ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २
तामेन्महत्स्वाजिपूतमर्मे हवामहे स वांजपु प्र नोऽविपत् ॥३॥
अ० १। ८१। १।

भा०—(इन्द्रः) परमेश्वर ! (मदाय) प्रजाजनों के हर्ष करने के लिये और (शवसे) बल के लिये (वावृधे) बहुत बड़ा है । वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का नाश करने वाला (नृभिः) अपनी प्रजाओं के साथ (वांजपु) सम्राज्यों और ज्ञान-यज्ञों में (नः प्र आविपत्) हमारी रक्षा करता है । (उतिम्) अपनी रक्षा स्वरूप (तम् इत्) उसको ही (महत्सु) बड़े २ (आजिपु) ज्ञान चर्चा के स्थानों या सम्राज्यों, और यज्ञों में और (अर्मे) सूक्ष्म हृदयावास में भी (हवामहे) हम उसका स्मरण करते हैं ।

४१०—'मदे मदा' इति अ० ।

अर्म, अल्प, दम्न, दहर आदि का विवरण छान्दोग्य, और केन दोनों उप-
निषदों में स्पष्ट है । आजि=चरम सीमा । राजा के पक्ष में—आजि=सग्राम ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ उह २२

[४१२] इन्द्र तुभ्यमिदद्विवोऽनुत्त वज्रिन्वीर्यम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यद्ध त्वं मायिनं मृगं तव त्यन्मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥

श्र० १ । दृ० । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर । हे (अद्विवः) भेषपति के समान
आनन्द और ज्ञान के धन ! अक्षय्य या अखाण्डित शक्तिशालिन् ! हे (व-
ज्रिन्) वीर्यसम्पन्न । (तुभ्यम् इत्) तेरा ही (वीर्यम्) बल सामर्थ्य
(अनुत्तम्) कहीं रुका नहीं है । (यत् ह) क्योंकि (त्वं) उस (मायिनं)
माया, अज्ञान या प्रकृति के जाल में पड़े (मृगं) ज्ञान के विलोपक चोर
के समान वेह और मनको अथवा (मृगं) सुख के खोजी पशु के समान
प्यासे तृष्णालु जीव को (मायया) अपने प्रज्ञा के बल से (स्वराज्य
अनु अर्चन्) स्व-महिमा की सत्ता को प्रकट करता हुआ तू (अवधीः)
विनाश करता है, मारता है । या प्राप्त होता है, (तव त्यत् वीर्यम्) वह
भी तेरा ही बल, प्रताप है ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[४१३] प्रह्यभीहि धृणुहि न ते वज्रो नि यंसते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्र नृम्यं हि ते शवो हनो वृशं जया अपोर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥

श्र० १ । दृ० । ३ ॥

भा०—(स्वराज्यम् अनु) आत्मा के मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करने के
लिए (अर्चन्) माधना करते हुए, हे (इन्द्र) आत्मन् ! (प्रेहि) आगे आओ ।
(अभि इहि) सम्मुख आओ ! (धृणुहि) बाधाओं को दबाओ । (ते वज्रः)
तेरा वज्र (न) कभी नहीं (नियसते) दबता । हे (इन्द्र) आत्मन् !

(ते) तुम्हें (नृम्यां हि) निश्चय से ऐश्वर्य प्राप्त होगा । तू (शत्रुः) अपने वल से (वृत्र हन.) वृत्र रूप विघ्न अज्ञान को मार और (अप- जय) सब कर्मों, प्रजाओं पर विजय प्राप्त कर ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४१४] यदुदीरत आजयो धृ'णं धीयते धनम् ।

३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
युद्धा मदच्युता हरी कं हन. कं वसौ दधोऽस्मां इन्द्र वसौ दध द
अ० १। ८२। ३ ॥

भा०—(यद्) जब (आजय) संप्राप्त या ब्रह्मकथा प्रसङ्ग (उद्-
ईरते) उठ खड़े होते हैं तब (धृणवे) सब का पराभव करनेहारे के
सन्मुख (धनं) धन, प्राप्त्य पदार्थ (धीयते) रक्खा जाता है । हे
(इन्द्र) आत्मन् ! (मदच्युता हरी) हर्ष वपांने वाले और हरणशील
अपने प्राण और अपान दोनों अश्वों को (युद्ध) अपने रथ में लगा ।
[प्र० १] (क हन.) तू किस शत्रु या विघ्न का नाश करता है ? और [प्र० २]
(क वसौ दध.) तू किस सहायक, साधन या योगाङ्ग को (वसौ)
अपने देह या चित्त में (दधः) धारण करता है ? [उ० १] हे इन्द्र !
(वसौ) इसी आवास स्थान, अन्तरात्मा में (दधः) धारण कर और
[उ० २] हमें धारण कर । यह भर्तृ का भगवान् के प्रति, इन्द्रियों का
आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा के प्रति समान रूप से वचन है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[४१५] अक्षन्मीमदन्त ह्यवप्रिया अधूपत ।

१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्तोपत स्वभानवा विप्रा नविष्टया मती योजान्विन्द्र ते हरी ७
अ० १। ८२। २ ॥

भा०—(स्वभानव- विप्रा.) स्वयं योगाभ्यास और तपस्या से प्रदीप्त
'होने वाले, विद्वान्, मेधावी लोग (अक्षन्) सब प्रकार के आनन्दों
का भोग करते हैं, (अमीमदन्त) और हर्ष को प्राप्त होते हैं । वे

(प्रिया) सबको प्रिय लगाने वाले काम्य पदार्थों और कामनाओं को (अवा-
अधूपत) परित्याग करते, भाड़ देते, गिरा देते हैं वे सर्वत्यागी, अवधूत हो
जाते हैं । हे (इन्द्र) परमात्मन् ! वे (नविष्टया) अत्यन्त प्रशंसनीय
(मती) शुभ संकल्प या स्तुति से (अस्तोपत) तेरी स्तुति करते हैं । अतः
उन पर प्रसन्न होकर (ते हरी) तू अपने अश्वों, हरणशील वाहनों ज्ञान
और कर्म रूप बोटों को या सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों की
(अनु योज) साधना कर ।

उ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
[४१६] उपो पु शृणुही गिरो मघवन्माऽतथा इव ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १ २ ३ २ ३ ६ २ २ ३ १ २
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजान्विन्द्र ते हरी ॥ ८ ॥
श्र० १ । ८२ । १ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! (उप सु शृणुहि उ)
तू सावधान होकर सुन (गिर) तू हमारी वाणियों की । अतथा इव, प्रति
कृत्वा, शत्रु के समान (मा) उपेक्षा मत कर । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (सूनृता
वतः) सत्य और प्रिय वाणी बोलने वाले (न) हमको तू (कदा इद्) कब
(कर) अपनाएगा ? (अर्थयासे इत्) आपसे प्रार्थना ही की जाती है । हे
(इन्द्र) आत्मन् ! (ते हरी योजा नु) तू अपने अश्वों, व्यापक साधन प्राण
अपान को अन्न लगा । अथवा सबीज निर्वीज दोनों का अभ्यास कर ।

उ १ २ ३ २ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २
[४१७] चन्द्रमा अण्स्वाऽन्तरा सुपर्णो धावतं दिवि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
न वो हिरण्यनमयः पद विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ६
श्र० १ । १०५ । १ । ॥

भा०—(असु अन्तरा) ध्यान धारणाओं, संकल्पों, विकल्पों या
वासना जालों में से, (चन्द्रमाः) अत्यन्त आश्चर्यकारी, (सुपर्णः) उत्तम
गतिशील आत्मा, (दिवि) चौ लोक में चन्द्र के समान, या, सूर्य में प्रकाश-

स्वरूप परमात्मा की ओर (धावते) गति करता है। हे (विद्युत्) विशेषरूप में प्रकट होने वाली विद्युत्स्वरूप कान्तियो ! हे (हिरण्यनेमयः) सुवर्ण के समान चित्ताकर्षक धाराओं वाली कान्तियां ! हमारे इन्द्रियगण या अज्ञानी जनसाधारण अज्ञान में होने से (वः पद न विन्दन्ति) तुम्हारा स्वरूप ज्ञान प्राप्त नहीं करते। हे (रोदसी) सौ और पृथिवी, ऊर्ध्वगामी सौस्वरूप प्राण अधोगामी पृथिवीस्वरूप अपान, आप दोनों के (अस्य) इस रहस्य का ज्ञान (मे वित्तं) मुझे लाभ कराओ।

[४१:८] प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसु वाहनम् ।

स्तोता वामश्विनावृषिः स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्
अ० ५। ७५। १॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और अपान ! (वसु-वाहनं) आवासकारी आत्मा को वहन करने हारे, (वृषणं) कर्मफल भोग की वर्षा करने वाले (प्रियतमं) अत्यंत प्रिय, (प्रतिरथं) प्रत्येक रथ रूप देह में (अपि.) तत्त्वदर्शी (स्तोता) सत्य गुणों का वर्णन करनेहारा, (स्तोमेभिः) वेदमन्त्रों द्वारा (वा) आप दोनों को (प्रति भूषति) उत्तम रूप से अलंकृत करना चाहता है। हे (माध्वी) मधुविद्या, ब्रह्म विद्या के जानने हारो ! (मम हव) मेरी स्तुति, गुण-वर्णना को (श्रुतं) श्रवण करो।

इति तृतीयो दशतिः । सप्तमः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ अपि — १, ७ वसुश्रुत आग्नेयः । २, ८ विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुहृन् वासुको वा । ३ सत्यश्रवाः आग्नेयः । ५, ६ गौतमो राह्वगण । कुल्मलः शैलपिः । ८ अहोमुखावामदेव्यः ॥ देवता—१, २, ७ अग्निः । ३ व्यासः । ४ सोमः । ५, ६ इन्द्रः । ८ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१—७ पङ्क्तिः । ८ उपरिष्टाद् बृहती ॥ स्तुतिः—१—७ पञ्चमः । ८ मध्यमः ॥

४१८—'स्तोमेन प्रति भूषति' इति अ० ।

[४१६] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
 यद्ध स्या ते पनायसी समिदीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ?
 अ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) ज्ञानवन् ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (अजरम्) आविनाशी (ते) आपको (इधीमहे) प्रदीप्त करते हैं, चैतन्य करते हैं । (द्यवि) द्युलोक में (यद्) जो (स्या) वह (ते) आपकी (पनायसी) प्रशस्तनीय (समिद्) काम्ति (दीदयति) चमक रही है । (स्तोतृभ्य) मत्स्य गुण वर्णन करने द्वारा को हे देव ! आप (इषं) अन्न और ज्ञान की प्रेरणा (आ भर) प्राप्त कराओ ।

[४२०] आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
 शीरं पावकशोचिषं विवो मदे यज्ञेषु स्तीर्यवर्हिषं विवक्षसे ॥२॥
 अ० १० । २१ । १ ॥

भा०—हे देव ! (विवक्षसे) आप सबको धारण करने हारे सबसे महान् हो । इमलिये (स्ववृक्तिभिः) उत्तम, दोष रहित निज स्तुतियों से हम लोग (शीर) सबके भीतर ज्ञानरस रूप से शयन करने हारे, (पावक-शोचिष) पवित्र करने वाली दीप्ति से युक्त, (व) हमारे और तुम्हारे (विमदे) विशेष आनन्द लाभ करने के लिये (यज्ञेषु) यज्ञों में (स्तीर्यवर्हिषम्) वर्हिः=धान्य या कुश, आसन या इम देह को फँसाये हुए (होतारं) मयको जीवन योग्य उत्तम पदार्थों के देने हारे या सगको अपने पास बुलाने वाले (त्वा) तुम्ह (अग्निं) ज्ञानस्वरूप ईश्वर का (होतारं न) अपने यज्ञ के होता के समान (आवृणीमहे) वरण करते हैं ।

४२०—'यज्ञाय स्तीर्णं वर्हिषं विवो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षते' इति अ० ।

३१ २ ३१ २ ३१ २ ३२ ३१ २
[४२१] महे नां अद्य बोधयोषो राये दिवित्मनी ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २
यथाचिन्ना अवोधयः सत्यश्रवसि वार्ये सुजाते अश्वसूते ॥३॥
अ० ५।७९।१॥

भा०—हे (अश्वसूते) आत्मा की सत्यस्वरूप वाणि ! हे (सुजाते) उत्तमरूप से प्रकट होने वाली ! (वार्ये) वरण करने योग्य ! (सत्य-श्रवसि) सत्य वेदज्ञान में (यथाचित्) जिस प्रकार पहले (नः अवोधयः) हमें ज्ञानवान्, प्रबुद्ध किया था उसी प्रकार हे उपः ! हे सब पापों के उद्हन करने वाली (दिवित्मनी) ज्योतिः स्वरूपा तू (महे) बड़े भारी (राये) दिव्यधन, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये (अद्य) आज (बोधय) हमें, जगा, ज्ञानवान् कर ।

३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२
[४२२] भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।

१ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मद् रणा गावो न यवसे विवक्षसे ॥४॥
अ० १०।२५।१॥

भा०—हे परमेश्वर ! (विवक्षसे) आप महान् हो । आप (न.) हमारे (मनः) मन और (दक्षम्) आत्मा या बल को (उत) और (क्रतुम्) कर्म को (भद्र) कल्याण के प्रति (अपि वातय) प्रेरित करो । (अथा) और (ते) तुम्हें (अन्धसः) अन्धकार को दूर करने और प्राण धारण करानेहारे प्रभु के (मदे) हर्षकारी (सख्ये) प्रेम में हमें (यवसे) घास के प्रेम में (रणा गावो न) आनन्द प्रसन्न गौवों के समान (विव.) स्वीकार करो, अपनाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २
[४२३] क्रत्वा महां अनुष्वध भीम आ वाचुत शवः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
श्रिय ऋष्व उपाकयोनिशिर्मा हरिवान् दधे हस्तयेविजमायसम् ५
अ० १।८१।४॥

४२२—'रणं गावो' इतिपाठः, अ० । अग्वेदे (१०।२०।५) इत्यत्र 'भद्रा' दि 'मनो'न्तः पाठ एव केवलम् ।

भा०—(महान्) सबसे बड़ा वह परमात्मा (भीमः) सबको भय से चलावे और कपाने' वाला (अनुवधम्) स्वधा स्वरूप जीव या प्रकृति के प्रति (ऋत्वा) अपनी क्रिया शक्ति और प्रज्ञा से (शयः) अपनी क्रिया शक्ति या बल या ज्ञान सामर्थ्य को (आ वायुते) प्रेरित करता है और (श्रिये) समस्त संसार को आश्रय देने के लिये (ऋत्वा) वह महान् (शिरी) शक्तिशाली (हरिवान्) हरण करने वाला या आकर्षण करने वाला, (उपाकयोः) समीपतम (हस्तयोः) आघातकारी साधनों, हाथों में (आयसं वज्र) लोहे के बने खड्ग को धीरे के समान (आयसम्) अयः अर्थात् स्नेह और बेग के बने (वज्रं) पतन और पाप निवारक साधन को (आदधे) धारण करता है ।

ईश्वरने अपनी शक्ति प्रकृति में दी । समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया प्रत्येक परमाणु और पियद में आघात प्रयत्न उत्पन्न किया और ऐसी 'निरन्तर की गति उत्पन्न की कि अपनी गति पर ही प्रत्येक आकाश का पियद निराश्रय खड़ा है । 'हस्तयोः' यह द्विवचनान्त प्रयोग उपमावश है । धीरे राजा और अध्यात्म पथ में स्पष्ट है ।

३ १५ २२ ३ २ ३ १ २ । ३ १ २
 [४२४] स धा तं वृषण रथमधितिष्ठाति गोविदम् ।
 १५ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ १ ३
 यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्रा चिकेतति योजान्विन्द्र ते हरी ॥६॥
 । ऋ० १ । ८३ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (हारियोजनं) इन्द्रियों को वश करने हारे योग साधन और (पात्रं) क्रिया साधन को (पूर्णं) उचित प्रकार से पूर्ण रूप से (चिकेतति) जानता है (स धा) वही (तं) उभ (वृषणं) सुखप्रद, (गोविद) इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले चेतन (रथम्) रथपर (अधि तिष्ठति) स्वामी होकर सवारी करता है । हे (इन्द्र)

आत्मन् (ते हरी) तुम अपने अर्धो=प्राण अपान दोनों को (योज तु) इस समय समाधि योग से जोड़ो ।

उ १२ २२ ३ २४ ३ २ १२ १२ २४ ३ १ २
[४२५] अग्निं तं मन्ये या वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।

उ १ २ ३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्तमर्वन्त आशवोस्तं नित्यासो वाजिनं इषं स्तोतृभ्य आभर॥७
अ० ५। ६। १॥

भा०—(तं) उसको (अग्निः) ज्ञानवान् सब का नेता आचार्य या ईश्वर (मन्ये) मानता हूं या उसको अग्नि-तेज रूप से मनन करता हूं (यः वसु.) जो वसु अर्थात् सबके भीतर वास करने द्वारा, सबको वास देने द्वारा है । (यं) जिसमें (धेनव.) वाणियों, इन्द्रियां और रश्मियां हैं उसी प्रकार जैसे गौवं (अस्तं) घर में (यन्ति) जाती हैं या (अस्तं यन्ति) आश्रय को प्राप्त होती हैं और (आशवः) व्यापन स्वभाव वाले (अर्वन्तः) प्राण या वायु आदि पञ्च भूत (अस्त) गृहस्वरूप जिसमें आश्रय लेते हैं और (नित्यास.) नित्य, अविनाशी, (वाजिनः) ज्ञानवान् मुक्त आत्माएँ, विद्वान् लोग भी जिसको (अस्तं) अपना गृह या शरण समझ कर आश्रय करते हैं । हे सर्वाश्रय ! (स्तोतृभ्यः) स्तोता विद्वान् लोगों को (इषं) अन्न एवं अपनी ज्ञान प्रेरणाएँ (आभर) प्राप्त कराओ ।

२४ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[४२६] न तमंहो न दुरितं देवानो अपृ मर्त्यम् ।

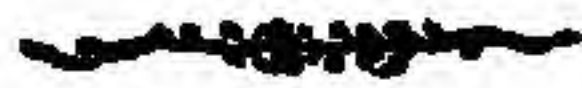
उ १ २ १ २ ३ २ ३ १२ २२ २ ३ १ २ ३ १ २
सजोपसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अतिद्विषः ॥८॥

अ० १०। १२६। १॥

भा०—हे (देवास) विद्वान् पुरुषो ! (यम्) जिस (मर्त्य) मरणाधर्मा देहवान् पुरुष को (अर्यमा) वह न्यायकारी, (मित्र.) सब का प्रेमी, (वरुणः) सबको पाप से बचाने द्वारा जगदीश्वर (सजोपस,)

अत्यन्त प्रेम पूर्वक (द्विप , अति) विघ्न या बाधाकारिणों या अप्रीति करने
हारों से दूर कर लेता है (तं) उसको (अह न अष्ट) पाप नहीं स्पर्श
करता, (दुरित) और दुष्ट चरित भी उसको नहीं व्यापता ।

इति चतुर्थी दशति । अष्टम खण्ड ।



॥ ८० ५ ॥ अपि — ६ अयस्य प्रसदस्यु । ७ वसिष्ठः । ८ वामदेव । ९ वाजिना
स्तुतिः । १, ३-५, १० ऐश्वरा धिष्या अग्नयः ॥ देवता-१-६, १० पवमान ।
७ मरुतः । ८ अग्निः । ९ वाजिनः ॥ छन्द — १, ३, ४, ५, ७, १०
द्विपदा पक्ति । ८ पदपक्तिः । ९ परोष्णिक् । २, ६ त्रिपदा अनुष्टु-
पपिपीलिकामध्या ॥ स्वर-—१, ३-८, १० पञ्चमः । २, ६
गान्धारः । ६ श्रपमः ॥

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[४२७] परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूषण भगाय ॥१॥
श्र० ६ । १०९ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस को बहाने वाले, सब दु खों के
ओषधिरूप, परमरस स्वरूप ऐश्वर्यवन् ! (स्वादुः) ओषधिरस के समान
परम आनन्ददायक आप (मित्राय) सबको स्नेह करनेहार (पूषणे) सब
को पोषण करनेहार (भगाय) सबके भजन, सेवन करने योग्य (इन्द्राय)
उस ऐश्वर्य के हृत्कुल जीव के लिये (परि प्र धन्व') चारों ओर उत्तमरूप
से गति कर, बहो ।

२ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
[४२८] पर्यु पु प्र धन्व वाजमातय परि वृत्राणि सदाणिः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या क्रणयो न ईरसे ॥२॥ श्र० ९ । ११० । १ ॥

४२७—१, धन्वतिगतिकर्मा, (नि०) रिधि रवि धवि गत्यर्थाः । भ्वा० ।

४२८—'ईरसे' इति श्र० ।

भा०—हे परमेश्वर ! (वाजसातये) ज्ञान या धन या अन्न के लाभ के लिये (वृत्राणि) सब आचरणकारी विघ्नों को (सदाणि) सहनशील होकर आप (परि प्रधन्व) चारों ओर से भार भगाओ । (अश्रया) शत्रुओं के नाश करने हारे आप (द्विपः) अमीति से चतने वाल शत्रुओं के (तरण्यै) विनाश करने के लिये (नः) हमें (ईरसे) प्रारत्ते करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[४२६] पवस्व सोम महान्तसमुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥ ३ ॥
अ० ६। १०६। ४ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (महान् समुद्र) बड़े भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भण्डार हैं, (देवानां) समस्त देवों, मूर्तों और इन्द्रियों के (पिता) पालक और प्रेरक हैं, अतः (विश्वा धाम) समस्त तेजों को या समस्त आत्मा के निवासस्थान रूप देहों या हृदयों के प्रति (परि पवस्व) आप द्रवित होइये । उनमें स्वयं आनन्द रस का संचार कीजिये ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[४३०] पवस्व सोम महे दक्षायाश्चो न निक्तो वाजी धनाय ॥ ४ ॥
अ० ६। १०६। १० ॥

भा०—हे सोम ! (निक्तः) स्नान किया हुआ, निष्कृत (वाजी) ज्ञानवान् विद्वान्, (अश्वः) क्रियानिष्ठ, सघाया हुआ पुरुष और घोड़ा जिस प्रकार (धनाय) धनापार्जन, या सग्राम के लिये जाता है उसी प्रकार (महे) बड़े (धनाय) गतिशील या धन्य (दक्षाय) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिये आप (पवस्व) द्रवित हों, कृपायुक्त हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[४३१] इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥ ५ ॥
अ० ६। १०६। ११ ॥

भा०—(अपाम् उपस्थे) जलों के समीप या प्रजाओं के समीप या कर्म और ज्ञानों के बीच में (मदाय चारुः) हर्ष उत्पन्न करने में श्रेष्ठ, (कविः) कान्तदर्शी विद्वान् (भगाय) सौभाग्य, ऐश्वर्य या उचित कर्म फल के आनन्दभोग के निमित्त (इन्दुः) ऐश्वर्यशील सोम (पविष्ट) गति करता है या प्रकट होता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४३२] अनु हि त्वा सुमं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

वाजों अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥ अ० ९ । ११० । २ ॥

भा०—हे सोम ! (महे) बड़े भारी तेरे (समर्यराज्ये) श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय पुरुषों के राष्ट्र में (स्वाम् अनु) तेरे अनुकूल (समदामसि) रहने में स्वयं प्रसन्न होते हैं । हे (पवमान) सबके प्रेरक शासक ! (वाजान् अभि) शत्रुओं या इन्द्रियों, ऐश्वर्यों के प्रति तू निर्विघ्न होकर (प्र गाहसे) गति करता है, उनमें रमण करता है । राजा, आत्मा और परमात्मा के प्रति प्रजाओं, इन्द्रियों और भक्तों का वचन है ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४३३] क ई व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अथा स्वश्वा० ॥७॥
अ० ७ । ५६ । १ ॥

भा०—(ई) ये (व्यक्ता०) प्रकट हुए, (सनीडा०) एक ही ढेह में आश्रय किये हुए, (मर्या०) देहधारी प्राणियों के हितकारी (अथ) और (स्वश्वा०) सुख से पदार्थों का भोग करने हारे, (रुद्रस्य) इस समस्त ससार को रूताने हारे, उस देव, मुख्य प्राण क (कै) कौन हैं ? इस आश्चर्य से किये प्रश्नका उत्तर अ० म० ६।१६ सूक्त का अगली ऋचाओं में दिया है ।

३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[४३४] अग्न तमद्याध्वं न स्तोमैः क्रतुं न मद्रं हृदिस्पृशम् ।
३ १ २ ३ १ २

क्रायामा त आहैः ॥८॥ अ० ४ । १० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अथ) आज हम (ओहैः) आह्वान करने योग्य (स्तोमैः) स्तुतिपूर्ण सूक्तों द्वारा (अश्वं न) अश्व के समान समस्त संसार के वहन करने हारे, (क्रतुं) रचयिता शिल्पी के समान ब्रह्माण्ड के बनाने हारे, (भद्रं) कल्याणकारी, (हृदिस्पृशं) हृदय तक को छूने हारे, हृदयंगम (तं) उस प्रसिद्ध तुम्हको लक्ष्य कर (अभ्याम) स्तुति करते हैं, साधना करते हैं ।

३ १ २ ३ १२ १ ३ १ २ १२ ३ १ २ ३ २ ३ २ -
[४३५] आधिर्मर्त्या आ वाजं वाजिना अग्मन् देवस्य सवितुः सवम् ।
३ १ २
स्वर्गा ५ अर्वन्तो जयत ॥ ६॥

भा०—(वाजिनः) ज्ञानवान् (मर्त्या) मरणधर्मी प्राणी, (देवस्य) सबके दाता, (सवितुः) सबके प्रेरक परमात्मा के (वाजं सवं) ज्ञान सम्पन्न सर्ग या प्रेरणा, आदेश को (आधिः अग्मन्) प्रकट रूप से प्राप्त करते हैं । हे (अर्वन्तः) ज्ञानशील पुरुषो ! (स्वर्गान्) सुख और आनन्द के प्राप्त कराने वाले उस मुक्ति सुखों को (जयत) विजय करो, उनको प्राप्त करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[४३६] पवस्व सोम शुम्नी सुधारो महा अवीनामनु पूर्व्यः ॥ १० ॥
अ० ९ । १० ६ । ७ ॥

भा०—हे सोम ! (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, सबका आदि मूलकारण, (शुम्नी) कान्तिमान्, (सुधारः) समाज और संसार को उत्तम रूप से धारण करनेद्वारा (अवीना) गतिशील, आत्माओं में सबसे (महान्) बड़ा परम-आत्मा तू (अनु पवस्व) सबको पवित्र कर, सन्मार्ग में प्रेरणा कर ।

इति पञ्चमी दशति । नवमः खण्डः ।

॥ ६०-६ ॥ अग्निः—३ प्रसदस्युः । ७ सम्पातः ॥ शेपाणा अय्यो नोपलभ्यन्ते ।

देवता—१—५, ६—१० इन्द्रः । ६ विश्वेदेवाः । ७ उषा । पक्षि ॥ पञ्चमः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[४३७] विश्वतो दावन्विश्वतो न आभर यं त्वा शविष्ठमीमहे ॥ १ ॥

भा०—हे (विश्वतो दावन्) सबका संहार करने या सबको दान करनेहारे संहर्त्ता ! या दातः ! (यं त्वा) जिस तुम्ह (शविष्ठ) बलवान् को (ईमहे) याचना, प्रार्थना करते हैं कि (न.) हमें (विश्वतः) सब ओर से (आभर) सुख सामग्री प्राप्त कराओ ।

ॐ नमः शिवाय ॥

उ र उ र उ र उ र उ र उ र उ र
[४३८] एष ब्रह्मा य ऋत्विज इन्द्रो नाम श्रुता गृण्ये ॥ २ ॥

भा०—(य. ऋत्विजः) जो ऋतुओं में प्रकट होने द्वारा (इन्द्र) ऐश्वर्यशील, सूर्यरूप का ज्ञात्मा परमेश्वर है (एषः ब्रह्मा) वही सबसे बड़ा और सबको बढ़ाने वाला (नाम श्रुतः) विख्यात है । (गृणे) मैं उसकी स्तुति करता हूँ ।

[४३६] ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अकैरवर्धयन्नह्यं हन्तवा उ ॥ ३ ॥
श्लो ५ । ३१ । ४ ॥

भा०—(ब्रह्माणा) ब्रह्मज्ञानी पुरुष (अकै) वेदस्तुतियों द्वारा (इन्द्रं) इन्द्र की (महयन्तः) पूजा करते हुए (अहये) मेघ या न नाश होने वाले अन्धकार को (हन्तवा) नाश करने के लिये (उ) ही (अवर्धयन्) उसको बढ़ाते हैं, उसकी महिमा का वर्णन करते हैं । अथवा (अहये) इस समस्त ससार को (हन्तवा) संहार करने के कारण (उ) ही (अवर्धयन्) उसकी महिमा गाते हैं ।

गत्यर्थस्य एतेरपतेरंहतेर्वा व्याप्त्यर्थस्य, आह् पूर्वाद् हन्तेर्वा, नञो हन्ते-
र्वा, अहि । अथवा—‘य एतत् सर्वमन्तवत् तस्मादहि.’ इति वाजसनेय-
ब्राह्मणे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [४४०] अनवस्ते रथमश्वाय तजुस्त्वष्टा वज्र पुरुहूतं द्युमन्तम्॥४॥
 ऋ० ५ । ३१ । ४ ॥ पूर्वार्धे ॥

भा०—जिस प्रकार (अनव०) प्राणधारण करनेहारे मनुष्य (अश्वाय) समस्त देश में गमन करने के निमित्त (रथं) रमण साधन या गमन साधन या वेगवान् यान=रथ को (तक्षु.) बनाते हैं । उसी प्रकार (अनव) विद्वान् जन (अश्वाय) भोक्ता जीव के लिये (रथ तक्षु.) रसस्वरूप परमेश्वर की साधना करते हैं । (त्वष्टा) सबको रचने हारा शिल्पी विश्वविधाता (पुरुहूतं) सबसे स्तुति किया गया, (धुमन्तं) दीप्तिमान् (वज्रं) सर्व विघ्ननिवारक, तमोनिवारक सूर्य रूप वज्र को बनाता है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ १ २ ३ २ २ ३ २
[४४१] शं पदं मघं रयीपिण्ये न काममजतो हिनोति न स्पृशद्रथिम् ५

भा०—(शं) शान्तिकारक (पदं) स्थान और ज्ञान, (मघं) धन धान्य और क्रतु योगादि का उत्कृष्ट फल पहले (रयीपिण्ये) सुखसामग्री या ऐश्वर्य को अन्यों के लिये परोपकार में लगा देने वाले के लिये होता है । (अघत.) निकम्मा, मूर्ख, तपस्या आदि न करने हारा, अकर्म और निषिद्ध कर्म करने हारा पुरुष (कामम्) यथष्ट फल को (न हिनोति) नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि (रथिम्) वह धन धान्य को (न स्पृशत्) छूता भी नहीं अर्थात् दान भी नहीं करता ।

२ ३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४२] सदा गात्र शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥६॥

भा०—(गात्र.) ज्ञानी परिब्राजक, गमनशील किरण या गौण (शुचयः) सदा ज्ञान के प्रकाश से युक्त, कान्तिमान् सदा शुद्ध और (विश्वधायस) समस्त संसार को ज्ञान रसपान कराने वाले, सबको पुष्ट करने हारे और सबको रस पिलाने हारे होते हैं । क्योंकि (देवा.) विद्वान्, दानी और प्रकाशमान पदार्थ (सदा) सदा (अरेपस.) निर्दोष और निष्पाप होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४३] आयाहि वनसा सह गात्रः सचन्त वर्तन्ति यदूधभिः ॥७॥

अ० १० । २७२ । २ ॥

भा०—हे उप ! तू (वनसा) तेज के साथ (आयाहि) आ, प्रकट हो । (गाव.) जिस प्रकार गौवें दूध भरे थनों से सबको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार (गाव.) तेरी रश्मिया (ऊधमि.) वहनशील शक्तियों द्वारा सबको पालन पोषण करके (चर्त्तन्ति) तेरे मार्ग को (सचन्त) प्राप्त करती हैं, तेरा अनुगमन करती हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४४४] उप प्रक्षं मधुमति क्षियन्तः पुण्यं रयिं धीमहे त इन्द्र ॥८॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (मधुमति) मधुर फल से सम्पन्न (प्रक्षे) वट आदि वृक्ष पर आश्रय लेकर जिस प्रकार पक्षिगण और राजा का आश्रय लेकर जीव प्रजागण जिस प्रकार सुख और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (प्रक्षे) विशाल ब्रह्माण्ड में (क्षियन्तः) निवास करते हुए हम जीव (रयिम्) अपने उत्तम कर्मफल को (पुण्यम्) प्राप्त करें और उन से वृद्धि को प्राप्त हों और (ते धीमहि) हम तेरा ध्यान करें ।

ब्रह्माण्ड रूप परम प्लक्ष या चमस का वर्णन उपनिषदों में तथा वेद-सन्त्रों में वर्णित है । इसी प्लक्ष से सौ भूमि बनाई गई है । वहा कर्मफल या मोक्षरूप मधु है । देखो बृहदारण्यक आर छान्दोग्य के मधुविद्याप्रकरण जिसमें पृथिवी आदि को मधु कहा है । मस्तकरूप चमस में वैसे इन्द्रिय गण का आत्मा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १२ २२ ३ २३ ३ १ २२
[४४५] अर्चन्त्यर्क मरुतः स्वर्का आस्तामति श्रुता युवास इन्द्र.६॥

भा०—(स्वर्का.) उत्तम कान्तिसम्पन्न ज्ञानी (मरुतः) प्रजापति वा प्राणगण (अर्कं) अपने शक्तिदाता सूर्यरूप आत्मा या परमात्मा को (अर्चन्ति) स्तुति करते हैं । (स.) वह (युवा) बलवान् (इन्द्र.)

४४४—'पुण्यन्तो' इति ऋ० ।

परमेश्वर (श्रुतः) विख्यात कीर्ति वाला, (आस्तोभति) उनकी रक्षा करता है, उनके शत्रुजनों का सब दिशाओं में विनाश करता है ।

२ ३ १ २ , ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २

[४४६] प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते १०

भा०—(व.) आप लोग (वृत्रहन्तमाय) वृत्रों को विनाश करने में श्रेष्ठ, (विप्राय) ज्ञानवान्, (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (गाथं) ऐसी गान या स्तुति को (प्र गायत) गाओ (यं) जिसको वह (जुजोषते) चाहता है, स्वीकार करता है, जो उसके यथार्थ गुणों का वर्णन करती है ।

इति पृथी दशतिः । दशमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

—ॐ—

॥ द० ७ ॥ ऋषिः—१ पृषप्रवः काण्वः सम्पातो वा । २ वन्धुः । ३, ४ वन्धुः सुवन्धुर्विप्रवन्धुश्च । गौपायना लौपायना वा । ५ सम्मत्तः । ६ भौवन आप्तयः । ७ कवय ऐल्य । ८ भरद्वाजः । ९ आभेयः । १० वसिष्ठः ॥ देवता—१, २ अग्निः । ३, ४, ८, १० इन्द्रः । ५ उषा । ६, ७, ९ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, २, ४, ७ द्विपदापक्तिः । ३, ४ पञ्चदशाक्षरा गायत्री । १० परुपदा अष्टाक्षरा गायत्री । ६, ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप् ॥ स्वर—१, २, ४, ७ पञ्चमः । ३, ४, १०

षड्जः । ६, ८, ९ धैवतः ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २

[४४७] अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाह न सुमद्रथः ॥ १ ॥

अ० ८ । १६ । १ ॥

भा०—(सुमद्रथः) शोभायुक्त, रमणीय, तृप्तिकारी रस से युक्त या यश कान्ति या गतिसाधन देह से युक्त, (चिकितिः) ज्ञानवान्, (अग्निः) परमात्मा हृदय या ब्रह्माण्ड में और आत्मा देह में (हव्यवाह न) अज्ञादि चरु खाने वाले भौतिक अग्नि के समान (अचेति) चैतन्य है, जागृत है ।

४४७—'चिकितुः' 'हव्यवाहस०' इति अ० ।

[४४८] अग्ने त्वं नो अन्तमः उन प्राता शिवो भुवा वरूथ्यः ॥ २ ॥
 ऋ० ५ । २४ । १ । पूर्वार्धः ॥ यजु० ३ । २५ । १५ । ४८ पू० ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (त्वं) तू (न.) हमारा (अन्तमः) समीपतम (प्राता) रक्षक, (शिवः) कल्याणकारी, शिवस्वरूप और (वरूथ्यः) सेनानायक के समान वरण करने योग्य (भुव.) हो ।

[४४९] भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥ ३ ॥

भा०—(महोनां) बड़े २ देवों के बीच में (अग्निः) महान् परमेश्वर (भगो नः) सूर्य के समान (चित्रः) चयन करने योग्य, अद्भुत या पूजा करने योग्य है । वह (रत्नम्) रमणीय शक्ति को (दधाति) धारण करता है ।

[४५०] विश्वस्य प्रस्तोभ पुरो वा सन्याद् वैह नूनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्वस्य प्रस्तोभ) सबके संहारक, सबके उत्कृष्ट पूजा-पात्र ! तू (पुरः वा) पूर्वकाल में भी (सन्) विद्यमान रहा (यदि वा) और (इह) इस वर्तमान काल में भी (नूनम्) तू निश्चय से विद्यमान है । अर्थात् जैसे तू पहले था वैसे अब भी है । तू त्रिकाल में सत् है ।

[४५१] उपा अप स्वसुष्टमः सं वर्त्तयति वर्त्तन्ति सुजातता ॥ ५ ॥
 ऋ० १० । १७२ । ४ ॥

भा०—(उपा) अन्धकार को नष्ट करने वाली उपा (स्वसु) जिस प्रकार रात्रि के (तमः) अन्धकार को (सुजातता) अपने उत्तम प्रादुर्भाव के कारण (अप) दूर कर देती है और राहगीर को (वर्त्तन्ति) सन्मार्ग में (भ्रमवर्त्तयति) रखती है, उसी प्रकार विशोका प्रज्ञा का उदय भी (स्वसु) स्वयं सरण करने वालों अविद्या के अन्धकार को दूर करती और आत्मा के परम गन्तव्य ब्रह्म मार्ग को प्रकाशित कर देती है ।

उ २४ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ २
[४५२] इमा नु कं भुवना सीषधेमन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥ ६ ॥

अ० १० । १५७ । १ ॥

भा०—(इन्द्रः च) आत्मा और (विश्वे देवाः च) सद्य इन्द्रियरूप देव मिलकर (इमा भुवना) इन समस्त भुवनों, पदार्थों को हम (सीषधेम कम्) प्राप्त करें, वश करें ।

२ उ २ उ १ २ उ ३ उ ३ १ २ उ २ उ १ २
[४५३] वि स्रुतया यथापथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥ ७ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पथा) 'मार्ग पाकर (रातयः) बहने वाली जलधाराएं बह जाती हैं उसी प्रकार (रातयः) नाना पदार्थों की दानराशिया, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वद्) तुझ से (वि यन्तु) विविध प्रकार से निकल कर हमें प्राप्त हों ।

उ १ २ उ २ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[४५४] अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ८ ॥

अ० ६ । १७ । १५ ॥

भा०—(अया) इस प्रकार की परमेश्वर की गुणस्तुति से (देवहितं) परमेश्वर के दिये हुए (वाजं) ज्ञान, बल और अन्न को (सनेम) हम प्राप्त करें, करावें और (सुवीरा) उत्तम पुत्रों से युक्त, वीर्यवान् सामर्थ्यवान् होकर (शतहिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्दित, सुप्रसन्न, सन्तुष्ट होकर रहे ।

उ २ उ १ २ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[४५५] ऊर्जा मित्रो वरुण पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र ६

भा०—(मित्रो वरुणः) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ मिलकर (ऊर्जा) विद्युत् रूप बल, पराक्रम से युक्त होकर (इडाः) जिस प्रकार भूमियों को जलों से (पिन्वत) सेचन करते हैं वंसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों मिलकर समाधिकाल में आत्मा की मनो भूमियों को धर्म-

मेघ के रस से आ सेवित करें । और हे (इन्द्र) मेघ ! आप (इपं) अन्न की फसल को (पीवरीं) खूब अधिक मात्रा में, जोरों पर कसरत से (कृणुहि) उत्पन्न करते हो उसी प्रकार हे आत्मन् ! आप (इपं) अभिलाषायोग्य परम सुख की अधिक मात्रा को (कृणुहि) उत्पन्न करो ।

२ २ २
[४५६] इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ १० ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ही (विश्वस्य) समस्त' ब्रह्माण्ड को (राजति) प्रकाशित करता है । और उसमें स्वयं प्रकाशित होता है उस पर शासन करता है ।

इति सप्तमी दशतिः । पञ्चादश खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, १० गृत्समदः । २ गौराङ्गिरसः । ३, ५, ९ परुच्छेपः । ४ रेमः । ६ पवयामरु । ७ अनानतः पारुच्छेपि । ८ नकुलः ॥ देवता—१, १, ४, १० इन्द्रः । २ सूर्यः । ५ विश्वेदेवाः । ६ मरुतः । ७ पवमानः । ८ सविता । ९ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३, ५, ७, ९ अत्यष्टिः । २, ४, ६ अतिजगती । ८, १० अतिशकरी ॥ म्बरः—१, ३, ५, ७, ९ गान्धारः । २, ४, ६ निपातः । ८ १० पञ्चमः ॥

१ २ २ १२ २२ ३ २ २ १२ २२ ३
[४५७] त्रिकहुकेषु महिषो यथाशिरं तुविशुप्सत्तुम्पः सोममपिव
१ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
द्विण्डुना सुने यथावशम् । स ई ममाद महिकर्म कर्तव्य
३ ३ २ १२ २२ ३ १ ३ १२ २२ ३ १२ १
महामुरु सैनं सञ्चदेवो देवं सत्य इन्दु सत्यमिन्द्रम् ॥१॥
क्र० १० । द० ८ । ४ ॥

भा०—(महिषः) यदा पूजनीय, (तुविशुप्सः) यदा यज्ञशाली, (तुम्पत्) सपको तृप्त करने हारा आत्मा (त्रिकहुकेषु) तीनों लोकों में

४५७—'तृप्तमोम,' 'यथावशम्' 'सत्यमिन्द्र सत्य इन्दु' इति ऋ० ।

(विष्णुना) सर्वव्यापक परमेश्वर से (सुतं) प्रेरित या उत्पादित, (यवा-
शिर) यव आदि अन्नों से मिले हुए (सोमं) ओषधिरसों के समान ज्ञान
और आनन्द को (यथावश) अपनी शक्ति के अनुसार (अपिबद्) पान
करता है । (स ई) वही इस प्रकार (महि कर्म) बड़े २ काम (कर्त्तवे)
करने के लिये भी (ममाद्) सदा प्रसन्नाचित रहता है । वह (महाम्
उरु सैन) बड़े भारी, नाना दिशा में, नाना प्रकार की शक्तिरूप सेनाओं
के स्वामी, विश्वसेन (देवं) परमात्म देव को (देवः) प्रकाशमान, ज्ञान-
वान् होकर (सश्चत्) प्राप्त होता है । वह (सत्यः इन्द्रुः) सच्चा, सब का
आज्ञाद करने हारा, या ऐश्वर्य और विभूतिमान् होकर (सत्यम्) सत्यस्वरूप
(इन्द्रम्) परमेश्वर्यवान् परमेश्वर को भी प्राप्त होता है ।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणे—“स एतान् स्तोमान् अपश्यत् ज्योतिर्गौरायुरिति ।
इमे वै लोकाः स्तोमाः । अथमेव ज्योतिरयस्मध्यमो गौरसावुत्तम आयुः ।
ऋग्भाष्ये दयानन्दस्तु 'त्रिकद्रुकेषु लोकेषु' ।

उ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ २ उ २ २ १ २
[४५८] अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मनिर्ज्योतिर्विधर्मः ।
उ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ ३ उ २ उ १ २ उ १ २
ब्रह्म समीचीरूपसः समैर्यदरेपसः सचेतसः स्वसरे
उ १ २ उ २
मन्युमन्ताश्चिता गो ॥ २ ॥

भा०—(अयं) यह (सहस्रमानवः) सहस्रों मननशील विद्वानों
से उपासित, (दृशः) दर्शनीय, (कवीनां) क्रान्तिदर्शी, मेधावी लोगों से
(मतिः) एकमात्र मनन करने योग्य, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप, (विधर्म)
नाना प्रकार की प्रजाओं को धारण करने हारा, (ब्रह्मः) सबको प्राणसूत्र
में बाधने हारा, महान्, सूर्य के समान परमात्मा (स्वसरे) स्वयं सरण
करने हारै, दिन=जीवनकाल में या इस संसार में (समीची-) उत्तम प्रकार
से हृदय में प्रवेश करने हारा, (अरेपसः) तम और पाप के छेप से रहित,

रजो भाव से शुद्ध, (सचेतसः) ज्ञानयुक्त, (उपसः) विशुद्ध ज्योतिर्मय दशाओं, उपाओं, प्रज्ञाओं को (सम् ऐयरत्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है । जो (गो०) सूर्य के (मन्युमन्तः) अत्यन्त ज्ञान प्रकाशवान् नाना (चित्ता०) एकत्र हुए किरणों के समान होता है ।

[४५६] एन्द्र याशुप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्ता ।
 राजेव सत्पति । हवामहे त्वा प्रयस्वन्त सुतेष्वापुत्रासो
 न पितर वाजसातये मंहिष्ठ वाजसातये ॥३॥ अ० ३।१३।१॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार (अयम्) यह (सत्पति०) सज्जनों का या सत्य का प्रतिपालक यजमान (विदथानि) यज्ञों में (राजा इव) राजा के समान (सत्पति०) सज्जनों का पालक होकर (अस्ता राजा इव) शत्रुओं पर बाण आदि फेंकने वाला, वीर धनुर्धारी राजा जिन प्रकार शत्रु आदि के संकटों को दूर करने के लिये प्राप्त होता है उसी प्रकार तू (न) हमारे पास (परावत०) दूर देशों से भी (उप आयाहि न) आ हीं तो जा । (पुत्रास० पितरं न) जिस प्रकार पुत्र लोग पिता की (वाजसातये) दायभाग की प्राप्ति के लिये स्तुति करते हैं उसी प्रकार हम भी (प्रयस्वन्तः) अस्त्रादि हवि को आपके अर्पण करने के लिये अपने हाथों में लिये हुए (वाजसातये) अन्न और ज्ञान के लाभ के लिये (सुतेषु) इन यज्ञ स्थानों में (मंहिष्ठ) सबसे बड़े दानशील (त्वा) तुम्हको (आ हवामहे) आह्वान करते हैं, आदर से याद करते हैं ।

[४६०] तमिन्द्र जोहवीमि मघवानमग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कृत
 अवांसि भूरि । मंहिष्ठा गीर्भिरा च यज्ञिया वधर्न रायं ना
 विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥ अ० ८ । १७ । १६ ॥

भा०—(तं) वस (मघवानं) धन धान्य, सम्पत्ति, विभूतियों से सम्पन्न, (उग्रं) वैभवान्, (सत्रा) सत् पुरुषों के ज्ञाना, (भूरि अत्रांसि) नाना प्रकार की बल, शक्तियों, ज्ञानों, वेद ऋचाओं को (दधानम्) धारण करते हुए (अप्रतिष्कृतम्) किसी से भी न पराजित, (इन्द्रं) वीर राजा के समान परमेश्वर को (जोहवीमि) स्मरण करता हूँ। वह (मंहिष्ठः) सबसे महान् दानशील (गीर्भिः) वेदमन्त्रों द्वारा (यज्ञिया) यज्ञ के कार्यों में (आ ववर्त्त) पुनः १ स्मरण किया जाता है, आवृत्ति किया जाता है। वह (वज्री) सब विघ्नों का नाशक (नः) हमारे लिये (राये) धन प्राप्त करने के लिये (विश्वा) सब (सुपथा) उत्तम २ मार्ग, द्वार, साधन (कृणोतु) करे, खोल दे।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १
[४६१] अस्तु श्रौषद् पुरो अग्निं धिया दधे आ नु त्यच्छ्रद्धो दिव्यं
३ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वृणीमहे इन्द्रवाय वृणीमहे । यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २३
सन्दाय नव्यसे । अध प्र नूनमुपयन्ति धीतयो देवो
३ २ ३ १ २

अच्छ न धीतयः ॥५॥ अ० १। १३६। १॥

भा०—(धिया) आधानकर्म या ध्यानबल से (पुरः) साक्षात् (अग्निं) प्रकाशस्वरूप देव अग्नि को (दधे) धारण करता हूँ, (त्यच्छ्रद्धा) उसके बल में (दिव्य) प्रदीप्त ज्योति को (अनु वृणीमहे) निरन्तर प्रत्यक्ष वरण करते या प्राप्त करते हैं और (इन्द्रवायू) आत्मा और प्राण दोनों का (वृणीमहे) साक्षात् करते हैं। (यत्) जो दोनों (ह) निश्चय से (नव्यसे) सदा नवीन (विवस्वते) सूर्य या सूर्य के समान आत्मा के (नाभौ) आकर्षण शक्ति में (सन्दाय) अच्छी प्रकार अल्प २ प्राणों को अर्पण करके, जोड़कर (क्राणा) समस्त देहों को रचते हैं। (अध)

४६१—'तच्छ्रद्धो,' 'विवस्वति,' 'सदायिनव्यसा,' 'प्र नूनमुपयन्ति' इति अ० ।

और हम (धीतय) ध्यान योग से उपासना करने हारे या अध्ययन द्वारा ज्ञान सम्पादन करने हारे (धीतय इव) रश्मियों के समान या विद्वानों या आगे जाने हारी अंगुलियों या शिष्यों के समान (देवान्) देवों विद्वानों के (नूनं प्र उपयन्ति) आत्यन्त समीप पहुंचते हैं ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
[४६२] प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवया-
२ १ २ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
मरुत् । प्र शर्द्धाय प्र यज्यच सुखादये तवसे भन्ददिष्टये

१ २ ३ १ २
धुनिघताय शवसे ॥६॥ ऋ० ५ । ८७ । १ ॥

भा०—जिस प्रकार (मरुत्वते) पवनों वाले मेघ के लिये (गिरिजाः) विजुलियां चलती हैं । उसी प्रकार (वः मतयः) आपकी बुद्धिया या स्तुतिया (गिरिजाः) बड़े मस्तक वाले विद्वान् प्रवक्ताओं से उत्पन्न हुई हुई (महे) बड़े (मरुत्वते) वायुओं और प्राणों के बलों से युक्त, या प्रजाओं से युक्त, (विष्णवे) व्यापक जगदीश्वर को (यन्तु) पहुंचे । (एवयामरुत्) और प्राणों को चलानेवाला मुख्य प्राणस्वरूप आत्मा भी उसी (शर्द्धाय) बलवान्, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के सम्पादक, (सुखादये) उत्तम आयुधों से भूषित (तवसे) वीर्यवान् (भन्दद्-इष्टये) कल्याणकारी यज्ञ के पात्र (धुनि-घताय) सब को कम्पन करने वाले, कर्म करनेहारे (शवसे) बल-स्वरूप उस ईश्वर के (प्र यातु) खोज में प्रवृत्त होजायें ।

३ २ ३ १ २ २ ३ ३ २ ३ १
[४६३] अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयु-
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
ग्वभिः सूरौ न सयुग्वभिः । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनानो
२ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३
अरुषो हरिः । विश्वा यद्रूपा परियास्युक्रमिः सप्तास्येभि-
१ २
र्क्रमिभिः ॥ ७ ॥ ऋ० ५ । ११ । १ । १ ।

भा०—(सयुग्वभिः) साथ योग देनेहारे सहायकों द्वारा (सूरः न) जिस प्रकार प्रेरक नेता (विश्वा द्वेषासि तरति) सब शत्रुओं को तर जाता है उसी प्रकार (सयुग्वभिः) अपने सहायक इन्द्रियगणों, अश्वों, योग-साधनों द्वारा (सूर) सबका प्रेरक, विद्वान्, सूर्य के समान तेजस्वी (हरिः) गतिशील आत्मा (अया) इस (हरिरया) अज्ञान हरने वाली (रुचा) ज्योति से (पुनानः) मल आदि का परिशोधन करता हुआ (विश्वा द्वेषासि) सब प्रकार के विरोधियों को (तरति) पार कर जाता है । उस (पृष्ठस्य) सबके धारण करने हारे सोम की (धारा) धारण पोषण करनेहारी शक्ति (रोचते) सर्वत्र प्रकाशित होती है । वह (हरिः) सर्व-व्यापक, सर्वदुःखहारक, (अरुणः) सर्व प्रकार से प्रकाशमान, (पुनान) सबको प्रेरित करता हुआ, (यद्) जो वह (विश्वा रूपा) सब पदार्थों या आकाशस्थ पिण्डों को (अक्रामिः) प्रकाश ज्ञानयुक्त (सप्तास्येभिः) शिरोगत सप्त प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या विशाल ब्रह्माण्ड में सब नक्षत्रों को चक्षाने हारे सात महावायुओं द्वारा (परि यासि) घेरे बैठा है, व्यापक है ।

उ० २४ उ २ ३ १२ उ० २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४६४] अ०भि त्वं देवं सवितारमोणयो कविक्रतुमर्चामि सत्यमर्चं
उ २ २ २ ३ २ ३ २ उ० २४ उ० २ ३ १२ २२ ३
रत्नधामभिप्रियं मतिम् । ऊर्ध्वा यस्यामतिमा अदिद्युत-
१ २ ३ १ २ उ० २ ३ १ २
त्सवीमनि हिरण्यपाणिरभिमीत सुक्रतु कृपाम्ब ॥ ८ ॥
यजु० ४ । २५ ॥ अथर्व० ७ । १४ । १, २ ॥

भा०—(ओणयोः सवितारं) द्यौ और पृथिवी के उत्पादक, (कवि-क्रतुं) क्रान्तदर्शी, एव ज्ञानसम्पन्न मेधावी, (सत्यमर्चं) सत्य को प्रकट करने हारे, (रत्नधाम्) रमणीय विभूतियों को धारण करने वाले, (अ-

४६४—प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वा अनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि इत्यपिक्. पाठः,
यजु० 'कृपास्व' इति अथर्व० ।

अभिप्रियं) सबके प्रिय, (भर्ति) मनन योग्य (त्वं देव) उस देव की (अभि अर्चामि) साक्षात् स्तुति करता हूं । (यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊर्ध्व=ऊपर को जाने वाली या सबसे ऊपर विद्यमान (भा०) सूर्यरूप तेजःकान्ति, (अमतिः) अचिन्त्य, अद्वितीय, (सर्वीमनि) जगत् के उत्पत्ति कार्य में । अदिद्युतत्) सर्वत्र प्रकाशित होती है । वह (हिरण्यपाणिः) क्रियारूप या गतिरूप हाथों वाला, अथवा तेजोमय किरणों वाला, (सुकृत्) उत्तम कारीगर (कृपा) अपने सामर्थ्य से (स्व०) सब प्रकाशमान सूर्य आदि बौलोक और परमसुख को (नि-अमिमीत) बनाता और देता है ।

उ १२ २२ उ १ २ उ १ २ उ १२ २२ उ १ २ उ
[४६५] अग्नि होतार मन्य दास्वन्तं वसोः सृनु सहसो जानवेदस
२ उ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २
विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या
उ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
कृपा घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुहानस्य
उ १ २
सर्पिषः ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मैं (दास्वन्तं) दान करने हारे, सबके दाता, (वसो) उस वास करने वाले (सहसः) बलरूप जीवामा के (सृनुं) प्रेरक, (जात वेदसं) समस्त भूतिमान् धनादि पदार्थों के उत्पन्न करने हारे, (विप्रं न) विप्र, मेधावी पुरुष के समान (जातवेदसं) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों के जानने हारे (अग्नि) परमेश्वर को (होतारं) इस महा प्रदायक रूप यज्ञ का कर्त्ता (मन्ये) स्वीकार करता हूं (य०) जो (ऊर्ध्वया) ऊपर या काश में स्थित उवाला द्वारा (स्वध्वरः) उत्तम अहिंसित, अग्निनाशी, हिंमारहित यज्ञ का करनेहारा (देवाच्या) देवों तक पहुँचने हारे (कृपा) सामर्थ्य से (शुक्रशोचिष) अत्यन्त दीप्त कान्ति वाले, (सर्पिषः) सर्व-रूपायी, प्रवरणशील (घृतस्य) कान्तियुक्त सूर्य या अन्न में आहुति दिये

४६५—'विभ्राष्टिमनुशुक्र' इति श्रु० । 'सृनुं' इति श्रु० ।

धी के समान (विभ्राष्टिम्-अनु) विशेष भर्जन करने वाले प्रताप और तेज के साथ स्वयं (वष्टि) विराजमान, प्रकाशित हो रहा है ।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४६६] तव त्वं नयं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्वं दिवि प्रवाच्य
३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ ३
कृतम् । यो देवस्य शवसा प्रारिणा असुरिण्यपः । भुवो
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विश्वमभ्यदेवमांजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिपम् ॥१०॥
अ० २ । २२ । ४ ॥

भा०— हे (नृत) समस्त संसार को नचाने या अपनी इच्छानुकूल चलाने हारे ! (त्वत्) वह (अप०) कर्म (प्रथमं) सबसे उत्कृष्ट (दिवि) द्यौलोक में भी (पूर्वं) सबसे पूर्व (प्रवाच्यं) उत्तम रीति से वर्णन करने योग्य (कृतं) किया हुआ सर्ग (तव) तेरा ही है । (य०) जो (शवसा) अपने वेग या बल से (देवस्य) प्रकाशमान, विजिगीषु, महाप्राणधारी हिरण्यगर्भ के (असुम्) पवनरूप प्राण को (रिणन्) गति देता हुआ (अप०) नाना लोकों को (प्र अरिण०) प्रकृष्ट वेग से चला रहा है । और वह देव (विश्वम्) समस्त (अदेव) न प्रकाशित होने वाले, मृतप्राय, नाना पृथिवी आदि लोकों, पिण्डों को भी (आंजसा) अपने बल से, कान्ति से (भुवत्) व्याप्त होकर उनमें (ऊर्जम्) अस्मादि स्वाद्य पदार्थ और जीवनमय पदार्थ (विदेद्) प्राप्त कराता है, उत्पन्न करता है वह (शतक्रतु०) सैकड़ों कर्मों का करने हारा शिल्पी (इपं विदेत्) हमें जीवन, प्राण और अन्न दे ।

इति अष्टमी दशति० । इति द्वादशः खण्डः ।

इति ऐन्द्रं काण्डम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पाचमानकाण्डम् ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।



॥ ६० ६ ॥ अग्निः—१, ४ अमहीयु । २ मधुच्छन्दा । ३ मृगुर्गण्डिः जमदग्निः । ५ त्रितः आस्यः । ६ कश्यपः । ७ जमदग्निः । ८ छन्द्युन आगस्त्यः । ९, १० काश्यपोऽसितः । पचमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्जः ॥

[४६७] उच्चा ते जातमन्वसो दिवि सन्मूय्याददे ।

उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ १ ॥

अ० ९ । ६१ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्वसः) प्राणधारण सामर्थ्य से (जातं) उत्पन्न हुए (दिविसद्) द्यौलोक, सूर्य में विद्यमान (उग्र) उग्र, उत्कृष्ट, (शर्म) सुख, शरण और (महिः श्रवः) महान् ज्ञान या बल, अन्न को (भूमि) भूमि पर के पुरुष भी (आददे) प्राप्त करते हैं । अर्थात् सूर्य में विद्यमान जीवन, सुख और ज्ञान दीप्ति आदि को हम भूमि पर भी प्राप्त करते हैं ।

[४६८] स्वादिष्टया मादृष्टया पवस्व सोम धारया ।

इन्द्राय पातवे सुनः ॥ २ ॥

अ० ९ । ११ । ११ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ईश्वर ! आप (स्वादिष्टया) अत्यन्त रस दायक (मादृष्टया) अत्यन्त हर्ष या आनन्दकारक (धारया) अपनी धारण शक्ति से (पवस्व) सब में व्यापक हो । (इन्द्राय) इन्द्र आत्मा के

४६७—'दिविसद्' इति अ० ।

४६८—१. पञ्चिर्गतिकर्मा (नि० २ । १४)

(पातवे) पान करने के लिये यह सोम, ज्ञानानन्द रस (सुत.) उत्पन्न किया जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६६] वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ।

विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६५ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (वृषा) धर्मस्वरूप, सुखों का वर्षक, सबसे श्रेष्ठ, (मत्सरः) सबको नष्ट करनेहारा और आनन्दस्वरूप होकर सबके हृदयों में व्यापक, (मरुत्वते) प्राणों और समस्त वायुओं और प्रजाओं के स्वामी आत्मा, सूर्य, ईश्वर और राजा के लिये (धारया) अपनी धारक पोषक शक्ति द्वारा (विश्वा) समस्त प्राणियों, लोकों और प्रजाओं को अपने (ओजसा) बल से (दधान.) धारण करता हुआ (पवस्व) प्रकाशित हो ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७०] यस्त मदो वरेण्यस्तेनापवस्वान्धसा ।

देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥ अ० ९ । ६१ । १९ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (मद.) आनन्द या हर्ष प्रकाश, (देवावीः) देवों, विद्वानों या इन्द्रियगण में प्रकट होता है और जो (अघ-शंसहा) पाप की शिखा देने वाले दुष्ट पुरुष या अचेतनता और अज्ञान का नाशक ज्ञान और काम क्रोधादि दुष्ट भावों का भी नाश करता है (तेन) उस (अन्धसा) प्राणशक्ति से (आ पवस्व) प्रकट हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७१] तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।

हरिरिति कनिकदत् ॥ ५ ॥ अ० ९ । ३३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (धेनवः) दुधार (गाव.) गौएँ (मिमन्ति) अपना दूध देने के लिये हंमारती हैं वसी प्रकार (तिस्रः वाच.) तीनों

वेदसहितायें अपना २ विज्ञान, ज्ञान और कर्म का रस पान कराने के लिये (उद्-ईरते) अपना २ अभिप्राय प्रकट करती हैं और (हरिः) सर्व-व्यापक जगदीश्वर, एवं विद्वान् (कनिकदत्) अपनी ध्वनि या उपदेश मेघ के समान करता हुआ, ज्ञान और सुखों के वर्षक रूप से (एषि) हमें प्रतीत होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४७२] इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ६ ॥ अ० ९ । ६४ । २९ ॥

भा०—हे इन्दो ! ऐश्वर्यशील ! (मरुत्वते) मरुत् प्राणों, वायुओं और समस्त तीव्र, वेगवान् बलशाली पदार्थों के स्वामी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (मधुमत्तमः) मधु के उत्तम रूप से धारण करने द्वारा तू (अर्कस्य) ज्ञान के सूर्य, प्रकाश या जीवन रूप यज्ञ के (योनि) उत्पत्ति स्थान पर (आसदम्) विराजमान होने के लिये (पवस्व) प्रकट हो ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २

[४७३] असाव्यंशुर्मदायाप्सु दत्ता गिरिष्ठाः ।

३ २ ३ ३ १ २

श्येनो न योनिमासदत् ॥ ७ ॥ अ० ६ । ६२ । ४ ॥

भा०—(गिरिष्ठा.) पर्वतों या मेघों में स्थित और विद्वानों की चाणियों में स्थित, या विद्वानों में रहने वाला, (अशु.) सर्वव्यापक (अप्सु) कर्मों और ज्ञानों को उत्पन्न करने में (दत्त.) बलशाली, सोम, आनन्दरस (असावि) प्रकट होता है । वह (योनिस्) अपने प्रादुर्भाव होने के स्थान में (श्येनः न) श्येनस्वरूप आत्मा के समान ही (आसदत्) विराजमान होता है । आत्मा के समान परमात्मा भी हृदय में विराजमान है ।

४७२—‘अतस्य’ इति अ० ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २}
[४७४] पचस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २}
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥८॥ अ० ९ । २५ । १ ॥

भा०—हे (हरे) हरितवर्य ! अथवा पापहरणशील, गतिशील, सर्वव्यापक ! (दक्षसाधनः) समस्त कार्यों को करने हारा (मदः) आनन्द रूप तू (मरुद्भ्यः) प्राणस्वरूप या प्रजारूप (देवेभ्यः) दानशील पुरुषों या इन्द्रियों को और (वायवे) सर्वव्यापक आत्मा के (पीतये) उपभोग के लिये (पचस्व) प्रकट हो ।

^{१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २}
[४७५] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्रे सोमो अक्षरत् ।

^{१ २ ३ २}
मदेषु सर्वथा असि ॥९॥ अ० ९ । २८ । १ ॥

भा०—(सोमः) सोम, वह आनन्दमय (स्वानः) सबको प्रेरित करता हुआ, या स्वयं प्रकाशित होता हुआ (गिरिष्ठाः) वाणी और हृदय में विद्यमान भी (पवित्रे) पवन साधन, शोधक या स्वतः पवित्र हृदय में (अक्षरत्) करित होता है द्रवित होता है, प्रकट होता है । हे (सोम) हे सर्वप्रेरक ! आनन्दमय ! तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वथा) सब रूपों से उनको धारण करता हुआ, तन्मय होकर (असि) विद्यमान है ।

^{१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ २}
[४७६] परि प्रिया दिव कविर्वयासि नप्त्योर्हितः ।

^{३ १ २ ३ १ २}
स्वानैर्याति कान्तिः ॥१०॥ अ० ९ । ३१ । १ ॥

भा०—(कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सोम, आत्मा (नप्त्योः) अधिसवन करने के फलकों, या द्यौ और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों के

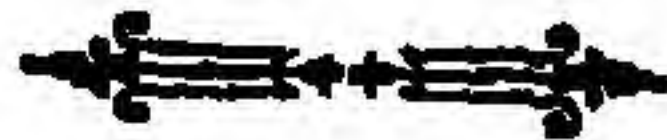
४७४—१ हरे पापहर्त्ता, इति सायणः ।

४७५—सुवानः, 'अक्षरा' इति अ० ।

४७६—सुवाना, इति अ० ।

बीच (हितः) विद्यमान (दिव.) सूर्य या ज्योति के (प्रिया) प्रिय (वयासि) आत्माओं जीवों तक वह (कविकृतु.) ज्ञानानुसार कार्य करने द्वारा (स्वान.) ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने द्वारे विद्वानों द्वारा (परि याति) सर्वत्र प्रचलित हो जाता है, सर्वत्र चर्चा किया जाता है ।

इति नवमी दशति । प्रथम. खण्डः ।



॥द० १०॥ अपि.—१ कविर्मेधावी । २ श्यावाश्वः । ३ त्रिन. । ४, ८ अमहीयु ।
५ मृगु. । ६ काश्यपः । ७ निभुविः काश्यप । ८, १० काश्यपोऽसित ॥
पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ पङ्क. ॥

^{१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
[४७७] प्र सोमासो मदच्युतः अचसे नो मघोनाम् ।
^{३ २ ३ १ २}
सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥ अ० ६ । ३२ । १ ॥

भा०—(मदच्युत.) आनन्द को महाने वाले (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् या आनन्दरस (विदथे) यज्ञ या ज्ञान के अगसर पर (सुता.) नियुक्त या अभिषिक्त, द्रवित होकर (मघोना) इषि या धनादिसम्पन्न (न.) हमारे (अचसे) ज्ञान, कीर्ति, अन्न प्राप्त करने के लिये (प्र अक्रमु.) उत्तम रूप से प्रवृत्त होते हैं ।

^{१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
[४७८] प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्ध्व ।
^{१ २ ३ १ २}
चनानि मद्विषा इव ॥ २ ॥ अ० ६ । ३३ । १ ॥

भा०—(ऊर्ध्वः) जिस प्रकार समुद्र की तरंगें पुरुषों को समुद्र में नाना देशों के भीतर पहुंचा देती हैं या जैसे (मद्विषा.) पक्षे २ सावू पशु

४७७—'मघोन.' इति अ० ।

४७८—'नयन्ति' इति अ० ।

भैसे आदि पीठ पर उठाकर, उनके वाहन बन कर दूर देशों तक पहुंचा देते हैं उसी प्रकार (विपक्षितः) विद्वान्, ज्ञानवान्, कर्मवान् (सोमास) सौम्य स्वभाव वाले जन (अपः) प्रजाओं को (वनानि) उत्तम सेवन करने योग्य पदार्थों के प्रति (नयन्त) प्राप्त कराते हैं ।

[४७६] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २} पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधो नो यशसो जने ।

^{३ २ ३ १ १} विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६१ । २८ ॥

भा०—हे इन्दो ! हे विद्वन् ! आत्मन् ! (सुतः) तू तैयार होकर (जने) राष्ट्र में (पवस्व) प्रकट हो । और (नः) हमें (यशसः) कीर्तिसम्पन्न (कृधि) बना, (विशा द्विष) समस्त द्वेष करने वालों को (अप जहि) नाश कर ।

[४८०] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वृषा ह्यसि भानुना घुमन्तं त्वा हवामहे ।

^{१ २ ३ ३ १ २} पवमान स्वर्दशम् ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६५ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! आत्मन् ! हे (पवमान) सबको पवित्र करने-हारे ! (वृषा हि असि) तू सब सुखों के वर्पण करनेहारा है । (भानुना) सूर्य, या कान्ति से (घुमन्तं) दीप्तिमान् (स्वर्दशम्) सुख या सब के दृष्टा (त्वा) तेरी हम (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

[४८१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २} इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः ।

^{३ १ २ २ ३ १ २} सृजदश्व रथीरिव ॥ ५ ॥ अ० ६ । ६४ । १० ॥

भा०—(चेतनः) चेतनास्वरूप (कवीनां) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञों का (प्रियः) अत्यन्त आदर और प्रेम का पात्र (मतिः) मननशील (रथीः इव) सारथी के समान (अश्वम्) अश्व=इन्द्रियगण को (सृजत्) प्रेरण करता हुआ (पवते) व्यवहार में प्रवृत्त होता है ।

४८१—'मती' इति अ० ।

[४८२] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २} असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।

^{३ १ २ ३ १ २ २} शुक्रासो वीरयाशवः ॥ ६ ॥

अ० ६ । ६४ । ४ ॥

भा०—(वाजिन.) बलवान् (आशव.) शत्रिकारी आलस्यरहित (शुक्रास.) कान्तिमान् (सोमास.) योगिजन, (गव्या) गौ या वाणी की कामना से (अश्वया) अश्व अर्थात् इन्द्रियों को वश करने की इच्छा से और (वीरया) वीर्य, सामर्थ्य लाभ करने की इच्छा से (प्र असृक्षत) प्रयत्न करते हैं ।

[४८३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २} पवस्व देव आयुषगिन्द्र गच्छतु ते मदः ।

^{३ १ २ २ ३ १ २} वायुमारोह धर्मणा ॥ ७ ॥

अ० ९ । ६६ । २२ ॥

भा०—हे (देव) द्योतमान रसस्वरूप आत्मन् ! (पवस्व) तू प्रकट हो और (आयुषक्) साथ ही (ते मद.) तेरा आनन्दप्रवाह (इन्द्रं गच्छतु) आत्मा के पास जावे । और तू (धर्मणा) अपने धारक प्रयत्न से (वायुं) प्राणवायु को (आरोह) वश कर, उस पर आरुढ़ हो ।

[४८४] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २} पवमानो अजीजनो दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।

^{१ २ ३ २ ३ २} ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ ८ ॥

अ० ६ । ६९ । १६ ॥

भा०—(पवमानः) अन्तःकरण और बुद्धितत्त्व को विमल करने वाला साधक योगी सूर्य के समान (दिव) ध्रुलोक, मूर्धा के (चित्रं) विचित्र आदर योग्य (वैश्वानर) सब नरों में व्यापक, (बृहत्) विशाल (ज्योतिः) प्रकाश को (तन्यतुं न) बिजली के समान (अजीजनत्) प्रकट करता है ।

[४८५] ^{१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} परि स्वानास इन्द्रो मदाय वह्निं गिरा ।

^{१ २ ३ १ २} मधो अर्षन्ति धारया ॥ ९ ॥

अ० ६ । १० । ४ ॥

४८५—'परि स्वानास', 'सुता अर्षन्ति' इति अ० ।

भा०—(स्वानासः) सवन किये, सुसम्पादित, (इन्द्रवः) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान्जन (मदाय) अति आनन्द के लिये (बर्हणा) बहुत बड़ी (गिरा) वेदवाणी से (मधोः) मधु, सारभूत आनन्दरस की (धारया) धारा या धारणा शक्ति से (परि अर्पन्ति) सर्वत्र प्रकाशित होते, या व्यापते हैं ।

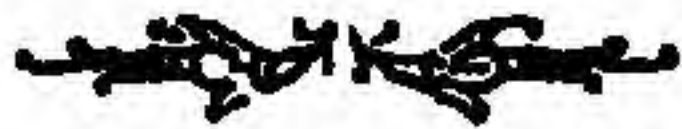
[४८६] परिप्राप्तिष्यदत्कवि. सिन्धोः कूर्माविधिधितः ।

कारुं विभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥ अ० ६ । १४ । १ ॥

भा०—(कवि) तत्त्वदर्शी, विद्वान् (सिन्धोः) आनन्दमय समुद्र के (कूर्मैः) तरङ्ग में (अधिश्रित) बहता हुआ (पुरुस्पृहं) प्रजा के प्रेमपात्र (कारुं) आत्मारूप शिल्पी को (विभ्रत्) धारण करते हुए जहाज़ के समान (परि प्र असिष्यदत्) सब ओर वेग से गमन करता है ।

इति दशमी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः । पञ्चमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥



अथ पष्ठः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ ८० १ ॥ अथिः—१, ८, ६ अमहीयुः । २ बृहन्मतिराङ्गिरमः । ३ काश्यपोऽ-

सितः । ४ प्रभूवसुः । ५ मेध्यातिथिः । ६, ७ निध्रुवि काश्यपः । १०

उचध्यः ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षट्जः ॥

[४८७] उपोपु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्ग परिष्कृतम् ।

इन्द्रं देवा अयासिपुः ॥ १ ॥ अ० ६ । ६१ । १३ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुजातं) उत्तम गुणों से सम्पन्न उत्तम रूप से उत्पन्न, (अप्तुरं) प्रजाओं या इन्द्रियों या कर्मों, जानों में व्यापक, गतिमान्, (गोभिः) गौओं, उनके दुग्धों, वाणियों, रश्मियों से (परिष्कृतम्) सुशोभित, सुमिश्रित, (भङ्गं) सब दुःखों और

शत्रुओं के तोड़ने हारे (इन्दुं) इस आत्मरूप सोम या परमेश्वर के आनन्दरस को (उप अयासिषु०) प्राप्त करते हैं । ईश्वर, आत्मा, राजा और सोमरस चारों पक्षों में स्पष्ट है ।

[४८८] पुनानो अकमीदभि विश्वा मृधो विचर्पणि ।

शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ २ ॥ अ० ६ । ४० । १ ॥

भा०—(विचर्पणि०) विविध प्रजाओं का दृष्टा (सोम०) आत्मा (विश्वा०) समस्त (मृध०) संग्रामों को (पुनान०) पवित्र करता हुआ, सबके कलह मिटाता हुआ (अभि अकमीत्) प्रत्यक्षरूप से सबको व्यवस्थापक रूप में पार कर जाता है वह सबसे ऊँचा होकर विराजता है । उस (विप्रं) मेधा बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी को विद्वान्जन (धीतिभिः) अपनी मतियों और स्तुतियों से (शुम्भन्ति) अलंकृत करते हैं ।

[४८९] आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्धज्ञमि श्रियः ।

इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥ ३ ॥ अ० ६ । ४२ । १६ ॥

भा०—(सुत०) अभिषिक्त राजा जिस प्रकार राष्ट्र में प्रवेश करता है उसी प्रकार विद्वान् ज्ञानी साधक योगी का आत्मा (कलश) सोलह कलाओं से बने इस औंधे मस्तक या ग्रहणचक्र में (आविशन्) व्याप्त होता हुआ (विश्वा०) समस्त (श्रियः) उत्तम आश्रयस्थानों, सम्पदाओं, ज्ञाननादियों एवं सब लोकभूमियों में (अभि अर्पत्) व्याप्त होता है । (इन्दु०) वही इन्द्र परमैश्वर्यसम्पन्न सिद्धयोगी, (इन्द्राय) उस महान् ऐश्वर्यवान् आत्मा को प्राप्त करने के लिये (धीयते) प्रस्तुत होजाता है, उसका ध्यान करता है ।

[४९०] असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्बोः सुतः ।

कामन्वाजी न्यकमीत् ॥ ४ ॥ अ० ६ । ४६ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्यः) रथयोग्य (वाजी) वेगवान्
अश्व (कार्मन्) आकर्षण करनेहारा (सुतः) प्रेरित होकर (चम्बोः) दोनों
सेनाओं के बीच (पवित्रे) पवित्र पर (नि-अक्रमीत्) वेग से दौड़ता है ।
इसी प्रकार यह आत्मा (सुतः) ऐश्वर्य से युक्त होकर (चम्बोः) निष्पादन
फलकों, द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान के बीच (पवित्रे) पवित्र करने
हारे प्राण वायु में (कार्मन्) सब इन्द्रियों को कर्षण करता हुआ (रथ्यः)
इस देह के योग्य (वाजी) वेगवान् अति बलवान् (असर्जि) होकर
(नि-अक्रमीत्) नाना स्थानों में गमन करता है । सोम और रथ के
घोड़े के दृष्टान्त से मुख्य प्राण और ब्रह्माण्ड के विधारक सूत्रात्मा वायु
का वर्णन है ।

२४ ३ १ २ १ ४ २ ३ २ ३ १ २
[४६१] प्र यद्गावो न भूर्ययस्त्वेपा अयासो अक्रमु ।
१ २ ३ २४ ३ २ २

घनन्तः कृष्णामपत्वचम् ॥ ५ ॥ अ० ५ । ४१ । २ ॥

भा०—(यत्) जो (गावः न) किरणों के समान (भूर्ययः) सब
के प्राक्जन करने हारे वा क्षिप्रगामी, (त्वेपाः) कान्तिमान् (अयासः)
गतिशील, (कृष्णां) कृष्ण, कर्षण करने वाली, हानिकारक (त्वचम्)
त्वचा, ऊपर की खात या देखावे, अन्धकार, ढोंग, देहबन्धन को (घनन्तः)
विनाश करते हुए (प्र अक्रमुः) विचरते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६२] अप घ्नन्पत्रसं मृधः क्रतुचित्साम मत्सरः ।
३ १ २ २४ ३ १ २

नुदस्वा देवयुं जनम् ॥ ६ ॥ अ० ६ । ४३ । २४ ॥

४६१—प्रये गावो' इति श्रु० ।

४६२—मृधः=मृधि उन्दने स्वादिः, उन्दनं क्लेदन । मृधः सङ्गदीपा, बन्धनानि
कर्मासङ्गा इति वा ।

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! हे रसरूप (मत्सर०) हर्षकारी होकर विचरने द्वारा तू (क्रतुवित्) सब उत्कृष्ट ज्ञान और कर्मों का जानने और लाभ कराने द्वारा (मृष०) परस्पर के कलहों, संग्रामों या बन्धनों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (भवेद्युं) देवों, विद्वानों के प्रतिकूल नास्तिक (जनं) पुरुष को (नुदत्य) परे कर ।

[४६३] अया पवस्व धारया यथा सूर्यमरोचयः ।

द्विन्वानो मानुषीरपः ॥ ७ ॥ अ० ६ । ६३ । ७ ॥

भा०—हे विद्वन् ! रसरूप (यथा) जिस (धारया) धारा या धारण पोषण शक्ति से (मानुषी०) मनुष्य (अप) प्रजाओं या प्राणों को (द्विन्वानः) प्रेरित करता है (यथा) जिससे (सूर्य) सूर्य के समान सबके प्रेरक राजा या विद्वान् गुरुको (अरोचय०) सब में प्रकाशित करता है (अया) उस धारा से (पवस्व) तू भी सर्वत्र प्रकाशित हो ।

[४६४] स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।

वयिवांसं महीरपः ॥ ८ ॥ अ० ६ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे रसरूप ! (य) जो (मही०) बहुत सारे (अपः) जलों, कर्मों, प्राणों या लिंग-शरीरों और प्रज्ञाओं को (वयिवांसं) आवरण किये, रोके हुए (वृत्राय) आवरणकारी मेघ के समान अज्ञान अन्धकार या कर्मबन्धन को (हन्तवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रं) सूर्य के समान आत्मा की (आविथ) रक्षा करता है (सः) वह तू (पवस्व) प्रकाशमान हो ।

[४६५] अया चीती पारस्व यस्त इन्द्रो मदेप्वा ।

अवाहन्नघतीर्नय ॥ ९ ॥ अ० ९ । ६१ । १ ॥

भा०—हे रसरूप ! (ते) तेरे (भवेयु) आनन्द-रसों में यह कर (इन्द्रः) आत्मा (नवतीः नव) ६६ वर्ष (य०) जो (अवाहन्) पार

कर जाता है (अया) इस (वीती) रीति से (परित्व) देह में व्याप्त रह, गति कर । ऐतिहासिक पक्ष में इन्द्र का ६६ शम्बर की पुरियों का विनाश करना आदि आलंकारिक है ।

[४६६] परि शुचं सनद्रयि भरद्वाजं नो अन्धसा ।

स्वानां अर्प पवित्र आ ॥ १० ॥ अ० ६ । ५२ । १ ॥

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! आनन्दमय ! (नः) हमें (अन्धसा) जीवन-धारण-सामर्थ्य से, (शुचं शयि) कान्तिस्वरूप धन को (परि सनद्) प्रदान कर, और (न. वाजं भरद्) हमें अन्न और ज्ञान भी प्राप्त करा । हे (सोम) विद्वन् ! (स्वानः) सम्पादित होता हुआ, ऐश्वर्यवान् तू (पवित्र) पवित्र करनेहारे दशा पवित्र नामक बल्लस्तण्ड के समान पवित्र, शुद्ध हृदय या ब्रह्म में तू (आ अर्प) स्वयं व्यापक, विराजमान हो और विचर ।

इति प्रथमा दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥



॥ द० २ ॥ अर्पिः—१ मेध्यातिथिः । २, ७ भृगुः । ३ रुच्यः । ४ अक्सारः ।

५, ६ निभ्रुवि-काश्यपः । ८, ९ काश्यपो मारीचः । १० असितः । ११

कविः । १२ जमदग्निः । १३ अयास्य आङ्गिरसः । १४ अमहीयुः ।

पचमानो देवता ॥ गायत्री । पङ्क्तः ॥

[४६७] अचिन्नदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।

स सूर्येण दिद्युमे ॥ १ ॥ अ० ९ । २ । ६ ॥

भा०—(वृषा) वर्षणशील, (हरिः) सबको गति देने हारा, जगदीश्वर (महान्) सबसे बड़ा (मित्रः न) सबके प्रति कोही, सूर्य के समान

४६६—'परीष्ण' 'सनद्रयि' 'स्वानो' इति अ० ।

४६७—'सूर्येण रोचते' इति अ० ।

(दर्शतः) दर्शनीय, (सूर्येण) अपने प्रेरक बल और तेज से (सं दिष्टुते) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है ।

[४६८] आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे ।

पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ अ० ६ । ६५ । २८ ॥

॥ भा०—हे प्रमो ! (ते) तेरे (मयोभुवं) शान्ति और कल्याण के जनक, (वह्निं) सुखों के प्राप्त कराने वाले, (पान्तं) पालक, (पुरुस्पृहं) सबके अभिलाषा योग्य, (दक्षं) बल की (अद्य) इस समय हम (आ वृणीमहे) सब प्रकार से याचना करते हैं ।

[४६९] अध्वर्यो अग्निभिः सुतं सोमं पवित्र आनय ।

पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ अ० ६ । ५१ । १ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) यज्ञनिष्पादक ! (अग्निभिः) पापाय-खण्डों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा (सुतं), निष्पादन किये (सोमं) ज्ञान या आनन्द रस को (पवित्रे) दक्षा पवित्र नामक बल खण्ड के समान विवेकशील चित्त में (आनय) प्राप्त करा और (पातवे) पान करनेहारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पुनाहि) इसे विमल, और स्वच्छ कर ।

[५००] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ अ० ६ । ५८ । १ ॥

॥ भा०—(स०) वह (मन्दी) स्तुति करने हारा, स्वतः तृप्त आत्मा (तरत्स) इस देहबन्धन को तर जाता है । वही (सुतस्य) उत्पन्न हुए (अन्धसः) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की (धारा) 'धारा, या शक्ति द्वारा (धावति) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है । वही (तरत्स) अज्ञान

को पार करके (मन्दी) अत्यन्त आनन्दमय होकर (धावति) परम शुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०१] आ पवस्व सहस्रिणं रयि सोम सुवीर्यम् ।

३ १ २ २ २
अस्मे अवांसि धारय ॥ ५ ॥ अ० ६ । ६३ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस रूप आत्मन् ! तू (सहस्रिणं) सहस्रों (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न (रयि) धन को (आ पवस्व) प्राप्त करा । (अस्मे) हमें (अवांसि) नाना ज्ञान और अन्न (धारय) धारण करा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[५०२] अनु प्रत्नास आयवः पद नवीयो अक्रमु ।

३ १ २ ३ २
रुचं जनन्त सूर्यम् ॥ ६ ॥ अ० ६ । २३ । २ ॥

भा०—(प्रत्नासः) पुराने, प्राचीन, शाश्वत (आयवः) जीवन की कामना करने वाले पुरुष (नवीयः) अत्यन्त स्तुतियोग्य, उत्तम (पदं) प्राप्तव्य ब्रह्मपद या ज्ञातव्य ज्ञान को (अनु अक्रमु) अनुसरण करते हैं । वे (रुचे) अपनी दीप्ति-प्रकाश के निमित्त (सूर्यं) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर को (जनन्त) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
[५०३] अर्पा सोम द्युमत्तमोऽभि द्राणानि रोरुवत् ।

३ २ ३ २ ३ २
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥ ७ ॥ अ० ६ । ६५ । १६ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ! हे (द्युमत्तम) प्रकाशमान् पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ ! (वनेषु) सेवन करने योग्य पदार्थों और कर्मफलों में या ब्रह्माण्डों में, (योनौ) अपने आश्रयस्थान पर (सीदिन्) विराजमान होकर (आ) विचर और (द्राणानि अभि) दृष्ट्यशक्ति, विनाशशक्ति

५०३—'सीदिन् द्येनो न योनिमा' इति अ० ।

इन कलशस्वरूप देहों में भी (रोखत्) प्राणरूप से नाद करता हुआ तू (आ अर्प) व्याप्त हो ।

[५०४] वृषा^{१ २} सोम^{३ १} धुमो^{२ ३} असि^{१ २} वृषा^{३ १} देव^{२ ३} वृषवतः ।

वृषा^{१ ३} धर्माणि^{१ २} दधिषे ॥ ८ ॥

ऋ० ९ । ६४ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (वृषा) सब काम्य-सुखों के वर्षक आप (धुमान्) दीहि से युक्त (असि) हो । हे (देव) सुखों के देनेहारे ! (वृषा) तू सबसे श्रेष्ठ (वृषवत्) धर्मानुकूल कार्य करने और सुखों के वर्षाने वाले मेघ के समान (वृषा) स्वतः सर्वसुखों के वर्षक, धर्ममेघ स्वरूप होकर (धर्माणि) सबको धारण करने वाले नियमों को (दधिषे) धारण करता, निर्माण करता, स्थापन करता है ।

[५०५] इषे^{३ १} पवस्व^{२ ३} धारया^{३ १} मृज्यमानो^{२ ३} मनीषिभिः ।

इन्दो^{१ २} रुचाभि^{३ १} गा इहि^{२ ३} ॥ ९ ॥

ऋ० ९ । ६४ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (मनीषिभिः) मनन करने वाले या मन को तेरे प्रति प्रेरणा करने वाले विद्वान् साधकों द्वारा (मृज्यमानः) विवेचना किया गया, परिशोधित किया हुआ होकर (धारया) निरन्तर आनन्द के प्रवाह रूप में (इषे) अन्न और द्रव्य संपादन के निमित्त (पवस्व) प्रकट हो । और (रुचा) अपनी कान्ति द्वारा ही हे (इन्दो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! प्राणशाल ! तू (गाः) वायियां या इन्द्रियों के प्रति भी (अभि इहि) प्राप्त हो ।

[५०६] मन्द्रया^{३ १} सोम^{२ ३} धारया^{१ २} वृषा^{३ १} पवस्व^{२ ३} देवयुः ।

अव्या^{३ १} वारभिरस्मयुः^{२ ३} ॥ १० ॥

ऋ० ९ । ६ । १ ॥

५०४—'दधिषे' इति ऋ० ।

५०६—'अव्यो वारभिरस्मयुः' इति ऋ० ।

भा०—हे सोम ! (वृषा) वर्षणशील, सुखों का वर्षक, (देवयु.) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों का हितकर तू (मन्दया) आनन्ददायक (धारया) रसरूप धारा से (पयस्व) प्रवाहित हो, और (अस्मयु) हमारा हितकारी (वारेभिः) विघ्ननिवारक बलों से (अघ्याः) हमारी रक्षा कर ।
अथवा—(अघ्याः) चित्ति शक्ति के (वारेभिः) आवरण करनेहारों कोशों में से भी तू (पयस्य) चरित होकर प्रकट हो ।

[५०७] अया सोम सुकृत्ययः महान्तसन्नभ्यवर्द्धया ।

मन्दान इद् वृषायसे ॥ ११ ॥ अ० ६ । ४७ । १ ॥

भा०—हे (साम) आत्मन् ! (अया) इस (सुकृत्यया) उत्तम सदाचाररूप विधि से तू (महान् सन्) बड़ा होता हुआ (अभि अवर्द्धयाः) साक्षात् बड़ा और (मन्दान.) हर्ष से (इद्) ही (वृषायसे) मेघ के समान नाद कर ।

[५०८] अयं विचर्पणिर्हितः पवमानः स चेतति ।

हिन्वान आप्य बृहत् ॥ १२ ॥ अ० ९ । ६२ । १० ॥

भा०—(अयं) यह आत्मा (विचर्पणि) सबको विशेष रूप से देखने वाला, (पवमान.) सबको शुद्ध, पवित्र करता हुआ, सर्वव्यापक (सः) वह (बृहत्) बहुत अधिक (आप्यं) प्रजाओं के हितकारी वस्तु अन्न और ज्ञान को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (चेतति) जाना जाता, या स्वयं ज्ञानवान् होता, या ज्ञान प्रहण करता है ।

[५०९] प्र न इन्दा मह तुन ऊर्मि न विभ्रदर्पानि ।

अभि देवा अयाम्यः ॥ १३ ॥ अ० ६ । ४४ । १ ॥

५०७—'मोम', 'महद्भिदम्भावधत्', 'मन्दान इ-वृषायसे' इति अ० ।

५०९—'महेतल' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! आप (महे तुने) विशाल ज्ञान प्राप्त करने के लिये (नः) हमारे लिये (ऊर्मिम् न) तरङ्ग के समान (विभ्रद्) हर्ष उत्पन्न करते हुए (अर्पसि) प्रकट हो और (देवान् अभि) देवों, विद्वानों ज्ञानयोगियों के प्रति (अयास्यः) 'अयास्य' अर्थात् मुख्य प्राण रूप में प्रकट होते हो । 'अयास्य' का वर्णन बृहदा० उप० में देखो ।

[५१०] ^{३ १ २ ३ २ ४ २ ३ १ २} अप घनन्पवने मृधोप सामो अराव्या ।

^{३ १ २ ३ २} गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १४ ॥ अ० ६ । ६१ । २५ ॥

भा०—(सोम.) ज्ञानवान् आत्मा (मृध.) काम क्रोध आदि आत्मा के साथ युद्ध करने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अराव्या.) अदानशील, कृपण वृत्तियों को भी (अप) दूर करता हुआ (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (निष्कृतम्) मोक्षपद को (गच्छन्) प्राप्त होता है ।

इति द्वितीया दशतिः । चतुर्थं खण्ड ।



॥ द० ३ ॥ अपि —मरुद्वाजः काश्यपो गोतमोऽग्निर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठश्चेते

सप्तर्षयः । पवमानो देवता । वृहती । मध्यमः ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २} [५११] पुनान साम धारयापा वसानो अर्पसि ।

^{१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २} आ रत्नवा योनिमृत्नस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्यम् ॥ १॥

अ० ६ । १०७ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (धारया) धारा से (अप. वसानः) कर्मों और प्रजाओं प्राणों या लिङ्ग शरीरों में व्याप्त होकर मयको (पुनान) पवित्र करता हुआ (अर्पसि) विराजता है । (रत्नवा) रमणीय पदार्थों

का पोषकं (अतस्य) इस जीवन या ज्ञान के (योनिम्) मूलकारण में (आ सीदसि) स्थित है । और स्वयं (हिरण्यय.) कान्तिस्वरूप या सब इन्द्रियगण के लिये हित और रमणीय होता हुआ (देव.) सबका तर्पक, सबके प्रति (उत्सः) रस का सञ्चार कराने हारा है । यहा शुक्र, ज्ञान और योगसाधन से प्राप्त विशेष आनन्दमय अनुभव का वर्णन है ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[५१२] परीनो विञ्चना सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।

३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३
दधन्वाँ यो नर्यो अपस्वन्तरा सुपाव सोममग्निभि ॥२॥

अ० ६ । १०७ । १ ॥

भा०—(अश्वर्युः) इस जीवनयज्ञ या योगयज्ञ का सम्पादक, (सोमम्) अन्तरात्मा के आनन्द को (अग्निभि.) मेघों से जल के समान, और विद्वानों से ज्ञानों के समान योगसाधनों द्वारा (सुपाव) पैदा करता है । (यः) जो सोम (नर्यः) मनुष्यों का हितकारी, (अप्सु) प्रजाओं या कर्मों या प्रज्ञाओं प्राणों के (अन्तरा) बीच में (दधन्वान्) व्याप्त रहता है, (यः सोम.) जो सोम (उत्तमं) उत्तम (हवि.) हविः=तृप्ति परम संतोष और परम आनन्द का साधन है उसको वह योगी (इतः) इस हृदय स्थान से (सुतं) उत्पन्न हुए को (परिविञ्चति) सब ओर को बहाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५१३] आ सोम स्वानो अग्निभिस्तिरा वाराण्यन्यया ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
जनो न पुरि चम्वाविशद्वरिः सदा वनेषु दधिषे ॥ ३ ॥

अ० ६ । १०७ । २० ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अग्निभि.) योगसाधनों या योनिधियों द्वारा (सुवान.) उत्पन्न या साक्षात् किया जाकर (अन्यया) अवि-भेद के बातों के बने, जानने के कपड़े के समान तमोमय (वाराण्ये) आवरणों

को (तिर०) पार करता हुआ (जन न पुरि) जिस प्रकार वीर पुरुष
कोट लाघता हुआ नगर में प्रवेश करता है उसी प्रकार (चम्बो.) चमसों
या द्यौ और पृथिवी में और आत्मा मस्तक के दोनों भागों में (विशट्)
प्रवेश करता हुआ, (हरि) सब तमोमय बाधाओं को दूर करता हुआ
(वनेषु) सेवन करने योग्य स्थान, हृदय में (सद) स्थिति (दधिपे)
प्राप्त करता है । प्रह्लानन्द, आत्मानन्द या योगज सुख का समान रूप
से वर्णन है ।

[५१४] प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा ।

अंशा पयसा मदिरौ न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥४॥

श्र० ६ । १०७ । १२ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों
के अथवा परमेश्वर के ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अर्णसा) जल के
समान ज्ञान, विशेष अनुभव, या प्राणशक्ति से (सिन्धु० न) महान् नदी
या समुद्र के समान (पिप्यसे) बढ़ता है । और (मदिरः) हर्ष का
उत्पादक, (जागृवि) निरन्तर जागने वाला, (अंशोः) व्यापनशील
आत्मा के (पयसा) ज्ञान या स्वाभाविक आनन्द रस से मिलकर
(मधुश्चुतं) मधुर आत्मज्ञान को बहाने वाले (कोश) आनन्दमय कोश
या परमसुख की निधि को (अच्छ) प्राप्त हो ।

मधु और देवों के मधुच्युत् कोश का वर्णन अथर्ववेद और बृहदारण्यक
(बृहदा० उप० अ० २ । ५) में उत्तम रूप से वर्णित है ।

[५१५] सोम उ प्वाण सोतृमिरधिष्णुमिरवीनाम् ।

अश्वयेव हरिता माति धारया मन्द्रया याति धारया ॥५॥

श्र० ६ । १०७ । ८ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (सोतृभि.) सवन करनेहारे साधकों द्वारा (अवीनां) इन्द्रियों के (अधिष्णुभि.) मार्गों से (स्वानः उ) सवन किया जाता हुआ (हरितया) गतिशील (अश्वया) व्यापक चेतना से (मन्द्रया) आनन्दजनक (धारा) प्रवाह के रूप में (याति) हृदय में प्रकट होता है और (मन्द्रया धारया याति) उत्तम अश्व के समान आनन्दजनक धारा के रूप में प्रकट होता है अर्थात्, जैसे राजा तेज घोड़ी पर बुडकी चाल से चलकर नगर में सर्वत्र जाता है उसी प्रकार (सोम) आत्मानन्द भी मन्द्रा-धारा से हृदय में प्रकट होता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५१६] तवाहं सोम शरणं सख्य इन्द्रो दिवेदिवे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ ३ १ २
पुरुणि वभ्रो निचरन्ति मामव परिधी रति तौ इहि ॥६॥

अ० ६। १०७। १६॥

भा०—हे (सोम) परम रस ! (तव सख्ये) तेरी मिश्रता में (अह) मैं (इन्द्र) आत्मा (शरण) निरन्तर रमण करूं । हे (वभ्रो !) समस्त प्रजा के मरण पोषण करने हारे ! (पुरुणि) ये इन्द्रियां या प्रजायें (मा) मुझ को (नि-अव चरन्ति) नीची वृत्तियों में ल दौड़ती हैं । इसलिये (तान्) उन (परिधीन्) चारों ओर से घेरे हुए वैरी रूप इन इन्द्रियों को (अति इहि) पार करते, वश करते उनपर विजय कर जिससे वे विषयरसों में न भागकर भीतरी आनन्द की ओर ही अन्तर्मुख होजायं ।

३ १ २ ३ १ २ २ २
[५१७] मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वासि ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ ३ ३ २ ३
रयि पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्पसि ॥ ७ ॥

अ० ९। १०७। २१॥

भा०—हे (सुहस्त्या) उत्तम हाथ की अंगुलियों के समान दशप्राण साधनों से युक्त ! अथवा अज्ञान को उत्तम रीति से हनन करनेहारे कुशल ! (सोम) आत्मन् ! तू (समुदे) समुद्र, आनन्द-रस के उत्पत्तिस्थान हृदया-काश में (मृज्यमानः) पवित्र होता हुआ (वाच) व्यक्त वेदवाणी को (इन्वासि) प्रेरित करता है । हे (पवमान) हृदय को पाप से शून्य, एवं पवित्र करनेहारे ! आप (पिशाङ्ग) पीले, सुवर्ण के समान कान्तिमान । (बहुलं) अति अधिक (पुरुस्पृहं) प्रजाओं और इन्द्रियों के स्पृहा, अभिलाषा के विषय (रथि) योग्य पदार्थ, ऐश्वर्य विभूति को (अभि अर्पसि) स्वतः व्यापता है ।

उ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५१८] अभि सोमास आयव. पवन्ते मद्यं मदम् ।

उ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्या धिविष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः । ८॥
अ० ९ । १०७ । १४ ॥

भा०—(सोमासः) सोम=सौम्य स्वभाव के, शान्त, तपस्वी (आयव) दीर्घजीवी, (मदच्युतः) हर्ष, सुख का प्रकाश करनेहारे मौजी (मत्सरासः) स्वयं गौरव से परिपूर्ण, आनन्दयुक्त, (मनीषिणः) मन को अपने घर करने हारे, योगि जन (समुद्रस्य) उमड़ते हुए आनन्दसागर की (अधिविष्टपे) चरम सीमा में स्थित होकर (मद्यं) हर्षजनक (मदं) आनन्दरस को (अभि पवन्ते) चारों ओर बहाते या साक्षात् करते हैं ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २
[५१९] पुनान सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २
त्वं विप्रो अमचोङ्गिरस्तम मध्या यज्ञं मिमिक्ष नः ॥९॥

अ० ९ । १०७ । ६ ॥

५१८—'अधिविष्टपि', 'मत्सरास स्वर्दिः' इति अ० ।

५१९—'जागृविरव्यो' 'वारै' अभिर्गिरस्तमो' 'मिमिक्ष नः' इति च अ० !

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (जागृविः) जागरणशील, (अघ्या) अवि, चेतना या प्राण के (वारैः) घृतियों, चेष्टाओं या कहापोहों द्वारा (पुनानः) पवित्र करना हुआ (प्रियः) सबका प्रिय, (विप्रः) मेधावी, (त्वं) तू (अङ्गिरस्तमः) सबसे अधिक प्रकाशमान, आनन्दरूप परमरस में (परि असवः) प्रकट होता है। तू (न.) हमारे (यज्ञं) जीवन-यज्ञ को (मध्वा) उस आनन्दरूप मधु से (मिमिक्ष) सौंच दें, भर दे।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५२०] इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तर्मी मृजन्त्यायवः ॥ १० ॥

अ० ६। १०७। २७ ॥

भा०—(सुतः,) सोमरस के समान तैयार किया हुआ, छाना हुआ, परिशोधित हुआ (मदः) आनन्दस्वरूप (सोमः) सोम (मरुत्वते) प्राणों, प्रजाओं और मध्यस्थानीय मरुद्गण के अधिपति (इन्द्राय) आत्मा, गजा और परमात्मा के लिये (पवते) बहता है। वह (सहस्रधार.) सहस्रों शक्तियों के रूप में (अव्यम्) अवि=चेतनामय मन-साधन को (अति) अतिक्रमण करके (अर्पति) प्रकट होता है। (तम्) उस (ई) इस सोम रस को (आयवः) परम आयु से सम्पन्न साधक लोग (मृजन्ति) और भी परिष्कृत करते हैं। अवि मेरी रूप चेतना का वर्णन अथर्व में विस्तार से है। जैसे—अविर्दे नाम देवतर्त्तेन परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितक्षतः। अथर्व० (१०८। ३१)

इसीका वर्णन वशा, ब्रह्मगवी, मेरी, शतौदना, मधुकशा आदि नाना नामों से वेदों में आया है। वही सप्तर्षियों की ब्रह्मवती है जिसका सोम घृत और छन्द. पात्र है, ब्रह्म और तप उसका दूध है। इत्यादि। अथर्व० ८। १० (४) १४ ॥

[५२१] ^{१ २}पवस्व ^{३ १ २ ३ १ २}वाजसानमोऽभि ^{२ २ ३ १ २}विश्वानि ^{३ १}वार्या ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २}त्वं ^{२ २}समुद्रः ^{३ १}प्रथमे ^{३ १}विधर्मन् ^{३ १}देवेभ्यः ^{३ १}सोम ^{३ १}मत्सरः ॥११॥

ऋ० ६ । १०७ । २३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मानन्द ! (विश्वानि) समस्त (वार्या) आवरणकारी बाधाओं को (अभि) मुक्तावला करके, उनको हटाकर (वाजसानमः) ज्ञान और बल से सम्पन्न होकर (पवस्व) प्रकाशित हो। (त्वं) तू हे (सोम) परमरस ! हे (विधर्मन्) नाना प्रकार से पोषण करने वाले (मत्सरः) आनन्द रस में बहने वाला, (समुद्रः) समुद्र के समान हृदय में उमड़ने वाला (देवेभ्यः) द्योतमान, प्रकाशमान, ज्ञानी, दिव्यगुणी, साधकों या इन्द्रियों के लिये भी (प्रथमे) श्रेष्ठ कर्म, मुख्य उपदेश में (पवस्व) प्रकट हो ।

[५२२] ^{१ २}पवमाना ^{३ २ ३ २ ३ १ २}असृक्षत ^{३ १ २}पवित्रमतिधारया ।

^{३ १ २}मरुत्वन्तो ^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३}मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभिप्रयांसि च ॥१२॥

ऋ० ६ । १०७ । २५ ॥

भा०—(पवमानाः) पवित्र, परिशोधित किये गये, (मत्सरा.) आनन्दरस में विचरण करने वाले (धारया) अपनी धारणा के बल से (पवित्रं) पवित्र, पावन करनेहारे ज्ञान को (अति) अतिक्रमण करके (मरुत्वन्त) मरुत्, प्रायों से युक्त (इन्द्रियाः) आत्मा के ऐश्वर्य से युक्त (हया.) गतिशील ज्ञानी होकर (मेधाम्) मेधा (प्रयासि) और बलों को (अभि) साक्षात् प्राप्त करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

५२१—'वाजसानमे' 'काव्या' 'समुद्र' इति ऋ० ।

५२२—'पवमाना' 'अभिप्रयासि' इति ऋ० ।

॥ ५० ४ ॥ ऋषिः—१, ९ उशनाः काव्यः । २ वृषगो वामिष्ठः । ३, ७ पराशरः
शाकल्यः । ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुणः । ५, १० मनस्वो देवोदासिः । ८
प्रत्नग्नः काव्यः । पचमानो देवता । त्रिष्टुप् । देवतः ॥

[५२३] प्र तु द्रव परि कोशं निषीद नृभिः पुनानो अभिवाजमर्थं ।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोच्छ्रायर्हो रशनाभिर्नयन्ति ॥ १ ॥
अ० ६ । ८७ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परम आनन्दरस ! (प्र द्रव) तू चरित हो । और
(कोशं) कोश, ग्रन्थारण्य, मूर्धास्थान को (परि निषीद) व्यास करके वि-
राजमान हो और (नृभिः पुनानः) विद्वान् पुरुषों से पवित्र या विवेचित,
परिशोधित होकर (वाजम्) ज्ञान के प्रति (अभि अर्थ) साक्षात् प्रवाहित
हो, ज्ञान को प्राप्त हो । (वाजिन) तल्लघान्, वेगवान् (अश्व न) अश्व को
जिस प्रकार (मर्जयन्तः) परिमार्जन करते हुए, झड़ते पोंछते हुए, या
सान्त्वना देते हुए (रशनाभिः) धारों से पकड़ कर संग्राम में ले जाते हैं
वसी प्रकार (वाजिनं) ज्ञान विभूति से युक्त सोमरूप आत्मा को परिमा-
र्जन, या शोधन करते हुए (रशनाभिः) योगसाधनाओं से (यर्हिः)
हृदयरूप यज्ञ में या वृद्ध यज्ञ में (नयन्ति) लेजाते हैं ।

[५२४] प्र काव्यमुजनेव ब्रुवाणो देवो देवाना जनिमाविवक्ति ।
महिमतः शुचिवन्धुः पाचकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् २
अ० ९ । ६७ । ७ ॥

भा०—(उशना इव) विद्वान् मेधावी, सोम्यस्वभाव, (देवः) विद्वान्,
सुखप्रद होकर (काव्यं) सुन्दर काव्य, वेदज्ञान या संसार के रहस्य को
(प्र ब्रुवाणः) उत्तम रीति से वर्णन, उपदेश करता हुआ (देवानां) वरुणों,
रुद्रों और आदित्यों, एवं इन्द्रिय गण, और प्राण अपानादि नव प्राणों के

(जनिम्) प्रादुर्भाव होने के रहस्य को (आ विवाक्त्रि) स्पष्ट रूप से बत-
लाता है । और (महिघ्नतः) विशाल कर्म और प्रज्ञा का करने वाला,
(शुचिवन्धु.) अपने शुद्ध तेज द्वारा सबको अपने साथ बाधने द्वारा, सब
पवित्र हृदयों का बन्धु, (पावकः) सबको पवित्र करने द्वारा, अभिरुचिरूप
(वराह = वर-आह.) श्रेष्ठ उत्तम वाणी का बोलने द्वारा (रेभन्) उत्तम
ज्ञानोपदेश करता हुआ (पदा) प्राप्त करने योग्य ज्ञान रहस्यों को और उत्तम
स्थानों, ज्ञानदशा और सुखप्रद दशाओं को (अभि एति) प्राप्त होता है ।

‘उशनाः—वशे, कनसिरौणादिः । वश कन्तौ अदादि ।

[५२५] तिस्रो वाच ईरयति प्र वहिर्भूतस्य धीति ब्रह्मणो मनीषाम् ।

गावो यन्ति गोपति पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतया

वाचशानाः ॥ ३ ॥

ऋ० ९ । ६७ । ३४ ॥

भा०—(वहि) ज्ञान का वहन करने वाला (तिस्रः वाच) ऋग्,
यजुः, साम स्वरूप तीन वेदवाणियों को (प्र-ईरयति) उत्तम रूप से प्रकट
करता है । (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान और यज्ञ को धारण करने वाली
(ब्रह्मण) ब्रह्म या वेदज्ञ की (मनीषा) मनको प्रेरणा करने वाली
वाणी स्तुति को भी प्रेरित करता है । जिस प्रकार गौपं गोपाल के पास
आजाती हैं उसी प्रकार ये (गावः) गोरूप वेदवाणिया मानो अपना रहस्य-
तत्त्व (पृच्छमाना.) पूछती हुई (गोपति) वेदवाणियों के परिपालक
'विद्वान्' के पास (यन्ति) पहुँच जाती हैं (मतया) मननशक्तिया या
सुन्दर विचार धाराएँ भी (वाचशाना.) अपने अनुकूल पालक की कामना
करती हुई (सोम) उस शम, दम आदि गुणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी के पास
(यन्ति) चली जाती हैं ।

अपि यत्क के मत से वहिरात्मा भवति । स तिस्रो वाच ईरयति
प्रेरयति विश्रामतिबुद्धिमताम् । ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि ।

अयमेवेतत्सर्वमनुभवति, इति आत्मगतिमाचष्टे । अर्थात्-बहि आत्मा है । वह तीन वाणियों को प्रेरित करता है विद्या, भक्ति और बुद्धि को । अतः अर्थात् आत्मा के कर्म ब्रह्म को अभिमत हैं । यह ही सब अनुभव करता है इस प्रकार इस मन्त्र में आत्मा की गति कही है । विवरणकार माधव के मत में विद्या अर्थात् महत् तत्त्व, बुद्धि अर्थात् अहंकार, मन अर्थात् प्रधानता से पांचों ज्ञानेन्द्रिया, आत्मा इनको प्रेरित करता है । अतः आत्मा को धारण करने वाली मन की प्रेरणा ब्रह्म के अनुकूल होती है । इन्द्रिय रूप गौण गोपति आत्मा से उसको पूछती है अर्थात् सोमरूप आत्मा की कामना से उसी में लीन हो जाती है ।

ॐ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५२६] अस्य प्रेया हेमना पूयमानो देवा देवेभिः समपृक्त रसम् ।

ॐ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुतः पवित्रं पर्येति रेमन् मितेव सद्यः पशुमन्ति होता॥४॥

अ० ६ । ६७ । १ ॥

भा०—(अस्य) इस विद्वान् आत्मा के (प्रेया) प्रेरण करने वाले (हेमना) स्वर्ण के समान कान्ति वाले तेज से (पूयमानः) पवित्र, परि- शुद्ध होता हुआ (देवः) अति दीप्तिमान्, या सबको आनन्दरस का देने वाला, (देवेभिः) इन्द्रियगण के साथ (रसं) आनन्द रस का (सम् अपृक्त) सम्पर्क करा देता है । उस समय (सुतः) वह प्रकट होकर (रेमन्) उपदेश करते हुए ज्ञाता के समान अनादित ध्वनि करता हुआ (पवित्रम्) परम पावन पद को (परि-पुति) प्राप्त होता है और (मितेव) जिस प्रकार कार्यकर्ता आकर (पशुमान्त) पशुओं से युक्त (सद्यः) घर में आता है और पशु को जोतकर रथ में लगाता है उसी प्रकार वह (होता) साधक (मितेव) ज्ञानी होकर (पशुमन्ति) पशुरूप इन्द्रियगण से युक्त, (सद्यः) इस शरीर को (परि-पुति) पूर्ण वश कर लेता है । सोमरस के

प्रादुर्भाव होने पर साधक की वृत्तियाँ स्वयं ससार के भोगों से विरत होकर आत्मानन्द में लग जाती हैं, उसी दशा को दशोष्ठा गया है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५२७] सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवां जनिता पृथिव्या ।
३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥५॥

अ० ९ । ६६ । ५ ॥

भा०—(मतीनां) सब मनोवृत्तियों का (जनिता) प्रादुर्भाव करने हारा, (दिवां) सूर्य के समान प्रकाशमान, तेजः पुञ्ज का (जनिता) उत्पादक, (पृथिव्या.) पृथिवी के समान विस्तृत स्वभा का (जनिता) उत्पादक, (अग्नेः) अग्निरूप वाणी का (जनिता) उत्पादक, (सूर्यस्य) सूर्यरूप चक्षु का (जनिता) उत्पादक, (इन्द्रस्य) प्राणरूप इन्द्र का उत्पादक, (विष्णोः) सर्वव्यापक आकाश के समान ओत्र या हृदयाकाश का (जनिता) उत्पादक यह (सोम) आत्मा (पवते) प्रकट होता है । (देखो निरुक्त यास्क परि० २ । २२)

समष्टि व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड में परमात्मा और पिरुड में आत्मा समा नरूप से स्पष्ट हैं । इसका विवरण देखो (कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषत् अ० १, प्रतर्दनेन्द्र संवाद)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५२८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोऽधामङ्गोपिणमवावशन्त वाणीः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसाना वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥६॥

अ० ६ । ६० । २ ॥

भा०—(वाणी) वेद की वाणियाँ, या आत्मा का निरूपण करने वाली सब वाणियाँ (त्रिपृष्ठं) वाणी, मनः और काय तर्कों स्थानों पर स्पर्श करने वाले, (वृषणं) सब सुखों, ज्ञानों और बलों के वर्धक, (वयोः-धाम्) प्राणरूप बल को धारण करने वाले, (अङ्गोपिणम्)

प्रत्येक अङ्ग में निवास करने वाले, आत्मा को (अभि वाचशान्त)
नित्य कामना करती हैं अर्थात् अपना सब गुप्त रहस्य उसी के
प्रति प्रकट करती हैं और वह (वना) सब देहों में (वसानः)
निवास करता हुआ (वरुणः) सबको व्याप्त करने वाला, सबके
वरण योग्य, नदियों के लिये, (सिन्धुः न) महासमुद्र के समान
(वार्याणि) सबके मनन हरने हारे, वरण योग्य धनों को (रत्नधा०) रत्नों
को धारण करनेद्वारा, होकर (वि-दयते) नाना प्रकार से प्रदान करता या
पालन करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ ३ १२ २२ ० २
[५२६] अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः।

१ २ ३ २ ३ २ ३ ० ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वृषा पवित्रे अभिस्तानो अन्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ॥७॥

अ० ६ । ६७ । ४० ॥

भा०—(बृहत् सोमः) वह बड़ा विशाल सोम, सबका प्रेरक और
उत्पादक परमात्मा और आत्मा (स्वानः) प्रकट होता हुआ (अद्रिः)
कभी न टूटने वाला, अभेद्य, नित्य, अमर आत्मा (वृषा) सब सुखों के
वर्षाने हारा, (अन्ये) अविनाशी, चिन्मय (पवित्रे) सबको पवित्र करने
हारे (सानोः अधि) आनन्दस्वरूप ब्रह्म में या मूर्धा प्रदेश में (वावृधे)
बढ़ता है, अपनी सहिमा को अनुभव करता है । वह (समुद्रः) समुद्र के
समान सब इन्द्रियों का एकमात्र आश्रयस्थान, (प्रथमे) अति उत्कृष्ट
(विधर्मन्) नाना आश्रयस्थानों में या अन्तरिक्ष स्थानों में या इन्द्रियों के
छिद्र देशों में (प्रजाः) अपनी प्रजाओं को, इन्द्रियगणों को, (जनयन्)
उत्पन्न करता हुआ, (भुवनस्य) इस ब्रह्माण्ड और इस देह का (गोपाः)
पालक (अक्रान्) सबको लांघ कर बैठा है, वह सबसे परे विद्यमान है ।

इसका रहस्य गीता, बृहदारण्यक, ऐतरेय आदि में स्पष्ट किया है । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में यास्क ने लगाया है (यास्क परि० २ अ०) ।

[५३०] कनिक्कन्ति हरिरासृज्यमान सीदन्वनस्य जठरे पुनानः ।

नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतां मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥

ऋ० ६ । ६५ । १ ॥

भा०—(आसृज्यमानः) सब ओर से प्रकट होना हुआ (पुनानः) शुद्ध पवित्र रूप से प्रकट होकर (हरिः) सर्वव्यापक, आत्मा (वनस्य) भोग्य या सेवन करने योग्य इस देह के (जठरे) मध्य भाग में (सीदन्) विद्यमान, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा, (यतः) संयत होकर (गाम्) चाखी को (निर्णिजं) अति शुद्ध, परिमार्जित (कृणुते) कर देता है । (अतः) इसलिये आप लोग (स्वधाभिः) स्व=अपनी धारणा शक्तियों, या स्व=आत्मा को धारण करनेवाली चित्ति शक्तिद्वारा (मतिं , मनन, विचार (जनयत) करो, उसकी साधना, उपासना, स्तुति आदि करो ।

[५३१] एष स्य ते मधुमो हन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः

सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तम बर्हिः राज्यस्थात् ॥९॥

ऋ० ६ । ८७ । ४ ॥

भा०—हे (हन्द्र) आत्मन् ! (वृष्ण) वर्षणशील (ते) तेरे लिये (एषः स्यः) यह वह (सोमः) आत्मा सोम, आनन्दरूप रस (वृषा) आनन्द का वर्षक (मधुमान्) अमृतज्ञान रूप मधु से युक्त (पवित्रे) पवित्र ज्योतिर्मय रूप में (परि अक्षाः) चारों ओर से स्रवित होता है । वह (सहस्रदाः) हजारों सुखों का देने वाला, (शतदाः) सैकड़ों शक्तियों का देने वाला, (भूरि-दावा) बहुत आनन्द को देने वाला, (शश्वत्तमं) निरन्तर, स्थायी, नित्य, (बर्हिः) महान् आत्मा में (वाजी) बल, ज्ञान से सम्पन्न होकर (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है ।

[५३२] पवस्व सोम मधुमाँ क्रतावापो वसानो अधि सानो अग्न्ये ।

अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सरः इन्द्रपानः ॥१०॥

श्र० ६।६६।१३॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (मधुमान्) मधुर ब्रह्मरस से युक्त, (क्रतावा) सत्यज्ञान से युक्त, (सानोः अधि) हृदय देश या मस्तक भाग में (अग्न्ये) अवि-चेतना या प्राण के बने चित्त पर भी (अपः) नाना ज्ञान वृत्तियों को (वसानः) आच्छादित करता हुआ । (घृतवन्ति) दीप्ति या ज्योति से सम्पन्न (द्रोणानि) कलशों, मस्तकों में (मदिन्तमः) अति हर्ष आनन्द या आत्मा में संतोष उत्पन्न करने वाला (मत्सरः) हर्ष के रूप में हृदय में व्यापने वाला (इन्द्रपानः) आत्मा के एकमात्र पान करने योग्य होकर (अव रोह) नीचे की ओर बह आ ।

इति चतुर्थी दशतिः । षष्ठः खण्डः ।

॥ द० ५ ॥ अवि — १ प्रसन्नः । २, १० पराशरः शाक्यः । ३ इन्द्रप्रमत्तिर्वा-
मिष्ठः । ४ वमिष्ठो मैत्रावरुणः । ५ कर्णश्रुन् मृडीको वा वासिष्ठः । ६ नोधाः गौतमः ।
७ कण्वो धोरः । ८ मन्युर्वासिष्ठः । ९ कुत्स आङ्गिरसः । ११ कश्यपो मारीचः ।

१० प्रस्कण्वः काण्वः ॥ पवमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् ॥ धैवतः ॥

[५३३] प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गम्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।

भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवन्तसस्त्रिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥१॥

श्र० ६।६६।१॥

भा०—(सेनानीः) सेना का नायक, (शूरः) बलवान्, शूरवीर, सेनापति जिस प्रकार (रथानां अग्रे) रथों, रथारोही सैनिकों के आगे (गम्यन्) पृथिवी के विजय के लिये (प्र एति) आगे २ बढ़ता है और

५३२—'वृषावृष्णो' 'सहस्रसाः शतसा' इति श्र० ।

(अस्य सेना) इसकी सेना (हर्षते) उत्साह से प्रसन्न होती है, वह (सोम०) वीर राजा (सखिभ्यः) अपन मित्रों के लिये (भद्रान्) अति कल्याणकारी, सुखदायक (इन्द्र-हवान्) ऐश्वर्ययुक्त राजोचित आह्वानों, पुकारों और आज्ञावचनों का (कृण्वन्) करता हुआ (रभसानि) अति वेग वाले (वज्रा) ठक देने वाले शत्रु के आक्रमणों को (आदत्ते) हटा देता है उसी प्रकार (सेनानी०) इन्द्रियगणों का नेता (रथानाम् अग्रे) रमण योग्य आनन्दप्रद देहों, या आभ्यन्तर रसों के मुख्य पद में स्थिर होकर (गन्धन्) वाणियों, या इन्द्रियसामर्थ्यों को, या आत्मभूमियों पर वश करता हुआ (प्रपुति) आगे बढ़ता है । (अस्य सेना हर्षते) इसके समस्त इन्द्रिय, प्राणगण, या साधक प्रसन्न होते हैं । (सखिभ्यः) मित्र साधकों या प्राणगण को वह (भद्रान्) ऐश्वर्ययुक्त (इन्द्रह-वान्) आत्मा के नाना ज्ञानसामर्थ्य प्रदान करता हुआ (रभसानि वस्त्राणि) अति वेग से युक्त प्रबल आच्छादक आवरणों को (आदत्ते) दूर कर देता है । इन्द्रिया तन्मुख होजाती हैं । इन्द्र अर्थात् आत्मा के संस्मरण उस समय मंगल-जनक जंचते हैं और तामस आवरण आत्मा के सामने से हटने लगते हैं ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[५३४] प्र ते धारा मधुमतीरसुप्रन्वारं यत्पूतो अत्येज्यव्यम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

पवमान पवसे धाम गोना जनयन्त्सूर्यमग्निवो अर्के ॥ २ ॥

अ० ६ । १७ । ३१ ॥

भा०—हे सोम आनन्दमय ! (मधुमती०) अति आनन्ददायक मधु से मिली हुई, ब्रह्मज्ञान की (ते धाराः) तेरी रस-धाराएं तब (प्र असृमन्) खूब उत्पन्न होती हैं (यत्) जब तू (पूत०) छूने हुए ओषधि रस के समान पवित्र होकर (अज्यम्) प्राणमय कोश में से (अति एषि) पार होकर प्रकट होता है । हे (पवमान) पवित्रकारक ! (गोना) इन्द्रियों के

५३४—‘अत्येज्यव्यान्’ ‘जज्ञान.’ इति अ० ।

भीतर तू अपना (धाम) तेजो रूप रस- (पवसे) चुआता है और वहां प्रकट होकर (अर्कैः) अपनी पवित्र किरणों से (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्वी साधक को (अर्पिन्वः) आनन्दरस से पूर्ण करता है । इस दशा में आदित्य के समान साधक तमतमाता है ।

१ २ ३४ २२ ३ १२ २२ ३ १२ २२
[५३५] प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महने धनाय ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २२
स्वादुः पवतामतिचारमव्यमासीदतु कलश देव इन्दुः ॥३॥
अ० ६। ६७। ४ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (महते) बड़े भारी (धनाय) खजाने के प्राप्त करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से स्तुति गान करो । और (देवान्) विद्वानों की हम (अभि अर्चाम) सब प्रकार से अर्चा, पूजा, सत्कार और प्रार्थनों की माधना करें । (सोमं हिनोत) सोम, आत्मानन्दमय रस को प्रेरित करो, प्राप्त करो । (अव्यं चार) प्राणमय आवरण को (अति) पार करके (स्वादुः) आनन्दकारक आनन्दरस (पवताम्) प्रक्षवित हो और (इन्दुः, देवः) वह प्रकाशमान, ऐश्वर्यवान् देव (कलशं) इस घट, देह हृदयाकाश, या सोलहोंकला वाले आत्मा में घट में सोमरस के समान स्वच्छ होकर, (आसीदतु) राष्ट्र में राजा के समान आ विराजमान हो ।

१ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[५३६] प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिपन्नयासीत् ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥
अ० ६। ६७। १ ॥

भा०—(हिन्वानः) सबको प्रेरण करने वाला, (रोदस्योः जनिता) सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों का उत्पादक, या प्रेरक

५३५—'स्वादुः पवते' 'देवयुनः' इति अ० ।

५३६—'सनिष्यन्' इति ।

(वाजं सनिपन्) ज्ञान, बल और अन्न का विभाग या प्रदान करता हुआ
(रथ. न) रथ, या रमणीय सूर्य के समान योगी या स्वच्छ आत्मा (प्र
अयासीत्) उत्कृष्ट मार्ग से गति करता है और (आयुधा) उत्तम हथि
यार, योगसाधनों से (इन्द्रम्) आत्मा या परमात्मा की ओर (गच्छत्)
जाता हुआ (सशिशानः) अच्छी प्रकार और भी तीव्र, प्रखर तेजस्वी
होता हुआ (विश्वा वसु) समस्त जीवन के वास हेतु सम्पदाओं को
(हस्तयो०) अपने वश में (आदधानः) करता हुआ (प्र अयासीत्)
आगे २ बढ़ता चला जाता है ।

[५३७] तत्तद्यदी मनसो वेनता वाग् ज्येष्ठस्य धर्मं द्युक्षोरनीके ।

आदीमायन्वरमावावशाना जुष्ट पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥
अ० ६ । ६७ । २२ ॥

भा०—(वेनत०) कान्तिमान्, अज्ञान, तम से पार ज्ञानी (मनस०)
मननशील योगी की (वाग्) वाणी (यदि) जब आनन्दरस को (ज्येष्ठस्य)
इस ज्येष्ठ इन्द्र आत्मा के (धर्मन्) धारण करनेहारे, (द्युक्षो०) प्रदीप्त,
प्रकाशित तेज के (अनीके) प्रमुख स्थान में (तद्यत्) प्रकट करता है ।
(आत्) तब (धरं) धरण करने योग्य (जुष्ट) सेवनीय, (पतिं) अपने पालक
(इन्दुम् ई) इस हृदय में साक्षात् दधित होने वाले आनन्दमय रस के पास
(गावः) इन्द्रिय या प्राणगण (आ वावशाना०) अत्यन्त कामना करती
हुई गौओं के समान (आयन्) आजाते हैं । आनन्द रस के वर्णन में जब
वाणी मग्न होजाती है तब और इन्द्रिय वृत्तियाँ भी अन्तर्मुख होजाती हैं ।

[५३८] साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुषी ।

हरिः पर्यद्रवजाः सूर्यस्य द्रोणे ननक्ष अत्यो न वाजी ॥६॥
अ० ६ । ६३ । १ ॥

५३७—धर्मणिक्षोरनीके' इति अ० १ ।

भा०—(धीरस्य) ध्यानवान् योगी की (साकमुद्यः) एक साथ ज्ञान या आनन्दरस का सेवन करने हारी (दश स्वसारः) दश बहनों के समान स्वयं सरण करनेहारी दश (धनुर्ग्रीः) प्रेरण करने वाली (धीतियः) ध्यानवृत्तिया, इन्द्रिया, या स्तुतिया (मर्जयन्त) आत्मा को निरन्तर अधिकाधिक पवित्र करती हैं । (हरिः) सब दुःखों को हरण करनेहारा आत्मानन्दरस (सूर्यस्य) कान्तिमान्, मुख्य, आदित्य के समान उज्ज्वल आत्मा के (जाः) स्त्रियों के समान उसके अधीन प्रकट चित्तवृत्तियों के प्रति (पर्यदधत्) बढ़ता है । और वह स्वयं (आत्यः न वाजी) वेगवान् अश्व के समान (द्रोणं) पात्र या कलश में सोम रस के समान होनेवाली आत्मा में (ननधे) व्याप्त हो जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[५३६] अधिश्वस्मिन्वाजिनीव शुभः स्पर्द्धन्ते धियः सुरे न विशः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अपा वृणानः पचतं कवीयान्व्रजं न पशुवर्द्धनाय मन्म ॥७॥

अ० ६ । ६४ । १ ।

भा०—(वाजिनि-इव शुभः) जिस प्रकार घोड़े पर आभूषण एक से एक बढ़कर शोभा देते हैं और (सुरे न विशः) जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के समस्त प्रजा के लोग भेट चढ़ाने में एक से एक बढ़ते हैं, उसी प्रकार (विशः) अन्तःप्रवेश करनेहारी (शुभः) शोभा-दायक, कल्याणकारिणी (धियः) चित्तवृत्तिया भी (अरिमन्) इसक राजा रूप आत्मा के समस्त (अधि स्पर्द्धन्ते) एक से एक बढ़ने का यत्न करती हैं । और (मन्म) जिस प्रकार अपने मन को हरने वाले (व्रजं न) गौवों के घाड़े में गोपालक (पशुवर्द्धनाय) अपने पशुओं की वृद्धि करने के लिये जाता है उसी प्रकार (कवीयान्) क्रान्तदर्शी विद्वान्,

आत्मा (अपः वृणान.) चित्तवृत्तियों, या नाना कर्मों या प्राणगण या लिंग शरीरों को वश करता हुआ (पशु-वर्धनाय) इन्द्रिय रूप पशुओं की शक्ति को बढ़ाने के लिये (मन्म) मनोमय सकल्पमय (ब्रज) गमन या प्राप्त करने योग्य परमपद, आत्मस्वरूप ब्रह्म में (पचते) प्रवेश करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ७ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५४०] इन्द्रुर्वाजी पवने गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कुणवन्वृजनस्य राजा ॥८॥
श्र० ६ । ६७ । १० ॥

भा०—(वाजी) ज्ञान और बल से सम्पन्न (इन्दुः) हृदय में ब्रवणशील (सोम.) आत्मानन्दरस (मदाय) आनन्द हर्ष की वृद्धि करने के लिये (सह.) सहन करने योग्य बल को (इन्द्राय) आत्मा में (इन्वन्) प्रेरित करता हुआ (गो नि ओघा) रश्मियों या ज्ञान वाणियों, स्तुतियों को नीची तरफ बहाने वाला होकर चन्द्र के समान अथवा दुग्ध-मिश्रित सोमरस के समान (पचते) चरित होता है । उस समय वह आनन्दरस (रक्ष) आत्मोन्नति के बाधक, विघ्न करने वाले, कारण को भी (बाधते) दूर करता है और (अरातिं) प्रिय न लगने वाले अभिय कारण को (परि बाधते) दूर करता है । (वृजनस्य) समस्त बल का (राजा) स्वामी होकर वही (वरिव.) वरणीय आत्मगुप्त धन, अणिमादि सिद्धि और नवतुष्टियों को (कुणवन्) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४१] अया पवा पवस्वैना वसुनि मांश्चत्व इन्द्रो सरसि प्रधन्व ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २ २
वधश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमधाश्चित्तकव नरं धात ॥९॥
श्र० ६ । ६७ । ११ ॥

५४०—‘पर्यरातीर्वरिवः’ इति श्र० ।

५४१—‘वधश्चिद्यस्य वातो न जूतिः’ इति श्र० ।

भा०—हे (इन्दो) हृदय में बहने वाले आनन्दरस ! (अथा) इस (पवा) पवित्र करने वाली धारा से (एना) इन (वसुनि) वास या जीवन के साधन प्राण या ऐश्वर्यों को (पवस्व) प्रेरित कर, प्रकट कर । हे (इन्दो) सोम ! (माश्रत्वे) मन के एकमात्र गमनस्थान, मनोहर (सरसि) जलाशय में जल के समान, कलश में ओषधि रस के समान, मानस हृदय में (प्रधन्व) द्रवित हो । (यस्य) जिस तेरे (जूर्ति) वेग को (ब्रह्मः) सूर्य के समान रश्मियों और आकर्षण से अपने साथ इन्द्रियों को बांध रखने वाला आत्मा (धित्) भी (वातः न) वायु के समान (धात्) धारण करता है और (पुरुमेधाः) नाना प्रकार की धारणावती बुद्धियों का मालिक, साधक (नरं) नायक आत्मा को (तकवे) परमपद तक पहुँचाने के लिये (धात्) धारण करता है ।

ब्रह्मः—ब्रह्मातेरौणादिर्नक्, बन्धेस्त्र ब्रह्मादेशः (उणा० ३ । ५)

उ२२ २२ ३ १ २ २ ३ १२ २२ ३ २
[५४२] महत्तत्सोमो महिषश्चकारापा यद्भर्तोऽवृणीत देवान् ।

१२ ३ २ २ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अदधादिन्द्र पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥

अ० ६ । ६० ४१ ॥

भा०—(महिषः) महान् आत्मा (महत्) बड़ा भारी कार्य तो (तत्) यह (चकार) करता है (यद्) कि (अथा गर्भः) सब कर्मों प्रज्ञाओं और प्राणों को अपने भीतर ग्रहण करने में समर्थ होकर (देवान्) सब इन्द्रियों को (अवृणीत) अपने भीतर छुपा कर आवृत करके सुरक्षित रखता है । (पवमान) व्यापनशील प्राण (इन्दे) आत्मा में (ओजः) बल और तेज (अदधात्) प्रदान करता है (यत्) जिससे (इन्दुः) शरीर में व्यापक एवं द्रवणशील वीर्य, (सूर्ये) सबके प्रेरक और उत्पादक सूर्य रूप मुख्य प्राण में (ज्योतिः) प्रकाश, कान्ति, को (अजनयत्) उत्पन्न करना है ।

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
 [५४३] असर्जि वक्त्रा रथ्ये यथाजौ धिया मनाता प्रथमा मनीषा ।

२ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 दश स्वसारो अत्रि सानो अग्ये मृजन्ति वाङ्मे सद्ने वच्छ ॥११॥

श्र० ९१ । ६१ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्ये) रथों से विजय करने योग्य (आजौ) संग्राम में (धिया) प्रज्ञा और कर्म के विचारपूर्वक (वक्त्रा) सबको वचनोपदेश या आज्ञा करने वाला सेनापति (असर्जि) नियत किए जाता है, उसी प्रकार इस (रथ्ये) शरीर-साधना योग्य अथवा परमरस के प्राप्त करने वाले पुरु से दूसरे देह में जान वाले आत्मा के हितकारी (आजौ) योग साधनों के यज्ञ रूप संग्राम में (धिया) ध्यान, धारणा द्वारा (वक्त्रा) ओंकारादि जप और स्तुति मन्त्रों को बोलने वाला साधक ही (असर्जि) सेनापति के रूप में नियत किया गया है। वह स्वयं (प्रथमा) सब से श्रेष्ठ, (मनीषा) मन या मनन करने वाले साधन की ईषा-प्रेरणा, चेष्टा की आश्रय चित्त शक्ति है जिसमें (मनोता) मनकी सब वृत्तिया श्रोत प्रोत हैं। (अधि सानो) अति उन्नत प्रदेश में—(दश स्वसार) दश बहनों के समान एक ही आश्रय रूप आत्मा के अधीन स्वयं सरण करने वाली दश प्राण वृत्तिया (वङ्मे) सबके बहन करने वाले आत्मा को (मृजन्ति) परिष्कृत, सुशोभित करती हैं और (सद्नेषु) अपने ९ स्थानों में (वच्छ) प्राप्त होती हैं।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 [५४४] अपामिनेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 नमस्यन्तीरुप च यन्ति शं चाचविशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥१२॥

श्र० ६ । ९६ । १ ॥

भा०—(मनीषाः) मनन करने वाले आत्मा की ईषा अर्थात् चेष्टा करने वाली, ध्यानवृत्ति ही (अपा उर्मय इव) जलों की तरङ्गों के समान,

५४३—‘प्रथमो मनीषा’ ‘सदनानि’ इति श्र० ।

प्राणों की तरङ्ग (तर्तुराणाः) अति वेगवती होकर (सोमं) आनन्द-
रस रूप आत्मा को (अच्छ) उत्तम रीति से (प्र-ह्वरते) द्रवित
करती है । वे ध्यानमयी बुद्धिवृत्तियाँ ही (नमस्यन्तीः) उस आत्मा को
आदर से नमस्कार करती हुई, उसके प्रति झुकती हुई, अन्तर्मुख होकर
(उशान्तम् उक्षतीः) कामनायुक्त प्रेमी को प्रेम करने वाली प्रियतमाओं के
समान, मानो स्वयं कामना वाली होकर, या प्रकाशस्वरूप तेजोधारा के
समान चमकती हुई स्वयं वे (उशान्तम्) प्रकाश के पुंजस्वरूप आत्मा को
ही प्रियतम के समान प्राप्त कर उसमें ही (सं विशन्ति च) लीन हो
जाती हैं, उसके संग सो सी जाती हैं । और (आ च विशन्ति) उसी रूप
में प्रकट होती हैं, तन्मय हो जाती हैं ।

इति पञ्चमी दशति । सप्तम, खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

॥८०॥ ६॥ अपिः—१ आन्धीगुः श्यावाभिः । २, ३ ययातिर्नाहुषः । ४ मनुः सावरणः ।

५, ८ अम्बरीषश्चजिह्वातौ । ६, ७ अम्बसूः काष्यपौ । प्रजापतिर्वादयः ॥

पवमानो देवता ॥ छन्दः—१—६, ६ अनुष्टुप् । ७ बृहती ॥ स्वरः—

१-६, ८, ६ गान्धार, । मध्यम ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४५] पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्तवे ।

अप श्वानं शयिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥ १ ॥

अ० ६ । १०१ । १ ॥

भा०—हे (सखाय.) मित्रो ! (वः) आप लोग (पुरोजिती) आगे
बाहिर्मुखता को विजय करने वाली (अन्धसः) जीवन को धारण करने वाली
शक्ति से सम्पन्न सोम के (सुताय) उत्पन्न, (मादयित्तवे) अतिपरम आनन्द-
जनक रस को प्राप्त करने और इसकी रक्षा के लिये (दीर्घजिह्वयम्) लम्बी

जीम वाले, दूर तक विषय-रस लेने हारे । अतितृष्णालु इस (श्वानम्) कुक्कुर के समान लोभी, भोगी मनको (अप श्विष्टन) विषयों के रस से दूर रख कर शिथिल करो ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४६] अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्पति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उमे ॥ २ ॥

श्र० ८ । १०१ । ७ ॥

भा०—(पूषा) पुष्टिकारक, (भग०) सब के भजन सेवन योग्य, कल्याणकारी, ऐश्वर्यवान्, (रयि०) कालिजनक, परम धनस्वरूप (अय) यह (सोमः) परमानन्द (पुनानः) सब बाह्याभ्यन्तर को पवित्र करता हुआ या स्वयं-शुद्ध पवित्र रूप में प्रकट होता हुआ (अर्पति) द्रवित होता है । (विश्वस्य) समस्त (भूमन०) विशाल, भूमास्वरूप आत्मा का (पतिः) पालक होकर (रोदसी) धौ और पृथिवी दोनों को (वि व्यख्यत्) अपने तेज से प्रकाशित करता है ।

॥ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४७] सुतासो मधुमत्तमा सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदा ॥ ३ ॥

श्र० ९ । १०१ । ४ ॥

भा०—(मधुमत्तमाः) आत्सरसानुभव से युक्त (मन्दिनः) आनन्द और हर्ष के जनक (सुतासः) तैयार किये, प्रकट हुए (सोमा०) परमानन्दरस और विद्वान् जन (पवित्रवन्तः) पवित्रस्वरूप को धारण करने वाले, दीप्तिदशा में वर्तमान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (अक्षरन्) क्षरित होते हैं । हे सोमरसो ! (व) तुम्हारे (मदा०) आनन्द, हर्ष (देवान्) इन्द्रियगण या विद्वान् जनों को (गच्छन्तु) प्राप्त हों जिससे वे अन्तर्मुख हो जायें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४८] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥ ४ ॥

अ० ९। १०१। १० ॥

भा०—(गातुवित्तमाः) मार्ग को उत्तम रीति से जानने हारे,
(इन्दवः) आत्मा के प्रति साक्षात् द्रवित होने वाले, कान्तिस्वरूप,
(सोमाः) ग्रहारस या योगिजन (मित्राः) हृदय अन्तःकरण के या
सब के मित्र, (अरेपसः) निर्दोष, निर्मल, निष्पाप, (स्वाध्यः) उत्तम
ध्यानयोग के साधक (स्वर्विदः) प्रकाश के प्रापक, सर्वज्ञता के दायक,
(स्वानाः) प्रकट होते हुए (पवन्ते) हरित होते या विचरते हैं ।

सोमरस, आत्मानन्द और योगियों का समानरूप से वर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४९] अभी नो वाजसातमं रायिमर्पं शतस्पृहम् ।

१ २ ३ १ २

३ १ २ ३ १ २

इन्द्रा सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ ५ ॥

अ० ६। ६८। १ ॥

भा०—हे (इन्द्रो) दीप्यमान ! सोम ! विद्युन् ! (नः) हमें (वाज-
सातमं) अन्न, ज्ञान, बल को देने वाले, (शतस्पृह) लैक्यों की अभि-
क्षा के पात्र, (सहस्रभर्णसं) सहस्रों का भरण पोषण करनेहारे,
(तुविद्युम्न) बहुत ऐश्वर्य या तेज से सम्पन्न (विभासहम्) विशेष दीप्ति को
भी भात करने वाले (रथि) उस दिव्य धन आत्मा का (अभि अर्प)
प्रकाश कर, उसको प्राप्त कर, उम तक पहुच ।

५४८—सुवानाः, इति अ० ।

५४९—'अभि' 'पुस्तृहन्' 'विभासहम्' इति अ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[५५०] अभी नवन्ते अद्भुहः प्रियामेन्द्रस्य काम्यम् ।

३ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
वत्सं न पूर्वं आयुनि जातं रिहन्ति मानरः ॥ ६ ॥

श्र० ६ । १० । १ ॥

भा०—(मातरः) गौए, माताएं (पूर्वं आयुनि) पूर्व, बाद अवस्था में (जातं) नये उत्पन्न हुए (वत्स) बच्चे को (न) जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं, स्नेह से चूमती हैं, उसी प्रकार (अद्भुहः) समस्त संसार के प्राणियों के प्रति द्रोह का त्याग करनेहारे, अहिंसा के पालक, साधक (इन्द्रस्य) भीतरी आत्मा के (काम्यं) आपन्त कामना या स्नेह के विषय, जीवनरस के (अभी नवन्ते) निमित्त झुकते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसको स्नेह करते हैं । योग के प्रथम भंग अहिंसा का निरूपण किया है ।

‘अहिंसा, सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः’ । इति व्यासभाष्यम् ।
अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्संश्लिधौ वैरत्यागः सर्वप्राणिना भवति’ । (यो० सू० ।
व्या० मा०) सब कालों में सब प्रकार से प्राणियों का द्रोह न करना अहिंसा है । अहिंसा पालन से समस्त प्राणी वैर त्याग देते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५५१] आ हर्षताय धृष्यावे धनुस्तन्वन्ति पौंस्यम् ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ १ २
शुक्रा व्ययन्त्यसुराय निर्णिजे त्रिपामग्रे मर्हयुव ॥ ७ ॥

श्र० ६ । ६६ । १ ॥

भा०—(हर्षताय धृष्यावे) अति प्रेमयुक्त राजा के लिये जिस प्रकार उसके सैनिक (पौंस्यं धनुस्तन्वन्ति) बलयुक्त धनुष तानते हैं, जी-जान से शत्रु पर प्रहार करते हैं उसी प्रकार विद्वान्जन (हर्षताय) सबके अभिलाषा के योग्य कमनीय (धृष्यावे) सब वृत्तियों को दबाने हारे, उस सोम अर्थात् आत्मा के हित के लिये (पौंस्यं) सर्वानंगी दर्शाने वाले (धनुः)

५५१—‘धनुस्तन्वन्ति’, ‘शुक्रा व्ययन्त्यसुराय निर्णिज’ इति श्र० ।

धनुष कामरूप धनु को (तन्वन्ति) साधते, वश करते हैं । अथवा परम पुमान् परमेश्वर के नाममय ओंकाररूप धनुष को तानते हैं उसका जप और मनन करते हैं । और (महीयुव.) महत्त्व की आकांक्षा करने वाले साधक (विषाम् अग्रे) विद्वान् मेधावी पुरुषों के समस्त (असुराय) प्राणों के परेक हम आत्मा के (निर्गिजे) स्वरूप को शोधन करने के लिये (वि यन्ति) विशेष रूप से जाते हैं । पौंस्य धनुष का तानना=ब्रह्मचर्य का पालन और विद्वानों के पास जाना=स्वाध्याय है ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियोपस्थसयम. । ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । यस्य-
लाभादप्रतिबान् गुणान् अणिमादीन् उत्कर्षयते । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञान-
माधातुं समर्थो भवति (व्यासभाष्ये) । स्वाध्यायादिष्टदेवतासप्रयोग. (यो०
मू०) तस्य वाचक. प्रणव. । २७ । तज्जपस्तदर्थभावनम् । २८ । ततः प्रत्यक्
चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ उपस्थ इन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है ।
इससे वीर्य प्राप्त होता है । इससे अखण्ड बल प्राप्त होता है इसी के बल
पर आचार्य शिष्यों में ज्ञान स्थापन करता है । स्वाध्याय से परमेश्वर में
भक्ति होती है । 'ओ३म्' परमेश्वर का नाम है । उसकी भावना से शीघ्र
आत्मा का साक्षात् होता और सब विघ्न दूर होते हैं ।

२३ १ २ ३१२ २२ १ ३ २ ३ १ २

[५५२] परि त्य हर्यतं हरिं वशं पुनन्ति वारेण ।

३ २४ ३ २४ ३ १ २ ३ १२ २२

यो देवान् विश्वाँ इत्परि मदन सह गच्छति ॥ ८ ॥

श्र० ६ । सू० ९ । ७ ॥

भा०—(हर्यतं) सब के मनो को हरनेवाले अति कान्तियुक्त (हरिं)
सर्वव्यापक, सब दु खों के हरणकारी (वशं) कान्तिमान्, सबके भरण
पोंपण करने वाले, (त्यं) उस आत्मा को (वारेण) वरण करने वाले
भीतरी अन्तःकरण द्वारा या दोषों का वरण करने वाले प्रतिपक्ष-भावना
या वितर्क-बाधन द्वारा स्वच्छ करते हैं । (यः) जो आत्मा (विश्वान्

देवान्) समस्त देवों, इन्द्रियगण को भी (मदेन) आनन्द-रस के (सह) साथ (परि गच्छति) भर देता है, प्राप्त होता है ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष-भावनम् । (यो० सू० २ । ३३, ३४) । प्रतिपक्षभावना से वितर्कों के नष्ट होजाने पर योगी को सिद्धि के शीघ्र ही लक्षण प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२

[५५३] प्रसुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १२ २२

अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ६ ॥

अ० ६ । १०१ । १३ ॥

भा०—(अन्धस) अज्ञान अन्धकार के नाश करने वाले, परमा-नन्दस्वरूप सोमरस को (प्रसुन्वानाय) उत्पन्न करने हारे साधक के लिये प्रकट हुई (तत् वच०) उस सोम की अनाहत वाणी को (मर्त) साधारण मरणधर्मा पुरुष जिसको अमृत, सोमरस प्राप्त नहीं हुआ, वह (न वष्ट) नहीं प्राप्त कर सकता । (भृगवः) ज्ञानाग्नि से अज्ञान और पाप को भून डालने वाले ज्ञानी लोग जिस प्रकार (मख न) कर्मकारण को दूर कर देते हैं उसी प्रकार (अराधसं) साधना न करने हारे, (श्वान) कर्मफल के लोभी कुकुर के समान, त्यक्तभोगों को पुनः २ चाहने वाले, वान्ताशी, चित्त को (अप हत) मारो ।

इति पष्ठी दशति० । अष्टमः खण्डः ।

॥ ६० ७ ॥ ऋषिः—१—३, ५ कविभार्गव० । ४ ऋषिगण० । ६ भिक्षता निवा-
त्रीः, खि [ऋषि]गणो (१) वा । ७ वेणुर्वैश्वामित्र० । ८ वेनो भार्गव० । ९ मारद्वाजो
वसु० । १० वत्सः । ११ अत्रिर्भोम० । १२ पवित्र आङ्गिरस । पवमानो देवता ॥

जगती ॥ निषाठ० ॥

५५३—'प्र सुन्वानस्य' वृत्ततद्वचः' इति अ० ।

उ २ ३ १ २ उ १ २ उ १ २ उ २ ३ उ १ ३
 [५५४] अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यद्वा अधि येषु
 १ २ १ २ २ उ २ ३ २ ३ उ २ ३ १ २
 वर्द्धते । आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नाधिरथं विष्वञ्चमरुहद्वि-
 २ ३
 चक्षयः ॥ १ ॥ अ० ६। ७५। १ ॥

भा०—(चनोहितः) पाकयोग्य अन्न के समान प्रवचन करने योग्य परिपक्व ज्ञान के निमित्त धारण किया गया, (यद्वा) महान् आत्मा (येषु) जिन विशेष गुणों के आधार पर (अधि वर्द्धते) समस्त प्रजाओं के हृदयों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है उन सब (प्रियाणि) अत्यन्त प्रिय (नामानि) नामों, या विशेषणों या सबको नमाने वाले महान् कर्मों में (अभि पवते) साक्षात् रूप से प्रकट होता है । वही (बृहत्तः) सबको चढ़ाने वाले (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा के बनावे (विष्वञ्चं) समस्त प्राणियों को प्राप्त होने वाले (रथं) हम देह-रथ को (विचक्षणः) साक्षी, दृष्टास्वरूप होकर (अधि-आ-अरुहद्) अधिरोहण करता है, उस पर शासन करता और उसका भोग करता है ।

उ १ २ उ १ २ ३ २ उ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
 [५५५] अचोदसो नो धन्वन्तित्वन्दवः प्र स्वानासो बृहदेवेषु हरयः ।
 १ २ उ १ ३ २ ३ १ २ उ १ २ उ १ २ उ
 वि त्रिदशाना इपया अरातयोर्यो नः सन्तु सनिपन्तु नो
 १ २
 धियः ॥ २ ॥ अ० ६। ७६। १ ॥

भा०—(हरयः) स्वयं हरणशील, गतिशील, (अचोदसः) बिना किसी के वाद्य बल के स्वयं प्रेरित (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् जीव, (स्वानासः) प्रकृष्ट रूप से प्रकट हुए (देवेषु) देवों, दिव्यगुणयुक्त विद्वानों या इन्द्रियों के बीच में (नः) हमें (बृहत्) खूब (धन्वन्तु) प्राप्त हों और (नः) हमारे (अयः) अग्नि-शत्रुस्वरूप, (अरातयः) सुख, काम्यफल के न देने

५५५—‘प्रस्वानासो बृहदेवेषु हरयः । विचनशत्रु इमे अरातयाऽर्यो नशन्त सनि-
 पन्त नो धियः’ इति अ० ।

वाले (इषयः) केवल कामोपभोग या अन्न की कामना करने वाले, कामी, तृष्णालु इन्द्रियगण (अक्षानाः) भोग करते हुए (वि चित्) न (सन्तु) रहें । (नः) हमें (धियः) उत्तम ध्यानवृत्तियों, ज्ञान और उत्तम कर्मों का (सनिपन्तु) प्रदान करें ।

[५५६] एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः।
 ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अभ्युत्थेनस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाधा अर्पन्ति पयसा

३ १ २
 च धेनवः ॥३॥ ऋ० ६ । ७७ । १ ॥

भा०—(एषः) यह सोम (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्रः) वज्र के समान सब विघ्नों और पापों का नाशक (वपुषः) वीजों को वपन करने हारे से भी अधिक (वपुष्टमः) वीज वपन करने वाला, वीर्यवान् (कोशे) हृदय-कोश, आन्तर मनोमय कोश के बीच में (मधुमान्) महानन्द के मधुर रस से पूर्ण (प्र अचिक्रदद्) उत्कृष्ट रूप से अनाहत नाद उत्पन्न करता है । जिस प्रकार (वाधाः) हममारव करती हुई (सुदुघाः) उत्तम दूध देने वाली (धेनवः) दूध पिलाने वाली गौएं (पयसा) दूध से (अर्पन्ति) धाराएं बहाती हैं उसी प्रकार ये (घृतश्चुतः) कान्ति की धाराएं बहाने वाले (अतस्य) ज्ञान के (सुदुघाः) दोहने वाले परमानन्दरस (च) भी (अर्पन्ति) हृदय में चरित होते हैं, प्रकट होते हैं ।

‘अतम्भरा तन्न प्रज्ञा’ । (पात० सू०)

[५५७] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रभिनानि
 ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 सङ्गिरम् । मय्ये इव युवातिमि । समर्पति सोमः कलशे
 ३ १ २ ३ २
 शतयामना पथा ॥४॥ ऋ० ९ । ७६ । १ ॥

५५६—‘वपुषो वपुष्टमः’ ‘गभीमृत्स्य’ ‘पयसः’ इति ऋ० ।

५५७—‘शतयामना’ इति ऋ० ।

भा०—(इन्दुः) प्रकाशमय जीव, आत्मा (इन्द्रस्य) इन्द्र परमेश्वर का (सखा) समान नाम रूप धारण करने वाला उसके (निष्कृतं) पद, ज्ञान, स्थान, मोक्ष को भी (अयासीद्) प्राप्त हो जाता है तो भी (सत्युः) अपने सखा परमात्मा की (संगिर) उत्तम वेदवाणी, आज्ञा या शक्ति को (न) नहीं (प्र मिनाति) पार करता, नहीं मापता, नहीं उल्लंघन करता । वह (सोमः) सोम्य स्वभाव होकर (युवतिभिः) युवा स्त्रियों के साथ (मयं इव) जिस प्रकार मर्द, युवा पुरुष (सम् अर्पति) संग करता है उसी प्रकार वह अपनी (युवतिभिः) सदा साथ रहने वाली प्राण और ज्ञानवृत्तियों सहित (शतयामना) सैकड़ों प्रकार से जाने योग्य (पथा) मार्ग से (कलशं) षोडश-कलासम्पन्न ब्रह्म या आनन्दमय कोश में (सम् अर्पति) विचरण करता है ।

[५५८] ^{३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} धर्त्ता दिवः पवत कृत्व्यो रसा दत्तो देवानामनुमाद्यो नृभिः
^{१ २ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २} हरि सृजाना अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुपे
^{३ २} नदीष्व ॥५॥ अ० ६। ७६। १ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक के समान देहमें मूधाभाग, या प्रकाशरूप सूर्य या ज्ञान का (धर्त्ता) धारण करने वाला (कृत्व्यः) योग साधनों द्वारा उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, (रसः) आनन्दरस स्वरूप (देवानाम्) ३३ देवों इन्द्रियों और विद्वानों का (दत्तः) बलदाता, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (अनुमाद्यः) हर्ष प्राप्त करने योग्य, (अत्यः न) गमन करने हारे अश्व या आत्मा के समान (सत्वभिः) अपने सात्विक विभूतियों द्वारा (नदीषु) अपनी अनाहन नाद करने वाली धाराओं में, नदियों में जल के समान (वृथा) बिना प्रयत्न के, स्वभावतः (पाजांसि) नाना प्रकार के बल (कृणुपे) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
 [५५६] वृषामतीनां पवने विचक्षणा सोमो अह्ना प्रतरीनोपसा
 ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 दिवः । प्राणा सिन्धूनां कलशो अचिक्रददिन्द्रस्य हाद्यां
 ३ १ २ ३ १ २
 विशन्मनीषिभि ॥६॥ * ऋ० ६ । ६६ १ ॥

भा०—(वृषा) सुखों का वर्णन करने वाला (सोमः) सोम (म
 तीना) मनन शक्तियों या ज्ञान वृत्तियों को (विचक्षणाः) विविध प्रकार
 से साक्षात् करने वाला (अह्ना) दिनों, (दिव) आकाश और (उपसा)
 प्रभात वेलाओं के समान, प्राणों, मूर्धोभाग और तेज दासियोंके (प्रतरीता)
 खूब बढ़ाने वाला (सिन्धूना) देह की नादियों में (प्राणा) जीवन सञ्चार
 करने वाला आनन्दरस (इन्द्रस्य) आत्मा के (हादिं) हृदय में (मनीषिभिः)
 मन की प्रेरणाओं द्वारा (आविशन्) प्रवेश करता हुआ (अचिक्रद्) भीतर २
 नाद करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [५६०] त्रिरम्भै सप्तधेनवो दुदुहिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
 ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
 चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारुणि चक्रे यदृतेर्यद्वत् ७
 ऋ० ६ । ७० । १ ॥

भा०—(यद्) जब (ऋतै) सत्य ज्ञानों से आत्मा स्पर्श (अवर्धत)
 समृद्ध हो जाता है तब (अम्भै) इस के लिये (सप्त) सात (धेनव)
 रसपान कराने वाली गौवों के समान ये सात इन्द्रियां जो मस्तक के सान
 छिंदों में विराजमान हैं (परमे) सत्य से उत्पन्न (व्योमनि) अपने
 रक्षास्थान मूर्धो, या ब्रह्माण्ड कपाल में विराजमान होकर (सत्याम्)
 सत्यस्वरूप, यथार्थ (आशिर) ज्ञानधारा को (वि) ज्ञाता, जेव और ज्ञान
 इन तीनों प्रकारों से (दुदुहिरे) दोहन करता है । और (अन्या) अन्य
 (चत्वारि भुवनानि) चारों देह के भागों या अवस्थाओं को (निर्णिजे)

५६०—'दुदुहे' 'पूर्व' इति ऋ० ।

परिशोधन करने के लिये वह (चारुणि) उत्तम कान्ति और बल से युक्त कर देता है ।

[५६१] इन्द्राय सोमं सुपुनः परिस्रवापामीचा भवतु रक्षसा सह ।
मा ते रसस्य मत्सत द्रयाविना द्रविणस्थन्त इह सन्निवन्दवः ॥८॥
अ० ५ । सू० ६ । १ ॥

भा०—हे (सोम) ब्रह्मानन्दरस ! (सुपुनः) उत्तम रीति से उत्पन्न होकर तू (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) यह, प्रकट हो (अमीचा) शरीरगत रोग (रक्षसा) मनोगत बाधक विघ्नों के (सह) साथ (अप भवतु) दूर हो । (द्रयाविन.) अमीचा और रक्षः अर्थात् शरीरगत रोग और मन की झटिलता दोनों से भरे हुए पापी लोग (ते रसस्य) तेरे रस को (मा मत्सत) पाकर कभी प्रसन्न न हों । (इह) इस योगसाधना में (इन्द्रव.) अन्तःकरण में प्रकट होने वाले रस (द्रविणस्थन्त.) द्रुत गति वाले होकर बहते (सन्तु) रहें ।

[५६२] असावि सोमा अरुपा वृषा हरी राजेव दस्मा अभि गा
अचिक्रदत् । पुनानो वारमत्यप्यव्यं श्येनां न योनि
धृतवन्तमासदत् ॥ ६ ॥
अ० ६ । सू० ६ । २ ॥

भा०—(राजा इव) राजा के समान (दस्म) दर्शनीय, सबका शरण्य, (अरुपः) अरुणवर्ण, देदीप्यमान, कान्तिमान्, (वृषा) मेघ के समान सुर्खों का घपक (हरिः) सबको हरण करने वाला, या सर्वव्यापक नेता, (सोमः) योगी आत्मा (असावि) तय्यार किया गया है । जो (गा अभि) इन्द्रियों, वाणियों और जलों के प्रति (अचिक्रदत्) अपना नाद करता है । और (पुनानः) प्रकाशमान होता हुआ (अश्वय) कभी

होण न होने वाले, अभेद्य (वार) निवारक, रुकावट को भी (अति-युधि) पार कर जाता है । और (श्येन न) गतिशील आत्मा बाज के समान अपने (घृतवन्तं) अत्यन्त दंति युक्त (योनिं) मूलकारण, आश्रय परमेश्वर को (आसदत्) प्राप्त करता है ।

३१३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३
[५६३] प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्द्रवाऽसिष्यदन्त गाव आ न

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

धेनवः । वर्हिषदो वचनवन्त ऊधमिः परि सुतमुन्निया

३ १ २

निर्णिजं धिरे ॥ १० ॥ ऋ० ६ । ६८ । १ ॥

भा०—(मधुमन्त) मधुर रस वाले, ब्रह्मज्ञानी (इन्द्रवः) सौम्य-गुणसम्पन्न, सबके आरहादक, ब्रह्म की तरफ जानेहारें योगी, (धेनवः गावः न) दूध देनेहारी गौएं जिस प्रकार अपने बछड़े के प्रति (प्र असिष्यदन्त) अपना दूध प्रवाहित करती हैं उसी प्रकार (देव) प्रकाशस्वरूप उपास्य देव के प्रति (अच्छा) साक्षात् (प्र-असिष्यदन्त) गति करते हैं । और वे (वर्हिषदः) महान् ब्रह्म में रमण करने वाले, (वचनवन्तः) वेदवाक्यों का अनुसरण करते हुए, (ऊधमिः) ऊर्ध्व, सूर्यस्थान में आनन्दरस धारण करने हारे स्थानों से (परिजुत) चुप हुए (निर्णिज) अति शुद्ध पवित्र आनन्दरस को (उन्नियाः) सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान होकर (धिरे) धारण करते हैं, या पान करते हैं ।

१ २ ३ ४ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५६४] अञ्जत व्यञ्जने समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाऽभ्यञ्जते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सिन्धोरुऽच्छ्वास पतयन्तमुक्ष्ण हिरण्यपावाः पशुमप्सु

२

गृभ्णते ॥ ११ ॥

ऋ० ९ । ४६ । ४६ ॥

५६३—'वचनवन्त' इति ऋ० ।

५६४—'मधुनाऽभ्यञ्जते', 'पशुमासु' इति ऋ० ।

भा०—योगी, साधक, भक्तजन (भजते) साक्षात् करते हैं, (वि-
भजते) उसको नाना प्रकार में प्रकट करते हैं (सम्-भजते) उसमें
उत्तम रीति से अपने को लीन करते हैं, तब (कर्तुं) कर्म करनेहारे आत्मा
के आनन्द को (रिदन्ति) आस्वादन करते हैं, उसका रस लेते हैं, उसको
समृद्ध हृदयों में पान करते हैं । (मध्वा अभि-भजते) उसको भीतरी
आनन्दरस के साथ एकरस कर लेते हैं । वे (हिरण्यपावा., ज्ञान से आत्मा
को परिष्कार करने वाले (सिन्धो.) समुद्र के समान सर्वत्र गतिशील, या
कर्मबन्धनों से बंधे जीवों का धारण करनेहारे आनन्द के अगाध सागर
परमात्मा के (उदृ-भासे) अपनी ओर ऊपरकी तरफ प्रवल आस या प्राण
के आकर्षण बल में (पतयन्त) गति करते हुए (उद्यत) आनन्दवर्षी
(पशुम्) दृष्टा जीव को (अप्सु) अपने ही प्रज्ञानों में (गृभ्यते) ग्रहण करते
हैं, ज्ञान करते हैं । अथवा (सिन्धो.) गतिशील प्राणों के (उच्छ्वासं)
ऊर्ध्व अर्थात् प्रहारन्त्र की ओर की गति में (पतयन्त उद्यतं पशुं) धावन
करते हुए आनन्दवर्षी दृष्टा जीवात्मा को (हिरण्यपावा.) हिरण्यमय, दीप्ति-
मान् ढकने को भी पार करने हारे साधक (अप्सु गृभ्यते) अपने ही
प्रज्ञानों या प्राणों के बीच में साक्षात् करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[५६.५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येति विश्वतः ।

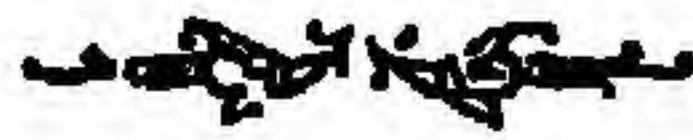
१ २ ३ २ ४ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २ ३ १२ २२
अतस्तनूर्न तदामो अश्नुते श्रुतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥ ६२॥

श्रु० ९। ८३। १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानरूप ब्रह्म के स्वामिन् ! प्रभो ! (ते)
तेरा (पवित्र) पवित्र ज्ञान (विततं) बड़ा विस्तृत, सर्वत्र व्यापक है ।
(प्रभुः) प्रकृष्ट सामर्थ्यवान् आप (विश्वतः) सब प्रकार से (गात्राणि)

सब देहों में (परि-पुवि) व्यापक हो । (अतस्तन्) इस शरीर को तप-
स्याओं, योगसाधनाओं द्वारा तप्त न करने वाला तपहीन (आम०) कच्चा पुरुष
(तद्) उस तेरे पवित्र ज्ञानमय स्वरूप को (न अश्नुते) नहीं प्राप्त
करता । (शृतासः) तपोमय अग्नि में परिपक्व विद्वान् (इव) ही (वहन्तः)
ज्ञान को स्वयं धारण करने हारे (तद्) उस सुख को (सम् आशत)
उत्तम रीति से प्राप्त करते और भोगते हैं ।

इति मत्समी दशति. । नवम खण्ड. ।



॥ द० ८ ॥ अपि.—१, ७, ११ अग्निश्वाशु० । २ चक्षुर्मानव । ३, ४, ९, १०
पर्वतनारदो काश्यप्यावप्सरसौ वा । ५ त्रित आप्त्य । ६ मनुराप्सवः । ८, १२

द्वा आप्त्यः । इन्द्रो देवता । उष्णिक् । अपम० ॥

३ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ २ ३ १ २

[५६६] इन्द्रमच्छ सुता इमं वृषणं यन्तु हरयः ।

३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

श्रुष्टे जातास इन्द्रवः स्वर्विद० ॥ १ ॥ अ० ९ । ५८ । १ ॥

भा०—(इमे) ये (सुताः) उत्पन्न किये हुए (हरयः) हरणशील,
मनोहर (श्रुष्टे जातास) व्यापक आत्मा में प्रादुर्भाव हुए, या सुखस्वरूप
ईश्वर में लीन हुए, (स्वर्विद) प्रकाश, ज्ञान, और आनन्द का लाभ करनेहारे,
(इन्द्रवः) सौम्य गुण वाले, साधक योगी (वृषणं) सुखों के धर्षक
(इन्द्रम्) उस परमात्मा को (अच्छ यन्तु) भली प्रकार प्राप्त होते हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५६७] प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्द्रो परिक्षय ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

द्युमन्तं शुष्ममानरे स्वर्विदम् ॥ २ ॥ अ० ६ । १०६ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) सौम्यगुण वाले ! (इन्द्रो) ईश्वर के प्रति रम
प्रवाह के समान गति करनेहारे साधक ! (जागृवि. , जागरणशील, कभी

५६६—'श्रुष्टी जातास' इति श्रु० ।

आत्मस्य तन्मा को न प्राप्त होकर, (इन्द्राय) उस ईश्वर या आत्मा को लक्ष्य करके (परिस्त्रव) बढ़, आगे बढ़ । (द्युमन्तं) कान्तियुक्त, (स्वार्विंदम्) समस्त पदार्थों का ज्ञान लाभ कराने वाले (शुष्मम्) आत्मज्ञान रूप बल को (आ भर) सन्वित कर ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६८] सखाय आ निपीदत पुनानाय प्रगायत ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २
शिशुं न यज्ञैः परिभूपन श्रिये ॥३॥ अ० ६। १०४। १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रगण ! (आ निपीदत) आओ बैठो । (पुनानाय) योग-साधन द्वारा अपने त्रिविध मलों का शोधन करनेहारे आत्मा के विषय में (प्र गायत) उत्तम रूप से सत् स्तुति करो उसका वर्णन करो । और (शिशुं न) जैसे बालक को (श्रिये) मात्र शोभा के लिये सजाते हैं उसी प्रकार उस (शिशुम्) सबके भीतर शयन करने हारे आत्मा को (यज्ञैः) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के यज्ञों द्वारा (श्रिये) आत्म सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (परि भूपत) सब प्रकार से अलंकृत करो, उसकी शोभा बढ़ाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६९] तं च. सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥४॥ अ० ६। १०५। १ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! (च.) आप लोग (तं) उस (पुनानं) तपस्या आदि से मलों को शोधन करने हारे साधक, या मुख्य प्राण की (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये (अभि गायत) साक्षात् गुण स्तुति करो । और (गूर्तिभिः) स्तुतियों द्वारा और (हव्यै) उत्तम सारित्रक पदार्थों और विचारों द्वारा (शिशुम् न) जिस प्रकार मधुर अन्नों का (स्वदयन्त) रस चखाकर बालक को वश करते हैं उसी प्रकार

(शिशुम्) सबके भीतर विद्यमान आत्मा को (स्वदयन्तः) अमृत का रस स्वादन कराकर अपने वश कर, उस तक पहुंचा ।

[५७०] प्राणा शिशुर्महीना हिन्वन्नस्य दीधितिम् ।

विश्वा परिप्रिया भुवदध द्विता ॥५॥ ऋ० ६ । १०१ । १ ॥

भा०—(प्राणा) देहों को प्राण देने वाली (महीनाम्) बड़ी भारी ईश्वरिय शक्तियों में (शिशु) प्रसुप्त रूप से विद्यमान, व्यापक चित् रूप आत्मा (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (दीधितिम्) दीप्ति किरण या धारणा को (हिन्वन्) प्रेरित करता हुआ (विश्वा) समस्त (प्रिया) उत्तम त्रिप पदार्थों को (द्विता) दो प्रकार से, समष्टि व्यष्टि रूप से, स्थूल और सूक्ष्म भेद से, या गृहीत और ग्राह्य, या विषयी और विषय भेद स (परि भुवत्) व्याप्त करता है ।

[५७१] पवस्व देववीतये इन्दो धाराभिरोजसा ।

आ कलशं मधुमान्तसोम नः सदः ॥७॥ ऋ० ९ । १०६ । ७ ॥

भा०—हे (सोम) रस स्वरूप ! हे (इन्दो) ऐश्वर्यवान् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों, पञ्चभूतों को कान्तिमान्, बलवान्, ज्ञानवान् करने के लिये तू (धाराभिः) अपनी धारण पोषण करने हारी शक्तियों द्वारा (ओजसा) अपने बल से (पवस्व) प्रकट हो । और (मधुमान्) ज्ञानवान् तू (नः) हमारे (कलश) देह या अन्त करण में (आसदः) अधिष्ठित रूप में आ विराजमान हो ।

[५७२] सोमः पुनान् आमणाव्य वारं विधावति ।

अग्ने वाचः पवमानः कानेकदत् ॥७॥ ऋ० ६ । १०६ । १० ॥

५७०—'प्राणा' इति ऋ० । ५७२—'अग्नौ वारं' इति ऋ० ।

भा०—(पुनानः सोमः) सोम इसके समान स्वच्छ कान्तिमान आनन्दरस या मत्तादि रहित अन्तःकरण वाला, शमादि गुणों से सम्पन्न सोमनाम योगी जन (कर्मिणा) अपनी कर्तव्य गति से (अन्य धारं) अज्ञान के आवरण को (विधावति) पार कर जाता है । (पवमान) वह और भी अधिक दृढ और पवित्र होकर (वाचः) वेदवाणी के (अग्रे) उत्तम, रहस्य भाग में (कनिष्ठदत्) गति करता हुआ स्तुतियों में मग्न हो जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७३] प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

मृतिं न भरा मतिभिर्जुजोपते ॥८॥ अ० ६।१०३।१॥

भा०—(वेधसे) स्वयं कर्म के विधाता मेधावी (पुनानाय) अन्तःकरण को मत्तादि से रहित करने वाले (सोमाय) शम दम आदि सौम्य गुणों से युक्त आत्मा या योगीजन के लिये (वचः) सब अध्यात्म वाणियों का (प्र उच्यते) प्रवचन किया जाता है उपदेश किया जाता है । (मतिभिः) अपने मनन-क्रियाओं द्वारा स्वयं उपासक (जुजोपते) उस सोमस्वरूप अपने ही आत्मरस का सेवन करता है । हे उपासक लोगो ! जिस प्रकार (मृतिं न) भरी को नियम से भरण पोषण को द्रव्य या आजीविका दी जाती है उसी प्रकार उस आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली (मृतिं) भरण पोषणकारिणी चित्ति शक्ति को (भर) नियम से अभ्यास द्वारा बढ़ाओ ।

द्विती नाम ऋषिः स्वामान प्रत्याह, इति सायणः । सोमाय 'मेधाविने' इति माधवः ।

५७३—'वच उच्यते' इति अ० । 'उच्यते' इति सायणः ।

[५७४] गोमन्त्र इन्दो अश्वमत्सुतः सुदक्ष धनिव ।

शुचि च वर्णमभि गोषु धारय ॥६॥ ऋ० ६ । १०२ । ४ ॥

भा०—हे इन्दो ! सोम्यगुणयुक्त ! आत्मन् । हे सुदक्ष ! उत्तम कर्म के साधक ! (नः) हमें (गोमत्) ज्ञानवाणियों से युक्त (अश्वमत्) सम्पन्न, अधिक सामर्थ्य वाली इन्द्रियों से युक्त धन (धनिव) दो । और (गोषु) हमारी वाणियों या इन्द्रियों में (शुचि वर्णं च) कान्तियुक्त तेजस्वी वर्ण को (धारय) धारण करो ।

[५७५] अस्मभ्य त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।

गोभिष्ट वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥ ऋ० ६ । १०४ । ४ ॥

भा०—(अस्मभ्यं) हमें (वसुविदं) प्राणों ऐश्वर्यों का ज्ञान, जीवन का लाभ कराने हारे (त्वा) तुझको (वाणीः) सय वेदवाणियां (अनूषत) यथार्थ वर्णन करती हैं । हे आत्मन् ! (ते वर्णम्) तेरे वरण काने योग्य स्वरूप को (गोभिः) इन वेदस्तुतियों द्वारा (अभि वासयामसि) आच्छादित करते हैं, उकते हैं, अलंकृत करते हैं ।

[५७६] पवते हर्यतो हरिरतिहरासि रंहा ।

अभ्यर्प स्तोतृभ्यो वीरवद्यश ॥११॥ ऋ० ६ । १०६ । ४ ॥

भा०—(हर्यतः) हरण-नामन करने योग्य, सब का प्राप्य, (हरिः) सोम, आत्मा (रंहा) वेग से (हरासि) कुटिल, कष्टकारी भिहों को भी (अति पवते) अतिक्रमण करके चमचमाता है । हे सोम ! (स्तोतृभ्य) स्तुति करनेहारे, यथार्थ गुणवक्ताओं को (वीरवद्) सामर्थ्यसम्पन्न (वयः) तेज (अभि अर्पं) प्रदान कर ।

५७४—'धन्व' 'शुचि ते' 'गोषुतोषम' इति ऋ० ।

५७६—'जन्दया' इति ऋ० ।

[५७७] परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति ।
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अभिवाणीर्जपिणां सप्तानूपत ॥१२॥ अ० ९ । १०३ । ३ ॥

भा०—(पुनानः) मल आदि रहित, प्रकट होने वाला या चरित होनेवाला (सोम.) आत्मा (मधुश्चुतं) मधुर आनन्द रस को चुसाने वाले आनन्दमय (कोश) कोश को (परि अर्षति) व्याप्त कर लेता है । (अर्षिणां) ब्रह्माण्ड या मूर्धादेश में स्थित सातों प्राणस्वरूप ऋषियों की (सप्त वाणी.) सात वाणिया, सातों ज्ञानप्रवाह (अभि-अनूपत) आत्मा की साक्षात् स्तुति करते हैं ।

इति अष्टमी दशतिः । इति दशमः खण्डः ।



॥ ६० ६ ॥ ऋषिः—१ गौरिदीति-शाक्यः । २ ऊर्ध्वमग्रा आङ्घ्रिरसः । ३, ८ अनिषा भारद्वाजः । ४ कृतयशा आङ्घ्रिरसः । ५ ऋणव आङ्घ्रिरसः । ६ शक्ति-र्वासिष्ठः । ७ उन्नाङ्घ्रिरसः । पवमानो देवता । १-४, ६ ककुप् ।
 यवमध्या गायत्री । ७, ८ प्रगाथः । १-४, ६ ऋषभः ।

५ पङ्क्तः । ७, ८ मध्यमः ॥

[५७८] एवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोमः क्रतुवित्तमो मदः ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

महि शुक्लतमा मदः ॥ १ ॥ अ० ६ । १०८ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! हे (मधुमत्तम) सब से अधिक आनन्द और ज्ञानसम्पन्न ! (क्रतुवित्तमः) ज्ञान की प्राप्ति और कर्मों का ज्ञान करने या कराने ढाँहों में सबसे श्रेष्ठ (मदः) आनन्दस्वरूप आप (इन्द्राय) विभूतिमय आत्मा के लिये (एवस्व) प्रकट होइये, आप (मदः)

अत्यन्त आनन्दस्वरूप होकर (शुचतम०) सब दिव्य, तेज सम्पन्न पदार्थों में आप ही सबसे श्रेष्ठ और (महि) सबसे महान् हैं ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३
[५७६] अभिद्युम्नं बृहद्यश इपस्पत दीदिहि देव देवयुम् ।

१२ २२ ३२ २
वि कोशं मध्यमं युव ॥२॥

श्र० ६ । १०८ । १ ॥

भा०—हे (इपस्पते) अन्न, एवं ज्ञान और मानस प्रेरणा के स्त्रो-
मिन् । हे देव । (देवयु) विद्वानों और समस्त दिव्य लोकों को अपने वश
करनेहारे, आपके प्रति हम प्रार्थना करते हैं कि (बृहद् यश०) बहुत अधिक
यश, अन्न, ज्ञान, सामर्थ्य (द्युम्न) और धन, बल को (अभि दीदिहि)
साक्षात् प्रकाशित करो, और (मध्यमं) बीच के (कोश) आवरण करने
वाले मनोमय, विज्ञानमय कोश को (विद्युव) काट दो अर्थात् उन कोशों
को काट कर आप आनन्दमय कोश को प्रवेश कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[५८०] आ साता परि विञ्चताश्वन्न स्ताममसुर रजस्तुरम् ।

३ १ २ ३ १ २

वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ ३ ॥

श्र० ९ । १०८ । ४ ॥

भा०—हे साधकगण ! (स्तोम) स्तुति योग्य, (शप्नुरं) ज्ञान
और कर्मों से प्राप्त करने योग्य, (रजस्तुरम्) समस्त लोकों में व्यापक
(वनप्रक्षम्) सबके आत्माओं में कूटस्थरूप में व्यापक, फलों को जैसे पृथ
देता है उसी प्रकार सेवन करने योग्य आनन्दरमों को देने वाले (उद
प्रुतम्) ज्ञान से परिपूर्ण, शक्ति के दायक, आत्मारम को (आमोन)
अपने हृदय में प्रकट करो । (परि पिञ्चत) पुनः उसक आनन्दमय रमों
का आ सेवन करो ।

५७६—'देवयुः' इति श्र० ।

५८०—'वनप्रक्षम्' इति श्र० । 'वनप्रक्षम्' इति कैटि।

[५८१] एतसु^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्व मदच्युतं^{३ १ २ ३ १ २} सहस्रधारं वृषभं दिवो^{३ १ २ ३ १ २} दुहम् ।

विश्वा वसूनि विभ्रनम् ॥ ४ ॥ अ० १ । १०८ । ११ ॥

भा०—(एतम् वृ) इस ही (मदच्युतं) हर्ष रस के घरसाने हारे (सहस्रधारं) सहस्रों लोकों को धारण करने वाले, या सहस्रों सुखधाराओं के बहाने वाले, (वृषभं) सुखों के वर्षक, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशक, लोकों या ज्ञान प्रकाश का (दुहम्) दोहन करने वाले (विश्वा वसूनि) सब प्राणों और समस्त वास के देने हारे वसु रूप लोकों को (विभ्रतं) धारण करने वाले आत्मा, परमात्मा को प्राप्त करते हैं ।

[५८२] स सुन्वे^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} यो वसूनां^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} यो रायामानेता^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} य इळानाम् ।

सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ ५ ॥ अ० १ । १०८ । १२ ॥

भा०—(य) जो (रायां) ऐश्वर्यों, (वसूनां) समस्त प्राणों और सूर्यादि लोकों के और (इळाना) समस्त भूमियों, ज्ञानधाराओं और अश्वों का (आनेता) प्राप्त कराने द्वारा है और (यः सुक्षितीनाम्) जो उत्तम निवास योग्य शरीरों, चेत्रों का नेता, निर्माणकर्त्ता है (सः सोमः) वह सबका प्रेरक आत्मा और परमात्मा (सुन्वे) हृदय देश में साक्षात् किया जाता है ।

[५८३] त्वं ह्यंशग^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} दैव्यं पवमान^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} जनिमानि^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} शुपत्तमः ।

अमृतत्वाय घोषयन् ॥ ६ ॥ अ० १ । १०८ । १३ ॥

भा०—(अंग पवमान) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (शुपत्तमः) सबसे अधिक कान्तिमान् (त्वं हि) तू ही (दैव्यं) दिव्=अन्तरिक्ष शुलोक या देव, पञ्चभूतों और दिव्य गुणयुक्त समस्त पृथिवी आदि लोकों की (जनिमानि) उत्पत्तियों और प्रकट होने वाले अद्भुत २ विकासों के मूल-

५८१—'दिवो दुहः' इति अ० । 'दिवदुह' इति सा० ।

५८३—'त्वं ह्यंशग दैव्या', 'घोषयः' इति अ० । 'घोषः' इति सा० ।

कारणों का (अमृतत्वम्) नित्य, निरन्तर विद्यमान अमृतस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (घोषयन्) उपदेश करता है ।

[५८४] एष स्य धारया सुतोऽप्या वारैभिः पवते मदिन्तमः ।

क्रीडन्नुर्मिरपामिव ॥ ७ ॥

श्र० ६ । १०६ । ५ ॥

भा०—(सुतः) निष्पन्न, अभिव्यक्त आनन्दरस (अप्या वारैभिः) चितिशक्ति के आवरणों से पार होकर (मदिन्तमः) अति अधिक आनन्द से समृद्ध (अपा) जलों के (कर्मि इव) प्रवाह या तरंग के समान ज्ञानों, कर्मों का तरंग (धारया) अपनी निरन्तर धारा या धारक शक्ति से (क्रीडन्) संसार में क्रीड़ा सी करता हुआ, लीला करता हुआ (स्यः एष) जिसको झूठते हैं वह यह (पवते) हृदय देश में प्रकाशित होता है ।

[५८५] य उक्षिया अपिया अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा ।

अभि व्रजे तलिषे गव्यमश्व्यं चर्मवि घृष्णवारुज ॥ ८ ॥ श्र० ६ । १०८ । ६ ॥

भा०—(यः) जो सोम (उक्षिया) ऊर्ध्व गति करने वाली (अप्या) कर्म और ज्ञान की बनी हुई (गाः) गतिशील इन्द्रियों को (ओजसा) अपने बल से (अन्तः अश्मनि) अश्मा=अप्यपक या प्रस्तर के समान किसी से न हारने वाले, परिपक्व 'अश्माखण' नामक मुख्य प्राण के भीतर (निर्-अकृन्तत्) बनाता है, निर्माण करता है और जो (गव्यं) ज्ञान-सम्बन्धी और (अश्व्यं) कर्म या मनः सम्बन्धी (घृजं) इन्द्रियगण को (अभि तलिषे) अपने चारों ओर विस्तारित करता है, है (घृष्णो) सबको विजय करने वाले परमात्मन् ! तू हमारे (चर्मो इव) कवचधारी सुरक्षित योद्धा के समान (आ रुज) सब विघ्न बाधाओं को दूर कर ।

इति नवमी दशति । एकादशः पण्डः ।

इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इति पाचमानकाण्डं समाप्तम् ।

५८५—'अप्या अन्तरश्मनो' इति श्र० ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ आरण्यकं काण्डम् *

श ८० १० ॥ ऋषिः—१ भरद्वाजः । २ वसिष्ठः । ३, ६ वामदेवः । ४ शुनःशेषः ।
५ गृत्समदः । ७, ८ अमहीयुः । ९ आत्मा । १०-११ इन्द्रः । १२ वरुणः । १३, १४,
१५ पद्मानः । १६ विभेदेवाः । १७ अन्नम् । १८ बृहती । १९, २० त्रिष्टुप् । २१, २२, २३
गायत्री । २४, २५ चतुष्टुप् गायत्री । २६ एकपदा गायत्री । २७ मध्यमः । २८, २९
धैवतः । ३०, ३१ पङ्क्तः ।

७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८६] इन्द्र ज्येष्ठं न आभर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ २ २
यदिष्टुक्षेम वज्रहस्त रोदसी उमे सुशिप्र पद्माः ॥ १ ॥
श्र० ६ । ४६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ज्येष्ठं) अत्यन्त प्रशंसनीय (ओजिष्ठं)
कान्ति और बल से युक्त, (पुपुरि) पूर्ण करने वाला, (श्रवः) ज्ञान
(नः) हमें (आभर) प्राप्त कराओ । हे (वज्रहस्त^१) सब विघ्नों को नि-
वारण करने हारे ज्ञान और वैराग्यरूप वज्र को अपने हाथ में लिये हुए, या
ज्ञानरूप वज्र से तमका हनन करने हारे परमात्मन् ! हे (सुशिप्र^२)
उत्तम दाढ़ों या शरिमयों वाले तेजस्विन् ! समस्त ससार के प्रलयकाल में
मक्षय करने वाले ! अथवा उत्तम ज्ञानी और बलशाली ! (पद्) जिसको

* कचिस्मृतितासु काण्डमिदं न लभ्यते, अत एव तासु 'य उक्तिया' इति
ऋचोऽन्त्यपादाभ्यासो दृश्यते इति हेतौ रत्रैव पूर्वार्चिकेत्य समाप्तिरिति विज्ञायते, कचि-
च्चाभ्यासो न दृश्यते, षष्ठोऽध्यायश्च तृतीयार्थप्रपाठकरूपेणैव लभ्यते । केचिदिममध्याय
परिशिष्टमिव मन्वते । विविधा हि देवता अत्र स्तूयन्ते इति प्राक्परिगणितकाण्डत्रयाद्
भिन्नमिदमारण्यक काण्डं व्यवहरन्ति ।

५८६—'आभर', 'ये नेमे चित्र वज्रहस्त', 'ओमे' इति श्र० ।

(दिष्टवेम) हम धारण करना चाहते हैं उस ज्ञान को (उमे रोदसी) इस लोक परलोक दोनों में (पप्रा) पूर्ण कर, प्राप्त करा । अथवा धारण करने योग्य समस्त ज्ञान और चेतना को ब्रह्माण्ड में तू पूर्ण कर रहा है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८७] इन्द्रा राजा जगतश्चर्षणीनामधिष्ठमा विश्वरूपं यदस्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ततो ददाति दाशुपे वसूनि चोदद्राघ उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥२॥

अ० ७ । २७ । ३ ॥

भा०—(इन्द्र) परमात्मा (जगत.) जगत् प्राणिसंसार का और (चर्षणीनाम्) मानवों का और (अधिष्ठमा) इस पृथिवी पर (विश्वरूप) नाना प्रकार के पदार्थ, जीव, या ब्रह्माण्ड (यत्) जो भी है (अस्य) इस सब का (राजा) स्वामी है । (ततः) वह सर्वव्यापक ईश्वर (दाशुपे) दानशील पुरुष को ही (वसूनि) जीवनोपयोगी नाना ऐश्वर्य (ददाति) देता है । वही (उपस्तुतः) सबसे स्तुति किया गया (राघ.) धन और ज्ञान (अर्वाक्) हमें (चोदयद्) दे ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ २
[५८८] यस्यदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः ।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्य) जिस (रजोयुज) कान्ति, ज्योति से युक्त या प्रकृति के रजोगुण से योग करने हारे आत्मा का (तुजे जने) दानशील पुरुष में (इदं) यह (स्वः) सुखकारी, दिव्य, समस्त (वनं) सेवन करने योग्य नाना सम्पदा है उस (इन्द्रस्य) परमात्मा का (रन्त्यं) रमणीय ऐश्वर्य भी (बृहत्) बहुत अधिक बड़ा है ।

१ हस्तौ हन्तेः (निरु०), २ दिप्र सपेते ।

५८७—'अधिममि', 'विपुस्य', 'उपस्तुतः' इति ज० ।

[५८६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} उत्तमं वरुण पाशमस्मदधमं त्रिमध्यमं अथाय ।
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अथादित्य व्रते वयन्तवानागसा अदितये स्याम ॥ ४ ॥

अ० १। २४। ५ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वव्यापक, सब पापों के निवारक, सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् ! (उत्तमं) उत्कृष्ट अपने (पाशं) पाश, प्राकृतिक तेजोमय सात्विक बन्धन को (उत् अथाय) उत्तम भोगों, द्वारा शिथिल कर और (अधमं) निकृष्ट तामस, काम मोहादि बन्धन को (अब अथाय) नीचे निम्न कोटि के भोगों द्वारा ढीला कर । और (मध्यमं) मध्यस्थानीय राजस-बन्धन-आवेश, क्रोध, लोकायणा आदि को (विश्रथाय) नाना प्रकार के भोगों से शिथिल कर । (अथ) और हे (आदित्य) सब को अपने भीतर लेने हारे ! तेजस्विन् ! (तव व्रते) तेरी नियम व्यवस्था में (वयं, हम (अनागसा)) निरपराध, निष्पाप होकर (अदितये) दीनतारहित होने में (स्याम) समर्थ हों ।

[५६०] ^{१ २ ३ -२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वया वयम्पवमानेन सोम भरे कृतं विचिनुयाम शश्वत् ।
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} तन्नो मित्रा वरुणो मामहन्तामादेति. सिन्धु पृथिवी उत्त द्यौः ॥५

भा०—हे सोम ! जगदीश्वर ! (पवमानेन) समस्त संसार को पवित्र करने हारे (त्वया) तुझ सहायक से (भरे) फल प्राप्त कराने हारे । इस जीवन में (शश्वत्) निरन्तर (कृत) अपने उत्तम किये कर्म हो (वि चिनुयाम) विशेष रूप से सग्रह करें । (मित्र) स्नेहवान्, (वरुण) सब पापों का निवारक (आदिति) कभी न खरिदत होनेवाला अश्वरुड, (सिन्धु) समुद्र के समान सर्वव्यापक, सब का आश्रय, (पृथिवी) पृथिवी के समान सबको धारण करने हारा (उत्त) और

(द्यौः) सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप (नः) हमें (तत्) ' वह अभिल-
षित उत्तम फल (मामहन्ता) प्रदान करे ।

[५६१] ^{१ १२ २२} इमं वृषणं ^{३ २३ ३ २} कृणुतैकमिन्माम् ॥ ६ ॥

भा०—हे प्राणो ! विद्वानो ! (इमं मां) इस मुक्त (एकं) अकेले
को (वृषणं) सब सुखों का वर्षण करने द्वारा (कृणुत इत्) बनाओ ।

[५६२] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} स न इन्द्राय यज्यंश्च वरुणाय मरुद्भ्यः ।

^{३ १२ २२}

धारिवोवित्परिस्त्रव ॥ ७ ॥

अ० ६ । ६१ । १२ ॥

भा०—(सः) वह सोम (नः) हमारे (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील,
(यज्यंश्च) जीवनयज्ञ के कर्ता, (वरुणाय) व्यवस्थापक वरुणस्वरूप
आत्मा (मरुद्भ्यः) और प्राणस्वरूप इन्द्रियों या, भीतरी पञ्च प्राणों
के लिये (धारिवोवित्) हितकारी पदार्थों को दाता होकर (परि स्त्रव) हमारे
प्रति प्रकट हो ।

[५६३] ^{३ १२ २२ ३ २ ३ १ २} एना विश्वान्यर्यं द्युम्नानि मानुषाणाम् ।

^{१ २}

सिषासन्तो वनामहे ॥ ८ ॥

अ० ६ । ६१ । ११ ॥

भा०—हे जगदीश्वर ! आप (अर्यः) सब के स्वामी (मानुषाणां)
मनुष्यों के (विश्वानि) समस्त (एना) ये (द्युम्नानि) धन, राज आदि
(आ) हमें प्राप्त करावें । हम (सिषासन्तः) उनको सेवन करने या सब
में बाट देने की इच्छा से (वनामहे) याचना करते हैं ।

[५६४] ^{३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अहमस्मि प्रथमजा क्रनस्य पूर्वं दग्नेभ्यो अमृतास्य नाम ।

^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}

या मा ददाति स इदेव मावदहममममदन्तमग्नि ॥ ९ ॥

भा०—(अहम्) मैं महान् आत्मा, परमात्मा (अतस्य) इस सत् आभिव्यक्त जगत् से (प्रथमजा) प्रथम ही हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ (अस्मि) हूँ । (देवेभ्य) देवताओं, पञ्चभूतों, इन्द्रियों से भी (पूर्वं) पूर्व में विद्यमान रहा । मैं ही (अमृतस्य) कभी विनाश न होने वाले, नित्य आत्मा का (नाम) स्वरूप हूँ । (यः) जो (मां) मुझको, मेरे स्वरूप को अन्यो के प्रति (एव) इस प्रकार से (ददाति) दान करता अर्थात् जो ब्रह्म वा आत्म ज्ञान का उपदेश करता है (सः इत्) वही (मा) मेरी (आवत्) रचा करता है । (अहम् अन्नम्) मैं अन्न के समान प्राण को धारण कराता हूँ । मैं ही (अन्नम्) अन्न रूप से सबको धारण कराता हूँ । मैं ही (अदन्तम्) कर्मफल का भोग करने वाले जीवों को (अग्नि) अपने में भग्न कर लेता हूँ ।

ब्रह्म की असोपासना उपनिषदों में कही है । 'अत्ता चराचरग्रहणात्' (वेदा० सू०)

इति दशमी दशतिः । प्रथम खण्डः ।



॥ ८०११ ॥ अपिः—१ श्रुतः । २ पवित्रः । ३, ४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ५ प्रथः । ६ गुत्समदः । ७ नृमेषपुरमेषौ ॥ देवता—१, ३, ४, ७, इन्द्रः ५ पवमानः । ६ विभेदेवा । ६ वायुः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ गायत्री २ जगती । ५ त्रिष्टुप ॥ ७ अनुष्टुप ॥ स्वरः १, ३, ४, ६ षड्जः । २ निषादः । ५ धैवतः । ७ गान्धारः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६५] त्वमेतदधारय कृणासु रोहिणीषु च ।

१ २ ३ २ ३ १ २

परुष्णीषु रुशत्पयः ॥१॥ अ० ६ । ६३ । १४ ॥

५६५—१ शरावती परुष्णीत्याह । पर्ववती भास्वती, कुटिलगामिनी (निरु० ६।२६)

भा०—हे आत्मन् ! (त्व) तू ही (कृष्णासु) प्राणों को कर्पण करने वाली पिङ्गला नाम नादियों और (रोहिणीषु) प्राणों का रोहण, परिवर्धन करने वाली इडा नादियों में और (परुष्णीषु^१) पौरु २, या अग २ में निवास करने वाली, ज्ञानवाहिनी चित्कण्डाक्षिणी सुषुम्ना आदि नादियों में (रुशत्) कान्तिमय (पय) तेज या रस को सूर्य के समान (अधारयः) धारण करता है^२। सूर्यपक्षमें—कृष्णा=रात्रियें, रोहिणी=वषाट्, परुष्णी^३=दिन मध्याह्नवत्ता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५६६] अरुरुचदुपस. पृश्निरप्रिय उक्षा । ममंति भुवनेषु वाजयु ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरा गर्भमादधु ॥२॥

अ० ६ । ८३ । ३ ॥

भा०—(उषस) साधक की साधना के अवसर पर त्रिपुटी में प्रकट होने वाली कान्ति का (पृश्निः) आदित्य ही (अप्रिय उष^१) सब से प्रथम सुखों का सेचन करने हारा, (भुवनेषु) समस्त प्राणों और प्राण कोशों में (वाजयु.) बल की कामना करने हारा आनन्दधन आत्मा, (अरुरुचद्) प्रकाशित होता है । (मायाविन) चित्ति शक्ति या प्रज्ञा, प्रेरणा या ज्ञान से सम्पन्न देवरूप इन्द्रिया या अग्नि आदि पाचों भूत (अस्य मायया) इपकी ही माया, प्रकृति, या ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होकर (नृचक्षस) मनुष्यों के दृष्टा (पितर) सबके पालन करने हारे (ममिरे) पदार्थों का ज्ञान करते हैं, या सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं और (गर्भम्) हिरण्य गर्भस्वरूप विराटरूप को (आदधु.) धारण करते हैं । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में स्पष्ट है । अध्यात्म में—(पितर) प्राणगण ।

२ द्रष्टव्यं अग्नेवेदाभिभाष्यभूमिनायाम् इमं मे गङ्गे यमुने इत्यादि व्याख्यानम्

(प्र० ३०) । ३ । परम उष्णवत्यो षटिका ।

५०६—'उक्षा निभेति भुवनानि' इति अ० ।

२ ३ २४ ३ २ ३ १ ० ३ २ ३ १ २
[५६७] इन्द्र इन्द्र्योः सचा सम्मिश्र आ वचो युजा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रा वज्री हिरण्यय ॥३॥ अ० १। ७। २ ॥

भा०—(इन्द्र इत्) आत्मा ही (वचोयुजा) वाणीमात्र से योग रखने वाले (इन्द्र्योः) हरण करने वाले अश्वों, शक्तियों ज्ञान, कर्म और इन्द्रियों को (सचा) एक साथ (सम्मिश्र) मिला कर रखने वाला है । वही (वज्री) संहारक शक्ति से युक्त और (हिरण्ययः) सूर्य के समान कान्तिमानरूप वाला या स्वतः हित, प्रिय, रमणीय, और गतिशील आत्मा है ।

१ ३ १ ० ३ १ ०

[५६८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।

३ ० ३ १ २ ३ १ ०

उग्र उग्राभिरुतभिः ॥४॥ अ० १। ७। ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उग्र.) उग्र स्वभाव के आप (उग्राभि कतिभि) अति बेजबानी शक्तियों द्वारा (वाजेषु) जानों और बलों के कार्यों में और (सहस्रप्रधनेषु च) चलशाली सहस्रों अश्वों के एकत्र होने के अवसरों, या युद्धों में (नः) हमारी (अव) रक्षा करो ।

१ ० ३ १ २ ० १ ० ३ १ २ २ ३ १ ० ३ ०

[५६९] प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हवियत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

धातुर्धृतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमाजिमारा वसिष्ठः ॥५॥

अ० १०। १८१। १ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (प्रथः) विस्तार करने वाला, प्राण और (सप्रथ) उस विस्तार करने वाले का साथी अपान यह दोनों ही (नाम) स्वरूप हैं वह (वसिष्ठ) मुख्य आत्मा (आनुष्टुभस्य) प्रतिदिन स्तवन करने योग्य (यत्) जो (हविषः हवि) ग्रहण करने योग्य द्रव्य हवि का भी हवि, अर्थात् उन्नत है उस 'अमृत' (रथन्तरं) देहरूप रथ को चलाने, प्रेरणा करने वाले मुख्य प्राण को (धातु.) सबके पालन पोषण करने

हारे और (सवितु) सबके उत्पादक (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के पास से ही (आ जभार) प्राप्त करता है ।

उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २
[६००] नियुत्त्वान्वायवागह्यं शुक्रं अयाभि ते ।

१ २ उ २ उ २
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ ६ ॥ अ० २ । ४१ । २ ॥

भा०—हे (वायो) प्राण ! या व्यापक आत्मन् ! आप (नियुत्वान्) नियमकारी वज्रों से सम्यक् (आ गहि) हमें प्राप्त हों । (अय) यह (शुक्रः) कान्तिमान् सूर्य, और देह में वीर्य, आज (ते) तेरे (अयाभि) नियम में बंधा है । आप (सुन्वतः) योग साधना करने हारे, (गृहम्) ग्रहण करने वाले आभ्यन्तर इन्द्रिय, मन में भी (गन्तासि) प्राप्त होते हैं ।

१ २२ उ १ २ १ उ २
[६०१] यज्जायथा अपूर्ण्य मधवन् वृत्रहत्याय ।

१ २ उ २ २ उ २, १ उ १ २२
तत् पृथिवीमप्रधयस्तदस्तभा उत्तो दिवम् ॥ ७ ॥

अ० ८ । ८६ । ५ ॥

भा०—हे (अपूर्ण्य) अद्वितीय ! आदि मूलकारण ! हे (मधवन्) समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! (यत्) जो तू (वृत्रहत्याय) आवरणकारी तामस मन्धन को नाश करने के लिये (जायथा) प्रकट होता है (तत्) वह तू (पृथिवीम्) इस विशाल भूमि को भी (अप्रधयः) प्रकट करता है और (दिवम् उत्) द्यौलोक को भी (अस्तभा) मध्य आकाश में धामता है ।

इति एकादशी दशतिः । इति द्वितीयः खण्डः ।

॥ ८० १२ ॥ ऋषि.—१, ५, ७, १० वामदेवः । २, ३ गौतमः । ४ मधुच्छन्दाः ।
६ गृत्समद । ८, ९ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ११ हिरण्यस्तूपः । १२, १३ विश्व-
मित्रः । देवता—१ प्रजापतिः । २, ३ पवमानः । ४-६, १३ अग्निः । ७ रात्रिः ।
८ वैश्वानरः । विश्वेदेवाः । १० लिङ्गोक्तः । ११ इन्द्रः । १२ सर्वात्मा । छन्दः—
१, ७ अनुष्टुप् । २, ३, ५, ६, ८, ११-१३ त्रिष्टुप् । ४ गायत्री । ८ जगती ।
१० महापक्तिः । स्वरः—१, ७ गान्धारः । २, ३, ५, ६, ९, ११-१३ धैवतः ।

४ षड्जः । ८ निषादः । १० पञ्चमः ॥

२ ३ १ ३ ७ ३ १ २२ ३ २ ३ १ २२
[६०२] मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २२
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दंहतु ॥१॥ अथर्व० ६ । ६६ । ३ ॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, उत्तम स्थान पर स्थित, परमात्मा (प्रजा-
पतिः) समस्त स्थावर और जंगम प्रजा का पालक (दिवि) आकाश में
जिस प्रकार (द्याम् इव) सूर्य को स्थित करता है उसी प्रकार (मयि)
मुझ में (वर्चः) बल, तेज, (अथो) और (यशः) यश (अथो) और
(यज्ञस्य) आत्मा या परमेश्वर का (यत्) जो (पयः) मोक्ष नामक
परम आनन्दरस है उसको (दंहतु) नित्य बनाये रखे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[६०३] सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः संवृणयान्यभिमातिपाह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्वास्त्युत्तमानि विष्व ॥ २ ॥

अ० १ । ९२ । १८ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (अभिमातिपाहः) अभिमान करने
हारे पुरुषों को दण्ड देने वाले (ते) तेरे (पयांसि) पोषक ज्ञानरस,
(वाजाः) समस्त ऐश्वर्य और अन्न, (वृणयानि) समस्त बल (सं यन्तु)
प्राप्त हों और तू आप (आप्यायमान) खूब परिपूर्ण होता हुआ (अमृताय)

६०२—'तन्मयि प्रजापतिर्दिवि' इति अथर्व० ।

इस अमृत, जीव के लिये (दिवि) मोक्षरूप स्वर्ग में (उत्तमानि) उत्तम (श्रवांसि) ज्ञानों, बलों और सुखों को (धिन्व) धारण करा ।

२ ३ १२ २२ ३ २ १ २ ३ १ ३
[६०४] त्वानिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
१२ २२ ३ २ १ २ ३ १ २२ ३ १२ २२
त्वमातनेरुर्ध्वं शन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषो वि तमो ववर्ध ॥३॥
अ० १ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (त्वं) तू (इमा.) इन (विश्वाः) समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों, वनस्पतियों को (अजनय.) उत्पन्न करता है । (त्वम् अप.) तू ही समस्त रसों को उत्पन्न करता है । और (त्वं गा) तू ही समस्त गौ आदि पशुओं और भूमियों को पैदा करता है । (त्व) तू ही (ज्योतिषा) सूर्य आदि के प्रकाश से (तम.) अन्धकार को (वि ववर्ध) विविध प्रकारों से दूर करता है । अभ्यामपस में—ओषधि—देह । अप.—ज्ञान और कर्म । गा.—इन्द्रिय, चित्तवृत्तिषा । सोम—आत्मा । तम.—तामस आवरण ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[६०५] अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य दधमृत्विजम् ।
१ २ ३ १ २
दोतारं रत्नधानमम् ॥४॥ अ० १ । १ । २ ॥

भा०—(यज्ञस्य देवम्) समस्त यज्ञों, उपासनाओं के उपास्य देव (पुरोहितम्) प्रकाशमान, ज्ञानवान् पूज्य, सार्वरूप से अन्धकार में दीपक के समान ज्ञान प्रकाश प्राप्त करने के लिये आगे मुख्य स्थान पर स्थापित (मृत्विजम्) ऋतुओं आदिश्यों और प्राणों द्वारा पूजनीय, (दोतारं) सबको धारण करने और सब सुखों को प्रदान करनेहारे, सबके प्रतिपालक (रत्नधानम्) समस्त रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले, (अग्निम्) ज्ञानेश्वर सबके अग्रणी, प्रकाशक परमात्मा की (ईडे) स्तुति करता हूँ ।

१ २ ३ २३ ३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १२ २२
 [६०६] ते मन्वन् प्रथमन्नाम गोनाम्निः सप्त परमन्नाम जानन् ।
 १ २ ३ ७ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
 ता जानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः ॥ ५ ॥

अ० ४। १। १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् लोग (गोनां) वेद वाणियों के (प्रथमं) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ, आदिमूल (नाम) उत्पत्ति स्थान को (अमन्वत्) मनन करते हैं और वे (त्रि. सप्त) इक्कीस प्रकार से (परमं नाम) परम नाम को (जानन्) जिज्ञासा करते हैं । (ताः) वे वाणियां (जानती) सब रहस्य जानती हुई (क्षा.) अपनी निवासभूमियों आदि मूलकारणों की (अभिनूषत) स्तुति करती हैं । और (यशसा) तेज से (अरुणीः) अरुण वर्ण वाली, (गावः) किरणों के समान वाणियों में (आविर्भुवन्) प्रकट होती हैं ।

वाणियों के २१ प्रकार के नाम २१ प्रकार के छन्द हैं जैसे—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात । अतिजगती, शकरी अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति ये सात । और कृति प्रकृति, आकृति, विकृति, सस्कृति, अतिकृति, उत्कृति ये सात । सब मिल कर २१ हुए ।

२ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ ७ ३ २ २
 [६०७] समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्धन्नद्यस्पृणन्ति ।
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ १ २ ३ १ २
 तमू शुचिं शुचयो दीदिवासमपानपातमुपयन्त्यापः ॥ ६ ॥

अ० २। ३५। ३ ॥

६०६—'नाम धेनो ' 'सप्त मातुः परमाणि विन्दन्' 'सज्जानतीरभ्यनूषत मा आविः
 भवदरुणीर्यशसा गोः, इति अ० ।

६०७—'अपा नपात परिनस्थुरापः' इति अ० ।

भा०—जिस प्रकार (अन्याः नद्यः) भिन्न २ नदिया (सं यन्ति) परस्पर मिल जाती हैं और (अन्याः) भिन्न २ नदिया (उपयन्ति) समीप देशों में गमन करती हैं और (समान) समानरूप से एक ही (ऊर्ध्व) विशाल समुद्र को (पृणन्ति) भरा करती हैं, उसी प्रकार (आपः) ईश्वर तक को प्राप्त कराने वाली (नद्यः) समृद्ध स्तुति वाणिया अथवा आस प्रजापुं (अन्याः) नाना प्रकार की प्राणधारी जीव प्रजापुं (सयन्ति) एक साथ मिलजाती हैं और (अन्याः, उपयन्ति) बहुतसी समीप ही एक प्रकार के धर्म का बोध कराती हैं और (समानम् ऊर्ध्वम्) समान ही रूप से उस विशाल महान् परमेश्वर को (पृणन्ति) स्तुति करती हैं और वे (आपः) ज्ञान और कर्म का उपदेश करने वाली वाणिया (शुचयः) शुद्ध प्रकाश करनेवाली (तम् उ शुचिम्) उसही शुद्ध पवित्र (दीदिवासम्) देदीप्यमान (अपा नपातम्^१) समस्त वेद के ज्ञानों और कर्मों के एकमात्र आश्रय ईश्वर को (उपयन्ति) प्राप्त होती हैं । (आपः=वाणिया, बुद्धिया, प्रजापुं, आसजन, लोक, नद्यः=स्तुतियां, वाणिया, नदिया) ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २२
[६०८] आप्रागाद्भद्रा युवतिरहः केतून्त्समीर्त्सति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥ ७ ॥

भा०—(रात्री) सुख के देनेवाली रात्रि के समान ब्रह्मविद्या (विश्वस्य) समस्त (जगत) जगत् ससार का (निवेशनी) आश्रयस्थान और (भद्रा) कल्याणकारिणी है । वह (अह) कभी नाश न होने वाले, अमर, सूर्य, आत्मा या अमर परमेश्वर की (युवति) उदयकालीन सूर्य के साथ संगत उषा और तेजस्वी पुरुष के संग स्त्री के समान ही सदा सत्संगति करानेवाली, (भद्रा) साधकों को सुख देनेवाली (आ) सय और

१. नपात्—नेन्युपमार्थः । पतन्तीव यत्र स नपात् “नपात्” इति निपातः ।

(प्रागात्) प्रकट होती है और (केतून्) किरणों के समान ज्ञानों को (सम् इत्संति) प्राप्त कराती है ।

[६०६] ^{३ २ ३ १ २} प्रक्षस्य ^{३ २ ३ २ ३} वृणो ^{३ २ ३ १ २} अरुपस्य नू ^{३ ५ २} महः ^{३ १ २} प्र नो ^{३ १ २} वचो ^{३ ५ २} विदथा
^{३ १ २} जातवेदसे । ^{३ १ २} वैश्वानराय ^{३ ५ २} मतिर्न्यसे ^{३ १ २} शुचिः ^{३ ५ २} सोम इव
^{३ १ २} पवने चारुरग्रये ॥ ८ ॥

अ० ६ । द । १ ॥

भा०—(प्रक्षस्य) सब के भीतर सम्पर्क करने हारे, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, (वृणोः) सुखों के वर्णक, (अरुपस्य) कान्तिमान्, (जात-वेदसे) समस्त पदार्थों के जाननेहारे परमेश्वर के (महः) पूजनीय तेज को (विदथा) ज्ञान काल में, या यज्ञ में (नः) हमारी (वचः प्र) वाणी उत्तम रूप से वर्णन करे, (न्यसे) स्तुति करने योग्य (वैश्वानराय) समस्त नरों में नाना प्रकार से व्यापक (अग्रये) उस ज्ञानस्वरूप, सबके अग्रणी, परमात्मा के लिये (शुचिः) शुद्ध, (मतिः) ज्ञान, संकल्प, (सोम इव) प्रेरक ब्रह्मानन्द के समान (चारु) अत्यन्त उत्तम रूप में (पवते) प्रकट होता है ।

[६१०] ^{१ २ ३ १ २} विश्वे देवा मम ^{३ २ ३ ५ २ २} शृण्वन्तु ^{३ ५ २ २ ३} यज्ञमुभे ^{३ ५ २ २ ३} रोदसी ^{३ ५ २ २ ३} अपा नपा च
^{१ २ ३ १ २} मन्म । मा वो ^{३ १ २} वचांसि ^{३ १ २} पञ्चदयाणि ^{३ ५ २ २ ३} वोचं ^{३ ५ २ २ ३} सुम्नोष्विद्धो
^{१ २} अन्तमा मदेम ॥ ९ ॥

अ० ६ । ५२ । १४ ॥

भा०—हे (विश्वेदेवा) समस्त दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानो ! आप लोग (मम) मेरे (मन्म) मनन करने योग्य (यज्ञम्) इष्ट उपासना को (शृण्वन्तु) सुनो । वह (उभे रोदसी) धै और पृथिवी दोनों लोक और (अपा नपा च) समस्त प्रजाओं, प्रज्ञाओं और कर्मों का आश्रय ईश्वर भी उसको श्रवण करता है । (वः) आपके (वचांसि) वचनों को (मा

[६११] यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।

३ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

भा०—(मा) मुझको (धावापृथिवी) दौलत और पृथिवी का (यशः) यश प्राप्त हो । मुझे (इन्द्र-वृहस्पती) सूर्य और वायु का (यशः) यश प्राप्त हो । (भगव्य) ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर का (यशः) यश (विन्दतु) प्राप्त हो । (यशः) यश मुझे (मा) मत (प्रतिमुच्यताम्) छोड़े । (अहम्) मैं (यशस्वी) कीर्तिमान् होकर (अस्याः) इस (ससदः) उत्तम प्रकार से विद्वानों को अपने से स्थिति प्राप्त कराने हारी सभा या हम ब्रह्मविद्या का (वदिता) प्रवक्ता, ज्ञानोपदेशक (स्याम्) होजाऊ ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[६१२] इन्द्राय नु वीज्योणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
२ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द्धं च वक्षणा अभिनत पर्वतानाम् ॥ ११ ॥
श्रु० १ । ३२ । १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) निक्षुत् या सूर्य के समान बलवान्, शक्तिमान् परमेश्वर के (वीर्याणि) नात्ता पराक्रम के उन कार्यों को मैं (प्रवोच तु) कहता हूँ (यानि) जिन (प्रथमानि) अतिश्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण कार्यों को (यन्त्री) अणु से अणु तक को पृथक् करने द्वारा परमेश्वर (घकार) किया करता है। वह (अहिम्) कभी नष्ट न होनेवाले, स्वभावतः विद्यमान शब्धकार को (अहन्) त्वनाश करता है, स्वयं (अनु) विजुली जिस प्रकार मेघों

६१०—'यशिया' इति न० ।

मे जलों और पर्वतों से झरनों को पैदा कर देती है उसी प्रकार वह भी अज्ञानरूप 'अहि' का नाश करके (अप.) प्रज्ञानों को (तत्तद्) प्रवाहित करता है । और (पर्वताना) बड़े २ पर्वतों के (वक्षणाः) नदियों के समान विद्वानों के हृदय ग्रन्थियों या अंगों से बने देहादि बन्धनों को (प्र- अभिनत्) काट देता है ।

१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६१३] अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतम्मे क्षत्रमृतम् आसन्

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रज्यातिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१२॥

अ० ३ । २६ । ७ ॥

भा०—मैं (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (जन्मना) श्रवण, मनन, निदिध्यासन की अपेक्षा बिना किये ही, स्वभावतः (जातवेदा) समस्त पदार्थों का जानने वाला (अस्मि) हूँ । (मे) मेरा (क्षत्र) सबको देखने और डिङ्गाने वाला साधन (घृतं) अतिदीप्तिमान् है । (मे आसन्) मेरे मुख्य स्थान या मुख्य अर्थात् स्वरूप में (अमृतम्) कभी नाश न होने वाला अमृत मोक्ष है । और मैं (त्रिधातुः) समस्त पदार्थों को तीन यत्नों से धारण करने वाला (अर्क) तेज स्वरूप सूर्य, (रजस) समस्त लोकों को (वि- मान) निर्माण करता हुआ (अजस्र) कभी नाश न होने वाला, अवि- नाशी, सदा वर्तमान, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप और (सर्व) सर्वव्यापक (हवि) हवि=भोग्य पदार्थों का दाता भी मैं ही (अस्मि) हूँ ।

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[६१४] पात्यग्निर्विपो अग्रस्पन्द वे पाति यद्वक्षरण सूर्यस्य ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुग्रमादमण्व ॥१३॥

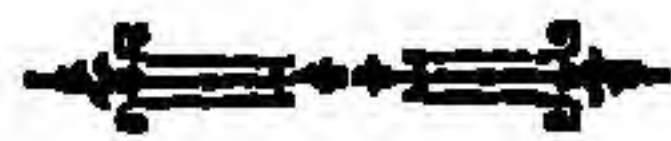
अ० ३ । ५ । ५ ॥

६१३—'विमानो यमो' इति श्रु० ।

६१४—'पाति प्रिय रिपो अग्र' इति श्रु० ।

भा०—(विप०) मेधावी, ज्ञानी (अग्नि०) परमेश्वर (दे) गति शील पृथिवी के (अग्रम्) गमन के (पठं) मार्ग को (पाति) सुरक्षित करता है । (यद्वा) वह महान् (सूर्यस्य) सूर्य के (चरण) चलने के मार्ग को भी (पाति) पालन करता है (नाभा) नाभिस्थान, केन्द्र अथवा अन्तरिक्ष या बन्धनस्थान मूर्धा में (अग्नि०) यह अग्नि ही (सप्तशीर्षा-णाम्) सात शिर के चामी प्राणों के स्वामी जीव को भी (पाति) रचा करता है । (ऋष्व०) दर्शनीय देव-या (देवानाम्) अग्नि आदि देवों और विद्वानों को आनन्दकारक आत्मा या इन्द्रियों के ग्राह्यविषय को भी (पाति) रचा करता है ।

असि द्वादशी दशतिः । तृतीय खण्डः ।



॥ द० १३ ॥ ऋषि०—१, २, द-१२ वामदेवः । ३-७ नारायणः । देवा-
अग्नि० । २ ऋतु० । ३-६ पुरुष० । ७ स्रष्टा । द घावापृथिवी । ९, ११ इन्द्र० ।
१० आत्मा । १३ गौ ॥ छन्दः—१, २ पङ्क्ति । ३-७, ९, १० अनुष्टुप् ।
१, २ पञ्चम० । ४-७, ९, १० मान्धारः । ७, ११, १२ वैवत० ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १
[६१५] आजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्नरासनि ।
१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
स त्वन्नो अग्ने पयसा वसुविद्रयि वर्चो वृशे दा ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् । हे (समिधान) प्रकाशमान । हे (दीदिवः) देदीप्यमान । (अन्नं , आसनि) प्रत्येक आश्रय स्थान देह में, मुख में जीभ के समान (आजन्ती) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चित्-शक्तिरूप (जिह्वा) ज्ञान ग्रहण करने हारी शक्ति (चरति) विचर रही है । हे अग्ने ! (स त्व) वह तू (वसुविद्) वास कराने वाले प्राणों या ऐश्वर्यमय लोकों को जानने, या कर्मानुसार प्राप्त कराने द्वारा (नः) हम

(पवमा) अन्न, ज्ञान, पुष्टिकारक पदार्थ के साथ (रयि) जीवन और (वचः) बल और कान्ति, रक्षा सामर्थ्य (अदा०) प्रदान कर ।

उ १२ २२ ३ १२ २२
[६१६] वसन्त इह रन्त्यो ग्रीष्म इह रन्त्यः ।

उ १ २ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इह रन्त्यः ॥ २ ॥

भा०—(वसन्त इह) वसन्त ही (नु) निश्चय से रमण करने योग्य है । और (ग्रीष्म.) ग्रीष्म भी (इह नु) निश्चय से (रन्त्य०) आनन्द लाभ करने योग्य है । (वर्षाणि) वर्षाकाल और (अनु शरद०) बाद में आने वाले शरत् के दिन और (हेमन्तः) हेमन्त और (शिशिरः) शिशिर (इह) ये सभी (नु) निश्चय से (रन्त्यः) जीवन का आनन्द लाभ करने के लिये ही हैं ।

अतुनामों से ईश्वर को याद किया गया है । (वसन्तः) सब प्राणियों को बसाने द्वारा वह परमात्मा (इह नु) ही तो केवल (रन्त्य) आनन्द लाभ करने योग्य है । (ग्रीष्मः) सबको आस करने द्वारा परमात्मा भी आनन्द ही देता है । (वर्षाणि) सब सुखों की वर्षा करने वाली (अनु शरद०) तथा उनके समान ही सब दुखों का नाश करने वाली शक्तियों और (हे मन्तः) सब पदार्थों को प्रेरणा या ताड़ना करने वाला और (शिशिर.) शनै. २ प्रत्येक पदार्थ की आयुबल और शरीर को घिसाने वाला काल रूप परमात्मा (इह नु) ही (रन्त्यः) एकमात्र आनन्द लाभ कराने वाला है ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६१७] सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स भूमिं सर्वतो धृत्वात्यतिष्ठद्दशदिगुलम् ॥ ३ ॥

अ० १०।६०।४॥ यजु० ३१।४॥

६१७—‘स भूमिं विश्रता धृत्वा’ इति अ० । ‘सर्वतः स्मृत्वा’ इति पाठभेद.
यजु० । ‘सहस्रशीर्षा’ इति यजु० ।

भा०—(सहस्रशीर्षाः) सहस्रों शिरों वाला, (सहस्राक्षः) हज़ारों आँखों वाला, (सहस्रपात्) हज़ारों पैरों वाला, (पुरुष) पुरुष, ईश्वर विराट् (सः) वह (भूमिम्) ब्रह्माण्ड नामक भुवन को (वृत्त्वा) घेरकर, व्याप्त होकर और भी (दशाङ्गुलम्) दश अङ्गुल अर्थात् दशों दिशाओं से भी (अति अतिष्ठत्) परे तक विराजमान है ।

१० अङ्गुल—परमात्मा के दशों दिशा में फैलने वाली व्यापक शक्ति-या हैं । आत्मपक्ष में भूमि—नाभि, दश अङ्गुल दश हृन्दिष । सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी और सब का नियामक होने से समस्त प्राणियों के सिरों शिर, आँखों और पैरों को लक्ष्य करके ईश्वर को सहस्रशीर्षा आदि विशेष-पणों से गौण रूप से दर्शाया है । अथवा ब्रह्माण्डगत नाना दैत्यों के शिर हैं, प्रकाशमान नाना सूर्य उसकी चक्षुष और नाना वास योम्य भूमिया उसके चरण हैं ।

३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५१८] त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्य द्वाभिवत्पुनः ।
२ ३ २ ३ ३ २ २ ३ २ ३ २

तथा विश्वद् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥ ४ ॥

श्र० १० । ६० । ४ । यजु० ३१ । ४ ॥

भा—(पुरुषः) इस महान् ब्रह्माण्डरूप पुरु में शयन करने द्वारा सर्वव्यापक, परमात्मा (त्रिपात्) सत्, चित्, आनन्दस्वरूप (उदैत्) सबसे उत्कृष्ट होकर, सब पर वश किये हुए अधिष्ठाता के समान हांकर वर्तमान है । (अस्य) इसका (पादः) ज्ञान और क्रियारूप शासन ही (इह) इस ब्रह्माण्ड पर (पुनः) बार बार (अभिवत्) सत्तारूप में प्रकट होता और विजित होता है । (तथा) और वही (विश्वद्) सर्वत्र (दशनानशने अभि) भोजन करने वाले प्राणियों और न भोजन करने वाले स्थावर, जड़ पदार्थों में भी (वि-व्यक्रामत्) व्यापक है ।

६१८—‘साशनानशने’ इति श्र० यजुः० ।

[६१६] ^{१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २} पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतम् यच्च भाव्यम् ।

^{१ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥५॥

अ० १० । ६० । २ पूर्वार्ध, ३ उत्तरार्ध, यजु० ३१ । २ पू० । ३ उ० ॥

भा०—(यद् भूतं) जो अवतक उत्पन्न जगत् है, (यत् च भाव्यं) और जो भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाला जगत् है (इदं सर्वं) यह सब (पुरुष एव) पुरुष ही है । अर्थात् (सर्वा) समस्त (भूतानि) उत्पन्न हुए पदार्थ और प्राणिगण (अस्य पादः) इसके चरण हैं, इससे व्याप्त हैं या इसके एक चतुर्थांश हैं, या कार्य होने से उस प्रभु स्वामी के ज्ञापक हैं । और (अस्य त्रिपाद्) इसके तीन चरण (दिवि) अपने प्रकाशस्वरूप में (अमृतं) विनाशरहित, अमृतरूप सत्, चित्, आनन्द हैं । अर्थात् कार्यरूप जगत् विकार को प्राप्त होता है । वह ब्रह्म का एक पाद है और अमृतस्वरूप तीन शक्तियाँ सत्, चित्, आनन्द यह उसके निज अमृत, अविनाशी, आविकारी कारणस्वरूप हैं ।

^{१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २} [६२०] तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पुरुषः ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} उतामृतत्वस्येशानो यदज्ञेनानिरोहति ॥ ६ ॥

अ० १० । ६० ३ ॥ यजु० ३१ । ३ पू०, २ उ० ॥

भा०—(तावान्) इस संसार में जितना (अस्य) इस जगत् का (महिमा) विस्तार है (ततः) उससे भी (ज्यायान्) बड़ा वह (पुरुष) पुरुष परमेश्वर है । (उत) और वही (अमृतत्वस्य) इस अमर जीव संसार का (ईशानः) स्वामी है (यत्) जो (अज्ञेन) अज्ञ या कर्मफल भोग के द्वारा (अनिरोहति) मूल कारण से कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात् संसार को उत्पन्न करता है ।

६२०—'तावानस्य' 'मतो ज्याया' इति क०, यजु० ।

१ २ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६२१] ततो विराडजायत विराजो अवि पूरुषः ।

२ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
स जाना अत्यरिच्यत पश्चान्भूमिमथो पुरः ॥ ७ ॥

अ० १० । ६ । ५ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(ततः) उस पुरुष से (विराट्) हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मा
एक (अजायत) उत्पन्न हुआ । (विराज अवि) उस विराट् से (पूरुषः)
पुरुष, जीव उत्पन्न अर्थात् प्रकट हुआ, (सः) वह विराट् ही (अति
अरिच्यत) सबसे बड़ा रहा । (पश्चात्) उसके पश्चात् उसने (भूमिम्)
इस भूमि को और (अथो पुरः) इन देहों को या इन सौर जगत्‌ों को भी
उत्पन्न किया ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
[६२२] मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितम-
१ २ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३
भियोजनम् । द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चत-
१ २ अथर्व० ४ । २६ । १ ॥

महसः ॥ ८ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) सबको प्रकाश देनेहारे गुरु ! सूर्य के स
मान प्रकाशक परमात्मन् । और पृथिवी के समान विस्तृत विशाल प्रकृति ।
मैं (वाम्) आप दोनों को (सुभोजसौ) उत्तम पालन करने वाले (मन्ये)
मानता व जानता हूँ । आप दोनों (अमित) अपरिमित अनन्त (योजनं)
इस संसार को (अप्रथेथाम्) विस्तृत कर रहे हो । हे (द्यावापृथिवी)
पूर्वोक्त पुरुष और प्रकृति ! आप हमारे लिये (स्योने) सुखकारक (भवत)
होगो । (ते) वे दोनों आप (नः) हमें (अहसः) पाप से (मुञ्चतम्)
मुक्त करो ।

६२२—“मन्ये वां द्यावा • ममिता योजनानि । प्रतिष्ठे दमवत वयना ते नो०”

इति अथर्व० ४

[६२३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} हरो न इन्द्र श्मश्रूयुना त हारतो हरी ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} तन्त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुपासा वनगवः ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (ते) तेरा (श्मश्रूयि) किरणों (हरी) हरणशील, सर्वव्यापक है (उत उ) और (ते हरी) तेरे गतिमान् अश्व, प्राण और अपान (हरितो) सब शरीरों को गति में रखने वाले व सर्वत्र विद्यमान हैं । (तं त्वा) उस परम स्मरणाय तुम्हको (वनगवः) सुन्दर वाले (कवयः) मेधावी (पुरुपासः) पुरुष (स्तुवन्ति) स्तुत करते हैं ।

[६२४] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सत्यस्य ब्रह्मणा वर्चस्तेन मा ससृजामसि ॥ १० ॥

भा०—(हिरण्यस्य) हरणशील मन, सुवर्ण या सूर्य का (यद् वर्चः) जो बल, तेज है (उत वा) और (यत्) जो (वर्च) तेज, बल (गवा) इन्द्रियों का या किरणों का है और जो (वर्च) तेज (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मणा) वेद का है (तेन) उससे हम (मा) अपने आत्मा को (ससृजामसि) युक्त करें ।

[६२५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} महस्तत्र इन्द्र दद्वयाज इंशे ह्यस्य महतो विरिणिन् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} क्रतुं न नृम्यां स्याविरञ्च वाज वृत्रपु शत्रून्महता कृधी नः ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! हे (विरिणिन्) हे सत्यज्ञानमय ! (नः) हमें (तत्) वह (सह) साथक, दोषों को दबाने वाला सहन बल और (आजः) तज पराक्रम (दाहि) प्रदान कगे जिसमे आप (अस्य महतः) इस महान् समार पर (इंशे) प्रभुता करते हो । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! स्वामिन् ! (नः) हमारे आप (क्रतुं न) कर्म के समान ही (नृम्यां) उपभाग योग्य धन धान्य और (स्याविरम्) स्थिर (वाजं) बल, अज और

ऐश्वर्यं (कृधि) करो और (न०) हमारे (स-हना) हाथियारों वाल
हैंसक (शत्रून्) शत्रुओं को (वृत्रपु) नाना विघ्नों में (कृधि) डाल ।

३ १ २ ३ १ २ ३ ० ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६२६] सहर्षमा. सहवत्सा उदेन विश्वा रूपाणि विभ्रतीर्द्व्यूधी ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
उरु. पृथुरय वो अस्तु लोक इमा आप सुप्रपाणा इह स्त ॥१२

भा०—हे गौओं ! आप (सहर्षमा) साढ़ों के साथ और (सहवत्सा)
बछड़ों के साथ (द्व्यूधीः) दोहरे स्तनमण्डल का वदन करती हुई
(विश्वा) नाना प्रकार के (रूपाणि) रूप (विभ्रतीः) धारण करती हुई
(उत् पेत) उन्नीत को प्राप्त होंओ । (अय लोक.) यह लोक (वः) तुम्हारे
लिये (उरु पृथु) खूब बड़ा विशाल (अस्तु) रहे । (इमाः) ये (आप.)
जल (सु प्र-पावा.) उत्तम पान करने वाले स्थानों से साज्जित रहे । (इह
स्त) तुम यहां रहो । रश्मियों के पक्ष में—ऋषभ, सूर्य, वत्स, प्रहादि और
रम धारण करने हारे दो ऊधस् मेघ और पर्वत हैं । इन्द्रियों के पक्ष में—
ऋषभ आत्मा परमात्मा । वत्स—मन, दो ऊधस् ज्ञान और कर्म, आप—
प्रज्ञान और लोक ।

इति त्रयोदशी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥द० १४॥ अ०—१ वैश्वानसः । विश्वाद् सूर्यपुत्रः । ३ कुत्स । ४-६ सार्व
राज्ञी । ७-१४ प्रसृण्व काण्वः ॥देवता—१ अग्निः पवमान । २-१४
सूर्यः ॥ छन्दः २ जगती । १ भिण्डुप् । १, ४-१४ गायत्री ॥ स्वर
१ निषाद । ३ धैवतः । १, ४-१४ षड्ज ॥

३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६२७] अग्न आयूंषि पत्रस आसुवोर्जमिष च नः ।

३ १ २ ३ १ २
आरे वाग्रस्व दुच्छुनाम् ॥१॥ अ० ६ । ६६ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (न०) हमें (आयूपि) आयु (पवसे) प्रदान कर । (न०) हमें (ऊर्जम्) बल और (इष) अन्न (च) भी दो । (दुच्छुनाम्) तुरे पागल कुक्कुर के समान लोभ और क्रोध से अन्धे पुरुषों को (आरे) दूर ही (बाधस्व) पीड़ित कर ।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६२८] विभ्राद् बृहत्पिबतु सोम्यमध्वान्युर्ध्वद्यक्षपतावविहृतम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वातजूतो या अभिरक्षति त्मना प्रजा पिपत्ति बहुधा
२२
विराजति ॥२॥ ऋ० १० । १७० । १ ॥ यजु० ३३ । ३० ॥

भा०—(विभ्राट्) विशेषरूप से देदीप्यमान सूर्य के समान स्वतःप्रकाश, परमात्मा (बृहत्) बड़ा भारी (सोम्य) उत्पादक और प्रेरक गुणों से युक्त (मधु) जलिनरस को (पिबतु) पान अर्थात् अपने भीतर धारण करे । और (यज्ञपतौ) यज्ञ जीवनयज्ञ या अन्य देवपूजा आदि सत्कर्मों के अनुष्ठाता पुरुष को (अविहृतम्) सरल, अकुटिल धार्मिक (आयु) जीवन (दधन) धारण कराता है । (य०) जो परमात्मा (वातजून) वात, वायु के समान गतिमान् शक्तियों से युक्त होकर (त्मना) स्वयं (प्रजा) प्रजाओं को (अभि रक्षति , रक्षा करता है, (पिपत्ति) पालन पोषण करता है और (बहुधा विराजति) बहुत प्रकारों से सबके ऊपर शासक रूप से विराजमान है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६२९] चित्रं देवानामुद्गादनीकञ्चक्षुर्मित्रस्य वरुणम्याग्रे ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च ॥३॥
ऋ० १ । ११ । १५ । १ ॥

भा०—(देवाना) दिव्यगुण वाले विद्वानों और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि वसु और प्राणादि रुद्रों और १२ आदित्यों के (अनीकं) प्राण,

६२८—'प्रजाः पुपोप मुखा' इति ऋ० ।

बल देनेहारे, प्रमुख (चित्रं) पूजनीय, (मित्रस्य) स्नेहवान्, (वरुणस्य) पापनिवारक (अग्ने.) प्रकाशस्वरूप लोकों के (चक्षुः) प्रकाशक या दृष्टा और (द्यावापृथिवी) चौलोक, पृथिवीलोक और (अन्तरिक्षं च) अन्तरिक्ष को भी (आप्रा) व्याप्त करनेहारा (जगत.) जगत् ससार और (तस्थुष च) स्थावर ससार का (आत्मा) गति देनेहारा, उनका आत्मास्वरूप अधिष्ठाता, (सूर्य.) सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

५२ २२ ३१ २ ३ ३१ २ ३ २
[६३०] आयङ्गौ. पृश्निरऋभीदसदन्मातरम्पुरः ।

३१ २ ३१ २

पितरश्च प्रयन्त्स्व ॥ ४ ॥

श्रु० १० । १८६ । १ ॥ यजु० ३ । ६ ॥

भा०—(अयं) यह (गौ.) गमनशील, सर्वत्रव्यापक या वेदवाणीस्वरूप, (पृथि) सर्वान्तर्यामी समस्त ससार के तेज. पुञ्जों को स्पर्श करनेहारा, (पुरः) साक्षात् (आ अऋभीत्) प्रकट होता है । और (मातरं) ज्ञान के प्राप्त करने हारे ज्ञाता के (पुर.) समक्ष ही (असदत्) विराजता है और (पितरं) अपनी प्रजाओं और तत्स्थानीय इन्द्रियों के पालक को भी (स्व) सुखस्वरूप होकर (प्रयन्) प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार सूर्य, पृथिवी, माता पिता और अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं उसी प्रकार परमेश्वर विद्वानों और प्रजापालकों के हृदय में प्रकट होता है । वे ईश्वर के प्रेम से प्रजा का पालन और उपकार करते हैं ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ ०
[६३१] अन्तश्चरति रञ्चनास्यप्राणादपानती ।

२२ ३ १ २२

व्यत्यन्माहिपो दिवम् ॥ ५ ॥

श्रु० १ । १८६ । २ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की (रञ्चना) सबको रुचिकर, प्रेम मयी दीप्ति (प्राणद्) प्राण प्रदान करती हुई (अपानती) प्राण वायु को बाहर करती हुई (अन्त.) देह के भीतर (चरति) गति करती है,

कर्मफल-भोग करती है । (महिष.) वह महान् परमात्मा (दिवम्)
सूर्य को भी (वि-अख्यत्) प्रकाशित करता है ।

३ २८ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३२] त्रिशद्धाम त्रिराजति चाक् पतङ्गाय धीयते ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

प्रति वस्तोरह शुभिः ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १८६ । ३ ॥

भा०—वह परमात्मा (वस्तो) दिन के (त्रिशद् धाम) तीसों
स्थान, तीसों घड़ियों तक (शुभि.) दीप्ति से (त्रिराजति) हृदय में विरा-
जता है । (चाक्) यह वेदवाणी, उसी (पतङ्गाय) सर्वव्यापक ईश्वर के
लिये (प्रति धीयते) प्रत्येक पुरुष द्वारा मनन करने योग्य है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३३] अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्षुभिः ।

१ २ ३ १ २

सूराय विश्वचक्षसे ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अक्षुभिः) रात्रियों के साथ २ (न-
क्षत्रा) नक्षत्र (विश्वचक्षसे) सब के दर्शक, प्रकाशक, (सूराय) सूर्य के
कारण (अप यन्ति) लोप को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार हे परमात्मन् !
(विश्वचक्षसे सूराय) समस्त प्राणियों के प्रकाशक, सब के प्रेरक आपके
उदय होने के कारण (त्ये) वे (तायव.) हृदय के चोर काम, क्रोध,
लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी पाप (अप यन्ति) दूर भाग
जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३४] अदृशन्नस्य केतवा वि रश्मयो जर्णो अनु ।

१ २ ३ १ २

आजन्तो अग्नयो यथा ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ५० । ३ ॥

भा०—(आजन्त.) प्रकाशमान् (अग्नयः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष
(यथा) जिस प्रकार सद्य प्राणियों पर दृष्टि रखते हैं उसी प्रकार (अस्य)

इस परब्रह्म परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मयः) किशु (जनान् अनु) जन्म लेने वाले प्राणियों को (अदृशन्) बराबर देखते हैं ।

३ १ २ ३ १ २

३ १ २

[६३५] तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।

२ ३ १ २ ३ २

विश्वमाभासि राचनम् ॥१॥ अ० १ । ५० । ४ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (तरणि) मयको इस भवबन्धन के पार तारने वाले, (विश्वदर्शतः) समस्त संसार में एकमात्र दर्शनीय, (ज्योतिष्कृद्) समस्त सूर्य आदि प्रकाशमान ज्योतियों को पैदा करने हारे, (असि) हैं । आप ही (विश्व) समस्त (राचन) मनोहर कान्तिमान् सुन्दर पदार्थों को (आभासि) प्रकाशित करते हो । सूर्य एक सैकण्ड में २२०० योजन जाने से और रोगों से पार करने के कारण 'तरणि' और ग्रहों को प्रकाशित करने वाला होने से 'ज्योतिष्कृद्' कहाता है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[६३६] प्रत्यङ् देवाना विशः प्रत्यङ्मुदेपि मानुषान् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दशे ॥१०॥ अ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (देवाना) विद्वानों प्राणों और सब सूर्य चन्द्रादि दिव्य पदार्थों के (विश) भीतर निवास करने वाली प्रजाओं के (प्रत्यङ्) सामने और (मानुषान्) मनन करने हारे प्राणियों के (प्रत्यङ्) सम्मुख और (स्व.) शौलोक आनन्दमय मोक्ष के (दृशे) दर्शन करने के निमित्त (विश्वम्) समस्त संसार के (प्रापद्) प्रति (उद्-एपि) उदय को प्राप्त होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३७] येना पात्रक चक्षसा भुरगयन्तं जनों अनु ।

१ २ ३ १ २

त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥ अ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) सबको पवित्र करनेहारे ! हे (वरुण) सब अनिष्टों का वारण करने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (चक्षुषा) चक्षु से (जनान्) जन्तुओं को (भुरग्यन्तं) भरण पोषण करने हारे तुझको हम देखते हैं उसी प्रेममय चक्षु से (त्व) तू समस्त जीवों को (पश्यसि) देखता है ।

^{१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६३८] उ घामेपि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्षुभिः ।

^{२ ३ १ २}
पश्यज्जन्मानि सूर्य ॥१२॥ अ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक, उत्पादक परमेश्वर ! (अक्षुभिः) व्यापनशील, शक्तियों द्वारा (पृथु) विशाल (रजः) समस्त लोकसमूह को (अह) और (घाम् उ) समस्त सूर्य और बौलोक के भी (जन्मानि) जन्म लेने वाले समस्त पदार्थों और प्राणियों को (पश्यन्) देखता (एषि) रहता है ।

^{१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ कर}
[६३९] अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरौ रथस्य नप्त्यः ।

^{१ २ ३ १ २}
ताभिर्गतिं स्वयुक्तिभिः ॥ १३ ॥ अ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूर) सबको प्रेरणा करने हारा परमात्मा (रथस्य) सब देहों में आत्मा के माथ (शुन्ध्युवः) शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने वाली, (नप्त्यः) कुमार्ग पर न गिराने वाली इन्द्रियों को (अयुक्त) जोड़ देता है और (ताभिः) उन द्वारा ही (स्वयुक्तिभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (गति) वह सर्वत्र व्यापक है ।

^{३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २}
[६४०] सप्त त्वा हरितां रथे वहन्ति देव सूर्य ।

^{३ १ २}
शौचिष्केशं त्रिचक्षण ॥ १४ ॥ अ० १ । ५० । ८ ॥

६३८—'वि घामेपि' इति अ० ।

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक और उत्पादक ! हे (देव) प्रकाश
माम ! हे (विचक्षण) सबके आत्मन् ! (रथे) इस शरीररूप रथ में
(त्वा) तुझको (शोचिष्केशं) कान्तियुक्त किरणों वाले (सप्त हरितः) सात
ज्ञान प्राप्त कराने वाले इन्द्रियगण (वहन्ति) धारण करते हैं अर्थात् वे तेरी
शक्ति से अनुप्राणित हैं ।

इति चतुर्दशी दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

इति षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः । इत्यारण्यकं काण्डम् ।

इति सामवेद-संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारपदवीविभूषितेन श्रीमासातीर्थोपाध्यलङ्कृतेन श्री पण्डितजयदेव-
शर्मणा विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये आग्नेयैन्द्रपावमानाग्न्यक्काण्डचतुष्टयात्मकः

सामवेदसंहितायाः पूर्वार्चिकाख्यो भागः समाप्तः ।



ओ३म्.

अथ महानाम्यार्चिकः *

प्रजापतिर्नामि. । इन्द्रस्यैलोक्यात्मा देवता ।

[१]

[६४१] वि३दा१ म१घ२वन् वि३दा१ गा३तु२मनु३शसि२पा१ दि३श१ ।

शि१ला२ श३ची२नाम्प॑ते पूर्३वा१णा२मृ३ख॒व॒सो॑ ॥१॥

[६४२] आ३भि॒ष्ट्व॒मभि॑ष्टि॒भे. स्वा॑ऽउ॒र्वा॒शु. ।

प्र॒च॒त॒न॒ प्र॒च॒त॒न॒ये॒न्द्र शु॒म्ना॒य न॑ उ॒पे ॥२॥

[६४३] ए॒वा हि॑ श॒क्रो रा॒ये वा॒जा॒य व॒ज्रि॒व ।

श॒वि॒ष्ट व॒ज्रि॒ष्टस्त्र॑मे म॒हि॒ष्ट व॒ज्रि॒नृ॒ज॒से ।

आ॒ या॒हि पि॒व म॒त्स्य ॥३॥

भा०—(१) हे । मघवन् । परमेश्वर । (विदा) आप सब कुछ जानते हैं । अन० (गातुं) मार्ग का (विदाः) आप प्राप्त कराने, आप (दिश) दिशाओं का (अनुशमिष०) उपदेश करें, हमें लक्ष्य तक पहुचने की दिशा दर्शावे । हे (पूर्वाणां) पूर्ण (शचीना) शक्तियों के (पते) स्वामिन् ! हे (पुरुषसो) समस्त प्रजाओं के भीतर बसने और उनको बसाने वाले ! या अति अधिक धन सम्पन्न । (शिक्ष) हमें शिक्षा करो, नियमों का उपदेश करो

* अथमार्चिकं नतु छन्दमार्चिके नाप्युत्तमार्चिके । सर्वत्र प्वमं व पूर्वोत्तरयोर्मध्ये पठित्वान्परिशिष्टमिति केचित् । तदयुक्तम् । सर्वत्र साममहितासु तथोपरब्धे । यज्ञे च होतुः पृष्ठेऽत्य विनियोगश्चेन्नान्च । १. मोषमर्गाया अस्या शक्र्या सामगौ. खगद्वय कृतम् । तत्र प्रथमे आद्यपादद्वयमुपमर्गं द्वितीये मध्यपादद्वयमुपमर्गं तृतीये त्रान्निगपाद उपमर्गं । शेषे मत्स्यमि. पादैरष्टाक्षरः पट्पचाशदक्षरा शक्यो पूर्यते । सर्वत्र रेखाङ्किताः पादा उपसर्गा. श्रेयाः ।

(२) हे प्रैलोक्यपते ! हे (प्रचेतन) उत्कृष्ट चेतनासम्पन्न !
चिन्मय जगदीश्वर ! हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् ! आप (स्वः न) सबको
प्रेरणा करने वाले सूर्य के समान (अंशु) सर्वव्यापक, (आभिः) इन
(अभिष्टिभिः) अभीष्ट उपासनाओं से (इषे) अन्न और जीवन प्राप्त
करने के लिये और (शुम्नाय) ज्ञानस्वरूप प्रकाश प्राप्त करने के लिये (नः)
हमें (प्रचेतय) उत्तम रीति से ज्ञानवान् करो ।

(३) हे (मंहिष्ठ) सबसे महान् ! सबसे बड़े दाता और पूजा
के योग्य ! हे (वज्रिवः) पापों का वजन करने वाले, ज्ञान से सम्पन्न !
आप (शक्र) शक्तिमान् (एव हि) ही हैं । अतः हे (शविष्ठ) सबसे
अधिक बलशालिन् ! सर्वव्यापक, वज्रिन् ! आप हमें (राये) धन, ज्ञान,
शक्ति, तेज और (वाजाय) बल, अन्न के निमित्त (अञ्जसे) समर्थ
करो । हे वज्रिन् ! (अञ्जसे) आप हमें समर्थ बनाओ । (आयाहे) आप
हमारे हृदय में प्रकट होओ । (पिब) यह ज्ञान, स्तुतिमय भक्तिरस मेरे
हृदय पात्र में से पान करो या स्वीकार करो (मत्स्व) और आनन्दमय
होकर विराजा ।

[२]

उ २ उ २ उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २
[६४४-६५६] विदा राये सुधीर्यम्भवा वाजानाम्पातिर्वेशां अनु ॥

१ २ उ १ उ १ २ २ ३ १ २
मंहिष्ठ वज्रिभृज्जसे यः शविष्ठः शूराणाम् ॥४॥

१ २ उ १ २ उ २ ३ १
या मादष्टो मघोनामंशुर्न शोचिः ।

१ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ २ २
त्रिकृत्वो अभि नो नयेन्द्रा विदे तमु स्तुहि ॥५॥

२ उ २ उ २ ३ १ २ उ १ २ उ १ २
इश हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।

१ २ उ १ उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ १
स नः स्वर्पदति द्विपः क्रतुश्छन्द क्रतु बृहत् ॥६॥

६४४-६४६—रेखाङ्किता, पादा उपमार्गाः । शेषं मसमि, शार्दः शक्ती ।

भा०—हे त्रैलोक्यपते ! आप हमें (राये) श्रेष्ठ धन, आत्मज्ञान के प्राप्त करने के लिये प्रथम (सुवीर्य) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य, ब्रह्मचर्य को (विदाः) प्राप्त कराओ । (यः) जो (शूरायाम्) शूरवीरों में भी (शविष्ठ) सब में अधिक बलवान् है, हे (महिष्ठ) सबसे महान् ! (वज्रिन्) बलवान् ! पापनाशक ! आप (वाजाना पति.) समस्त ऐश्वर्यों, ज्ञानों और बलों के पति (भवः) हैं । और (वशान्) आपके वशीभूत समस्त लोकों के (अनु) अनुकूल हितके लिये उनपर (ऋजसे) वश करते हो ॥४॥

भा०—(य.) जो (मघोना) समस्त ऐश्वर्य वालों में (महिष्ठः) सबसे बड़ा दाता है वही (अंशु न) समस्त संपार में अपनी प्रसरण-शील रश्मियों से व्यापक सूर्य के समान (शोचि.) शुद्ध, कान्तिमान् है । हे (चिकित्स्व) सर्वज्ञ ! आप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यशाली (न.) हमें भी (विदे) ज्ञान और बल को प्राप्त कराने के लिये (अग्नि नय) आगे ले चलो । हे मनुष्य ! तू (तम्) उसकी ही (स्तुति) स्तुति कर ॥५॥

भा०—' हि) क्योंकि (शक्र.) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर ही (ईशे) सब का शासन करता है हमलिये (उत्तमे) अपनी रक्षा के लिये (अपराजितं) किसी से भी न हारे हुए, (जेतार) सब पर विजय करने वाले उस परमात्मा को (हवामहे) हम स्मरण करते हैं । (स.) वह (न.) (हमारे (द्विप.) शत्रुओं को (सु अर्षद्) विनाश करे । वह महान् परमेश्वर ही (क्रतु) सब दुनिया का कर्ता (छन्द.) वेदज्ञानमय, सब का रक्षक, (अतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा है ॥६॥

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४७] इन्द्रं धनस्य सानये हवामहे जेतारमपराजिनम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
स न. स्वर्षदति द्विपः स न स्वर्षदति द्विपः ॥७॥ ।

[६४८] पूर्वस्य यत्तं अदिवोऽशुम्भदाय ।

सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्तिं शविष्ठ शस्यते ।

वशी हि शक्रो नूनं तन्नय्य सन्नयसे ॥८॥

[६४९] प्रभा जनस्य वृत्रहन्समर्थेषु ब्रवाच है ।

शूरो यो गोपु गच्छति मखा सुशेवो अद्वयुः ॥९॥

भा०—(धनस्य) परमैश्वर्य को (सातये) प्राप्त करने के लिये हम (अपराजित जेतारं) न हारे हुए, पराक्रमी विजेता (इन्द्रं) परमात्मा को (हवामहे) पुकारते हैं । (स न द्विप अति स्वर्पद् २) वह हमें शत्रुओं से पार कर, वह हमारे शत्रुओं से पार करे ॥७॥

भा०—हे (अदिवः) ज्ञानस्वरूप, अक्षय्य ! सबके प्रलय करने हारे ! (पूर्वस्य) सबके पूर्व विद्यमान मूल कारण तेरा (यद्) जो स्वरूप (अशुः) सर्वव्यापक (मदाय) आनन्द देने के लिये है, हे (वसो) सबको बसाने हारे ! वह (न सुम्ने) हमारे सुख के लिय हमें (आ धेहि) प्रदान कर । हे (शविष्ठ) सर्व शक्तिमान् ! तेरा (पूर्तिः) सबका पातन पोषण करने वाला स्वरूप ही (शस्यते) प्रशंसा किया जाता है । (नूनं) निश्चय से आप (शक्रः) शक्तिमान् होकर (वशी) सब पर वश करने हारे हो । (तत्) इसीलिये उस (नय्यः) स्तुतिर्योग्य आपको ही (स नयसे) मैं अपने हृदय में आराध्यदेव के समान स्थापन करता हूँ ॥८॥

भा०—हे (प्रभा, वृत्रहन्) समर्थ ! हे विघ्नविनाशक ! हम स्त्री पुत्र, गुरु या शिष्य (जनस्य) प्राणियों के (अर्थेषु) वदे २ स्वामियों के भी ऊपर विद्यमान (ब्रवाच है) तेरी स्तुति करते हैं । (यः) जो आप (गोपु) वेदवाणियों में (गच्छति) प्रतिपाद्य अर्थ के रूप में व्याप्त हैं वह (मखा) हमारे आत्मा के मित्र, (सुशेवः) उत्तम रीति से सथा करने योग्य (अद्वयुः) एकमात्र अद्वितीय है ॥ ९ ॥

* ओ३म् *

सामवेदसंहितायाः



उत्तरार्चिके

प्रथमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अथ प्रथमोऽध्यायः

अपिः—१ असितः काश्यपो देवको वा । २ कश्यपो मारीचः । ३ बैलानमा
आङ्गिरसः । ४ भरेदानः । ५ विश्वामित्रो जमदग्निर्वो । ६ इरिमिठः । ७ विश्वामित्रो
गायिनः । ८—१० अमहीयुराङ्गिरसः । ११ वसिष्ठः । १२ वामदेवः । १३
नोधा काक्षीवतः । १४ कलिः प्रागाथः । १५ पुष्कलोऽग्निः । १६ सदिह । १७
शफः । १८ श्यावाम्बः । १९ आन्धीगवः । २० अग्निर्वैश्वानरः । २१ साकमम्बः ।
२२ सौमरिः । २३ नृमेष ॥ देवता—१—३, ८—१०, १५—१९ सोमः ।
४, २०, २१ अग्निः । ५ मित्रावरुणौ । ६, ११, १३, १४, २२, २३ इन्द्रः ।
७ इन्द्राग्नी । १२ सर्वे देवाः ॥ छन्दः—१—८, १२, १५, २१ गायत्री । ६,
११, १३, १४, २० बृहती । १० त्रिष्टुप् । १६, २२, २३ वकुप् । १७
वज्रिक् । १८ अनुष्टुप् । १९ जगती ॥ स्वरः—१—८, १२, १५, २१
षड्भः । ३, ११, १३, १४, २० मध्यमः । १० धैवतः । १६, १७, २२,
२३ ऋषभः । १८ गान्धारः । निषादः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[६५१] उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।
३ २ ३ १ २ २
अभि देवा इयजते ॥ १ ॥

[६५२] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २२} अभि नै मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्नयुः ।

^{३ २ ३ १ २ ३ २} देव देवाय देवयुः ॥ २ ॥

[६५३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३ १ २२} स नः पचस्व शं गवे श जनाय शमर्वते ।

^{१ २ ३ १ २} शं राजन्नाषधीभ्यः ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ६। ११। १-३ ॥

भा०— (१) हे (नरः) मनुष्यो ! (यस्मै) इस (पचमानाय) शुद्धिकारक (देवा अभि इयधते) देवों, विद्वानों के प्रति अपना ज्ञान प्रदान करते हुए (इन्दवे) परमेश्वर की (उप गायत) स्तुति गान करो, उपासना करो ।

(२) (ते) तेरे (देवं) दिव्यगुणसम्पन्न (देवयुः) देवों, विद्वानों से अभिलषित, (पय) पोषणकारी आनन्द रस को (अथर्वाणः) अहिंसक तपस्वी लोग (मधुना) मनन करने योग्य ब्रह्मज्ञान के संग (अशिश्नयुः) मिलाकर आस्वादन करते हैं ।

(३) हे (राजन्) देदीप्यमान परमेश्वर ! (सः) वह तू (नः) हमारे (गवे) ज्ञानेन्द्रियगण या पशु सम्पत्ति में (श) कल्याण, सुख (पचस्व) प्रदान कर । (जनाय) हमारी समस्त प्रजाजन को, (श) सुख कल्याण हो और (अर्वते) कर्मेन्द्रियों या अश्वदि सेनाओं में (शं) शान्ति सुख हो । और हमारे (ओषधीभ्यः) उष्यता, प्रताप या तेज को धारने वाले लोगों को भी (शं) सुख हो ।

[६५४] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} दविद्युतन्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा ।

^{१ २ ३ १ २२} सामा. शुक्रा गवाशिर. ॥ १ ॥

[६५५] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३ २} हिन्वानो हेतुभिर्हित आ वाज वाज्यक्रमीत् ।

^{१ २ ३ १ २} सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २ ॥

[६५६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अघक् सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २} पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । ६४ । २८-३०॥

भा०—(१) (सोमा) सौम्य गुणों से युक्त विद्वान् योगीजन, (शुक्रः) शुक्ल कर्म अर्थात् लिप्पाप कर्म करने हारे, (गवाशिरः) अपनी इन्द्रियों पर वश करने हारे, (दविद्युतत्या) अधिक प्रकाशमान (रुचा) कान्ति और (परिष्टोभन्त्या) सर्वत्र गुणवर्णन करने हारे (कृपा) प्रशंसनीय सामर्थ्य से युक्त रहते हैं ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (वनुषः) हिंसक योद्धा लोग (सीदन्तः) विशेष पैतरों पर रहते हुए आक्रमण करते हैं, या जिस प्रकार (वाजी) बलवान् घोड़ा (हेतुभिः) हृष्टों से (हिन्वान्) ताड़ा गया (वाजं) युद्ध के मैदान में (अक्रमीत्) दौड़ता है उसी प्रकार (वाजी) ज्ञानवान् पुरुष (हेतुभिः) लौकिक कष्टों या हेय, त्याज्य दुःखों से (हिन्वान्) प्रेरित होकर (हितः) सन्मार्ग में आकर (वाज) ज्ञानपथ पर (अक्रमीत्) क्रदम रख देता है ।

(३) हे (कवे) अन्तर्दर्शिन् ! मेघाविन् ! हे (सोम) सौम्यगुणों से युक्त महानुभाव ! विद्वन् । (दिवा) प्रकाश, ज्ञान के बल पर (अघक्) दूर २ भी, लोक के (स्वस्तये) कल्याण के लिये (संजग्मानः) गमन करता हुआ तू (सूर्य) सूर्य के समान (दृशे) सबको साथ पदार्थों के दर्शाने के लिये (पवस्व) सर्वत्र जा ।

[६५७] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} पवमानस्य ने कवे वाजिन्तसर्गा असृक्षत ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} अर्चन्तो न अवस्यचः ॥ १ ॥

[६५८] ^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अच्छा कोश मधुश्रुतमसृग्र वारं अग्नये ।

^{१ २ ३ १ २} अवावशन्त धीतये ॥ २ ॥

१ २ ३ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६५६] अचक्षा समुद्रमिन्दवाऽस्तं गावो न धेनवः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २

अग्ममृतस्य यानिमा ॥ ३० ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वान् पुरुष ! हे (वाजिन) ज्ञान-
वन् ! (अर्वन्तः न) जिस प्रकार रथ दौड़ाते हुए पुरुष के घोड़े बराबर
सरपट होजाते हैं उसी प्रकार (ते पवमानस्य) योगसाधना के मार्ग पर
गमन करते हुए तेरे (अवस्यव) ज्ञान को प्राप्त करने हारे (सर्गा) प्रयत्न
(असृजत) आप से आप सफल होने लगते हैं ।

(२) (धीतयः) ध्यान करने हारे साधक लोग (अव्यये) कभी न
क्षीण होने वाले, या प्राणमय (वारे) आवरण के ऊपर (मधुरचुतं) मधु,
ब्रह्मानन्द रस को चुबाने वाले (कोशं) आनन्दमय कोश को (अचक्षा)
उत्तम रीति से (असृग्रं) प्रकट करते हैं और (अवावशन्त) उसी की कामना
करते हैं । अर्थात् तामस आवरण पार करके वे ज्ञानमय आनन्द को प्राप्त
करते हैं और उसी में भग्न होजाते हैं ।

(३) (धेनवः गावः) दुधारी गौएं जिस प्रकार (अस्तं न) घर को
स्वयं आजाती है उसी प्रकार (इन्दवः) ऐश्वर्यसम्पन्न, ज्ञान से प्रकाशित
चित्त वाले विद्वान् लोग (समुद्रः) उत्तम रीति से उमड़ने वाले आनन्द-
सागर, परम धाम, (अमृतस्य योनिम्) सत्य ज्ञान और समस्त यज्ञ के मूल
कारण परमेश्वर को (अचक्षुः) भली प्रकार (आ, अगमन्) प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथमः खण्डः ।

— ० —

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६६०] अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातय ।

३ १ २ ३ १ २

नि होता सत्सि यद्विपि ॥ १ ॥

[६६१] तं त्वा समिद्धिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि ।

वृहच्छ्रोत्रा यविष्य ॥ २ ॥

[६६२] स न पृथु श्रवाच्यमच्छा देव विवाससि ।

वृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । १६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१] पृ० १ ॥

(२) हे (अगिरः) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (तं) तस्य प्रसिद्ध (त्वा) तुम्ह परमेश्वर को (समिद्धिः) दीप्ति के साधन ज्ञानों और (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (वर्धयामसि) हम आपको बढ़ाते हैं, आपको विशालता प्रकट करते हैं, अतः हे (यविष्य) सबसे अधिक सामर्थ्य वाले ! सर्वशक्तिमन् ! (वृहत्) आप अति अधिक (शोच, हृदय में प्रकाशित हो) ।

(३) हे देव ! अग्ने ! विद्वन् ! प्रभो ! आप हमें (पृथु) अति विशाल (वृहत्) बढ़े, (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (श्रवाच्य) श्रवण करने योग्य वेदज्ञान को (अच्छा) भली प्रकार (विवाससि) प्रकट करें ।

[६६३] आनो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षनम् ।

मध्वा रजासि सुक्रत् ॥ १ ॥

[६६४] उरुशंसा नमोवृधा मदा दक्षस्य राजथ ।

द्राघिष्ठाभिः शुचित्रना ॥ २ ॥

[६६५] गृणाना जमःप्रिना यानावृनस्य सीदतम् ।

पात सोममृतावृधा ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ३ । ६२ । ६१-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२००] पृ० ११३ ॥

(२) हे (मित्रावरुणा) प्राण और अपान ! तुम दोनों (शुधिप्रतौ) शुद्ध पवित्र कर्म करनेहार, (उरुशंसौ) अति प्रशंसनीय, (नमोवृधा) ज्ञान

बल, धन और स्तुति से बढ़ने वाले (दक्षस्य) आत्मा के (महा) महान् सामर्थ्य से और (दाघिष्ठाभि) अति दीर्घ इष्टियों से आप (राज्य.) प्रकाशित होते और सबके ऊपर विराजमान रहते हों ।

(३) तुम दोनों (अतावृधा) सत्य और ज्ञानयज्ञ के बढ़ाने हारे, (जमदग्निना) हृदय के भीतर प्रकाशित, अग्निस्वरूप आत्मा या परमेश्वर के ज्ञान से प्रज्वलित आत्मा वाले योगी द्वारा (गृणानौ) अपने सामर्थ्य को प्रकट करते हुए आप प्राण और अपान (अतस्य) इस जीवन्मय या रूपासना या योगयज्ञ के (योनौ) मूल भाग में (सीदतम्) स्थिति को प्राप्त करो और (सोमं) सर्वप्रेरक बल को (पातं) प्राप्त करो ।

[६६६] आयाहि सुपुमाहि न इन्द्र सोम पिबा इमम् ।

एवं चर्हिः सदा मम ॥ १ ॥

[६६७] आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।

उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

[६६८] ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः ।

सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥ ६॥ ऋ० ६। १७। १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो मन्त्र सत्या [१६१] पृ० १०२ ॥

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्रह्मयुजा हरी) ब्रह्म, ब्रह्मविद्या या वेद मन्त्रों के ज्ञानपूर्वक योग युक्त, समाहित होने वाले (हरी) गतिशील प्राण और अपान, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय (केशिना) दीप्तियों से युक्त होकर (त्वा) तुम्हको (वहताम्) आगे, उन्नति पथ पर लेजावें । और तू (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को (शृणु) सुन और मनन कर । ज्ञानी पुरुषों का अपने आत्मा के प्रति सम्बोधन है ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (वयम्) हम (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (सोमपाः) सोमरस का पान करने वाले (सुतावन्तः) सम्पादित सोम

मय आनन्दरस को प्राप्त होकर (युजा) समाधि द्वारा (त्वा) तुम्ह (सोमपाम्) सोम, समस्त विश्व का पान अर्थात् आदान या वश करने हारे परमेश्वर को (इवामहे) पुकारते हैं ।

[६६६] इन्द्राग्नी आगतं सुने गीर्भर्नमो वरेण्यम् :
अस्य पातं धियेषिता ॥१॥

[६७०] इन्द्राग्निं जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः ।
अथा पाताममं सुतम् ॥२॥

[६७१] इन्द्रमग्निं कविच्छ्रुदा यज्ञस्य जूत्या वृणे ।

ता सोमस्येह तृप्ताम् ॥३॥७॥ । ऋ० ३ । १२ । १, ३॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् आचार्य ! और ज्ञानसम्पन्न अग्ने ! उपदेशक ! जिस प्रकार वायु और सूर्य सब जगत् की रक्षा करते हैं, वही प्रकार (अस्य मध्ये) इस ससार के बीच में (इषिता) समस्त बातों का ज्ञान कराने हारे (गीर्भि.) अपनी वाणियों से और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि से (नम) समस्त जगत् की ओर (वरेण्यं सुत) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ पुत्र की (पान) रक्षा करो । अथवा—(नम.) सब को एक सूत्र में बाधने वाले (वरेण्य) श्रेष्ठ (सुत) ज्ञान और आनन्द का (पात) उत्तम रीति से स्वयं पान करो, और अन्यों को कराओ, उपदेश करो ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र ! राजन् ! और अग्ने ! ज्ञान के स्वामिन् ! विद्वन् ! ब्राह्मण ! जो (चेतनाः) चेतनास्वरूप (यज्ञः) आत्मा (युधा) आप दोनों को (जिगाति) प्राप्त है आप वस (जरितु) सत्य गुणगान करने हारे पुरुष के (सचा) साथ रहकर (अथा) इस प्रत्यक्ष शक्ति से (इमं सुतं) इस उत्पन्न संसार का (पात) पालन करो ।

(३) मैं (कविरुद्रौ) मेधावि पुरुष के आच्छादन, सत्संग और रक्षा करने वाले (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् और (अग्निं) ज्ञानवान् पुरुष को (यज्ञस्य) इस पूज्य आत्मा में (जूया) भीतरी ज्योति से (वृणो) धरण करता हू, अपनाता हूँ । (तौ) ये दोनों (इह) इस संसार में (सोमस्य) समस्त ऐश्वर्य के द्वारा (तृपता) स्वयं तृप्त हों, और सबको तृप्त करें ।

शु० द्वितीय- मण्ड. ।

[६७२] उवा^३ ते जातमन्त्रसो^{३ १ २} दिवि^{३ १ २} सदभूम्या^{३ १ २}ददे ।

उग्र^{३ १ २} शर्म^{३ १ २} महि^{३ १ २} श्रव^{३ १ २} ।

[६७३] स न इन्द्राय^{३ १ २} यज्यच^{३ १ २} वरुणाय^{३ १ २} मरुद्भ्यः ।

वरिवो^{३ १ २} वित्परि^{३ १ २}स्त्रिच ॥२॥

[६७४] एना^{३ १ २} विम्वान्यथ^{३ १ २} आ धुमनानि^{३ १ २} मानुषाणाम् ।

सिपासन्तो वनामहे ॥३॥ ऋ० ६। ६१। २०, १२, २१॥

भा०—इन तीनों आचाओं का व्याख्यान क्रम से देखो अविकल संख्या [४६७] पृ० २३६, और [४६२, ४६३] पृ० २६८ ॥

[६७५] पुनानः^{३ १ २} सोम^{३ १ २} धारयापो^{३ १ २} वसानो^{३ १ २} अर्पसि ।

आ रत्नया^{३ १ २} यानिमृतस्य^{३ १ २} सीदस्युत्सो^{३ १ २} देवो^{३ १ २} हिरण्यय ॥१॥

[६७६] दुहान^{३ १ २} ऊर्ध्वदिव्य^{३ १ २} मधुभिर्ग^{३ १ २} प्रतनं^{३ १ २} सध्रस्वमासदत् ।

आ पृच्छ्य^{३ १ २} धरुणं^{३ १ २} वाज्यपांसि^{३ १ २} नृभिर्द्धीते^{३ १ २} विचक्षणः ॥२॥६॥

ऋ० ६। २०७। ४, ५ ॥

भा०—(१) इसकी व्याख्या देखो अविकल संख्या [४११] पृ० २५२।

(२) (विचक्षणः) चतुर, बुद्धिमान्, (वाजी) ज्ञानी, (ऊधः) उन्नति के पथ में ले जाने वाले, (दिव्य) दिव्य (धौतम्) मल और

भीतिरी पापा आदि से मुक्त, शुद्ध पवित्र, (पिये) उत्तम, (प्रत्नं) प्राचीन आनादि
(सधस्यं) नित्य साथ रहने वाला, (मधु) मनन योग्य आत्मानन्द या
ज्ञान को (आसदत्) प्राप्त हो जाता है और ऋद्ध में वही योगी (नृभिः)
ज्ञानवान् पुरुषों से भी (आपृच्छ्य) पुरुषों से प्रश्न पूर्वक ज्ञान करने
योग्य (धरुणं) सबके आश्रयभूत ईश्वर को (अर्पसि) प्राप्त होता है ।

[६७७] प्रो तु द्रव परिवोश निषीद नृभिः पुनानो अभिवाजमर्च ।
१ २ ३ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ १ ३ २ ३ १ २

अश्व न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोच्छ्रा वडिरशनाभर्नयन्ति ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६७८] स्वायुध पवते द्रव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

पिता दवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुण
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

पृथिव्या ॥२॥

[६७९] ऋषिर्विप्र पुरपता जनानामृभुधर उशना कादयन् ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

स चिद्विषेद निहित यदासामपाच्यशुह्यं नाम गोनाम् ।
१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

॥३॥१०॥

अ० १ । सू० १ । ३-१० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत संख्या [५२३] पृ० २५६ ॥

(२) (इन्दुः) पेश्वर्यशील, (देवः) देव, ईश्वर और राजा (स्वा-
युध) उत्तम आयुधों से युक्त (अशस्तिहा) शासन न मानने वालों का
नाश करने वाला, (वृजना) सेनाबलों की (रक्षमाणः) रक्षा करता हुआ,
(देवानां पिता) सब देवों, विद्वानों का पालक (सुदक्षः) उत्तम बल-
शाली, कार्यकर्ता (दिवः) ज्ञान प्रकाश, और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य, धौलोक
और सात्विक पुरुषों को (विष्टम्भः) धामने वाला, वशकारक (पृथिव्याः)
इस पृथिवी, और राष्ट्र का एकमात्र धारण करने हारा है ।

६७८—(२) 'वृजिना' इति अ० ।

(३) (अपिः) अतीन्द्रिय ज्ञानों का द्रष्टा, (विप्रः) ज्ञानवान् मेधावी,
(जनानां पुरः पता) समस्त जनों, जीवों का नायक के समान अग्रेसर,
(ऋमुः) सत्य ज्ञान से अति प्रकाशमान, (धीरः) कर्म और प्रज्ञानों का दाता,
(उशनाः) सब पर वश करने वाला, एकमात्र योगी (काव्येन) ज्ञान-
मय वेद साहित्य द्वारा (आसा) इन (गाना) वेदवाणियों का (अपीच्यं)
मनोहर, गुप्त, (गुह्यं) हृदय से जानने योग्य (निहितं) भीतर रक्खा हुआ
(नाम चिद्) सार (विवेद) स्वयं जाने और औरों को जनावे ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[दि०] अ० त्वा शूर नानुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।

इशानमस्य जगतः स्वर्द्धशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥

[दि०१] न त्वार्थो अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।

अश्वायन्तो मघवाग्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥

॥११॥

अ० ७।३२।२२-२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत संख्या [२३३] पृ० ११६ ।

(२) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! परमेश्वर ! (त्वावान्) तेरे
जैसा (अन्यः) दूसरा (दिव्यः) दिव्य गुणों से युक्त (न जातः) न
पैदा हुआ और (न जनिष्यते) न पैदा होगा । और तेरे जैसा अन्य
(पार्थिवः) इस पृथ्वी का कोई पदार्थ, या पृथ्वी का मातृक भी (न जातः
न जनिष्यते) न हुआ और न होगा । हम (अश्वायन्तः गव्यन्तः) अश्व
और गौओं या प्राण और कर्मेन्द्रियों को चाहने वाले, (वाजिनः) ज्ञान
और बल के इच्छुक होकर (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं ।

दि० १—(३) 'सप्तं भवास्त्युतिभिः' इति अ० ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८२] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृयः सखा ।
२ ३ १ २ ३ २

कया शचिष्ठया घृता ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[६८३] कस्त्वा सत्यो मदाना मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २

दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

३ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
[६८४] अभी पु णः सखीनामविता जरितृणाम् ।
३ १ २ ३ १ २

शतं भवास्यूनये ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ४ । ३१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१६६] पृ० ६३ ।

(२) (मंहिष्ठः) पूजनीय, (सत्यः) सत्यस्वरूप, (मदाना) हर्षों, आनन्दों के बीच में (क) कौनसा (अन्धस) जीवन धारण कराने वाला या अन्धकार का नाश करने वाला परम रस है जो (आरुजे) आरोग्य के लिये और (दृढ चिद् वसु) दृढ़ वास योग्य जीवनरूप धन होकर (या) आपको (मत्सत्) आनन्दित करे ।

(३) हे इन्द्र ! आप (नः) हमारे (मयीना) मित्र (जरितृणा) सहिष्ठा का उपदेश करने वाले विद्वानों के (ऊनये) रक्षा के लिये (शतं) सौ वर्षों तक (अविता) रक्षक (भवामि) बने रहें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २
[६८५] तं वो दस्ममृतीपहं घर्मोर्मन्दानमन्धसः ।
३ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अभि वत्सं न स्वसरेषु येनघ इन्द्रं गीर्भिर्नयामहे ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[६८६] द्युक्षं सुदानुं तावर्पाभिरावृत गिरिं न पुरुभाजसम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

क्षुमन्त घाज शतिन सहस्रिण मन्त्रु गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥

॥ १३ ॥

अ० ८ । ८८ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३६] पृ० १२० ।

(२) (शुचं) दिव्य गुणों में निवास करने हारे (सुदानु) उत्तम दाता, (तविपीभिः) बलों से (आवृतम्) घिरे हुए, परिपूर्ण, (पुरुभोजस) प्रजाओं के पात्रक से हम (कुमन्तं) निवास योग्य गृहादिसम्पन्न, (शतिन) सैकड़ों (सहस्रिण) सहस्रों सुखों और लाभों से युक्त (गोमन्तं) गो धन से पूर्ण (वाज) ज्ञान और ऐश्वर्य को (ईमहे) याचना करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६८७] नरोभिर्वो वेदद्वसुमिन्द्र सवाथ ऊनये ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

बृहदायन्नः सुतसामे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥१॥

२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६८८] न यं दुधा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धमः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

य आदृत्या शशमानाय सुन्वत दाता जरित्रे उक्थ्यम् ॥२॥

॥ १४ ॥

अ० ८ । ६६ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल संख्या [२३७] पृ० १२१ ।

(२) (य) जिस (सुशिप्र) उत्तम ज्ञानवान् पुरुष या आत्मा को (दुधाः) बड़ी कठिनता से रोके जाने योग्य, अदम्य क्रोध, काम आदि के वेग भी (न वरन्ते) वारण नहीं करते, या नहीं घेरते और (स्थिराः न) स्थिर, तामसभाव या आलस्य आदि भी जिसको शंक नहीं सकते । और जिसको (मुर) मरणशील क्षणिकभाव भी विचलित नहीं कर सकते वह आत्मा (अन्धम) सोमरम, जीवनदायक, अज्ञान नाशक ज्योति के (मदे) आनन्द में (शशमानाय) स्तुति उपासना करते हुए (सुन्वते) योग साधना करनेहारे (जरित्रे) अन्यो को सन्विष्टा का उपदेश करनेहारे साधु पुरुष को (उक्थ्य) वेदमय ज्ञान को (आदृत्य) आदरपूर्वक (दाता) प्रदान करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

[६८६] स्वादिष्टया मदिष्टया प॒स्त्र सोम धारया ।

इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥

[६८७] रक्षोहा विश्वचर्षणिरभियोनिमयोहते ।

द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २ ॥

[६८८] वरिवो धातमो भुवो मदिष्टो वृत्रहन्तम ।

पर्षि राधा मघोनाम् ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ६ । १ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४६८] पृ० २३६ ।

(२) (रक्षोहा) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों का नाशक (विश्वचर्षणिः) ससार का दृष्टा, प्रसू (अयोहते द्रोणे) जोह के बने कूड़े में जलराशि के समान (अयोहते) गतिदायक शक्ति से गतिमान् (द्रोणे) जगत् में व्यापक होकर (सधस्थ) साथ ही स्थिर रहने वाले, स्वाभाविक (योनि) इस अन्तरिक्ष को (अभि आसदत्) सर्वत्र व्याप्त किये हुए हैं ।

(३) है (वृत्रहन्तम) आवरणाकारी तम, अज्ञान के नाशक परमात्मन् ! आप (वरिवः धातमः) नाना प्रकार से वरण करने योग्य धनों, रत्नों को धारण करने वाले, (मदिष्टः) और सब से बड़े दानी (भुव) हैं । आप ही (मघोनाम्) बड़े २ धनाद्यों को भी (राधा) धन (पर्षि) देकर पूर्ण करते हो ।

[६८९] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।

माह धुक्षन्मो मदः ॥ १ ॥

[६९०] यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः ।

स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदियोच्छ्रा वाजं नैतशः ॥ २ ॥ १६ ॥

अ० ६ । १७८ । १-२ ॥

काम क्रोधादि पर वश करने हारे आत्मा को (चेतति) ऐसे जान लेता है (यथा चिदे) मानो उसे साक्षात् प्राप्त ही कर लेता है ।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मर्देषु) अपने आत्मिक ज्ञान के आनन्द प्रवाहों में (सानभि) सेवन भजन करने और (आभ) ग्रहण करने योग्य (वज्रं) काम क्रोधादि के वर्जन करने में समर्थ ज्ञानशक्ति को (या अस्येत्) चारों ओर फैके, फैलावे । (अप्सुजित्) क्रियाओं, प्रज्ञानों और प्राणों पर विजय प्राप्त करने द्वारा योगी (स भरत्) अज्ञान का नाश करता हुआ या ज्ञान का संग्रह करता हुआ (वृषण) सुखों की वर्षा करने हारे उस परमात्मा को (गृभ्णाति) पकड़ता, उसका आश्रय लेता या प्राप्त हो जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६७] पुरोजिनी वा अन्धस सुनाय मादयित्त्ववे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ एक २२
अप श्वान श्रथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥१॥

१ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६६८] यो धारया पावकया परि प्र स्यन्दते सुतः ।

२ ३ २ ३ २२
इन्द्रुरश्वो न कृत्व्य ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६६९] तं दुरोपमभी नर सोमं विश्वाच्या धिया ।

३ १ २ ३ १ २
यज्ञाय सन्त्वद्रयः ॥३॥६८॥ श्र० ६ । २०२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [१४६] पृ० २७३ ।

(२) (इन्द्र) वह परम ऐश्वर्य, विभूतियों से सम्पन्न योगी (अश्व न) अश्व के समान (कृत्व्यः) कर्म करने में कुशल होता है । (य) जो (पावकया) पवित्र करने वाली (धारया) धारणा या ज्ञान धारा में (सुतः) निष्पन्न, निष्पात, उसमें निष्ट होकर (परि प्र स्यन्दते) चारों तरफ अपने ज्ञान-उपदेशों द्वारा विचरण करता है ।

६६७—(३) 'यश्च हित्वन्वयिभिः' इति '२०' ।

(३) (तं) इस (दुरोपं) दुःखकारी रोप या दाह, प्रताप या तेज वाले (सोमं) सोम्य योगी के पास (नरः) लोग (विश्वाच्या धिया) विश्वव्यापी प्रेमबुद्धि से (अभि) आते हैं । मनुष्यों को चाहिये कि वे (अदयः) पर्वत के समान स्थिर, अभेद्य हृदय या मेघ के समान आदरपूर्ण, उदार हृदय होकर (यज्ञाय) दान आदि शुभ कार्यों के निमित्त (सन्तु) लगे रहें ।

[७००] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३} अमि प्रियाणि पवते चनो हितो नामानि यद्वा अधि येषु
^{० २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २} वर्धते । आ सूर्यस्य बृहन्नो बृहन्नधि रथं विष्णुश्चमरुह
^{३ २} द्विचक्षणाः ॥ १ ॥

[७०१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १} ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता प्रातिघियो अस्या-
^{२ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १} अदाभ्य । दधानि पुत्रः पित्रोरपीक्यं नाम तृतीयमधि-
^{२ ३ २ ३ २} राचनं दिवः ॥ २ ॥

[७०२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अत्र द्युतानः कलशां अचिक्रद्भूमिभिर्यमाण कोशं आ
^{३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} हिरण्यये । अभी ऋतस्य दौहना अनूपताधि त्रिपृष्ठ
^{३ २ १ २} उपसो विराजसि ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ७५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५४] पृ० २७६ ।

(२) (ऋतस्य) सत्यवादी, योगाभ्यासी की (जिह्वा) वाणी (प्रियं) अति उत्तम, हृदय को तृप्त करने वाले, (मधु) आनन्दजनक रस और ज्ञान को (पवते) बढ़ानी है । (अस्याः) इस (धियः पतिः) सत्य धारणा या बुद्धि का स्वामी और (वक्ता) सत्य वाणी का बोलने द्वारा (अदाभ्य) कभी नाश नहीं किया जा सकता, पापियों से मार कर दबाया नहीं जा सकता ।

७००—(२) 'अधिरोचने' इति अ० ।

(३) 'अभीमृतस्य' 'विराजति', इति अ० ।

तत्र वह योगी (पुत्रः) अपने मा बाप का सुपुत्र (पित्रोः) मा बाप से भी (अपीच्यं) अज्ञात, (तृतीयं) तीसरे (दिव अधि रोचनं) दिव्य गुण वाले ज्ञानप्रकाश से युक्त, सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश करने वाला, विद्वानों के समाज की शोभा बढ़ाने वाला (नाम) स्वरूप या तेजस्वी पद (दधति) प्राप्त करता है । एक माता का प्रेम का नाम, एक पिता का व्यावहारिक नाम, तीसरा वह प्रतिष्ठित नाम जिससे दुनिया उसका आदर करती है, जैसे महर्षि, महात्मा, लोकमान्य, देशबन्धु आदि । यहा सत्यवाणी सोम है ।

(३) वह योगी आत्मा (द्युतानः) दीप्तिमान् होकर (नृभिः) नयन करने हारे प्राणों से (येमाणः) नियन्त्रित होकर (हिरण्यये) हिरण्यमय, आनन्दमय (कोशे) कोश में (अत्र अचिक्रद्) शनैः २ प्रवेश करता है । (ऋतस्य) सत्यमय ज्ञान के (दोहनाः) दोहन या पूर्ण करने वाले प्रवाह (इम्) इसका (अभि अनुषत) स्तुति करते हैं, प्रकट होते हैं । (त्रिष्टुभे) तीन प्राणों के स्पर्श या संगम-स्थान त्रिपुटी स्थल पर (उपस) प्रातःप्रभा के समान विशोका प्रज्ञाओं के बीच (अधि विराजसि) विराजमान होता है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७०३] यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।

प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥

[७०४] ऊर्जो नपात स हिनायमस्मयुर्दाशेम हज्यदातये ।

भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत आता तनूनाम् ॥ २० ॥

श्रु० ६ । ४८ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३५] पृ० १५ ।

(२) (ऊर्जं) बल को (नपातं) न क्षीण होने देने वाले इस 'अग्नि' का मैं वर्णन करता हूँ । (सः) वह (हिना) तो सदा (अस्मयुः)

हमारा हितकारी है । (हव्यदातये) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को ठान करने वाले उस परमात्मा को हम भी (दाशेम) अपना आत्मा सम-पण करें । वह (वाजेपु) संग्रामों या बल के कार्यों में (अविता) रक्षक (भुवद्) होता है और (वृधे) हमारी उन्नति के अवसरों पर (तनूनाम्) देहों और देहधारियों का (प्राता) पालक (उत) भी (भुवद्) होता है ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[७०४] एषां पुत्राणां तंऽग्न इत्येतरे गिरः ।

३ १ २ ३ १ ३
एभिर्वर्धाम इन्दुभिः ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७०५] यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् ।

२ ३ १ २
तत्र योनिं कृणवसे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[७०६] न हि ते पूर्वमक्षिपन्नुवञ्जमाना पते ।

२ ३ १ २
अथा दुवो वनवसे ॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० ६ । १६ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७] पृ० ४ ।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानी आत्मन् ! हे परमात्मन् ! तू (ते) अपने (मन) चित्त या मनन करनेहोर आत्मा का (उत्तरं) उन्नत (दक्ष) कर्म (दधसे) धारण कर । (तत्र) वहां तू (योनिं) आश्रयस्थान (कृणवसे) बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् आत्मन् ! हे (नेमानां) इन्द्रियों और शरीर के (पते) पालक ! प्रभो ! (ते पूर्वम्) तेरा पूर्ति या तृप्ति करने वाला तेज या बल (अक्षिपद्) इन्द्रियों का नाश करने वाला (नहि) न (भुवद्) हो । (अथ) और इस कारण (दुवः) परिचर्या, सेवा या साधना को (वनवसे) स्वीकार कर ।

३ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[७०७] वयमु त्वामपूर्य स्थूर न कश्चिद्भूरन्तोऽवस्यचः ।

१ २ ३ १ २
वज्रिश्चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

[७०६] उप त्वा कर्मभूतये स नो युवाग्रश्चक्राम यो घृषत् ।
 त्वामिद्वयवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥२२॥
 ऋ० ङ । २१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०८] पृ० २०७ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (कर्मन्) समस्त कर्मों में (ऊतये) रक्षा और ज्ञान के निमित्त (त्वा) आपको (उप) उपासना करते हैं । (स.) वह (युवा) बलवान् (उग्र.) तेजस्वी है (य) जो (घृषत्) शत्रु, काम, क्रोधादि को पराजित करता है । हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वामिद् हि) तुम्हको ही हम (सखाय.) मित्र जीवगण मिलकर (सानसिं) सबके प्रति समान रूप से आश्रय करने योग्य (अवितार) रक्षक रूप से (ववृमहे) धरते हैं ।

[७१०] अधाहीन्द्र गर्विण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।
 उदेव गमन्त उदभिः ॥ १ ॥

[७११] वार्य त्वा यन्याभिर्वर्द्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
 वावृध्वास चिदद्विवो दिवैदिवे ॥ २ ॥

[७१२] युञ्जन्ति हरी शपिरस्य गाथयारौ रथ उरुयुगे वचोयुजा ।
 इन्द्रवाहा स्वविदा ॥३॥२३॥ ऋ० ङ । ६८ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०६] पृ० २०७

(२) हे (अदिव) न विनाश होने वाले ज्ञान को धारण करने वाले । हे शूर ! नदियों से (वा न) जिस प्रकार जलमय समुद्र भरता है उसी प्रकार (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ब्रह्माणि) ब्रह्मज्ञान या वेदमन्त्र (वावृध्वास) सबसे बड़े महान् (त्वा) तुम्हको (यन्याभिः) तुम्ह तक पहुँचने वाली स्तुतियों से (वर्द्धन्ति) बढ़ाते हैं, अर्थात् वे तेरी महिमा को उससे और बढ़ाते हैं ।

(३) (इषिरस्य) सबको प्रेरणा करने वाले ईश्वर की (गाथया) स्तुति द्वारा ही योगी लोग (उर्युगे) विशाल २ समाधि वाले (रथे) रमण-योग्य स्थान इस देह या रसस्वरूप आत्मा में, रथ में, घोड़ों के समान (चोयुजा) वाणी द्वारा ही समाहित या वश होजाने वाले (हरी) हरणशील प्राण और अपान दोनों को (युज्जन्ति) योग से अपने वश कर लेते हैं । वे ही दोनों (स्वर्विदा) ज्योति और सुख को प्राप्त कराने हारे (इन्द्रवाहा) आत्मा के वहन करने वाले दो अश्व के समान हैं ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः । इति प्रथमोर्वः प्रपाठकः ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

द्वितीयोर्वः प्रपाठकः ।

श्रुतिः—१, ४ श्रुतस्यः । २ १४, १५ वसिष्ठः । ३ मेघ्यातिथिप्रियमेधौ । ४ शरिमिठि । ५ कुम्भीद. काण्व. । ७ त्रिशोकः । ८ काण्व प्रियमेध । ९ विश्वामित्र. । १० मधुच्छन्दाः । ११ शुन.शेषः । १२ नारद. । १३ वामदेव । १४ अवत्सार । १५, १६ असितः काश्यपो अमहीशुर्भा । १७, १८ दयावाश्वः । १९ मरद्वाजादयः सप्त श्रुतयः । २० प्रथममन्त्रस्य दयावाश्व. द्वितीयमन्त्रस्य प्रजापतिः, तृतीयमन्त्रस्य अम्बरीषः ॥ देवता—१-१२ इन्द्र । १३, १४ अग्निः । १५ वषाः । १६ अश्विनौ । १७-२० सोम. ॥ छन्दः—१, ११, १६-१८, २१ गायत्री । १२ उष्णिक् । १३-१५, २० बृहती । २० प्रथमद्वितीयमन्त्रयो रविण्क् तृतीयस्था रुद्रम् ॥ स्वरः—१-११, १६-१९, २१ २२ षड्जः । १२ ऋषभ ।

१३-१५, २० मध्यमः ॥

[७१३] ^{२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २} पान्तमा वा अन्धन इन्द्रमभि प्र गायन ।
^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २} विश्वासां शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥ १ ॥

[७१४] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २} पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्याऽऽसनश्रुतम् ।
^{२ ३ १ २} इन्द्र इति ब्रवीतन ॥ २ ॥

[७१५] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २} इन्द्र इक्षो महोना दाता वाजाना नृतुः ।
^{३ १ २ ३ १ २} महो अभिदशायमत् ॥ ३ ॥ १ ऽ अ० ८ । ६२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [१५५] पृ० ८७ ।

(२) (पुरुहूतं) इन्द्रियों द्वारा, या प्रजाओं द्वारा अपनी रक्षा के निमित्त पुकारे गये, (पुरुष्टुत) प्रजाओं या इन्द्रियों द्वारा स्तुति किये गये, (गाथान्यं) गाथारूप, वेदवाणियों के श्रवण द्वारा प्राप्त करने योग्य, (सन-श्रुत) सदाकाल से गुरुपदेशों में सुने गये, विशेष पुरुष-आत्मा को (इन्द्र) इन्द्र. (इति) इस प्रकार (ब्रवीतन) कहो । राजा, आत्मा, परमात्मा सर्वत्र समान है ।

(३) (इन्द्र इत्) परमेश्वर ही (न०) हमें (महोनां) दिव्य तेजों से युक्त महान् (वाजाना) अश्वों और बलों का दाता, (नृतु) सबको अपने बल पर नचाने वाला (महान्) सबसे बड़ा (अभिदश) सर्वज्ञ (आयमत्) सबको व्यवस्था में बाधता है ।

[७१६] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र व इन्द्राय मादन ह्यश्वाय गायत ।
^{१ २ ३ १ २} सखायः सोमपात ॥ २ ॥

[७१७] ^{२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २} शसेदुक्थ सुदानत्र उन द्युक्षं यथा नरः ।
^{३ २ ३ १ २} चक्रमा सत्यराधसे ॥ २ ॥

७१३—(२) 'गाथान्य' (३) 'महोना' इति अ० ।

^{१ २} [७१=] त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो ।

^{१ २} त्वं हिरण्ययुर्वंसा ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ७ । ३१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५६] पृ० ८७ ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (नर) नेता लोग (सुदानवे) उत्तम दानी के लिये (शुद्धं) दिव्य विशेषणों से युक्त (उक्थं) स्तुति करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष उस (सुदानवे) उत्तम दानी परमेश्वर के लिये (शुद्धं) श्रेष्ठ दिव्य, (उक्थं) ओंकार पद वाली वेदमन्त्रमय स्तुति (शसेद्) उच्चारण करे । हम भी (सत्यरश्मि) सत्य ही से प्रकट होने वाले, या सत्यरूप उसी परमात्मा की स्तुति (चक्रम) करें ।

(३) हे (इन्द्र) ईश्वर ! (त्वं) तू (न) हमारे (वाजयु) ज्ञान और अस्त्र, बल के देने वाला (त्वं गव्यु) तू आप ही इन्द्रिय, वाणी और रश्मियों गौवों के देने वाला है । और हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रजाओं और कर्मों के करने वाले ! हे (वंसा) सबको बसाने वाले परमात्मन् ! (त्वं) तू ही (हिरण्ययु) स्वर्ण के समान मनोहर हितकारी भिय, काम्य पदार्थों का भी देने वाला है ।

^{३ १ २} [७१६] वयमु त्वा तदिदं इन्द्र त्वा यन्त सखाय ।

^{१ २} करावा उक्थोभर्जरन्ते ॥ १ ॥

^{१ २ ३ १५} [७२०] नद्यमन्यदापपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।

^{२४३४} तव दु स्तोमैश्चिकेत ॥ २ ॥

^{३ १ २} [७२१] इच्छन्ति देवा सुन्वन्त न स्वनाय स्पृहयन्ति ।

^{१ २} यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ८ । २ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५७] पृ० ८८ ।

(२) हे वज्रिन् ! हे ज्ञान-वज्र के धारक इन्द्र ! (अप्स-) कर्म के (नविष्टौ) मारम्भ में मैं (अन्यद्) और किसी की (न घ ईम्, आपपन) स्तुति नहीं करता । (तव इत् उ) तेरा ही (स्तोमै.) स्तुतियों द्वारा (धिकेत) ज्ञान करता हूँ ।

(३) (देवा.) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुन्वन्तं) प्रेरणा या आज्ञा करते हुए या सोम सवन या इश्वरोपासना करते हुए या ज्ञान-ऐश्वर्य लाभ करते हुए पुरुष को ही (स्पृहयन्ति) प्रेम करते हैं । (स्वमाय) सोते हुए आलसी पुरुष को (न स्पृहयन्ति) प्रेम नहीं करते । (अतन्दा) आलस्य रहित होकर ही ये विद्वान्, देव या इन्द्रियगण (प्र-मादं) अत्यन्त हर्ष को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

[७२२] इन्द्राय मद्धने सुत परिष्टोभन्तु ना गिरः ।

अर्कमर्चन्तु कारव ॥ १ ॥

[७२३] यस्मिन् विश्वा अधिधियो रणन्ति सप्त ससदः ।

इन्द्रं सुत हवामहे ॥ २ ॥

[७२४] त्रिकटुकेषु चेतनं देवासो यक्षमत्नत ।

तामिद्वर्द्धन्तु ना गिर ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ८ । ६२ । १६-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५८] पृ० ८८ ।

(२) (यस्मिन्) जिस इन्द्र में (विश्वा अधि.) समस्त विभूतियाँ (अधि) अधिक शोभा देती हैं और जिसमें (सप्त ससदः) उत्तम प्रकार से अपने स्थिति प्राप्त किये हुए होता स्वरूप सात इन्द्रियगण (रणन्ति) ज्ञान-यज्ञ में आनन्दलाभ करते हैं उस (इन्द्रम्) आत्मा को (सुत) योग यज्ञ में अतम्भरा सिद्ध होने पर (हवामहे) पुकारते हैं उसका स्मरण, चिन्तन, स्तुति करते हैं ।

[७२८] आ तू न इन्द्र क्षुमन्ते चित्रं श्राम सङ्कृष्टभाय ।

महाहस्ती दाक्षिणेन ॥१॥

[७२९] विद्या हि त्वा तुविकृभिन्तुविदंष्यं तुवीमघम् ।

तुविमात्रमधोभिः ॥२॥

[७३०] न हि त्वा शूर द्वा न मत्तासो दत्सन्नम् ।

भीम न गा वारयन्ते ॥३॥६॥ ऋ० ८ । ऋ१ । १ ३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अलिकल संख्या [३६७] पृ० ६३ ।

(२) हे इन्द्र (त्वा) तुम्हको हम (अधोभिः) तेरी इच्छाओं, ज्ञानों और कृपाओं के कारण (तुविकृभिन्) बहुत से कर्मों के करनेहारा (तुविदंष्यं) बहुतसे धन सम्पदाओं का दाता, (तुवीमघम्) बहुत उच्चम धनों, ज्ञानों से सम्पन्न (तुविमात्र हि) बहुतसे ज्ञान माधनों से युक्त भी (विद्य) जानते हैं ।

(३) हे शूर ! (भीम) भयजनक (गा न) जिस प्रकार साहसों कोई हटाने का साहस नहीं करता उसी प्रकार (भीमं) सबको भयजनक, सर्वव्यापक (दत्सन्नं) दान की कामना करते हुए तुम्हको (न द्वा) न विद्वान् लोग और (न मत्तास.) और न सा शरण लोग (वारयन्ते) वारण करते हैं ।

[७३१] आभ त्वा वृषभा सुते सुते खृजामि पीतये ।

सम्पा व्यश्नुही मदम् ॥१॥

[७३२] मा त्वा मूरा अवित्यथो मोषहस्वान आदमन् ।

माको ब्रह्मद्विर्ध वनः ॥२॥

६६०—[२] 'नभद्विर्ध' इति श्रु० ।

[७३३] इह त्वा गोपरीणमं महे मन्दन्तु राधसे ।

सरो गौरो यथा पिय ॥३॥७॥ अ० ८ । ४५ । २०-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६१] पृ० ८६।

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मूरा.) मूर्ख (अविष्यव.) तुझे पालने पोपणे की चेष्टा करने हारे भोगी विलासी लोग (त्वा) तुझे (मा दमन्) नाश न करें । (मा उपहस्वान) तुझ पर उपहास करनेहारे, तेरे उपेक्षा-कारी भी तेरा विनाश न करें । और (ब्रह्मद्विप.) वेद और ब्रह्मज्ञान का प्रेम न रखने वाले तेरा कभी सेवन न करें, तेरा कभी आनन्द लाभ न करें ।

मूर्ख लोग देह की पालना कर आत्मा का नाश करते हैं उपहासकारी लोग नास्तिक भी आत्मा का नाश करते हैं, पापों में बह जाते हैं और वेद और ब्रह्मविद्या के द्वेषी भी आत्मज्ञान का आनन्द नहीं पाते ।

(३) (यथा) जिस प्रकार (गौर. मृग.) गौर मृग (सर.) जल से भरे तालाब पर जाकर जल पीता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू यहा इस हृदय में विराज कर ब्रह्मानन्द के रस को (पिय) पान कर । (इह) यहा ही (गो-परीणस) इन्द्रियगण से परिवृत्त, जितेन्द्रिय (त्वा) तुझको (महे राधसे) बड़ी भारी ब्रह्मज्ञान-साधना के लिये (मन्दन्तु) साधक लोग आनन्दित करते हैं, जगाते हैं ।

[७३४] इदं वसो सुनमन्त्र पिया सुपूर्णमुदरम् ।

अनाभयिन् ररिमा ते ॥१॥

[७३५] नृभिर्घोतः सुनो अश्नैरव्यावारैः परिपूतः ।

अश्वो न निक्तो नदीषु ॥२॥

[७३६] त ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः ।

इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे ॥३॥८॥ अ० ८ । २ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सू० [१२४] पृ० ६६ ।

(२) (नदीषु) नदियों में (निष्कः) स्नान कराये गये (अश्व० न) अश्व के समान (नृभिः) नेता लोगों द्वारा (धौतः) मल्लादि छुड़ाकर शुद्ध किया गया (अशनैः) सूक्ष्म तत्वों तक पहुँचने, एवं आत्मानन्द का भोग करने हारे विद्वानों द्वारा (सुतः) उत्पन्न किया, सोमरस, आत्मज्ञान (अव्याः) चित्ति शक्ति या प्राण के (चारैः) प्रकट करने हारे योगाङ्गरूप साधनों द्वारा (परिपूतः) परिशोधित, (नदीषु निष्कः) प्रवाह के रूप में बहने वाली ज्ञानधाराओं में शुद्ध होता है ।

(३) (यथा) जिस प्रकार हम (गोभिः) गो-रसों से (श्रीयन्तः) मिलाते और परिपाक करते हुए (यवं) यव के बने पकाव को (स्वादुं) आनन्ददायक यवागू पाक (अकर्म) बना लेते हैं उसी प्रकार (तं) उस ज्ञानमय आत्मा को (ते) वे साधक लोग (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त रसों या तेजोमय ध्यानरश्मियों से (श्रीयन्तः) मिलाते, परिपक या दूध करते या अभ्यास करते हुए (अस्मिन्) इस (सधमादे) आनन्द-जनक समाधि-दशा में हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वा) तुम्हको (स्वादुं) स्वादु, अति हर्षदायक रूप से (अकर्म) साक्षात् करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।



उ० २ २ ३ १ २
[७३७] इदं ह्यन्वोजसा सुतं राघानां पते ।

२ ३ २ १ ३
पिघा त्याऽरेस्य गिर्वण् ॥१॥

२ ३ १ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ २ २ २ २
[७३८] यस्ते अनु स्वधामसत्सुत नियच्छ तन्वम् ।

१ २
॥स त्वा ममत्तु सोम्य ॥२॥

[७३६] प्र ते अश्नेतु कुच्यो मेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।

प्र बाहू शूर राधसा ॥३॥६॥ अ० ३ । ५१ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६५] पृ० ६२ ।

(२) हे इन्द्र ! (ते) तेरा (यः) जो (स्वधाम्) स्व-अर्थात् अपने स्वरूप में धारणा करने के (अनु) अनन्तर (असत्) प्रकट होता है (सुते) उस उत्पन्न आनन्द में तू हे आत्मन् ! (तन्वं) अपने स्वरूप को (नि यच्छ) नियमित कर, समर्पित कर । हे सोम्य ! सोमरस के पान करने योग्य आत्मन् ! वह ज्ञानरस (त्वा) तुझको (ममत्तु) अति आनन्दित करे ।

(३) हे (इन्द्र) आत्मन् ! वह ज्ञानरस और आनन्दरस (ते कुच्यो.) तेरे दोनों ज्ञान और कर्मरूप पार्श्वों को और (शिरः) शिर को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान द्वारा (अश्नेतु) व्याप्त करे या दु.खों को बाधे । और हे शूर ! (ते बाहू) तेरी बाहुओं को (राधसा) बल, ऐश्वर्य से पूर्ण करे ।

आत्मा के दोनों काखों और शिर का व्याख्यान देखो (तैत्ति० उप० १)

[७४०] आ त्वे ता नि यदितेन्द्रमभि प्र गायत ।

सखायः स्तोमबाहसः ॥१॥

[७४१] पुरुतमं पुरुषामीशान वार्याणाम् ।

इन्द्र सोम सचा सुत ॥२॥

[७४२] स घा ना योग आभुवत्स राये स पुरन्ध्या ।

गमडाजोभिरास नः ॥३॥१०॥ अ० १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६४] पृ० ६१ ।

(२) (पुरुषा) प्रजाओं और इन्द्रियों में सबसे (पुरुतमम्) श्रेष्ठ (वार्या-णाम्) वरण करने योग्य ज्ञानों और धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रम्)

राजा और आत्मा की (सुते सोते) उत्पन्न किये इस आनन्दकारी, सबक प्रेम्क, भोग्य रस या ज्ञानरस, या ऐश्वर्य में मग्न होकर सब (सच्चा) साथ मिलकर (अभि प्र गायत) गान करो, उसकी स्तुति करो ।

(३) (स घ) वही आत्मा (नः) हमारी (योगे) समाधिदशा में (आभुवत्) साक्षात् होता है । (स राये) वही नाना ज्ञान, तप, रूप धनसाधि के अवसर में और (स) वही (पुरन्ध्या) नाना पदार्थों को स्मृतिरूप से या देह को धारण करने वाली बुद्धि द्वारा भी (आभुवत्) प्रत्यक्ष साक्षात् होता है । (स. न०) वह हमारे पास (वाजंभि) ज्ञानों द्वारा (गमत्) प्राप्त हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[७४३] यांगे यागे तवन्तरं वजेवाजे हवामहे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

सखाय इन्द्रमूनये ॥१॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[७४४] अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रति नरम् ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २

यं त पूर्वं पिता हुवे ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७४५] आ घा गमद्यद्भि श्रवत्सहजिर्ण भिरुनिभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

वज्रमिरुप ना हवम् ॥३॥ ११॥ अ० १ । ३० । ७, ६, ८ ॥

भा० — (१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१६३] पृ० ६१ ।

(२) (प्रत्नस्य) बहुत प्राचीन (ओकस.) परप आश्रयरूप मोह के प्रति (नरं) जेजाने वाले (तुविप्रति) बहुतों की कामना पूर्ण करने हारे परमेश्वर को (अनु हुवे) पुनः २ प्रतिदिन स्मरण करता हू । (यं) जिस (ते) तुम्हें (पिता) हमारे पालन करनेहारे साक्षात् गुरु, आचार्य आदि (पूर्व) हमसे पहले (हुवे) स्तुति करते रहे ।

(३) (यदि) यदि वह परमेश्वर (नः) हमारी (हवम्) स्तुति को (श्रवत्) सुनले तो वह (सहजिर्णभिः) सहस्रों वज्रशालिनी (जतिभिः)

रक्षा करनेहारी शक्तियों से और (वाजेभि.) सहस्रों सत्य ज्ञानों के सहित
(उ आगमत् घ) साक्षात् प्रकट ही होजावे ।

[७४६] ^{१ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २} इन्द्रं सुतेषु सोमेषु कर्तुं पुनीष उक्थयाम् । ^{३ २ ३ ३ ३ १ २ ३}

^{३ २ ३ ३ ३ १ २ ३} विदे वृधस्य दक्षस्य महा हि ष ॥ १ ॥

[७४७] ^{१ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३} स प्रथमे व्योमनि देवानां सद्ने वृध ।

^{३ २ ३ ३ ३ १ २ ३} सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥ २ ॥

[७४८] ^{१ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ ३} तमु हुवे वाजसानय इन्द्रं भराय शुष्मिणाम् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} भवा न. सुम्न अन्तम सखा वृध ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ८ । १३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत से० [३८१] पृ० १६७ ।

(२) (स) वह परमेश्वर (प्रथमे) सबसे श्रेष्ठ (व्योमनि) विशेष रूप से शरण प्राप्त करने योग्य (देवानां सद्ने) विद्वान् ज्ञानी और मुक्त पुरुषों के आश्रय या निवास करने योग्य लोक में (वृध.) सबसे बड़ा है । वह (सुपार.) उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, और कष्टों से तराने वाला (सुश्रवस्तमः) उत्तम श्रवण और ज्ञान का धारण करनेहारा, (समप्सु-जित्) समस्त कर्मबन्धनों या बन्धनों में फसे जीवों में सबसे उत्कृष्ट एवं आदि मूल कारण प्रकृति पर भी वश करने वाला है ।

(३) (तम्) उस (भराय) भरण पोषण करनेहारे, अथवा (भराय=हराय) कर्मजाल को हरण करके मुक्तिमार्ग में लेजाने वाले (शुष्मिणाम्) सर्वशक्तिमान् को ही मैं (इन्द्रं) 'इन्द्र' नाम मे (हुवे) पुकारता हूं । वह परमात्मा (न) हमारे (सुम्ने) सुखप्राप्ति और (वृधे) वृद्धि करने के निमित्त (अन्तम.) अति समीप का, अन्तरंग (सखा) मित्र है ।

इति तृतीय खण्डः ।

७४६—(३) 'तमु हे' इति अ० ।

[७४६] ^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २} पना वा अग्निं नमसाजो नपातमाहुवे ।

^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} प्रियं चेतिष्ठमर्गति स्वध्वरं विश्वरय दूतममृतम् ॥१॥

[७५०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ २} स याजने अरुपा विश्वभोजसा स दुद्रधत्स्वाहुनः ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सुग्रहा यज्ञः सुशमी वसुनां देव राधा जनानाम् ॥२॥१३॥

श्र० १० । ६ । ५ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४५] पृ० २० ।

(२) (स०) वह परमात्मा (अरुपा) दीप्तिमान्, (विश्वभोजसा) विश्व, समस्त ससार का भोग कराने हारे पालक सूर्य और पृथिवी दोनों को (योजने) नियुक्त करता है । वह (स्वाहुतः) उत्तम रूप से कीर्तित परमात्मा ही (दुद्रधत्) सर्वत्र व्यापक है । वही (सुग्रहा) उत्तम ज्ञानवान्, सबका उत्पादक है और वही (यज्ञः) महादानी, यज्ञस्वरूप, (सुशमी) उत्तम शान्त गुण सम्पन्न है । (वसुना) वास करने हारे (जनाना) जन्तुओं के (राधा देव) उस आराधनीय देव की उपासना करो ।

[७५१] ^{१ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २} प्रत्यु अदर्यायत्युऽऽञ्छन्ती दुहिता दिवः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} अर्पो मदीवृणुत चक्षुपातमो ज्योतिष्कणोति सुनरी ॥१॥

[६५२] ^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २} उदुन्निया सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमाचिचत् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} तद्यदुपा व्युपि सूर्यस्य च सं भर्त्तन गमेमहि ॥२॥१४॥

श्र० ७ । ८१ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३०३] पृ० १४५ ।

(२) (सूर्यः) सबका प्रेरक उत्पादक परमात्मा । (उन्निया) वाय करने योग्य फिरणों और भूमियों को (यथा) एक माध सूर्य के समान (उदुन्नते) प्रकट करता है और (उद्यन्) उदित होता हुआ भी स्वयं (न चक्षत्) अपने स्थान से च्युत न होने वाला नक्षत्र के समान निर तथा

व्यापक (अर्चिवत्) तेजोमय है । हे (उषः) पापदाह करने वाली
ज्योतिष्मतिः ! प्रज्ञे ! (तव इत्) तेरे और (सूर्यस्य च) सूर्य के
समान तेजोमय आत्मा के (वि उषि) प्रखर तेज से प्रकट होने के अवसर
में (भक्तेन) भजन करने योग्य उस द्वैष्टदेव से (सं गमेमाहि) हम सत्संग
करें, उसका ध्यान करें ।

3 9 2 3 9 2 3 9 9

[७५३] इमा उ वां दिविष्ट्य उस्मा हवन्ने अश्विना ।

3 1 2 3 9 3

3 9 3

१४ ३४

अथ वामदेऽवसे शचीवसु त्रिशं त्रिशं हि गच्छथः ॥ १ ॥

32 39

3 9

393

[७५४] युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सन्नुतावने ।

३ ३४ ३

39

37

अर्वाग्रथं समनसा नियच्छ्रुतं पिवतं सौम्यं मधु ॥२॥१५॥

ਸ੍ਰ. ੭ । ੭੪ । ੧, ੨ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचिकल सं० [३०४] पृ० १५५ ।

(२) (अभिना) हे अश्विनो ! प्राण अपान नामक नेताओ ! या विद्वान स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (चित्रं) संग्रह करने योग्य, विविध प्रकार के (भोजनं) भोग योग्य पदार्थ (यद्भुः) देते हो । और (सूनृतावते) सूनृता, नाम वेदवाणी को धारण करनेहारे के लिये धन (चोदेथा) प्रदान करते हो । आप (समनसा) समान मन वाले होकर (अर्वाङ्) नीचे की ओर या (अर्वाङ्) इन्द्रियों के प्रति जानेहारे (रथं) अपने वेग या वेगवान् आत्मा या मन और शरीर को (नियच्छतं) नियन्त्रित करो, वश करो और आप दोनों (सोम्यं मधु) सोमरसयुक्त मधुररस उत्तम शुद्धवायु, और आरोग्यता का (पिबतम्) पान करो ।

प्राणायाम का अभ्यासी प्राण को अपान में और अपान को प्राण में
आहुति दे और ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करे ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

उ २ उ २३ उ १ २ उ १ २ उ १ २
 [७५५] अस्य प्रत्नामनुद्युनं शुक्रं दुदुहे अहय ।
 १ २ उ १२ २२

पयः सहस्रसामृपिम् ॥ १ ॥

उ १२ २ १२ उ २ उ १२ २२
 [७५६] अयं सूर्य इवोपहग्यं सरांसि धावति ।
 उ २ उ २२ उ १२ २२

सप्तप्रवत आदिवम् ॥ २ ॥

उ १२ २२ उ १२ २२ उ १ २
 [७५७] अयं विश्वानि निष्ठाति पुनानां भुवनापरि ।

१ २ उ १२ २२
 सोमो देवा न सूर्यः ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ५४ । १, ३ ॥

भा०—(१) (अस्य) हम सोमस्वरूप परम आत्मा की (प्रत्नाम्) अनादि काल से चली आई, पुरानी (द्युतम्) वेदज्ञानरूप कान्ति को ('अनु') अनुसरण करके (अहयः^१) नि सकोच, माननीय, विद्वान् लोग, (सहस्रसाम्) सहस्रों फलों को देने वाले, (शुक्रं) शुद्ध, पापरहित (अपि) अतीन्द्रिय बातों को दिखलाने हारे (पयः) ज्ञान, वेदराशि को (दुदुहे) दोहन करते, उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

(२) (अयं) यह सोम (सूर्य इव) सूर्य के समान (उपहग्यं) समस्त पदार्थों और सब प्राणियों, सब लोकों का द्रष्टा है (अयं) यह सोम (सरांसि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापता प्रकाशित करता और गति देता है, (दिवम्) आकाश के (सप्त) सात प्रकार के (प्रवत) गतिमान् पदार्थों को चलाता है । अस्यात्मपक्ष में—जीव, प्राणात्मा (सरांसि) इन्द्रियों में स्वयं गति करता है और द्यौः अर्थात् सूर्यास्थान में (सप्त प्रवतः) सात शीर्षण्य प्राणों को भी गति देता है ।

(३) (अयं) यह (सोमः) सोम, परमात्मा (सूर्यः न) सूर्य के समान (विश्वानि) समस्त (भुवना उपरि) लोकों के ऊपर (पुनानां)

उनको गति देता हुआ और पवित्र करता हुआ (तिष्ठति) उनपर शासन करने वाले अधिष्ठाता के रूप में विराजमान है ।

उ २ उ २ उ १ २ उ १ उ १ २ उ २
[७५८] एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवभ्य सुतः ।

१ २ उ १ २

हरिः पवित्रं अर्पति ॥ १ ॥

अ० ९ । ३ । ६ ॥

उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २
[७५९] एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवभ्यस्परि ।

उ १ २ २ २

कविर्विप्रेण धानृधे ॥ २ ॥

अ० ६ । ४२ । २ ॥

उ २ उ १ २ २ उ ३ उ १ २
[७६०] दुहान् प्रत्नमित्पयः पवित्रे परिपिच्यसे ।

१ २ उ १ २

क्रन्दन् दवां अजीजनः ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ९ । ४२ । २ ॥

भा०—(१) (एष०) यह सोम (देव०) ज्योतिर्मय आत्मा (प्रत्नेन) अनादिकाल से चले आये (जन्मना) जन्म, जननशक्ति, सामर्थ्य से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के लिये भोगार्थ (सुत) प्रकट होकर (हरि) हरणशील, उनको गति देनेहारा होकर (पवित्रे) प्राण और अपान के बने मलशोधन करने वाले, साधन में (अर्पति) गति करता है ।

प्राणापानौ पवित्रे । तै० ३ । ३ । ४ । ४ ।

(२) (एष०) यह सोमस्वरूप जीव (प्रत्नेन) अनादिकाल से वर्तमान (मन्मना) मनन शक्ति द्वारा (देवेभ्यः) अपनी दिव्यगुण वाली इन्द्रियों के भोग के निमित्त (देव०) स्वयं प्रकाशस्वरूप, चेतन (कवि०) मेधावी, ज्ञानी होकर भी (विप्रेण) मेधावी परम ब्रह्म प्रजापति के साथ (परिधावृधे) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त होता है ।

प्रजापतिर्वै विप्रः, देवा विप्राः । शतपथ ६ । ३ । १ । १६ ॥

(३) हे सोम ! (मत्नस् इत्) पुराने, अनादिकाल से चले आये (पय०) प्राण, जीवन को ही (दुहानः) रस या जीवनरूप में दुहता हुआ तू (पवित्रे) पवित्र करने हारे प्राण और अपान या परम पावन ज्ञान के द्वारा ही (परि सिच्यसे) पवित्र किया जाता है । (क्रन्दन्) शब्द करता हुआ, 'सोहं' का नाद करता हुआ या 'ओं' का नाद करता हुआ तू (देवान्) इन्द्रियगण को (अजीजनः) प्रकट करता है ।

प्राणा पय० ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १५ । और ६२ । ३ । ३ । ३१ ।

अन्तर्हितमिव वा एतद् यत् पयः । ताण्डय० ८ । ६ । ३ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६१] उप शिञ्जापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे ।

१ २ ३ २ ३ २

पवमान विदा रयिम् ॥१॥ श्र० ९ । १९ । ६ क्ष

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[७६२] उपोषु जातमप्सुरं गोभिर्मङ्गं पारिष्कृतम् ।

१ २ ३ १ २

इन्तुं दवा अयासिषु ॥२॥ श्र० ६ । ६१ । १९ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[७६३] उपास्मै गायता नर० पवमानायेन्दवे ।

३ २ ३ १ २ २

अभि देवा इयक्ष्णने ॥३॥ १८ ॥ श्र० ६ । ११ । १ ॥

भा०—(१) हे (पवमान) पावन करने वाले ! हे (सोम) पृथ्वे-
वन् ! (अपतस्थुष) नीचवृत्ति से स्थिति रम्यने हारों को (उपासित)
शिक्षा दो कि वे अपनी पुरी वृत्ति को छोड़कर भले मार्ग में आवें । (शत्रवे)
शत्रु को (भियसम्) भय (आधेहि) दितायो । हे प्रभो ! (रयिम्)
धन को (विदा) प्राप्त कराओ ।

अग्निर्ऋषिः पवमान० । ऐ० ७ । ३७ ॥ प्राणो वै पवमान० ॥ श्र० ७ ।

७ । १ । ६ ॥ आत्मा वै पवमानः । ता० ७।३।७ ॥ पुष्टं वै रयिः । श० २।३।

७।१३ । धीमं वै रयि० । श्र० १३ । १४ । २ । १३ ॥ पशवो वै रयिः ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [६५१] पृ ३२८ ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७६४] ^{१ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र सोमासो विपश्चिताऽपो नयन्त ऊर्मयः ।

^{१ २ ३ १ २} चनानि मदिषा इव ॥१॥

[७६५] ^{३ १ २ ३ १ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २} अभि द्रोणानि वभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया ।

^{२ ३ १ २} वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥२॥

७६६ ^{२ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} सुता इन्द्राय वायव वरुणाय मरुद्भ्यः ।

^{१ २ ३ १ २} सोमा अर्धन्तु त्रिष्णवे ॥३॥ १६॥ अ० ९ । ३३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४७८] पृ० २४० ।

(२) (वभ्रव.) बभ्रु वर्ण वाले, काषाय वस्त्रधारी विद्वान् लोग (ऋतस्य) ज्ञान और तप की (धारया) धारणा से (शुक्राः) कान्तिमान्, (अभि द्रोणानि) राष्ट्रों के प्रति (अभि) आकर (गोमन्तम्) वेदवाणी से युक्त या पश्चादि से सम्पन्न (वाजं) ज्ञान या धन को (अभि अक्षरन्) उत्पन्न करते, प्रदान करते हैं । अथवा अध्यात्म में—(वभ्रव) पुष्टिकारक प्राण और (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (धारया) धारण करने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा से (शुक्राः) कान्ति या ज्योति से सम्पन्न होकर (द्रोणानि) प्राणेंद्रियों के प्रति (अक्षरन्) प्रवाहित होते हैं । और (गोमन्त) वाणी से युक्त (वाज) ज्ञान को (अभि अक्षरन्) साक्षात् प्रकट करते हैं ।

राष्ट्रं द्रोणकलशः । ता० ६ । ६ । १ । प्राणा वै द्रोणकलशः ता० ।

६ । २ । १५ ।

७६०—‘अपा नयन्त्यूर्मयः’ इति ऋ० ।

७६६—‘अपन्ति’ इति ऋ० ।

(३) (सुता० सोमा०) उत्पन्न हुए ये ज्ञान या आनन्दप्रद समस्त पदार्थ (वायवे) प्राणस्वरूप (वरुणाय) ज्ञानी (विष्णवे) सर्वव्यापक ब्रह्म में लीन (इन्द्राय) आत्मा के लिये और (मरुद्भ्य) विद्वानों के लिये (अर्पन्तु) प्राप्त हों ।

[७६७] प्र सोम देववीतये सन्धुर्न पिप्ये अर्णमाः ।

अंशो पयसा मादिरा न जागुविरच्छा काशं मधुश्चतम् ॥६॥

[७६८] आहृत्यता अजुना अत्क अव्यत प्रिय. सुनुर्न मर्ज्यः ।

तमी हिन्विन्त्यपसो यथा रथं नदीप्वागमस्त्यो ॥२॥२०॥

श्रु० ६ । १०७ । १२, १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [११४] पृ० २५४ ।

(२) (हृत्य०) हरण करने योग्य, प्रिय (अर्जुनः^१) इन्द्र, आत्मा (प्रिय.) प्राणों का प्रिय, इष्ट (सुनु. न) पुत्र के समान (मर्ज्यः) संभाल कर, धो, पोंछ कर, साफ स्वच्छ करने योग्य है । वह (अत्के) सर्वव्यापक ब्रह्म में (आ अव्यत) मग्न होजाता है और (तम् ई) उसको ही (गमस्त्यो) दीप्तिस्वरूप प्राण और अपान, इडा और पिंगला के बीच की (नदीषु) धाराओं या नादियों में (अपस.) वेगवान् प्राण या अपान वृत्तियों को उसी प्रकार (आ हिन्विन्ति) प्रेरित करता है (यथा) जिस प्रकार (अपसः) वेगवान् सुभट (रथं) अपने रथ को प्रेरित करते हैं, आगे बढ़ाते हैं ।

१. 'अर्जुनो ह वा इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम ॥ श० ५ । ४ । ३ । ७ ॥

[७६९] प्र सोमासो मदव्युतः अत्रसे ना मर्धनाम् ।

सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥

७६९—'मघोन' इति श्रु० ।

[७७०] आर्द्रा हंसा यथा गण विश्वस्याधीवशन्मतिम् ।

अत्यो न गोभिरज्यते ॥ २ ॥

[७७१] आर्द्रा त्रिनस्य योपयो हारं हिन्वन्त्याद्रिभिः ।

इन्दुमिन्द्राय पीनये ॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० १० । ३२ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देवो अविकल सं० [४७७] पृ० २४० ।

(२) (आन्) और (गण) उत्पन्न होने वाले (ई) इस शरीर-
गत प्राणगण को (हंस) आत्मा (यथा) जिस प्रकार से (अवावशत्)
वश करता है उसी प्रकार वह परमात्मा (विश्वस्य) समस्त संसार के
(मति) मनो को भी (अधीवशत्) वश करता है । और (अत्यं न)
जिस प्रकार अश्व (गोभिः) नाना प्रकार की चालों से (अज्यते) अपने
गुण प्रकट करता है उसी प्रकार वह आत्मा अपनी इन्द्रियों की नाना सुख,
दुःख, ज्ञान आदि गतियों से और वह प्रभु अपने बनाये गनिशास पिण्डों
और वेदवाणियों से अपनी सत्ता और स्वरूप को प्रकट करता है ।

[७७२] अया पवस्व देवयूरभन पर्येपि विश्वतः ।

मधोर्ध्वरा असृजत ॥ १ ॥ अ० ६ । १०६ । १४ ॥

[७७३] पवते हर्यता हरिरतिह्वरासि रंक्षा ।

अभ्यर्ष स्तोत्रभ्यां वीरवद्यशः ॥ २ ॥ अ० ६ । १०६ । १३ ॥

[७७४] प्रसुन्वानायाध्रसा मर्त्ता न वपु तद्वचः ।

अपश्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ३ ॥ २२ ॥

अ० ६ । १०१ । १३ ॥

भा०—(१) हे सोम ! योगिन् ! (देवयु.) अर्थों का प्रकाश करने
वाले त्रिद्वानो और इन्द्रियगणों से युक्त होकर । (अया) इस (धारणा)

७७२—(१) द्वितीयतृतीयपादयोर्विपर्ययः, ऋग्वेदे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७७५] पवस्य वाचो अग्निः सोम चित्राभिरुतिभिः ।

३ १ २ २ ३ १ २
अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २ २ ३ १ २
[७७६] त्वं समुद्रिया अपात्रिया वाच ईरयन् ।

१ २
पवस्व विश्वचर्षणे ॥ २ ॥

२ ३ १ २ २ ३ १ २
[७७७] तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।

१ २ ३ १ २
तुभ्यं धावन्ति धेनव ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ९। ६२। २५-२७ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सबके प्रेरक ! आप अपनी (चित्राभिः) पूजनीय (उतिभिः) शक्तियों और रक्षा-कार्यों और ज्ञानों सहित (वाच.) हमें वेदवाण्या (पवस्व) प्राप्त कराते हो। और (विश्वानि) समस्त (काव्या) क्रान्तदर्शी, मेधावी पुरुषों की वाणियों के (अभि) साक्षात् वाच्य हो।

(२) हे (विश्वचर्षणे) समस्त ससार के देखने हारे ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! जिस प्रकार मेघ या वायु स्वरूप सोम शब्द करता हुआ समुद्र से भरे जल को पृथ्वी पर बरसाता है इसी प्रकार (अत्रिय.) सबके अग्रणी सबसे प्रथम वर्तमान, सबसे मुख्य, अनादि (वाच.) वेदवाणियों को (ईरयन्) प्रकट करते हुए आप (समुद्रियाः) भली प्रकार उन्नति की ओर लेजाने वाले (आप) कर्मों को (पवस्व) उपदेश करते हो।

(३) हे (कवे !) मेधाविन् ! हे (सोम) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, रसस्वरूप ! (महिम्ने) विशाल महिमास्वरूप (तुभ्यं) तेरे लिये (इमा भुवना) ये समस्त लोक (तस्थिरे) स्थिर हैं। (तुभ्यं) तेरे लिये ये (धेनव) वाण्या और नदिया (धावन्ति) गति कर रही हैं, प्रकट होती

हैं, दौड़ रही हैं । अर्थात् ये समस्त लोक और वेदवाणिया, नदियाँ काम-
धुक् भूमिया तेरी ही महान् सत्ता को प्रकट करने के लिये हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७७८] पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसा जन ।
२ ३ २ ३ १ २

विश्वा अप द्विषा जहि ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[७७९] यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः ।

१ २ ३ १ २ ३ २
तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७८०] या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे ।
३ २ ३ २

रक्षा समस्य नो निदः ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । ६१ । २८, ३० ॥

भा०—(१) हे (इन्द्रों) ऐश्वर्यवान् ! 'आप (सुतः) सामर्थ्यवान्
(वृषा) सब सुखों के वर्षाने वाले (पवस्व) हमारे समीप प्रकट होओ ।
और (जने) जनसमूह में (नः) हमें (यशसः) यशस्वी (कृधि)
करो । और (विश्वा) समस्त (द्विष) हमसे अभीति करने हारे, हमारे
अनिष्टकारियों को (अप जहि) दूर करो ।

(२) हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवान् ! (यस्य ते) जिस तेरे (सख्ये) मित्र
भाव में रहते हुए (पृतन्यतः) सेनाएँ लेकर चढ़ाई करने हारे विरोधियों
को (सासह्याम) पराजित करें उस (तव) तेरे (उत्तम) उत्तम (द्यु
म्नम्) तेज या ऐश्वर्य या बल के अधीन हम सदा रहें ।

(३) हे प्रभो ! (या) जो (ते) तेरे (तिग्मानि) तीक्ष्ण (आयुधा)
हथियार (धूर्वणे) हिसाकारियों के लिये (सन्ति) हैं उन द्वारा (न)
हमारी (समस्य) समस्त (निदः) निन्दाकारियों से (रक्ष) रक्षा कर ।

राजा के प्रति योजना भी स्पष्ट है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८१] वृषा सोम द्युमौ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
२ ३ २ ३

वृषा घर्मोणि दधिषे ॥१॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
[७८२] वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः ।
१२ २२३ १२ २२

स त्वं वृषन्वृषेदासि ॥२॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
[७८३] अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः ।

१ २ ३ १२ २२
वि नो रायं दुरो वृधि ॥३॥३॥ अ० ६। ६४। १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [५०४] पृ० २५० ।

(२) हे वृषन् ! सबसे महान् सब सुखों के वर्षा करने हारे । हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (वृष्णः) वर्षणशील (ते) तेरा (शव) बल और ज्ञान (वृष्ण्यं) सुखवर्षक है । तेरा (वनं) भजन सेवन भी सुखदायक है और (सुतः) तेरी प्रेरणा भी सुखदायक है । (स त्व) वह तू (वृषा इत्) सच्चा सुखवर्षक (असि) है ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवान् ! (वृषा) सब सुखों के वर्षक आप (अश्व. न) मोक्ष आत्मा के समान (गाः) ज्ञानेन्द्रियों को (सं चक्रद) अच्छी प्रकार नादित करो, ज्ञानवान् करो । और (समर्वतः) अश्व के समान दौड़ने वाली प्राणेन्द्रियों को भी (य चक्रद) बलवान् करो । अथवा (अश्वः न) राष्ट्र या राजा जिस प्रकार अपने गौ आदि पशुओं को अधिक समृद्ध और बलवान् बनाता है उसी प्रकार आप सर्वव्यापक, सर्वेश्वर होकर (गाः) वेदवाणियों का उपदेश करो और (समर्वत) ज्ञानी पुरुषों को उपदेश करो । आप (नः) हमारे (दुरः) द्वारों को (राये) इष्ट ज्ञानरूप धन के निमित्त (वि वृधि) और अधिक खोल दो ।

७८१—(२) 'वृषावदः' 'सः' इति अ० ।

[७८४] वृषा ह्यलि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।

पवमान स्वर्हशम् ॥१॥

[७८५] यदग्निः परिषिच्यसे मर्भृज्यमान आयुभिः ।

द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥२॥

[७८६] आ पवस्व सुवीर्यं मन्दसानः स्वायुध ।

इहोन्विन्दवागहि ॥३॥४॥ अ० १ । ६५ । ४, ६, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८०] पृ० २४१ ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! (आयुभिः) मनुष्यों या प्राणों द्वारा (मर्भृज्यमान) परिशोधित होकर (यद्) जब (अग्निः) योगाभ्यास के कर्मों द्वारा, या ज्ञान धारणाओं द्वारा (परिषिच्यसे) पुनः २ स्वच्छ किया जाता है तब (द्रोणे) इस मूर्धास्थल या देह में (सधस्थम्) अपने साथ ही स्थिर, कूटस्थ परम आत्मा को भी (अश्नुषे) प्राप्त कर लेता है ।

(३) हे (स्वायुध) उत्तम आयुधों से सम्पन्न समाधि में ध्येय इष्ट देव के सग मिलने के लिये उत्तम यम नियम के साधनों से सम्पन्न आत्मन् ! आप (मन्दसान) आनन्दमय होकर (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य को (आ पवस्व) प्रकट करो । हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवान् ! द्रवणशील, रस रूप से बहने वाले ! (इह उ) यहा ही इस अन्तःकरण में (सु आ-गहि) उत्तम रूप से आ, प्रकट हो ।

[७८७] पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः ।

सखित्वमावृणीमहे ॥१॥

७८५—'मृज्यमानो गमस्तयो वृषा' इति अ० ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[७८८] ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिहरन्ति धारया ।

^{१ २}
नेभिर्नः सोम मृदय ॥२॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[७८९] स नः पुनान आ भर रयि वीरवतीमिषम् :

^{१ २ ३ १ २}
ईशानः सोम विश्वतः ॥२॥ ५ ॥ अ० ६ । ६१ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (पवित्रम्) समस्त शरीर को पवित्र करने वाले मेरे आत्मा या अन्तःकरण को (अभि उन्दतः) साक्षात् दक्षित करते हुए, आपकी तरफ यहते हुए भावयुक्त बनाते हुए (पवमानस्य) सबके परम पावन (ते) आपके (सखिर्वं) भिन्नभाव का हम (आ वृणीमहे) वरण करते हैं ।

(२) हे (सोम) समस्त मंसार के उत्पादक ! प्रेरक ! (ते ऊर्मयः) तेरी शक्तिया (धारया) समस्त मंसार को धारण करने वाली शक्ति के रूप में (पवित्रम्) हमारे अन्तःकरण में (अभि हरन्ति) प्रकट होती हैं तू (तेभिः) उनसे (न) हमें (मृदय) सुखी कर ।

(३) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! (स) वह अतिप्रसिद्ध आप (ईशानः) समस्त मंसार पर वश करने वाले स्वामी (नः) हमें (पुनानः) पवित्र करते हुए (रयि) प्राण और रयि-चितिशक्ति या ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त कराइये और (वीरवतीम्) वलसम्पन्न (इषम्) अन्न आदि पदार्थों वा इच्छा शक्ति को (विश्वतः) सब ओर से प्राप्त कराइये ।

इति प्रथम खण्ड ।

—०:—

^{३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २}
[७९०] अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।

^{३ २ ३ १ २ ३ १ २}

अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ॥ १ ॥

[७६१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विशर्पतिम् ।

^{३ १ २ ३ २} हव्यवाह पुरुप्रियम् ॥२॥

[७६२] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} अग्ने देवा इहावह जज्ञानो वृक्तवर्हिषे ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} असि हाता न इड्य ॥३॥६॥ अ० १ । १२ । २-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविः सं० [३] पृ० २ ।

(२) विद्वान् लोग (अग्निम्-अग्निम्) सबके आगे विद्यमान प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानप्रद, आचार्यरूप सर्वोत्तम अग्नि और सब पापों के विनाशक (विशर्पति) सब प्रजाओं के स्वामी, (पुरुप्रिये) समस्त प्रजाओं के प्रेम पात्र, (हव्यवाहं) समस्त स्तुतियों को धारण करने वाले परमात्मा को ही (हवीमभिः) स्तुति करने योग्य मन्त्रों से (सदा) नित्य (हवन्ते) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप (देवान्) दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि देवों और विद्वानों को (वृक्तवर्हिषे) दंश-बन्धनों को काट देनेहारे, जीवन्मुक्त, कुशल पुरुष के लिये (इड्य) इस संसार में (जज्ञानः) उनके सब रहस्यों को प्रकट करते हुए (आ वह !) हमें प्राप्त कराओ । आप (होता) सबको करने भोगर आहुतिरूप में लाने हारे एवं सबको सुख प्रेषण के दाता होकर (नः) हमारे (ईड्यः) एकमात्र स्तुति योग्य हैं ।

[७६३] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} मित्रं चर्यं हवामह वरुण मोमपीतये ।

^{२ ३ २ ३ १ २} या जाना पूतदक्षमा ॥ १ ॥

[७६४] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} क्रनन यात्रुनावृधावृत्तम्य ज्योतिषस्पती ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} ता मित्रावरुणा हुने ॥ २ ॥

[७६५] वरुणः प्राविता मुवन्मित्रो विश्वाभिरुतिभिः ।

करता नः सुराधमः ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । २३ । ४-५ ॥

भा०—(१) (वरुणं) हम लोग (मोमपातये) समाधि से उत्पन्न होने वाले उस ब्रह्मानन्द रस का पान करने के लिये (मित्रं) स्नेह करने योग्य प्राण, मन, चित्त और (वरुण) शरीर के विघ्नों का वारण करने हारे अपान को (हवामहे) परस्पर में आहुति देने या उनको वश करत हैं । (या) जो दोनों (पूनदक्षसा) पवित्र कर्म करने हारे, मल के शोधक होकर (जाता) विद्यमान एव प्रकट हैं ।

(२) मैं (नौ) उन मित्रावरुणा) मित्र और वरुण दोनों को (हुवे) पुकारता हू (यो) जो दोनों (अतैन) जीवनमय यज्ञ मे या सत्य के धूलपर (अतावृधौ) वास्तावेक सत्य और जीवन को वृद्धि करने हारे (अतस्य) सत्य आत्मा को (ज्योतिषःपती) आनन्दमय विशोका, ज्योति के पालन करने हारे हैं ।

(३) (वरुण) वरुणस्वरूप अपान (आविता) दह को दु सों से बचाने वाला (प्र भुवन्) होता हुआ और (मित्रः) मित्र, प्राण (विश्वाभिः सत्र प्रकार की (उतिभि) रक्षणा शक्तियों से (नः) हमारे (सुराधसः) उत्तम साधनाए (करताम्) निवृद्ध करें ।

[७६६] इन्द्रमिद्राथिनो बृहदिन्द्रमर्कभिरार्कैः ।

इन्द्रं वाणीरनूपन ॥ १ ॥

[७६७] इन्द्र इन्द्रयोः सत्ता माम्मस्तु आ वना युजा ।

इन्द्रो वज्री हिरण्यग ॥ २ ॥

[७६८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।

उग्र उग्राभिरुतिभिः ॥ ३ ॥

^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २}
[७६६] इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्ये रोहयदिवि ।

^{३ ४ ३ १ ३}
वि गोभिराद्रिमैरयत् ॥ ४ ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ७ । १, २, ४, ३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६८] पृ० १०४ ।

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [२६७] पृ० ३०१ ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [२६८] पृ० ३०१ ।

(४) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा (दीर्घाय) दूर देश तक के पदार्थों को (चक्षसे) दर्शन करने अर्थात् दिखलाने के लिये (दिवि) आकाश में सूर्य के समान उच्च ज्ञान में (सूर्य) ऐजस्वी विद्वान् को (आ ऐरयद्) स्थापित करता है । और (गोभिः) रश्मियों द्वारा (अद्रिम्) मेव के समान आनन्दवर्षों आत्मा को (ऐरयत्) विशेष रूप में प्रेरित करता है ।

^{१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २}
[८००] इन्द्रे अग्नौ नमो बृहत्सुवृत्तिमेरयामहे ।

^{३ १ २ २ ३ १ २}
धिया धेना अवस्यवः ॥ १ ॥

^{१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ १ २}
[८०१] ता हि शश्वन्त इडत इत्था विप्रास ऊतय ।

^{३ २ ३ १ २}
सवाधो वाजमानये ॥ २ ॥

^{३ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २}
[८०२] ता वा गोभविपन्यवः प्रयस्वन्तो हवामहे ।

^{३ १ २ ३ १ २}
मधसाता मनिष्यवः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । ६४ । ४-६ ॥

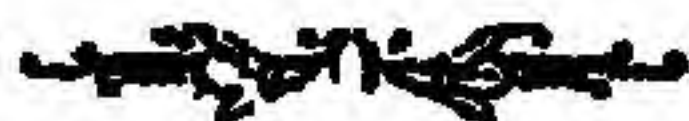
भा०—(१.) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील, (अग्नौ) ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित और अन्धकारमय, अज्ञान मार्गों में अग्नि के समान पथदर्शक विद्या प्रदाता, अग्निस्वरूप परम आचार्य में (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार और (बृहत्) बहुत (सुवृत्तिम्) उत्तम गुण स्तुतियों का (आ ईरयामहे) प्रयोग करें । और (अवस्यवः) ज्ञान, रक्षा, तेज और उत्तमगुणों की अमना वाले

होकर हम (धिया) ध्यान और मननपूर्वक (धेनाः) ज्ञानरस पान कराने वाली वेदवाणियों का उच्चारण करें ।

(२) (विनाय) मेधावी विद्वान् लोग (ता) इन्द्रस्वरूप और आग्निस्वरूप परम गुरुओं के प्रति (शश्वन्तः) अनादि काल से (उतये) आत्मारक्षा और ज्ञान प्राप्त करने के लिये (इत्था) इसी प्रकार की सत्य-वाणियों द्वारा (सबाधः) एक दूसरे से समान रूप से बंधे हुए विद्वान् जन (वाजसातये) ज्ञानप्राप्ति के लिये (ईदते) स्तुति करते हैं ।

(३) हम (विपन्यवः) विशेष स्तुतिकर विद्वान्जन (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी (मेधसातौ) पवित्र ज्ञान और बुद्धि की प्राप्ति के लिये (सनिप्यवः) भजन करने की कामना से (गीभिः) वेदवाणियों द्वारा (ता वा) उन आप दोनों को (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।



[८०२] वृषा एवस्व धारया । मरुत्तवत च मत्सरः ।

विश्वा दधान ओजसा ॥ १ ॥

[८०३] तं त्वा धर्तारमोययोऽऽप्पवमान स्वर्दशम् ।

द्विन्वे वाजेपु वाजिनम् ॥ २ ॥

[८०४] अया चित्तो विपानया हरिः एवस्व धारया ।

युजं वाजेपु ओदय ॥ ३ ॥ १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६३]

(२) हे (पवमान) समस्त संसार को गति देने वाले परमात्मन् ! (ओययो.) दुखों को दूर करने वाले, आकाश और पृथिवी दोनों के (धर्तारं) धारण करने वाले (स्वर्दशम्) परमसुख या ज्ञान के प्रकाश को

दर्शाने हारे (वाजिन) ज्ञान ओर बल के मद्दारे आपको (वाजेषु) बल के कार्यों, संग्राम आदि के अवसरों पर (हिन्वे) स्मरण करता हू ।

(३) हे सोम ! (हरि०) सब दुःखों के हरण करने हारे आप (अया) इस (विपानया) विशेष रूप से पान करने योग्य (धारया) ब्रह्मानन्द की धारा से (चित्तः) चेतनामय स्वरूप से पृथक् प्रकट होकर (वाजेषु) ज्ञानों और ऐश्वर्यों में आप (युजम्) योग करने हारे इस साधक को (चोदय) प्रेरित करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
[८०५] वृषा शोणं अभि कनिकदद्वा नदयन्नापि पृथिवीमुन घाम् ।

१ २ २ ३ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचोदयन्नर्पासि वाचमेमाम् ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८०६] रसाग्न्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमशुम् ।

१ २ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ २ ३ १ २
पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमानः ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८०७] एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्रामस्य नमयन् बधस्तुम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परि वर्षं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष परि सोम सिक्त
॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ६ । ६७ । १३—१५ ॥

भा०—(१) (शोणः) गतिमान्, सर्वप्रव्यापक (वृषा) सब सुखों की वर्षा करने द्वारा परमात्मा (कनिकदद्) शब्द या ज्ञानोपदेश करता हुआ, या मेघ जिस प्रकार (गाः) भूमियों को जलसे सींचता है और महावृषभ जिस प्रकार गर्जता हुआ गौश्रों में वीर्य सेचन करता है और आचार्य जिस प्रकार गम्भीर उपदेश से शिष्यों रूप भूमियों को या उनकी चित्त-भूमियों को ज्ञान से सींचता है वसी प्रकार (नदयन्) प्रतिध्वनि करता हुआ

८०५—(१) 'नदयन्नेति' 'प्रचेनयन्नर्पति' इति अ० ।

७ [२] "नमयन् बध्नते" इति अ० ।

(पृथिवीम्) पृथिवी (उत धाम्) और आकाश में सर्वत्र (ऐपि) व्यापक है (इन्द्रस्य इव) भीतर बैठे २ अपने अन्तरात्मा के समान उसकी (चक्षुः) बाणी (आजौ) हृदय में (शृण्व) सुनता हूँ । वह तू (प्रचोदयन्) अन्तःकरणों को प्रेरित करता हुआ, सब आत्माओं को ज्ञानवान् करता हुआ (इमाम् वाचम्) वेदवाणी या स्तुति को (अर्पसि) सर्वत्र प्रकट करता, एवं प्राप्त होता है ।

१. शुन गतौ इत्यस्माच्छोणः ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (रसाय्यः) आनन्द रस से परिपूर्ण, (पयसा) ज्ञान से (पिन्वमानः) तृप्त करता हुआ, (मधुमन्तं) मधुर, ज्ञान, ब्रह्मविद्या से युक्त (अशुम्) व्यापक आत्मा को तू (ऐपि) प्राप्त होता है । तू (पवमान) समस्त आत्माओं को पवित्र करता हुआ (इन्द्राय) अन्तरात्मा के लिये (परिपिच्यमानः) रसके समान सेचन किया जाता हुआ, पुनः २ ध्यान किया गया (सन्तर्नि) निरन्तर बंधी धारणा को (कृण्वन्) दृढ़ करता हुआ (ऐपि) हृदय में आ, विराज ।

(३) हे (सोम) आनन्दमय ! रसस्वरूप ! (मदिः) हर्ष को जागृत करने हारा (उद्-ग्रामस्य) सत्य ज्ञान के ग्रहण करने हारे आत्मा के (वधस्तु) विघुत् द्वारा ताड़ना करने पर स्रवण करने वाले मेघ के समान, प्राणों के वश करने पर धर्ममेघ द्वारा आनन्द रसको वर्षा देनेहारे, चित्त या आत्मा को (नमयन्) अपने अधीन करता हुआ (पवस्व पृथ) अवश्य प्रकट हो । और (रुशन्तं) कान्ति से सम्पन्न (वर्ण) धरण करने योग्य स्वरूप को (परि भरमाणाः) सब ओर से धारणा करता हुआ (सिक्नः) सर्वत्र व्याप्त या आनन्द से पूर्ण होकर (गच्छुः) समस्त इन्द्रियों को प्रेरणा करता हुआ (अर्प) स्रवित हो, प्रकट हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[८०८] त्वा॑मि॒द्वि ह॒वाम॑हे मा॒तौ वा॒जम्य॑ कार॒व ।

त्वा॑ वृ॒त्रा॒ग्नि॒न्द्र स॒त्पति॑ नर॒म्त्वा का॒ण्ठाम्य॑व॒त ॥ १ ॥

[८०९] स॒ त्व न॑श्चि॒त्र वज्र॑हस्त॒ घृ॒ण्युया॑ मह॒ स्त॒त्रा॒नो अ॒द्विवः॑ ।

गाम॑श्च रथ्य॒मिन्द्र॑ स॒ङ्किर॑ स॒त्रा वा॒जं न जि॒ग्युषे॑ ॥ २ ॥ १२ ॥
अ० ६। ४६। १-२ ॥

भा०—व्याख्या देखो अवि० स० [२३४] पृ० १२० ।

(२) हे (चित्र) पूजनीय ! समस्त प्राणियों को ज्ञान और चेतना के देने हारे ! (वज्रहस्त) खड्ग के धारण करने वाले वीर पुरुष के समान ज्ञानमय खड्ग को अज्ञान अन्धकार के नाश के लिये धारण करने हारे ! हे (अद्विवः) अभेद्य, अखण्डनीय बलधारक ! परमात्मन् ! (घृण्युया) आप सबका धर्यण करने वाले, (महः) महान्, तेजस्वरूप (स्तवान्) सबकी स्तुतियों के पात्र होकर (जिग्युषे) इन्द्रियों पर विजय करने हारे पुरुष के प्रति (वाजं न) जिस प्रकार ज्ञान ऐश्वर्य आप देते हैं उसी प्रकार (रथ्य) इस रथरूप देह के हितकारी हमें (गाम्) गौ=ज्ञानेन्द्रियों और (अभम्) अश्व, कर्मेन्द्रियों को भी (सत्रा) उत्तम रीति से (संकिर) प्रदान करो ।

[८१०] आ॒भ प्र॒ वः सुरा॑ग्रस॒मिन्द्र॑मर्च॒ यथा॑ वि॒दे ।

यो ज॒रित्॒भ्यो म॒घवा॑ पुरु॒वसु॑ । स॒हस्रे॑ण॒व शि॒क्षति॑ ॥ १ ॥

[८११] श॒तानी॑के॒व प्रा॒जगा॑ति घृ॒ण्युया॑ ह॒न्ति वृ॒त्राणि॑ दा॒शुषे॑ ।

गि॒रारे॑व प्र॒ रसा॑ अस्य पि॒न्विरे॑ द॒त्राणि॑ पुरु॒भोज॑सः ॥ २ ॥
॥ १३ ॥ अ० ८। ४६। १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [२३५] पृ० १२० ।

(२) (घृण्युया) अपनी इन्द्रियों पर और चित्तक शत्रु काम क्रोधादि को वश करने वाला पुरुष या (शतानीक इव) सैकड़ों सेनाओं के पति

विजेगीपु पुरुष के समान (प्रजिगाति उत्तम प्रकार से आगे बढ़ कर विजय कर लेता है। हे (दाशुषे) आत्म समर्पण करने द्वारे के लिये (वृत्राणि) उसका घेर लेने वाले पाप विकल्पों को भी वह प्रभु (हन्ति) विनाश करता है। (अस्य) इस (पुरुभोजसः) इन्द्रियों के भोग भोगने द्वारे आत्मा के (द्वित्राणि) त्याग किये हुए विषय ही (गिरे- इव वृत्राणि) मघ से बरसे जलों के समान या पर्वत से झरे झरनों के समान आनन्दों को बहाने वाले आनन्द घन, ज्ञानोपदेशक परमेश्वर से बहते (रसा) आनन्दरस ही उसको (प्र पिन्धिरे) अति अधिक तृप्त और पूर्ण करते हैं।

२ ३ १२ २ ३ १ २
[८१२] न्नामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वाजेन् भूर्णयः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

न इन्द्र स्तोमवाहस इह शुध्युप स्वस्वरमा गाहे ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २

[८१३] मत्स्वा सुशिप्रिन् हरिवस्नर्मिमं त्वया भूषान्त वधसः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २

तव अवांस्युपमान्युकथ्य सुतोऽविन्द्र गिर्वण ॥ २॥ १४ ॥

अ० ८। १९। १-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [३०२] पृ० १५४

(२) हे (सुशिप्रिन्) उत्तम ज्ञानसम्पन्न ! (हरिवः) व्यापनशील शक्तियों से युक्त । हे (गिर्वणः) धारियों के एकमात्र पात्र ! (तं) उस तुम्ह इष्टदेव को हम (ईमह) प्राप्त होते हैं । हे देव ! (वधसः) विद्वान् मेधावी लोग (त्वया) तुम्ह से, तेरे उत्तम गुणों से (भूषान्ति) अपने आपको अलंकृत करते हैं । तू स्वयं (मत्स्व) अपने ही में आनन्दस्वरूप होकर रह । हे (उकथ्य) प्रशंसा के योग्य (अवांसि) सब अवश्य करने योग्य श्रुतियां (ते) तेरी ही (उपमानि) ज्ञान देने वाली हैं ।

इति चतुर्थ खण्ड ।

[८१४] यस्त मद्रो धरेण्यस्तेना पवस्थान्वसा ।

देवात्रारघशमहा ॥१॥

[८१५] जघ्निर्वृत्रमामत्रियं सस्निर्वाज दिवे दिवे ।

गोपातिरश्वसा अत्रि ॥ २ ॥

[८१६] सम्मिश्रलो अरुषो भुवः सूपस्थामिर्न धेनुभि ।

सीदञ्छुयेनो न योनिमा ॥३॥१५॥ श्र० ६।६१। १९-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७८] पृ० २३७ ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (त्वम्) तू 'अमित्रिय' मित्रता या स्नेह से शून्य (वृत्र) हृदय को अज्ञान से घेरने वाले पाप को (जघ्निः) नाश करने वाला है । और (दिवे दिवे) दिनों दिन (वाजं) ज्ञान, बल और अन्न, पुष्टि को (सस्नि.) देने द्वारा है । और तू ही (गो-सातिः अश्व-साति) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देने वाला (असि) है ।

(३) हे (सोम) सर्वैश्वर्यवान् ! ज्ञान के दातः ! (सूपस्थाभिः धेनुभि न) सुख से समीप प्राप्त होने वाली, सुशील गौएँ जिस प्रकार मधुर दुग्ध प्रदान करती हैं उसी प्रकार तू (सूपस्थाभि) आचार्य के समीप जाकर सुख से प्राप्त करने योग्य (धेनुभि) ब्रह्मास्वाद, रस का पान कराने वाली वेद और उपनिषद् की स्तुति वाणियों से (सम्मिश्रलः) उत्तम शीति से युक्त होकर (अरुष) अतिरोचक, कामितसम्पन्न (भुव.) हांता है और तभी (श्वेन न) वाज क समान शीघ्र गतिकारी एवं ज्ञानवान् आत्मा रूप (योनिम्) अपने आश्रय रूप, शरणार्थ परमेश्वर में (आसीदन्) विराजमान होता है ।

८१४—(२) 'गोत्रा, उ मद्रसा' इति श्र० ।

अथवा—(सूपस्थाभिर्न घेनुभिः) सुशील गायों से जिस प्रकार (अरुषः) लाल सांड (संमिश्रलः भुवः, युक्र रहे और जिस प्रकार (श्येनः न योनिम् आसीदत्) बाज़ अपने आश्रय स्थान पर जाता है उसी प्रकार उत्तम रूप से स्थिर रहने वाली, रसप्रद इन्द्रियों या वाणियों द्वारा युक्र होकर आत्मा अपने गृह के समान परम आश्रयप्रद शरण, परब्रह्म में मग्न होजाता है।

[८१७] अयं पूषा रयिर्भगः सोम पुनानो अर्पति ।

पतिर्विश्वस्य भूमना व्यख्यद्रौदमी उभे ॥१॥

[८१८] समु प्रिया अनूपत गात्रा मदाय घृण्वयः ।

सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ॥२॥

[८१९] ये ओजिष्ठस्तमाभर पवमान श्रवाय्यम् ।

यः पञ्च चर्पणीरभि रयि येन वनामहे ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ६।१०१, ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [१४६] पृ० २७४ ।

(२) (प्रियाः) मनोहर (गात्र) वाणिवा या इन्द्रिया (घृण्वयः) परस्पर स्पर्द्धा करती हुई, या अति तेजोयुक्त होकर (मदाय) आनन्द प्राप्त करने के लिये (सम अनूपत) आत्मा की स्तुति करती हैं । (पवमानासः) हृदय को विमल करते हुए (इन्दवः) परमेश्वरसम्पन्न साधक (सोमासः) शमदम आदि से सम्पन्न होकर सुमुहु गण (पथः) मोक्ष साधनों को (कृण्वते) करते हैं ।

(३) हे (पवमान) सबके हृदयों को पवित्र करने वाले परमात्मन् ! (यः) जो तू (ओजिष्ठः) सबसे अधिक वह कान्ति और तेज से युक्त है वह तू (श्रवाय्यं) श्रवण करने योग्य, श्रुति से ज्ञान करने योग्य

रत्नरूप है । (तम्) उस परम आनन्द रस को हमें (आभर) प्राप्त कराओ ।
 (य पञ्चचर्पणी०) जो पाँचों ज्ञानदृष्टा इन्द्रियों का व्याप्त करता है, जिस
 से हम (रयि) पुष्टि, बौर्य या ऐश्वर्य को (वनामहे) प्राप्त किया चाहते हैं
 वह भी हमें प्राप्त कराओ ।

[८२०] वृषा मतीनां पवते विचक्षणाः सोमो अह्ना प्रनरीतोपसा
 दिवः । प्राणा सिन्धूनां कलशां अत्रिकददिन्द्रस्य हाया-
 विगन्मनीपिभिः ॥ १ ॥

[८२१] मनीपिभि पवने पूर्य कविर्नृभिर्यत परिकोशा अवि-
 प्यदत् । त्रिनस्य नाम जनयन्मनु क्षरदिन्द्रस्य वायु
 मस्याय वर्धयन् ॥२॥

[८२२] अयं पुनान उपसा अरोचष्टय सिन्धुभ्यो अमवदु सो
 ककुत् । अय त्रिः सप्त दुदुहान आशर नामा हृद परत
 चारु मत्सरः ॥३॥१७॥ अ० ६ । ८६ । २०-२२॥

भा०—(१) (पूर्य०) सद्यमे अदि में वर्तमान, जग, (वरि) ज्ञानों
 मेधावी, आत्मा (मनीपिभिः) मन को मन्त्रागों से प्रेरित करने वाला गिराव
 (नृभि) पुरुषों द्वारा (यत०) संयत, नियमित किया गया (पप०)
 प्रकट होता है और (कोशान्) पाँचों कोशों को (परि अविप्यदत्) इतना
 होता है उनपर शपना अधिकार कर लेता है । (गिराय) तनों गायों पर
 अर्घ्य कण्ड के ऊपर शिर, मध्यभाग और मूल इन तीनों स्थानों पर ३७ त
 (इन्द्रस्य) आत्मा के (नाम) स्वयं को (जनयन्) प्रकट करता हुआ
 (मनु) ज्ञानमयका अमृत रस को (वारन्) पुराता हुआ (वायुम)
 प्राणबल को (मस्या) अनुपुन रूप में (वर्धयन्) बढ़ाता है, दृढ़ बनाता है ।

(३) (अय) यह सोम (पुनानः) चरित होता हुआ (उपसः) प्रकाशित तेज.पटल को (अरोचयत्) और अधिक उज्ज्वल कर देता है। (अय) और यह सोम (सिन्धुभ्य) शरीर के भीतर बहने वाली ज्ञान-धाराओं या नादियों को (उ) भी (लोककृत्) अधिक कान्तिमान् करने वाला (अभवन्) होता है। (अयं सोमः) यह सोम, ब्रह्मानन्दरस (त्रि-सप्त) २१ प्रकारों से (आशिर) आनन्दरस को (हुहुहान) उत्पन्न करता हुआ (हृदे) हृदय में (मत्सरः) आनन्द बढ़ाता हुआ (चाह) उत्तम रूप से (पचते) प्रकट होता है।

[८२३] एवाह्यलि धीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।

एवा ते राध्य मनः ।

[८२४] एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धाधि धातृभिः ।

अधचिदिन्द्र न सचा ॥२॥

[८२५] मापुब्रह्मव तन्द्युर्नुवा वाजानां पते ।

मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥३॥१८॥ अ० ६। १८। १८-२०॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [८२२] पृ० ११८

(२) हे (तुवीमघ !) ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) आत्मन् ! (विश्वेभिः) समस्त (धातृभिः) धारण करने वाले लोग (राति) तेरे दिये दान को (एव) ही (धाधि) धारण करते हैं। (अधचिद्) और हे (इन्द्र) आत्मन्! आप (नः) हमारे (सचा) सदा सहायक हो।

(३) हे (वाजानां पते !) जानों, एश्वर्यों बलों के स्वामिन् ! आप (ब्रह्मा इव) ब्रह्मा, वेदज्ञ विद्वान् के समान सदा सावधान रहते हुए (तन्द्यु) कभी आलस्ययुक्त, निकम्मा (मा उ घु भव) नहीं रहते प्रत्युत (गोमतः) इन्द्रियों के सम्पादित ज्ञान से भिन्ने (सुतस्य) योगज

सुख को (मत्स्य) आनन्द-लाभ करो । प्रायः केवल ज्ञानी लोग अजगरी
वृत्ति धारण कर लेते हैं । परन्तु ज्ञान, बल दोनों से युक्त पुरुष को तो
उत्तम कर्म सदा करते रहना उचित है ।

[८२६] इन्द्रं विश्वा अधीवृधन्त्समुद्रज्यचसं गिरः ।

रथीगमं रथीना वाजाना सन्पनि पतिम् ॥१॥

[८२७] सख्यं ते इन्द्र वाजिना मा भेम शवसरूपते ।

त्वामभि प्रनोनुमा जनारमपराजितम् ॥२॥

[८२८] पूत्रारिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूनय ।

यदा वाजस्य गोमतस्तोतृभ्यो मंहते मधम् ॥३॥१६॥

श्रु० १ । ११ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४३] पृ० १७८

(२) हे (शवसरूपते) बलों के स्वामिन् । हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के देते
हारे । (ते सख्ये) तेरे प्रेम भाव या मित्रभाव में रहते हुए हम (वाजिनः)
बलशाली, ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी होकर (मा भेम) भय न करें (जनार)
सबसे उत्कृष्ट (अपराजित) किसी से पराजित न होने वाले (त्वा) तुझ
को (अभि प्र नोनुम) साक्षात् प्रणाम करते हैं ।

(३) (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्य के दाता परमेश्वर के (पूर्वीः) सब से
आदि काल से चले आये (रातयः) दिये दान और (ऊतयेः) रक्षाएं
(न विदस्यन्ति) कभी नाश को प्राप्त नहीं होती, (यदा) क्योंकि
वह (स्तोतृभ्यः) सद्गुणों के प्रकाशक विद्वानों को (गोमत) ज्ञान
वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) बल या ज्ञान के (मधम्) ऐश्वर्य को भी
(मंहते) प्रदान करता है ।

इति षष्ठः सूक्तः ।

इति तृतीयोऽध्यायः । इति द्वितीयप्रपाठस्य अन्तोऽङ्कः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

द्वितीयोर्ध्वः ।

श्रुतिः—१ जमदग्निः । २ मृगुर्वाणिर्जमदग्निर्वा । ३ कविर्भागवः । ४ करयपः । ५ मेधातिथि काण्वः । ६, ७ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ८ भरद्वाजो बाह्वम्पत्यः । ९ सप्तर्षयः । १० पराशरः । ११ पुरुहन्मा । १२ मेध्यातिथिः काण्वः । १३ वसिष्ठः । १४ त्रितः । १५ ययातिर्नाहुषः । १६ पवित्रः । १७ सौमरिः काण्वः । १८ गोषून्मन्त्रस्त्विनौ काशवायनौ । १९ तिरश्चीः ॥ देवता—
३—४, ६, १०, १४—१६ पवमानः सोमः । ५, १७ अग्निः । ६ मित्रावरुणौ । ७ मरुत इन्द्रश्च । ८ इन्द्राग्नी । ११—१२, १८, १९ इन्द्रः ॥
छन्दः—१—८, १४ गायत्री । ६ बृहती सतोबृहती द्विपदा क्रमेण । १० त्रिष्टुप् । ११, १३ प्रगाथः । १२ बृहती । १५, १६ अनुष्टुप् । १६ जगती ।
१७ ककुप् सतोबृहती च क्रमेण । १८ उष्णिक् ॥ स्वरः—१—८, १४ पङ्क्तः । ६, ११—१३ मध्यमः । १० धैवतः । १५, १६ मान्धातुः । १६ निषादः । १७, १८ श्रयमः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८३०] एते असूत्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाश्रवः ।

१ २ ३ १ २ ३

विश्वान्यभिसौमगा ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[८३१] विघ्नन्तो दुरिना पुरु सुगा तंकाय वाजिनः ।

१ २ ३ २ ३ १ २

त्मना कृशन्तो अर्चतः ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २

[८३२] कृशन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्धन्ति सुष्टुनिम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

इडामस्मभ्यं संयतम् ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ६ । ६२ । १—३ ॥

(१) जिस प्रकार (तिर.) तिरछे रूप से धाने हुए (पवित्र) दशा पवित्र नामक वृक्ष खण्ड पर (एते) ये (आश्रव.) शीघ्र गति करनेवाले

सोम ओषधि के रस (विश्वानि) समस्त (सौभगा) सौभाग्यों को (अभि) प्राप्त करने के लिये (असृग्रम्) छोड़े जाते हैं, प्रवाहित किये जाते हैं । उसी प्रकार (आशवः) व्यापनशील (इन्द्रवः) आह्लादकारक, आनन्द रस (एते) ये (तिरः) सत्स्वरूप, (पवित्र) शुद्ध, मल्लादि दोषों से रहित चित्त में (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों के साक्षात् करने के लिये (असृग्रम्) प्रवाहित होते हैं ।

इस मन्त्र से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई ऐसा बहुतसे विद्वानों का मत है । तदनुसार सृष्टि प्रकरण में (आशवः) गतिशील (इन्द्रवः) प्रकाशमान पियूष (एते) ये सब (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों को साक्षात् प्रकट करने के लिये (तिरः पवित्रम्) सत्स्वरूप, परम ब्रह्मरूप मूलकारण से (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (वाजिनः) ज्ञानवान् सोम शम दमआदि साधनों से सम्पन्न विद्वान् लोग (पुरु) बहुत से (दुरिता) दुष्ट कर्मों को (विघ्नन्त) नाश करने हुए (धमना) अपने सामर्थ्य से (अर्धतः) प्राणों की (कृष्यन्तः) साधना करते हुए (तोकाय) अपने सन्तान के लिये, अथवा अपने विविध दुखों के नाश करने के लिये या अगली जन्म-परम्परा के सुधार किये (सुगा) सुकृत्पूर्वक अनुगमन करने योग्य उत्तम मार्ग बनाते हैं ।

(३) और वे ही विद्वान् लोग (गवे) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के लिये (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति (कृष्यन्तः) करते हुए (अरमभ्यः) हमारे लिये (वरिषः) धन और (इदाम्) उत्तम अन्न और (संपतं) उत्तम व्यवस्था (अभि अर्पन्ति) प्रकट करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[८३] राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि ।

३ १ २ ३ १ २
अन्तरिक्षाय यातवे ॥ ६ ॥

[८३४] आ न सोम महा जुवो रुग न वर्चसे भर ।

सुध्वाणां देववीतये ॥ २ ॥

[८३५] आ न इन्दो शतग्विनं गवा पोषं स्वश्व्यम् ।

वहा भगत्तिमूनय ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६। ६५। १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) (राजा) प्रकाशमान रूप में (पवमानः) प्रकट होता हुआ, आत्मानन्द रस (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष से मेघ के समान अन्तःकरण से (यातवे) जाने के लिये (मनौ अधि) मननशील चित्त के भीतर (मेधाभिः) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा (ईयते) व्याप्त होता है ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! तू (देववीतये) विद्वानों के इष्टसिद्धि के लिये (सुध्वाणां) स्वतः उत्पन्न होता हुआ (न.) हमें (वर्चसे) दीप्त कान्तिमान् तेजस्वी होने के लिये (सह) सहनशीलता (जुव.) वीर्य और (रूपं) कान्ति (आ भर) प्राप्त करा ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (न.) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये हमें (शतग्विन) सैकड़ों गौओं और (स्वश्व्यं) उत्तम २ घोड़ों से युक्त (पोष) पुष्टिकारक पदार्थ और (भगत्तिम्) सेवन करने योग्य, उत्तम ऐश्वर्य (आ वह) प्राप्त कराइये ।

[८३६] तं त्वा नृम्यानि विभ्रतं सधस्थेषु महा दिवः ।

चारुं सुकृत्यये महे ॥ १ ॥

[८३७] सवृक्तधृजमुक्थ्य महा मद्दिवतं मदम् ।

शतं पुरो रुक्चक्षिम् ॥ २ ॥

[८३८] अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजान सुक्रतो दिवः ।

सुपर्णो अन्यथा भरत् ॥ ३ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८३६] अथा हिन्वान इन्द्रियं ज्याया माहेत्वमानशे ।

३ १ २ २
अभिष्टिक्वृष्टिचर्षणि ॥ ४ ॥

१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[८४०] विश्वस्मा इत्स्वर्द्धशे साधारणं रजस्तुरम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २
गापामृतस्य विभरत् ॥५॥३॥ ऋ० ६ । ४८ । १-२ ।

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (नृम्यानि) नाना धनों को (विभ्रतं) धारण करते हुए (ते) उस (दिव) शैलोक या सूर्य के (सधरथेषु) समान स्थान, अन्तराकाश में विद्यमान अनन्त लोकों में (चारुं) व्यापक (महः) महान् (त्वा) तुझको हम (सुकृत्यये) उत्तम पुण्य कर्म करके (ईमहे) प्राप्त होते हैं ।

(२) और पुनः (संवृकृष्ट्यं) आत्मा का धर्षण करने हारे काम क्रोधादि नाना शत्रुओं का मूत्र काट ढालने वाले, (उक्थ्य) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (महामहिमतं) बड़े भारी पूजनीय कर्म करने वाले (शतं पुर) सैकड़ों देहों के समान वस्त्राण्डों के भोजन, या सैकड़ों गेहधारियों को (रुक्षिणं) उच्च लोक-मोक्ष में उठा लेने वाले आपको हम प्राप्त होते हैं ।

(३) (अतः) इसी कारण (त्वा राजानं) तुझ समस्त समार के प्रकाशक स्वामी के पास है (सुकृतो) उत्तम कर्म से सम्पन्न ! (दिवः) सूर्यलोक का भी (रयिः) समस्त बल और ऐश्वर्य (त्वा अभि आयद्) तुझको ही प्राप्त है । वृही (सुपथं) उत्तम ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न होकर समस्त संसार को (अदयधी) बिना व्यथा या पीड़ा अनुभव किये ही (भरत्) पावन पोषण और धारण करता है ।

(४) (अथ) और (विचर्षणि) सय समार का दण्ड, निरीक्षक नू (अभिष्टिक्वृद्) सयको अभीष्ट कर्मफल देने वाला होकर (इन्द्रियं) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से युक्त देहों को प्रेरित करता हुआ (ज्याय्) बहुत

भदे (महिस्व) महान् सामर्थ्य को (आनशे) धारण करता है । अथवा (इन्द्रिय ज्यायः महिस्वम् आनशे) परमैश्वर्य युक्त, सबसे अधिक भदे महान् सामर्थ्य को प्राप्त है ।

(५) (विः) देह से देहान्तर में गति करने द्वारा, पक्षि के समान यह जीव आत्मा (विश्वत्मा) सब प्रकार के (इ) ही (स्वः) सुखों या ज्ञानों का (वृशे) दर्शन करने के लिये (साधारण) समस्त लोकों को समान रूप से धारण करने हारे, (रजस्तुर) समस्त लोकों को गति देने हारे (अतस्य) समस्त जगत् और ज्ञान की (गोपाम्) रक्षा करनेहारे परमात्मा को (भरत्) अपने चित्त में धारण करे ।

[८४१] इष पञ्च धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।

इन्द्रो रुचामि वा इहि ॥ १ ॥

[८४२] पुनानो वारिचम्कृध्यूर्जे जनाय निर्वणः ।

हरे सृजान आशिरम् ॥ २ ॥

[८४३] पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम् ।

द्युतानो वाजिभिर्हितः ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५०५] पृ० २५० ।

(२) हे (निर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र । प्रभो !

(आशिरं) इस शीर्ष होने वाले देह को (सृजान) बनाता हुआ,

(पुनानः) स्वतः मलरहित, पवित्र बन्धन रहित होकर भी (जनाय)

उत्पन्न होने हारे इस मनुष्य के लिये (वरिचः) ज्ञानरूप उत्तम धन, और

(ऊर्ज) अन्न आदि वस्तु (कृधि) उत्पन्न कर और प्रदान कर ।

(३) हे परमात्मन् ! (वाजिभिः) विद्वानों द्वारा (हितः) समाधि में साक्षात् किया हुआ और धारण किया गया (द्युतानः) प्रकाशस्वरूप

(पुनानः) सब मलों को शोधता हुआ (देवधीतये) दिव्यगुणों के प्राप्त कराने के लिये (इन्द्रस्य) आत्मा के (निष्कृतम्) आवासस्थान हृदय देश में (बाहि) आ, विराजमान हों ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—सप्तमः खण्डः—

[८४४] अग्निनाग्निं. सामध्येने कायर्गृहपतिर्युवा ।

इव्यवाइ जुह्वास्य ॥ १ ॥

[८४५] यस्तवामग्न हविष्यनिर्दूतं देव सपयति ।

तस्य स्व प्राविता भव ॥ २ ॥

[८४६] यो अग्निं देवधीनये हविष्यो आ विद्यासति ।

तस्मै पावक मृडय ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १ । १२ । १, ८ । १ ॥

भा० —(१) जिस प्रकार (अग्निना) अग्नि से (इव्यवाइ) घर गार्हपत्य पदार्थों को जलवायु आदि पदार्थों तक पहुँचाने वाला (जुह्वास्य) जुहू नामक यज्ञ पात्र या उगानारूप मुग्न पाला (अग्नि) आहुतियों को (समिध्यते) प्रज्वलित किया जाता है । अथवा जिस प्रकार एक अग्नि में दूसरा अग्नि जला किया जाता है । उम्मी प्रकार (युवा) मरुत (अग्नि) विद्वान् मेधावी दूसरे विद्वान् से ज्ञान प्राप्त करता और (गृहपतिः) वह गृहस्थ भी दूसरे गृहस्थ में अपनी सत्ता का पाग है ।

(२) हे अग्नि ! (यः) तू (हविष्यनिः) सब इन्द्र पदार्थों का रस जीव (रवा) मेरा (सपयति) भजन करता है, हे देव ! (तस्य) उसके आप (प्र प्राविता) रसा करने हार (भव) होइये ।

(३) (यः) तू (हविष्यान्) उगान चक्रों की पदार्थों का रस (देवधीतये) दिवान् या मौलिक दिव्य गुणों और पदार्थों को प्राप्त करने के

लिये (भूमि) भूमि के समान ज्ञानस्वरूप, सर्वप्रकाशक परमात्मा के (आविर्भावति) उपासना करता है । हे (पावक) सबको पवित्र करनेहार परमेश्वर ! आप (तस्मै) उसको (मृडय) सुख शान्ति दें ।

३ २ २ ३ १ ७ ३ १ २ ३ १ २
[८४७] मित्रं हुवे पूनदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २
धियं धृतार्ची साधन्ता ॥ १ ॥

३ १ २
[८४८] कृतं मित्रावरुणावृतावृथावृत्तस्पृशा ।

१ ७ ३ १ २
कतुं बृहन्तमाशाये ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८४९] कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया ।

१ २ ३ १ २
दक्षं दधाते अपसम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० १ । २ । १ ७-६ ॥

भा०—(१) मैं (पूनदक्षं) पवित्र, निष्पाप कर्म करने हारे, पवित्र बल वाले, मित्र) सबके सेही और सबको मृत्यु के भय से बचानेहार, मर्याद में वर्तमान सूर्य के समान और देह में वर्तमान प्राण के समान (रिशादस) शत्रुओं के समान कष्टदायी रोगों का विनाश करने वाले, (वरुणम्) बलिष्ठ प्राणवायु या भीतरी अपान वायु और उसके समान सब कष्टों के निवारक तेरा (हुवे) रहस्यपूर्ण अग्न्यात्म पदार्थों के ज्ञान के साथ २ ज्ञान करता हूँ ! (धृतार्ची) जिस प्रकार सूर्य और वायु जल को ऊपर और सर्व देशों में लेजाते हैं उसी प्रकार वे दोनों प्राण और अपान भी शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाले धृत या शुक्ररूप रस को सर्वत्र प्राप्त कराने हारी (धियं) क्रिया को (साधन्ता) साधने वाले होते हैं । उसी प्रकार हे परमेश्वर ! मृत्यु से त्राण करने वाला स्नेहमय और दुःखों का निवारक तेरा रुद्र और धरणीय दोनों रूप ही (धृतार्ची धियं साधन्ता) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली बुद्धि को साधते हैं ।

(२) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण दोनों (अतस्य) गति, ज्ञान और सत्य के बल पर (अतावृधौ) जल से बढ़ने द्वारे वायु सूर्य के समान, अतरूप ब्रह्म की शक्ति से बढ़ने वाले (अतस्पृशा) जल के द्रावक सूर्य, वायु के समान (अतवृधौ) ज्ञान का सर्वत्र प्रचार करने द्वारे (वृहन्तं) बड़े भारी (क्रतु) ससार रूप यज्ञ को ब्रह्माण्डों और पिण्डों को (आशाधे) व्याप्त किये हुए हैं ।

(३) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (कवी) क्रान्तदर्शी सब प्रकार के व्यवहारों का दर्शन करने द्वारे, (तुविजाता) बहुत से कारणों से प्रसिद्ध, (उरुक्षया) नाना जगत् के पदार्थों में व्यापक (दधं) बल और (अपसं) क्रिया को (दधाते) धारण करते हैं, स्थापन करते हैं ।

[८५०] इन्द्रेण स हि दृक्षसे संजग्मानो अविभ्युपा ।

मन्द्र समानवर्चसा ॥ १ ॥

[८५१] आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्यमेरिरे ।

दधाना नाम यक्षियम् ॥ २ ॥

[८५२] वीडु चिदारजन्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र घृक्षिभिः ।

अत्रिन्द उक्षिया अनु ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । ६ । ७, १, ५ ॥

(१) हे प्राण ! तू (अविभ्युपा) अपरहित (इन्द्रेण) इन्द्रस्वरूप आत्मा के माध (संजग्मान.) गति करता हुआ (सं दृक्षसे हि) दिगार देता है । इस कारण तुम दोनों प्राण और आत्मा (समानवर्चसा) समान कान्ति वाले होकर (मन्द्र) आनन्द के उत्पारक होते हो । जीव और वा नात्मा के पक्ष में, एव सूर्य और वायु के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

(२) मरुत्गण, इन्द्रियां या दशों प्राण (स्वधाम् अनु) अपने स्व रूप, या देह को स्वयं धारण करने में समर्थ जीवात्मा के माध (आदह)

बाह में (पुनः) फिर (गर्भत्वम्) गर्भरूप से (एरिरे) प्रकट होते हैं और (याज्ञियं) जीवनरूप यज्ञ के योग्य (नाम) सज्ञा को (दधाना) धारण करते हैं । आधिदैविक पक्ष में स्वधा=जलके साथ वायुं आकाश में गर्भित होकर यज्ञ के योग्य जलवर्षा कराते हैं ।

(३) जिस प्रकार सूर्य का तेज गुहा अर्थात् अन्तरिक्ष में किरणों द्वारा पदार्थों तक पहुँचता है और उनके भीतर प्रवेश करने वाली वायुओं से अन्तरिक्ष में जल को धारण करता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) आत्मन् ! (गुहा चित्) भीतरी गुहा, गर्भस्थान में भी (धीहृ-चित्) अति बृहत् स्थान को (आरुजस्तुभि) पीड़ित करते हुए (वह्निभिः) वहन करने वाले प्राणों से प्रकट होकर (अनु) पश्चात् (उन्निया) अपनी किरणस्वरूप इन्द्रियों द्वारा (अनु अविन्दः) तू ज्ञेय पदार्थों को प्राप्त कर । अथवा हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू गुहारूप हृदय देश में विराजमान होकर भी दृढ़ शरीर के भागों को फोड़ कर जीवन को वहन करने वाले हृन् प्राणों से अपने (उन्नियाः) ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करता है ।

[८५३] तां हुवे ययोरिदं पन्नं विश्वं पुराकृतम् ।

इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥१॥

[८५४] उग्रा विघनिता मृध इन्द्राग्नी इवामधे ।

ता नो मृडात इच्छा ॥२॥

[८५५] हथा वृत्राण्याया हथा दासानि सत्पती ।

हथा विश्वा अप द्विपः ॥३॥ ५० ६ । ६०। ५-६॥

भा०—(१) मैं उन (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि या परमात्मा आत्मा दोनों को (हुवे) स्तुति करता हूँ (ययोः) जिनके आधार पर

(इदं) यह (विश्वम्) विश्व (पमे) व्यवहार योग्य प्रसिद्ध होता है ।
और (पपो) जिन्हों के आघार पर यह जगत् (पुराकृतम्) प्रथम काल में भी
जन्माया गया था, जो इसको (न मर्धतः) विनाश नहीं होने देते ।

(२) उन (मृध०) हिंसक शत्रुओं को (विघनिता) विशेषरूप से
आघात करने हारे (उग्रा) वेग वाले (इन्द्राग्नी) पूर्व उग्र इन्द्र और
अग्नि दोनों को (हवामहे) स्वीकार करते, स्तुति करते हैं जिनके आघार
पर हम और (ता) वे दोनों (नः) हमें (ईवृशे) इस प्रकार के जीवन
समय में भी (मृडात) सुखी करें ।

(३) (आपो) उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले वे दोनों (वृत्राणि)
मेघों के समान आघारक दिव्यों को (हय) आघात करते, या नाश करते हैं ।
(सधती) और वे दोनों सज्जनों के पालक (दासानि) नाशकारी पदार्थों
को (हय०) विनाश करते हैं और (विश्वा) समस्त (द्विषः) शत्रुओं को
(अप हय) दूर मार भगाते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[८५६] अग्निं सोमास आयव पयन्तं मधं मधम् ।
समुद्रस्यार्धावष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मन्त्रयुतः ॥१॥
[८५७] तरत्समुद्र पवमान ऊर्षिणा राजा देव क्रतु बृहत् ।
अर्षो मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान क्रतु बृहत् ॥२॥
[८५८] नृभिर्येमाणो हर्यना विचक्ष्णो राजा देवः समुद्रयः ॥३॥
॥६॥ अ० ६ । १०७ । १४ १३॥

८५६—१. 'मत्सरासः सर्वविद' इति अ० ।

२ 'अर्षन् मित्रस्य,' 'प्रहिन्वान' इति अ० ।

३ 'देवः समुद्रियः' इति अ० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो भविकृत सं० [५१८] पृ० २५६।

(२) (पवमान.) समस्त मलों को शोधन करने द्वारा (राजा) सूर्य के समान योगी (देव.) विद्वान् (कर्मिणा) अपनी उच्चगति द्वारा (वृहत्) यदे (अतम्) सत्यज्ञान स्वरूप परिपक्व (समुद्र) समस्त रसों के आश्रय मत्त को (तरत्) प्राप्त हो जाता है। और (मित्रस्य) सबके स्नेहशील प्राणेश्वरूप (वरुणस्य) सब पापों के निवारक परमात्मा को (धर्मणा) यम नियम पूर्वक प्राप्त धारक यत्न से, या सदाचार से (दि-
ग्धान.) सन्मार्गों में गति करता हुआ स्वयं (वृहत्) यदे (अतम्) सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त प्रज्ञा को (प्र अपरे) प्राप्त होता है।

(३) (नृभि) विद्वान् मेतृभ्यो, या प्राणों के द्वारा (यन्माय.) सुस्थायस्थित (राजा देवः) प्रकाशेश्वरूप योगी आत्मा 'इत्येत.', सबके प्रेमका पात्र (विच-
यया.) और सब का साक्षी रूप होकर (समुद्र्य.) महान् रससागर में आनन्द प्राप्त करने वाला होकर उमी में मग्न हो जाता है।

[८५६] ति॒क्षां वा॒च ई॒रय॒नि प्र॒वृद्धि॒र्जन॒स्य धी॒नि ब्र॒ह्म॒णो म॒नीषा॒म् ।
गा॒यो या॒न्ति गो॒पति॑ पृ॒च्छ॒मानाः॑ सोम॑ या॒न्ति म॒तया॑ वा॒च-
शानाः॑ ॥२॥

[८५७] सोम॑ गा॒यो धे॒नवा॑ वा॒चशाना॑ । सोम॑ वि॒प्रा म॒तिमि॑ । पु॒च्छ॒
मा॒ना । सोमः॑ सु॒न श्रु॒त्य न॑ पू॒यमानः॑ सोम॑ अ॒क्रावि॑ष्टुमः॑
स॒ञ्जव॑न्ते ॥२॥

[८५८] ए॒वा न॑ सोम॑ परि॒पिच्य॑मान आप॒वम्ब॑ पू॒यमानः॑ अ॒वाप्ति॑ ।
इन्द्र॑मा॒विश॑ वृ॒हता॑ म॒दन॑ व॒द्यया॑ वा॒च जन॑या पु॒रान्धि॑म्
॥३॥ १०॥ अ० ६। ६७। ३४-३६ ॥

मा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [५२५] पृ० २६०।

(२) (धेनवः) दुग्धपान कराने हारी (गावः) गौओं के समान ज्ञानरस का पान कराने वाली, ज्ञानवाणिजां (सोमं) सोमस्वरूप आत्मा या परमात्मा के प्रति (वावशाना) कामना प्रकट करती है। उसी को चाहती अथवा उसी की स्तुति करती हैं। और (विप्राः) मंधार्या पुरुष (मतिभिः) अपने मननों द्वारा (सोमम्) उसी रसस्वरूप आत्मा की (पृच्छमाना) जिज्ञासा करते हैं। वही (सोम) रसरूप आत्मा (पूयमान) विशुद्ध स्वरूप (सुतः) अन्तर्हृदय में प्रकट होकर (ऋचते) स्तुति किया जाता है। और (अर्का) सूर्य के समान तेजस्वी, वेद के विद्वान् ज्ञानी पुरुष (सोमे) उसी परमात्मा के विषय में (त्रिष्टुभ) तीनों प्रकार से मनसा, वाचा, कर्मणा, उसकी स्तुति करने हारे होकर उसकी (स न वन्ते) अच्छी प्रकार स्तुति करत हैं।

(३) हे (सोम) रसस्वरूप ! (परिसिच्यमान) बार २ निदिध्यासन द्वारा साक्षात् किया गया, (पूयमानः) विशुद्धरूप (स्वास्ति) कल्याणकारी होकर (नः आपवस्व) हमारे प्रति प्रकट हो। और (बृहता) बड़े भारी (मदेन) आनन्दरस से (हवाम्) आत्मा को (आविश) प्राप्त कर और (वाचं) वाक्शक्ति को (वर्धय) बढ़ा। और (पुरन्धिम्) देह रूप पुर का धारण करने वाली चितिशक्ति या बुद्धि को (जनय) प्रकट कर।

१ २५ ३ २२ ३ १ २५ ३ २
[८६२] यद्याव हन्द्र ते शतं शतं भूर्मीरुत स्युः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

न त्वा वज्रिन्तमहसं स्या अनु न जातमष्ट रादसी ॥१॥

१ २ ३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २

[८६३] आ पमाथ महिना वृष्या धृषन्विष्वा शविष्ठ शवसा ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अस्मा अथ मघवन् गोमति यजे वज्रिश्चित्राभकृताम

॥ २ ॥ ११ ॥

प्र० ८ । ७० । ५-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [२७८] पृ० १४२ ।

(२) हे (वृषन्) सुखों की वर्षा करने हारे परमात्मन् ! हे (श-
विष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! आप (महिना) बड़े भारी (शक्त्या) बल, शक्ति,
सामर्थ्य से (विद्या) समस्त (वृण्वया) सुखवर्षक और जलवर्षक सबके
पोषक मेघ, पृथिवी आदि पदार्थों को (आ पम्राथ) पूर्ण कर रहे हो, सब
में व्याप्त हो । हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! हे (वज्रिन्) पापनाशक ज्ञान
के स्वामी ! (गोमति) इन्द्रियों से सम्पन्न इन्द्र (वजे) गतिशील नरवर,
देह में (चित्राभिः) नाना आदरणीय (कृतिभिः) रक्षाओं या ज्ञानधाराओं
से आत्मा की (अक्ष) पालन कर, पुष्ट कर ।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[८६४] वय घ त्वा सुतावन्तः आपो न वृक्षवर्हिषः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् पार स्तोतार आसते ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[८६५] स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक ऊक्थिनः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

कदा सुतं तृषाण ओक आगम इन्द्र स्वर्द्धीव वंसगः ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २

[८६६] कण्वभिर्घृष्णावा धृषद्वाज दर्धि सहस्रिणाम् ।

३ १ २ ३ १ २ २ २

पिशङ्गरूपं मधवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ३ ॥ १३ ॥

अ० ८ : ३३ : १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [२६१] पृ० १३३ ।

(२) हे (वसो) सब को वास देने हारे परमात्मन् ! (सुते) इस उत्पन्न
जगत् में (एके) बहुत से (ऊक्थिनः) ज्ञानी, स्तोता लोग (त्वा) तुम्हें को ही
(नि. स्वरन्ति) पुकारते हैं तेरी ही स्तुति गाते हैं । (तृषाणः) प्यासा पुरुष
जिस प्रकार (ओकः) जल के स्थान के प्रति आता है उसी प्रकार हे (इन्द्र)
परमेश्वर! आप (स्वर्द्धी इन्द्र) उत्तम मेघवान् वायु के समान (वंसगः) शुभ

गमन युक्त होकर इस (सुते) अपने उत्पन्न किये पुत्ररूप संसार के प्रति (कदा) कब (आगमः) आएँगे, कब कृपादृष्टि और आनन्दवृष्टि करेंगे ?

अथवा भक्त अपने आत्मा के प्रति कहता है—हे (वसो) आत्मन् ! बहुत से ज्ञानी अपने ज्ञानमय हृदय में तुझे ही स्वरसे गाते हैं । जिस प्रकार आत्मा जल के प्रति जाता है उसी प्रकार तू भी उत्कण्ठित होकर, उत्तम मेघ-वान् वायु के समान मनोहर गति यात्रा होकर कब हृदय-देश में प्रकट होगा और धर्म मेघ रूप में सुख की वर्षा करेगा ?

(३) हे (मघवन् !) सम्पूर्ण धनों और यज्ञों के स्वामिन् ! हे (वि चर्यन्ते !) समस्त संसार के द्रष्टा ! हे (धृष्यो) सहनशील ! समस्त संसार के भार को वहन करने हारे ! सब कष्टों और दुष्टों को दूर करने हारे ! आप (कथवेभि) मेधावी पुरुषों के निमित्त (सदसिणम्) सदस्यों ऐश्वर्यों से युक्त (धृषद) बाधक विरोधियों को पराजित करने वाले (वाज) बल कां (आदृषि) देते हैं । उस ही (पिशङ्गरूप) आयन्त मनोहर, पीतवर्ण के, सुवर्ण आदि और (गोमन्तम्) गौ आदि पशुओं से युक्त (वाज) धन की (मत्तू) निरन्तर हम (ईमहे) याचना करते हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ७

[८६७] तरणिरित्सपति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

आ व इन्द्रं पुरुहूत नमे गिरा नेमि नष्ट्र सुदुग्धम् ॥१॥

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ १ २

[८६८] न दुष्टुतिर्द्रविणादपु शस्येत न स्नेघन्तं रायर्नशन् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २ २ ३ २

सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्य मावते दण्य यत्पार्ये त्रिभि ॥२॥

॥१३॥

श्रु० ७ । ३२ । २०-२१ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल स० [२३८] पृ० १०१ ।

८६७—२. 'न दुष्टुती गत्यो विदन्ते नष्ट्र' इति 'पृ०' ।

(२) (द्रविणोद्रेषु) द्रविण-धन और ज्ञान के दान करने हारे उदार पुरुषों के विषय में (दुः-स्तुतिः) बुरी निन्दा (न गत्यते) नहीं कही जाय और (जेधन्तं) दूसरों की हिंसा करने हारे पापी पुरुष को (रयि.) धन प्रजा और पुष्टि (न नशत्) नाश हो । (यत्) जो (पार्ये) पालन करने हारे (दिवि) आकाश या सूर्य में (मावते) मेरे जैसे पुरुष के लिये (देव्यां) दान करने योग्य तेज लज्ज वृष्टि आदि पदार्थ हैं । हे भगवन् ! (तुभ्यं इत्) तेरी ही वह (सुशक्ति.) उत्तम शक्ति है ।

इति चतुर्थः सङ्गः ।

[८६६] निचो वाच उदीरत गावो भिमन्ति धेनवः ।

हरिरेनि कनिकदत् ॥ १ ॥

[८६७] अमि ब्रह्मीरनूषत यद्दीर्घतस्य मानरः ।

मर्जयन्तीदिव शिशुम् ॥ २ ॥

[८७१] रायः समुद्राश्चतुराऽस्मभ्यं सोम विश्वतः ।

आपवस्व सहस्रिणः ॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० ९ । ३३ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७१] पृ० २३७ ।

(२) (ब्रह्मी) ब्रह्म-वेद की वाणियों (अतस्य मानरः) सत्य का ज्ञान करने हारी (दिवः) आकाश में सूर्य के समान, परम तेज और दिव्यगुणों में ज्ञान के स्वरूप में (शिशुं) शयन करने वाले, व्यापक परमात्मा को (अमि-अनूषत) साक्षात् रूप से स्तुति करती हैं ।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक ! परमेश्वर ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहस्रिणः) सहस्रों पदार्थों से सम्पन्न (रायः) घनों से पूर्ण

(चतुरः) चारों (समुदान्) समुदों, या उन्नति के साधन रूप या नाना ऐश्वर्यों और सुखों के उत्पादक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को (मा पवस्व) प्राप्त करा ।

उ २ ३ १ २ उ २ ३ १ २ ३ १ २
[८७२] सुनासा मधुमत्तमा सोमो इन्द्राय मन्दिनः ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २
पभिन्नवन्तो अक्षरन् दवान् गच्छन्तु धो मदाः ॥ १ ॥

२ ३ १ २ उ १ २ ३ १ २
[८७३] इन्द्राय पवत इति देवासो अमुवन् ।

उ १ २ उ २ ३ १ २ ३ १ २
वाचस्पतिर्नखस्यते विश्वस्येशान अोजसः ॥ २ ॥

उ १ २ उ १ २ उ २
[८७४] सहस्रवारः पवत समुद्रो वाचमीह्वयः ।

२ ३ १ २ उ १ २ उ १ २
सोमस्पती रयीणा सखन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ३ ॥ १५ ॥

श्र० ६।१०४। ६-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१४७] पृ० २६४।

(२) (इन्धुः) सोम्य गुणधाला आनन्दस्वरूप, सोममय ईश्वर (इन्द्राय) इस आत्मा के हित के लिये (पवते) प्रकट होता है । (इति) इस प्रकार (देवासः) विद्वान् लोग (अमुवन्) कहते हैं । और घड़ी सोम (अोजसः) विशेष बल और प्रभाव के कारण (विश्वस्य) समस्त समार का (ईशानः) प्रभु और (वाचस्पति) वेदवाणियों का स्वामी होकर (नखस्यते) यज्ञों द्वारा पूजा करने योग्य है ।

(३) (सहस्रवारः) सहस्रों धारण शक्तियों से सम्पन्न, (समुद्र) समस्त रसों का भण्डार, या समुद्र के समान महान्, (वाचम् ईह्वय) समस्त विद्य की वेदमय वाणियों को प्रकट करने द्वारा, (रयीणा) समस्त ज्ञान और चेतन पदार्थों और ऐश्वर्यों का (पतिः) स्वामी और (इन्द्राय)

८७१—२ 'ईशान अोजसा' इति श्र० ।

इस आत्मा का (सखा) परम मित्र (सोमः) सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा (दिवेदिवे) प्रतिदिन (पवते) प्रकट हो ।

[८७५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गोत्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतस्तनून् तदामा अश्रुते श्रुतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥१॥

[८७६] तपोऽपवित्रं विततं दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्य-
स्थिरन् । अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्ठमधिरो-
हन्ति तेजसा ॥ २ ॥

[८७७] अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु त्राजयुः ।
मायायिनाममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः
॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । म३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६५] पृ० २६५।

(२) (तपो) समस्त संसार को तपाने हारे, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर का (पवित्र) पवित्र करने हारा, परम पावन स्वरूप, (दिवः) समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थों में (विततं) व्याप्त है । (अस्य)-इस पर-
मेश्वर के (अर्चन्तः) गुणों को प्रकट करते हुए (तन्तवः) नाना तन्तु,
वज्रमय सूत्र (व्यस्थिरन्) नाना प्रकारों से विद्यमान हैं । (अस्य) इसके
(आशवः) व्यापक और अति वेगवान् सामर्थ्य या शक्तियाँ (पवितारं)
सबके शोधक सूर्य और वायु को (अवन्ति) नष्ट होने से बचाते हैं ।
और (तेजसा) तेज के रूप में (दिवः) आकाश के (पृष्ठ) सबसे उन्नत
भाग में भी (अधिरोहन्ति) पहुँचे हुए हैं ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६६] पृ० ३०० ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[८७८] प्र मंहिष्ठाय गायत क्रानान्ने बृहतेः शुक्रशोचिपे ।

उपस्तुतासो अग्नये ॥ १ ॥

[८७९] आ वसतं मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युमन्याहुतः ।

कुविन्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यञ्च वाजभिरागमत् ॥ २ ॥ १७ ॥

ऋ० ८ । १७३ । ऋ, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०७] पृ० ५७ ।

(२) (मघवा) ऐश्वर्यवान् (समिद्ध) प्रकाशमान, (द्युमनी) यशस्वी, कान्तियुक्त, (आहुतः) विद्वानों से पुकारा गया परमात्मा (वीर-वद्) सामर्थ्य से पूर्ण पुत्रा मृत्यु मित्र आदि से युक्त (यशः) अन्न और तेज (आ वसते) प्रदान करता है । (अस्य भवीयसी) सबसे अधिक शक्तिशाली (सुमतिः) उत्तम मनन या सकल्प शक्ति (नः) हमें (वाजेभिः) जाना बलों ऐश्वर्यों और ज्ञानों सहित (कुवित्) बहुधा (आगमत्) आवे, प्राप्त हो ।

[८८०] न ते मदं गृणीमसि वृषणं पूजु सासहिम् ।

उ लोककृत्नुमद्रिचो हग्निश्चियम् ॥ १ ॥

[८८१] येन ज्योतीष्यायवे मनवे च विवेदिथ ।

मन्दानो अस्य बहिपो विराजानि ॥ २ ॥

[८८२] तदद्या नित्त उक्थिनोऽनुद्भवन्ति पूर्वथा ।

वृषपत्नीरपो जया दिवदित्र ॥ ३ ॥ १८ ॥ ऋ० ८ । १८५-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३८३] पृ० १६८ ।

(२) (येन) जिस सामर्थ्य से हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (आयवे) जीवन के साधक, प्राणायाम के अभ्यासी और (मनवे) मननशील पुरुष

के प्रति अपनी (ज्योतीषि) ज्ञानदीप्तियों को (दिवेदिय) प्राप्त कराते हो, प्रकाशित करते हो, उस ही सामर्थ्य से (मन्दानः) आनन्दपूर्ण होकर (अस्य इस (बहिष) महान् ब्रह्माण्डरूप यज्ञ के आश्रय बन कर (विराजसि) विराजते हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (तविधनः) ज्ञानी लोग (अद्य चित्) आज तक भी (पूर्वथा) पहले के समान ही (ते) तेरी (अनुष्टुबन्ति) निरन्तर स्तुति करते हैं । तू (वृषपत्नी) भीतरी आनन्दरस वर्षण करने हारे इन्द्र के सामर्थ्यों का पालन करने हारी (अपः) शक्तियों और बुद्धियों को (दिवेदिवे) प्रतिदिन नित्य (जय) विजय कर उन पर वश कर ।

[८८३] ^{३ १ २ ३ ४}श्रुती हव ^{३ १ २ ३ ४}निरश्न्या इन्द्र ^{३ १ २ ३ ४}यस्त्वा सपर्यति ।

^{३ १ २ ३ ४}सुर्वे ^{३ १ २ ३ ४}स्य गामता रायस्पृद्धि महो ^{३ १ २ ३ ४}आसि ॥ १ ॥

[८८४] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२}यस्त इन्द्र नवीयसी ^{३ १ २ ३ ४}गिर मन्द्रा ^{३ १ २ ३ ४}मजीजनत् ।

^{३ १ २ ३ ४}चिकित्वन्मनस ^{३ १ २ ३ ४}विधे ^{३ १ २ ३ ४}प्रत्नामृतस्य ^{३ १ २ ३ ४}पिप्युपीम् ॥ २ ॥

[८८५] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२}तमु ^{३ १ २ ३ ४}प्रवाम ^{३ १ २ ३ ४}य गिर इन्द्रमु ^{३ १ २ ३ ४}स्थयानि ^{३ १ २ ३ ४}वावृधुः ।

^{३ १ २ ३ ४}पुरुषस्य ^{३ १ २ ३ ४}पौस्या ^{३ १ २ ३ ४}सिषासन्ता ^{३ १ २ ३ ४}वनामहे ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ८ । ६५ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [३४६] पृ० १७६ ।

(२) हे इन्द्र ! (य) जो (ते) तेरे लिये (नवीयसीम्) अति सुन्दर, अति स्तुति करने हारी (मन्द्रा) गम्भीर (गिरं) वाणी को (मजीजनत्) प्रकट करता है उस ज्ञानी, मननशील पुरुष को तू (अतस्य) सत्यज्ञान के (पिप्युपीम्) पुष्ट करनेहारी (प्रत्ना) अति प्राचीन (चिकित्वन्मनस) ज्ञानेशील मन से संयुक्त (विधे) बुद्धि या धारणा शक्ति को प्रदान करता है ।

(३) (तं) उस (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा को (उ) ही हम
नित्य (स्तवाम) स्तुति करें (यं) जिसकी (उक्त्यानि) वेदमन्त्र (वाचुः)
सदा महिमा बढ़ाते हैं । हम अल्पशक्ति जीव (अस्य) उस परमात्मा के
(पुरुषि) नाना प्रकार के (पौस्या) बल से किये जाने वाले विश्वसर्जन,
धारण और प्रलय आदि पौरुष कर्मों को, या बलयुक्त नाना ऐश्वर्यों को
(सिपासन्तः) नाना प्रकार से उपयोग और सेवन करते हुए (वनामहे)
उसकी स्तुति या भजन करते हैं ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (प्रथमोर्ध्व) ।

श्रुतिः—१ आक्रुष्टामावा । २ अमहीशु । ३ मेध्यातिथिः । ४, १२ बृह-
न्मति । ५ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निः । ६ सुतमर आभेयः । ७ गृहसमदः । ८, २१
गोनमो रङ्गुणः । ९, १३ वन्विष्ठः । १० दृढच्युत आगस्त्यः । ११ सप्तर्षयः ।
१४ रेमः काश्यपः । १५ पुरुषन्मा । १६ असिनः काश्यपो देवलो वा । १७
शक्तिरुक्ष क्रमेण । १८ अग्निः । १९ प्रतर्दनो देवोदासिः । २० प्रयोगो भार्गव
अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अथर्वाग्नी गृहपतियविष्टौ सहस्रं द्रुतौ तयोर्वान्यतरः ॥
देवता—१—५, १०—१२, १६—१८ यवमान सोमः । ६, २० अग्निः ।
७ मित्रावरुणौ । ८, १३—१५, २१ इन्द्र । ९ इन्द्राग्नी ॥ छन्द — १, ६
जगती । २—५, ७—१०, १२, १६, २० गायत्री । ११ बृहती सप्तोबृहती च
क्रमेण । १३ विराट् । १४ अतिजगती । १५ प्रागाथ । १७ ककुप् च सप्तोबृहती

न क्रमेण । १८ उष्णिक् । १९ त्रिष्टुप् । २१ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ६, १४
निषादः । २—५, ७—१०, १२, १६, २० षड्जः । ११, १३, १५, १७
मध्यमः । १८ श्रपम । १९ धैवतः । २१ गान्धारः ॥

[८८६] प्र त आश्विनी. पवमान धेनवा दिव्या असुग्रन् पयसा
धरीमणि । प्रान्नरिक्तात् स्थाविरीस्ते असृक्षन् ये त्वा
मृजन्त्यपिपाण वेधसः ॥ १ ॥

[८८७] उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सत परियन्ति
केतवः । यदी पवित्रे अधिमृज्यते हरिः सत्ता नि योनौ
कलशेषु सीदति ॥ २ ॥

[८८८] त्रिषवा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभाष्टे सत परियन्ति
केतवः । व्यानशी पवस सोम धर्मणा पतिविश्वस्य भुव-
नस्य राजासे ॥३॥१॥ अ० ९ । ६६ । ४, ६, ५, ॥

भा०—(१) हे (पवमान) परमपावन व्यापक परमात्मन् ! (ते) तेरी
(आश्विनी.) सर्वत्र व्यापक, (दिव्या.) दिव्यगुणयुक्त, (स्थाविरी.) निरन्तर
स्थिर रहने वाली, (धेनव.) सबको आनन्दरस का पान कराकर तृप्त
करने वाली शक्तियां (पयसा) ज्ञान और बल और आनन्दरस एवं जल
के द्वारा (धरीमणि) धारण करने हारे आत्मा या अन्तरिक्ष में (प्र
असुग्रन्) उत्तमरूप से प्रकट होती हैं । हे (अपिपाण) ऋषियों, मन्त्रद्वारा
ज्ञानी पुरुषों द्वारा मज्जन करने योग्य आत्मन् परमात्मन् ! (ये) जो
(वेधसः) विद्वान् पुरुष (त्वा मृजन्ति) तेरे शुद्ध रूप को साक्षात्

(१) 'पवमान धीजूवो', 'प्रान्नरिक्तात् स्थाविरीरसक्षत' इति अ० ।

३. 'व्यानशिः' 'धर्मभिः' इति अ० ।

करते हैं (ते) वे (स्याविरीः) स्थिर कूटस्थ धारारूप धारणाओं को (अन्तरिक्षात्) अपने अन्तःकरण रूप भीतरी साधान् करने वाले साधन मन या अन्तःकरण स (प्र असृक्षन्) तेरा ज्ञान सम्पादन करते, तेरी साधना करते हैं, निदिष्यासन करते हैं । आत्मपद में—अपि= इन्द्रियगण ।

“(२) (पवमानस्य) समस्त ससार में व्यापक, सब को गति देने वाले, परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मयः) किरण (ध्रुवस्य सतः) सत्स्वरूप उस कूटस्थ ब्रह्म के (उभयतः) जब और जगम दोनों प्रकार के संसार के प्रति (परियन्ति) व्याप्त हो रहे हैं । (यद्गृहं) जग भी (होरे) समस्त ससार को गति देने और समस्त दुस्वों को हरने द्वारा ईश्वर (पवित्रे) पवित्र अन्तःकरण में (अधिमृज्यते) विवक द्वारा साक्षात् किया जाना है तब (सत्ता) हृदयों में सत्यस्वरूप होकर विराजमान वह (कलशेषु) सब शरीरों में भी विद्यमान (योनौ) उनके मूल आश्रय, अन्तरात्मा में घुसकर (सीदति) विराजमान है ।

(३) हे (विश्वधृषः) समस्त ससार को देखने वाले परमात्मन् ! (सोम) सबके उत्पादक ! (सतः) सत्यस्वरूप, महान् (प्रभो) सर्व शक्तिमान्, (ते) आपके (केतवः) सूर्य के किरणों के समान गतिमान्, जो जलजाने वाले बिह्व और आपक शक्तिवा (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों में (परि यन्ति) फैली हुई हैं । और आप (ग्यानशी) सर्वव्यापक (विश्वस्य भुवनस्य पतिः) समस्त संसार के स्वामी, (धर्मेणा) अपने धारण करने वाले बल से (विराजसि) सबसे ऊपर विराजमान हैं ।

१ २ ४

३ २ ३ १ २

२ २ ३ १

[८८६] पवमानो अजीजनद्वित्राक्षिभं न तन्यनुम् ।

१ २

३ २ ३ २

ज्योतिर्धेन्वानर बृहत् ॥१॥

[८६०] पवमान रमस्तव मदो राजन्नदुच्छुनः ।

वि नारमज्यमर्पति ॥२॥

[८६१] पवमानस्य ते रसा दक्षो विराजति द्युमान् ।

ज्योतिर्विश्वं च दृश ॥३॥२॥ अ६ ६ । ६१ । १६ ।-१८ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो अविकल म० [४८४] पृ० २४२ ।

(२) हे [पवमान] सर्व व्यापक ! परमपावन परमेश्वर ! (तव) तेरा (रस.) रस, आनन्दमय (मदः) इषं कारक (अदुच्छुनः) दुष्ट कुत्ते के समान मोग नृणावाली इन्द्रियों के स्पर्श से दूर, अथवा पागल कुत्ते के समान दुःखदायी काम, क्रोधआदि भीतरी शत्रुओं से रहित होकर । अव्य) आत्मा के (वार) वरण करने योग्य स्वरूप को (वि अर्पति) व्याप लेता है ।

(३) (पवमानस्य) अन्त करण को पवित्र करने हारे, या प्रकाशित करने हारे (ते) तेरा (रस.) आनन्दरस (दक्ष) ज्ञान और बल रूप (द्यु-मान्) कान्तिमय होकर (विराजते) विशेष रूप से चमकता है । और वह (ज्योति)) ज्योतिः स्वरूप (विश्वम्) समस्त (स्व) सुखों को (दृशे) प्रकाशित कर दर्शाने हारा है ।

[८६२] अ यद् गावो न भूण्यस्त्वेषा अयासा अक्रतुः ।

अन्त. कृणामप त्वचम् ॥१॥

[८६३] सुवितस्य वनामदति सतु दुराध्यम् ।

साह्याम दस्युमव्रतम् ॥२॥

[८६४] शृण्वे वृष्टेरिव स्थन पवमानस्य शुष्मिणः ।

चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३॥

२. 'पवमानस्य ५ रमो' ३. 'पवमानसस्तव' इति पादयोर्न्यस्ययः, अ० ।

[८६५] आ पवस्य महोमिषं गोमदिन्द्रो हिरण्यवत् ।
अश्ववत्सोम धीरवत् ॥४॥

[८६६] पवस्व विश्वचर्षणं आ महो रोदसी पृथ ।
उपा. सूर्यो न रश्मिभिः ॥ ५ ॥

[८६७] परि नः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः ।
सरा रसेन विष्टपम् ॥६॥३॥ श्र० ९ । ४१ । १-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६१] पृ० २४५ ।

(२) (सुवितस्य) सब संसार को उत्तम रूप से शासन करने हारे, सबके प्रेरक परमात्मा की (मनामहे) हम शरण में जाते और ध्यान करते हैं जिससे (सेतुम् अति) मर्यादा और सामाजिक बन्धन व्यवस्था को तोड़ने हारे, (दुराद्यम्) कष्टसाध्य, बेकाबू, दुर्दान्त (अव्रतम्) कर्तव्य कर्मों से गिर हुए निकम्मे (दस्युम्) प्रजा के विनाशक, डाकू आदि अपराधी, या आत्मा के नाशक काम क्रोध आदि को (सासह्याम्) हम विजय करें ।

(३) जैसे (दिवि) आकाश में (विद्युतः) विजुलिया (चरन्ति) गति करती हैं उसी प्रकार जब आत्मा की, या ब्रह्मानन्दरस की (विद्युतः) विशेष कान्तियां, दीप्तिया, (दिवि) समस्त संसार में या मूर्धारूप ब्रह्माण्ड में (चरन्ति) वेग से गति करती हैं तब (शुष्मिणाः) अति बलवान् (पवमानस्य) अन्तःकरण को पवित्र करने हारे और आनन्द का वर्णन करने हारे ब्रह्मा का (स्वनः) घोष (वृष्टेः) मेघ के समान (शृण्वे) सुनता हूँ । धर्ममेघ समाधि के अवसर में अनाहत आत्मरूप परमेश्वर का यह वर्णन है ।

८६५—'मनामहे' 'दुराद्यम्' 'साह्यासो' 'अश्ववद् वाजवत्सुतः' इति श्र० ।

८६६—'स पवस्व विश्वचर्षणे' इति भा० ।

(४) हे (सोम !) परमात्मन् ! (इन्द्रो) ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप हमें (गोमत्) गौओं, घाणियों और इन्द्रियों से सम्पन्न (अश्वत्) घोड़ों और प्राणों और वेगवान् साधनों से युक्त, (वीरवत्) पुत्रादि वीर पुरुषों से युक्त, (इषं) अन्न, प्रबल इच्छा शक्ति और शासन आदि ऐश्वर्य को और (महीम्) बड़ी प्रसिद्धि को (आ पवस्व) प्राप्त कराओ ।

(५) हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार को देखने वाले परमात्मन् ! (रश्मिभिः) किरणों से (सूर्यः न) जिस प्रकार सूर्य (उषा.) उषा के समयों में (मही रोदसी) बड़े भारी आकाश और पृथिवी दोनों को पूर्ण करता है उसी प्रकार आप भी उनको पूर्ण करते और पालन करते हो । आप हमारे प्रति (पवस्व) अपनी कृपा दर्शाइये ।

(६) हे सोम ! (रसा इव) जिस प्रकार जल से पूर्ण नदी (विष्ट-पम्) मैदान में बहती है, उसी प्रकार आप भी (शर्मयन्त्या) सुख देने वाली (धारया) अपनी धारण समर्थ शक्ति या आनन्दरस की धारा से (विश्वतः) सब ओर से (न.) हमारे प्रति (परि सर) प्राप्त होइये ।

इति प्रथम खण्डः ।



[८६८] ^{३ १ २} आशुरर्षे ^{३ १ २ ३ ३ ३ १ २} बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना ।

^{१ २ ३ २ ४ ३ १ २} यत्र देवा इति ब्रुवन् ॥१॥

[८६९] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३} परिष्कृतवर्णानिष्कृतं जनाय यातयन्निष ।

^{३ २ ३ १ २ २} धृष्टिं दिवः परिस्रव ॥२॥

[९००] ^{३ २ ४ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २} अयं स यो दिवम्परि रघुयामा पवित्र आ ।

^{१ २ ३ १ २ २} सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥३॥

[९०१] ^{३ १ २ ३ २ ३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २} सुत पति पवित्र आ त्विषि दधान ओजसा ।

^{३ १ २ ३ १ २} विचक्षाणा विरोचयन् ॥४॥

[६०२] आग्निवांसत् पराजना अथो अर्वाचन सुतः ।

इन्द्राय मित्रये मधु ॥५॥

[६०३] समीचीना अनुषत् हरि हिन्वन्त्याद्रिभिः ।

इन्द्रमिन्द्राय पीनये ॥६॥३॥ अ० ६। ३६। १-६ ॥

भा०—(१) हे (वृद्धन्ते) महान् ज्ञानसम्पन्न परमात्मन् । आप (आशु) सर्वत्र व्यापक होकर (प्रियेण) अतिमनोहर, श्रेष्ठ, (धाम्ना) धारणशील तेज से । परि अर्थ) व्याप्त हो रहे हैं । (यत्र देवाः) जहाँ २ विद्वान्गण, या दिव्यगुण से युक्त पृथ्वी, जल वायु आदि पदार्थ हैं वहाँ ही आप भी व्यापक हैं, वे आप से-मिश्र नल नहीं रखते । (इति) इस प्रकार आप (ध्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! (प्र निष्कृतम्) संस्कार या परिष्कार रहित स्थान, गर्भाशय, या भूमि को (जनाय) जन्तुओं के उत्पत्ति के लिये (परिष्कृत्यन्) संस्कृत, स्वच्छ परिष्कृत करते हुए (इय) मनो कामनाओं, पुष्टिकारक पदार्थों वा ओषधियों और अर्घों का (पातयन्) वहाँ स्वयं उत्पन्न करते हुए आप (दिवः) सूर्यलाक, आकाश या पुरुष दोनों पक्षों से (वृष्टिं) जलवर्षण यजिमान आदि क्रिया के कार्य को (परिश्रव) करवाते हैं । समष्टि और व्यष्टि रूप से सृष्टि की उत्पत्ति समान रूप से वर्णित है ।

(३) (य) जो सोम (दिवः परि) सूर्य में (रघुयामा) इसका सूक्ष्म रूप होकर निचरता है (स) वह (पवित्रे) मलादि दोष रहित, (सिन्धो) स्रवण करने वाले जल के (ऊर्मो) सघात रूप में (वि भ्रम रन्) नाना प्रकार में घेरित होना है ।

(४) (सुत) स्रवका प्रेरक यह सोम, सर्वोत्पादक (योजना) शपन सामर्थ्य से (पवित्रे) स्वच्छ मलरहित पदार्थों में (भिषिम्) कान्ति को

(दधान) धारण करता हुआ (रोचयन्) ज्ञान पदार्थों को प्रकाशित करता और (विचक्षण) अमर पदार्थों को देखता धार दिखता हुआ अति (आपृति) सर्वत्र व्यापक है ।

(२) (सुन०) वह सबका प्रेरक, सर्वोत्पादक (परावत०) दूर के (अथो) और (अर्वावत) समीप के लोकाओं (आविवास्त) प्रकाशित करता है । 'इन्द्राय' ऐश्वर्यशाली सृष्टि या आत्मा के जन्म के निमित्त (मधु) आनन्दकारी मधुर ज्ञानरूप से (सिद्ध्यत) सेवन किया जाता है ।

(६) (समीचीना०) उत्तम उद्देश्य से एकत्र हुए विद्वानों लोग (हवि) सर्वव्यापक परमात्मा को (अदिभि) दृढ़ साधनों द्वारा (हिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, और (इन्द्राय) अपने आत्मा के (पीतये) ज्ञान और आनन्दरस के पान कराने के लिये (इन्द्रुम्) हृदय में कान्तिरूप से दधित होने वाले आनन्दरस की (अनूपन) स्तुति करते हैं ।

[६०४] ^{३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} त्रिन्वन्नि सूरमुच्य स्वसारं जामयस्परिम् ।

^{३ १ २ २ ३ १ २} महामिन्दुं महीयुव ॥ १ ॥

[६०५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} पवमान रुचारुचा देव देवेभ्य सुतः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} विश्वा रसून्याविश ॥ २ ॥

[६०६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आ पवमान सुन्दुर्ति वृष्टि देवेभ्यो दुवः ।

^{३ १ २ ३ १ २} इदे पवस्व संयतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ६। ६५। १-३ ॥

(१) (उच्य०) गतिशाली, (स्वसार०) स्वयं सरण या गमन करने वाली (जामय) आर्याओं या अग्निनियों के समान ये इन्द्रिया या प्रजागण (महीयुव०) महत्त्व की आकांक्षा करती हुई (महा) पूजनीय, (इन्दुं)

आह्लादक वस आनन्दमय (सूरं) प्रेरक और उत्पादक (पतिं) पति के समान पालक को (हिन्वन्ति) स्तुति करती और प्राप्त होती हैं ।

(२) हे (पचमान) सर्वव्यापक, परमपावन परमात्मन् ! (देवेभ्यः) विद्वानों के निमित्त (सुतः) प्रकट होकर आप (विश्वा) समस्त (वसूनि) आवास-योग्य लोकों में (आविश) व्यापक हैं ।

(३) हे (पचमान) परमपावन, सर्वव्यापक ! (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-सम्पन्न विद्वानों की (दुवः) प्रार्थनापासना और कामनाओं को पूर्ण करने के लिये (सुस्तुतिं) उत्तम प्रशंसा योग्य स्तुतिरूप वेदवाणी और (इये) अन्नादि पदार्थों के लिये (वृष्टिं) आनन्दरस की वृष्टि को (संय-तम्) नियमपूर्वक (पचस्व) प्रदान कीजिये । अर्थात्-हे परमेश्वर ! विद्वान् पुरुषों के सुख के लिये अन्नों के लिये, नियमपूर्वक वृष्टि और भजन और उपासना के लिये उत्तम स्तुति रूप वेदवाणी प्रदान करें ।

इति द्वितीय खण्डः ।

[६०७] जनंभ्य गोपा अजनिष्ट जागृधिरग्निः सुवक्षः सुविताय
नव्यसे । घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा धुमद्विभाति
भरतेभ्यः शुचिः ॥ १ ॥

[६०८] त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहाहितमन्वविन्दञ्छिथ्रियाण वनं
वनं । स जायसे मन्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहस-
म्पुत्रमङ्गिरः ॥ २ ॥

[६०९] यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समि-
न्धते । इन्द्रेण देवैः सरथं स वर्धिये सीदन् नि हाता
यजथाय सुक्रतुः ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ५ । ११ । १, ६, २ ॥

भा०—(१) (जनस्य गोपाः) समस्त जनों और जन्तुओं का रक्षक, (जागृविः) सदा जागरणशील, कभी आलस्य न करने वाला (सुदक्षः) उत्तम बल से सम्पन्न, (धृतप्रतीकः) धृत, दीप्ति विशेष, ओजस्विता से सर्वत्र पहिचानने योग्य, (शुचिः) शुद्ध, स्वच्छ अन्तःकरण वाला, निष्कपट (अग्निः) सबको आगे ले चलाने वाला, आचार्यस्वरूप, अग्नि के समान तेजस्वी नायक, परम पुरुष, सबके (नन्यसे) भये २ अपूर्व (सुविताय) कल्याण के लिये (अजनिष्ट) प्रकट होता है । और वही (ब्रह्मा) बड़े भारी (दिविस्पृशा) आकाश तक को स्पर्श करने वाले सूर्य समान तेज से (भरतेभ्यः) भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों के लिये (शुभम्) ज्ञानमय प्रकाशस्वरूप होकर (विभाति) विशेष रूप से शोभा देता है । अग्नि और सूर्य के दृष्टान्त से विद्वान् और ईश्वर का वर्णन किया गया है ।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (घने घने) जिन प्रकार जंगल २ में, या काष्ठ २में आग गुप्तरूप से रहती है वसी प्रकार जीव, जीव में (शिश्रियाणां) व्यापक (गुहाहितं) हृदय में छुपे हुए (त्वा) तुझको (अगिरसः) ज्ञानी लोग प्रत्येक पदार्थ में (अनु अविन्दन्) खोज करते और प्राप्त करते हैं । (सः) वह आप । (सहः) सर्वशक्तिसान् (मध्यमान) हृदयदेश में पुनः प्रत्याहरण या सन्तत करने योग्य, (महत्) महान् हैं । हे (अगिरः) ज्ञानस्वरूप ! (त्वां) आपको (सहसत्पुत्र) योगशक्ति, या योगबल से पुरुष की पापों से रक्षा करने हारा (आहुः) कहते हैं । आत्मा, विद्वान्, परमात्मा और अग्नि चारों पक्षों में स्पष्ट है ।

(३) (नरः) विद्वान् लोग (यज्ञस्य) देवपूजा एवं संगति आदि धर्मकार्य के (केतु) बतलाने वाले, (प्रथमं पुरोहितं) सब से प्रथम, साक्षीरूप से स्थित परमेश्वर को (त्रि-सधस्ये) तीन प्राणों के एकत्र होने के प्रदेश त्रिपुटी में (समिन्धते) प्रज्वलित करते हैं । (सः) वह (बर्हिषे) इम जीवन यज्ञसे सम्पन्न, परानुर वृद्धि को प्राप्त, ज्ञान और जीवन रूप

यज्ञ में (इन्द्रेण) इस आत्मा और (देवैः) इन्द्रियों के साथ (होता) सबको अपनी आर बुझालेने हारा, सब सुखों का दाता (सुकनुः) उत्तम प्रज्ञान और कर्म करने हारा, सबका रक्षयिता परमात्मा (यजथाय) यज्ञ सम्पादन या आनन्द प्रदान करने के लिये (सरथं) समान रूप से रमण करने योग्य हृदय-देश में (नि सिदिन्) विराजमान होता है । आधिदैविक पक्ष में-इन्द्र=महान् विद्युत् और देव=अन्य पंचभूत और बहि=अन्तरिक्ष, यजथ=ब्रह्मायुक्त रूप यज्ञ ।

[६१०] ^{३ १ २} अय वा मित्रावरुणा ^{३ १ २ २} सुतः सोमं अनावृधा ।

^{१ ३ ३ १ २ ३ १ २} ममदिदं श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

[६११] ^{१ २ ३ १ २} राजानावनोभेदुहा ध्रुवं ^{३ १ २ २ ३} सारयुत्तमे ।

^{३ १ २} सहस्रस्थूण आशाने ॥ २ ॥

[६१२] ^{२ ३ १ २ ३ १ २} तां सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुः ^{३ १ २ २ ३ १ २} स्पती ।

^{१ २ ३ १ २} सचेते अत्रवह्वरम् ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० २ । ४१ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (मित्रावरणौ) मित्र और वरुण, प्राण और उदान के समान अध्यापक और शिष्य ! (अनावृधो , स य ज्ञान और जीवन को बढ़ाने वाले (वा) आप दोनों के रिय (अय) यद (सोम) ओषधियों का रस, या जीवन का रस, या ज्ञान (सुत) तय्यार हैं । (मम इन्) मेरा ही (हव) आह्वान, आदेश (श्रुतम्) आप लोग श्रवण करें ।

जिसे प्रकार प्राण और उदान सब रस ग्रहण करके जीवन को बढ़ाते हैं उसी प्रकार सत्यज्ञान के धर्मक अध्यापक और शिष्य भी ज्ञान का रस लेते हैं । उनके प्रति मध लाग शपना प्रेम प्रकट करें ।

(२) हे मित्र और वरुण ! प्राण और अपान आप दोनों (राजानौ) इस शरीर के राजा, (अनामिदुहौ) परस्पर द्रोह न करेंगे हारे (उत्तमे)

उत्कृष्ट (ध्रुवे) नित्य (सङ्कलस्थूणे) सहस्रों स्तम्भों के समान सत्कर्मों के आश्रय विराजमान (सन्निधि) भवनरूप, सत्यस्वरूप, सर्वश्रय-आत्मा में (आशाते) उपविष्ट हों । प्राण और उदान अध्यापक शिष्य, राजा, राजमन्त्री और ब्रह्म, जीव तथा जीव और मन सबका वर्णन भी समान है ।

(३) (तौ) वे दोनों (घृतासुती) प्रदीप्त तेज को उत्पन्न करने वाले, (आदित्या) आदित्य के समान प्रकाशमान, अखाण्डिन, (दानुन पती) धनों के स्वामी (सम्राजौ) सम्राट् के समान नेजस्त्रों मित्र और चरुण, प्राण और उदान (अनवह्वर) सरल, कपटादि रहित होकर (सचेते) परस्पर मिलकर कार्य करते हैं ।

[६१३] इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्बृत्रायप्रतिष्कृतः ।

जघान नवतर्निव ॥ १ ॥

[६१४] इच्छन्नश्वस्य याच्छुर पर्वतेऽवपाथतम् ।

तद्विदच्छर्गणावति ॥ २ ॥

[६१५] अत्राह गार्मन्धन नाम त्वष्टुरपाचयम् ।

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥ ॥ अ० १ । ८४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अत्रिकल सं० [१७६] पृ० ६७० ।

(२) (पर्वतेषु) पोरुओं वाले मरुदण्ड के मांहों में (अपश्चितं) स्थित (अश्वस्य) शरीर में व्यापक, आत्मा का यत् जो (शिरः) मुख्य अंग है उसको (इच्छन्) चाहता हुआ (इन्द्र) आत्मा (शर्गणावति) हृदय-देश में (तद्) उसको (विदद्) प्राप्त करता है ।

- मनुविद्या या ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाला दधीचि का शिर, अश्वियों ने काट दिया, वह शर्गणावत् सलिल में पड़ा था । उसको इन्द्र ने, अपना वज्र जनाने के निमित्त उसी स्थान पर पाया । ऐसी कथा प्रसिद्ध

है । इस अहंकार में ध्यान धारणा से सम्पन्न योगी आत्मा दधीचि है । उसका महानानोपदेशक शिरोभाग जो प्राण और उदान को ठीक गति का निषण्ण करता है मस्तक भाग में है । काम क्रोधादि पर वश करने वाला इन्द्र आत्मा उसी चित् केन्द्र का स्त्रोत्र करता है जिसके प्राण और अपान वग में हैं । वह उसको मध्य मस्तक में पाता है और ८१० प्रकार की मनोवृत्तियों पर वश करता है । यह अहंकार है ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सू० [१४७] १० अ१ ।

[६१६] इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्यस्तुतिः ।

अभ्राह्माष्टरिवाजनि ॥ १ ॥

[६१७] शृणुर्न जरिदुर्धमिन्द्राग्नी घनतं गिरः ।

ईशाना पिप्यन् धियः ॥ २ ॥

[६१८] मा पागल्माय नो नरेन्द्राग्नी माभिश्चस्तये ।

मा नो वीरधनं निदं ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ७ । १४ । १-३ ॥

भा०—(१) इन्द्राग्नी) मूर्धे और अग्नि मरुता मृग निम्न, मरु और जंग ' (वाम) बाय दातों का (इय) यह पूर्यस्तुति) घनतं वर पूर्ण गन्ध गुण वर्तन (मन्मन) मननशास्त्र विज्ञान पुराण मे (अभ्राद्) मेष मे (जरिदुर्धम) वर्य के समान (अविनि) प्रकट होता है ।

(२) इन्द्राग्नी) मृग, शिष्क के गन्धन मरु और जंग । अविनि) मनन करने हुए विज्ञान के (इय) यह पूर्यस्तुति को मृग दं मे । (अ० ७) शृणु करो । और (गिर) वेदवाकियों को । घनतं ; मेष का । घनतं ; ईशाना) देवदेवता होने हुए (धियः) मरु मरुता के वर्य को (पिप्यन्) पूर्ण करने की । गन्धक करने हो ।

(३) हे (नरा) नेताओ ! (इन्द्राग्नी) गुरु, शिष्य ! या अध्यापक उपदेशक ! या परमेश्वर और आचार्य ! सूर्य और अग्नि के समान ब्रह्म और जीव ! आप दोनों (नः) हमें (पापत्राय) पापकार्य के लिये और (अभि-
शस्तये) पराधीनता या हिंसा कार्य के लिये और (निदे) निन्दा-जनक
कार्य, या निन्दा करने के लिये (मा रीरधतं) कभी किसी के वश में न
होने दें ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[६१६] ^{१ २} पवस्व ^{३ १ २} दक्षसाधनो ^{३ १ २} देवेभ्यः ^{३ १ २} पीतये हरे ।

^{३ १} मरुद्भ्यो ^{२ ३ २ ३ १ २} वायवे मद ॥ १ ॥

[६२०] ^{२ ३ १} सं देवै ^{२ ३ १ २} शोभते ^{३ २ क} वृषा ^{३ १ २ ३ १} कावरीनावधि प्रिय ।

^{१ २} पवमानो ^{३ १ २} अदाभ्यः ॥ २ ॥

[६२१] ^{१ २} पवमान ^{३ २ ३ २} धिया ^{३ २ ३ २} हितोऽभियानि ^{३ १ २} कान्तिदत् ।

^{१ २} धर्मेणा ^{३ २ २ २} वायुमारुहः ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ६ । २५ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [४७४] पृ० २३६ ।

(२) (वृषा) सब सुखों का वर्णन करने वाला, (पवमानः) सब
को ज्ञानदान से पवित्र करने द्वारा, (अदाभ्य) किसी से हिंसा न करने
योग्य, (प्रियः) सबको प्रिय (कवि) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, नेधात्री
(योनौ अधि) अपने आश्रय में ही (देवै) अन्य विद्वानों, या सहचर
इन्द्रियगणों, या वायु आदि देवों के साथ (शोभते) शोभा देता है ।

राजा, योगी आत्मा, परमात्मा सब के पक्ष में समान है ।

६१९—'वृषहा देववीतय' इति अ० ।

६२१—'वायुमाविश,' इति अ० ।

[६२२] नवाह^{२ ३ १ ३} साम रारण^{३ २ २} सरय इन्द्रा^{३ १ ३} दिवेदिये ।

पुरुणि वभ्रौ निन्नरन्ति मामय परिधी रति सौ इति ॥१॥

[६२३] त^३वा^३ह^१ न^२क्त^३मु^३त्त^१ स्मि^२ तं दि^३वा^१ दु^३ष्टा^१नो^१ यश्च^२ अ^३ध^१नि ।

३ १ २ ३ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृणा तपन्तमति सुखं पर शकुना इव पतिम ॥२॥११॥

॥० ५ । ३५७ । ३५-३५ । ५

(१) व्याख्या देशी अविच्छिन्न सं० [२१६] पृ० २६४ ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! हे (ब्रह्मा) समस्त संसार के माता
 पोषक करने वाले परमेश्वर ! (नमः) राम में (तव) तेरे (जग) जगत्
 (दिवा) दिन में भी (ते) तेरे ही । ऊपनि । समय काल में (यद्वा)
 मैं (दुहान्) रस प्राप्त करता हुआ । ऊपनि शकुनादयः) उपाकाय के
 समय में पक्षियों या शर्मियों के समान हम । धृष्ट । ईश से (तव)
 जाग्रदवस्थान (सूर्यम्) सूर्य के समान सर्वोपरि पर । परमेश्वर पर
 देवता (यानि पश्चिम) कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष का प्राप्त होना ।

[६८५] पुनानां अश्वमेधिनं यथा सु मे दिव्यपतिः ।

गुणमन्त्रि विद्वै भवन्ति. ॥ १ ॥

(२५) श्री गौतमसंन्यासः कुरुते गौतमसंन्यासः गृह्य सुतम् ।

भुव स्वस्ति श्रीगुरु ॥ २ ॥

^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६२६] नू नो रयि महामिन्द्रोऽम्भ्यं सोम विश्वतः ।
^{१ २ ३ १ २}

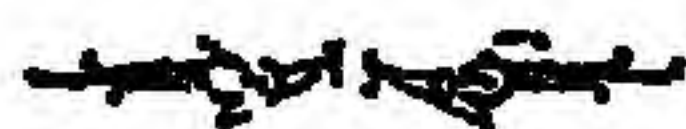
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ६ । ४० । १-३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८८] पृ० २४४ ।

(२) (अरुण.) अरुणवण, कान्तिमान्, सोम (योनिम्) मूल-
स्थान, हृदय-देश में (अरुणद्.) प्रकट होता है और (वृषा) सुखों का
वर्षक (इन्द्रः) आत्मा (सुतम्) आनन्दस्वरूप में प्रकट हुए उसके प्रति
(गमद्) मुक्त जाता है । वह आनन्दस्वरूप परमात्मा मरे (ध्रुव) स्थिर
(सदसि) आश्रयस्थान आत्मा में (मीदतु) सदा विराजमान हो ।

(३) हे (इन्द्रा) सोम ! (अम्भ्यं) हमारे लिये (सहस्रिण)
सब सुखों से युक्त । महा (निशान्न रयिम्) ऐश्वर्य को (विश्वतः) सब
ओर से (नः आ पवस्व) प्राप्त कराओ ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६२७] पित्रा साममिन्द्र मन्दतु त्वा य ते सुषावि हर्यश्वाद्रि ।
^{३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३}
सोतुर्वाहुभ्यां सुयता नार्वी ॥ १ ॥

^{२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६२८] यस्ने मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्न हंसि ।
^{१ २ २ २}
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

^{२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३}
[६२९] यो या सु मे मघवन्वाच मे मां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।
^{३ १ २ २ ३ १ २}
इमा ब्रह्म सत्रमादे जुपस्व ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ७ । २२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० (३६८) पृ० २०४ ।

(२) हे (हर्यश्न) हरणशील, अश्वरूप इन्द्रियों और मन से युक्त
'आत्मन्' । (यः) जो (ते) तेरा (युज्यः) योग समाधि से उत्पन्न होने
वाला (मदः) आनन्द (चारुः) मनोहर, उपभोग करने योग्य (अस्ति)

है और (येन) जिसके बल पर तू (वृत्राणि) आवरणकारी विघ्नों, काम, क्रोध आदि शत्रुओं को (हंसि) विनाश करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! आत्मन् ! हे (प्रभुवसो) समस्त प्राणियों में बसने हारे ! (सः) वह (त्वा) तुझको (ममत्तु) आनन्दित करे ।

(३) हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! (वसिष्ठ) वसिष्ठस्वरूप, इन्द्रिय या मुख्य प्राण, या विद्वान् पुरुष (या) जिस (प्रशस्ति) उत्तम गुण वर्णन करने वाली (वाच) वाणी को (अर्चति) प्रकट करता है (इमा) इस (मे) मेरी वाणी को (सुबोध) तू उत्तम रूप से ज्ञान कर । और (इमा) इन (ब्रह्मा) वेदमन्त्रों को (सधमादे) एकत्र इष्ट प्राप्त करने के स्थान यज्ञ आदि, अथवा त्रिपुटी या हृदयदेश में (जुपस्व) सेवन कर, उनका मनन कर ।

[६३०] विश्वाः पृतना अभिभूतरक्षरः सजुस्ततक्षुरिन्द्रजनुश्च
राजसे । ऋत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुताग्रमाजिष्ठ तरसं
नरस्विनम् ॥ १ ॥

[६३१] नेमिं नमन्ति चक्षसा मधं विप्रा अभि स्वरः ।
सुदीतया वो अट्टहोऽपि कर्णे तरस्विन समृक्कामः ॥ २ ॥

[६३२] ममु रमासो अस्वराक्षन्दं सोमस्य पीतये ।
स्वः पतिर्यदी वृध धृतव्रता ह्योजसा समूतिभिः ॥ ३ ॥ १४ ॥

श्रु ८ । ६७ । १०, १२, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३७०] पृ० १६१ ।

(२) (विप्रा) मेधावी, ज्ञानी लोग (चक्षसा) अपने दर्शन कराने हारे आलोक में साक्षात् करके (अभिस्वरे) गायन में (नेमिं) नमन करने हारे (मेघः), सूर्य या मेघ के समान सुखों के वर्णन करने वाले इस परमात्मा को ही

(नमन्ति) नमस्कार करते हैं । (च.) आप लोग भी (सुदतियः) उत्तम कान्तिसंगत और (अद्भुतः) परस्पर दोह न करते हुए (तरस्विनः) शीघ्र कार्य सम्पादक हाकर (श्रकभि) वेदमन्त्रों से (कर्ण) प्रत्येक कार्य में उसी का नमस्कार करें ।

(३) (रमेसः) स्तुति करने हारे, गायक, विद्वान् लोग (सोमस्य) आनन्दरूप सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (इन्द्र उ) इस आत्मा को लक्ष्य करके ही (सस् अस्वरन्) एकत्र होकर गान करते हैं । (यद् इ) और जब (धनवतः) सब को धारण करने वाला आत्म (वृधे) बढ़ता है, शक्तिशाली और उन्नत होता है तब ही वह (भोजसा) अपने तेज से (ऊतिभि) अपने बलशील, प्राणों सहित (सं) एक साथ वृद्धि को प्राप्त होता है ।

^{२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६३३] यो राजा चर्षणीना यामा रथेभिरभिगु ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
त्रिश्वासा नरुता पृननाना ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृण ॥ १ ॥

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६३४] इन्द्रन्तं शुम्भ पुरुहन्मन्त्रस्य द्युता विधर्त्तरि ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
हस्तेन वज्रः प्रतिघ्रायि दर्शतो महा देवो न सूर्य ॥ २ ॥

अ० ८ । ७० । १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७३] पृ० १४० ।

(२) हे (पुरुहन्मन्) इन्द्रियों को वश करने हारे आत्मन् ! (तं) तस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशील परमेश्वर को (अचमे) अपनी रक्षा के लिये (शुम्भ) पुकार, स्मरण कर (यस्य) जिस तेरे अपने (विधर्त्तरि) विविध प्रकार से पालक पोषक परमेश्वर में (द्युता) स्वामी सेवक, भक्त भगवान् का सा भेद है । और जिसने (हस्तेन) दाथ से खड्ग के समान अज्ञानान्ध-

कार का नाशक (वज्रः) ज्ञानमय घञ्ज (प्रतिधापि) धारण किया है, वह (दर्शत) दर्शनीय (महान्) महान्, (देवः) सब सुखों का दाता, (सूर्यः) सूर्य के समान सब ज्ञानों का प्रकाशक और प्रेरक है ।

इति पञ्चम रागः ।

—:०:—

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २२ ३१ ३ २
[६३५] परि प्रिया दिवः कविर्न्यासि नप्त्यो हितः ।

३ १ २ ३ १ २

म्यानैर्याति कविः ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६३६] स सनुमानरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

महान्मही क्रनावृथा ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३७] प्र प्र द्याय पन्यसे जनाय जुष्टा अदुहः ।

३१ २ ३ १ २

द्यौत्यप पनियं ॥३॥१६॥ श० १ । ६ । १, २, २ ॥

भा०—(१) द्यायया देवो अदिकल म० [४३६] सू० २३१ ।

(२) (मः) वह सर्वोत्पादक परमेश्वर (मनु) पुत्र के समान हों
का मन्धारक, समस्त पेश्वों का देने वाला, सब लोगों का प्रेरक (जाग)
होकर (शुचिः) स्वच्छ, काम्तिमान् (महान्) बड़ाही है । वह (जने)
प्रसिद्ध हुए (क्रनावृथा) मध्य ज्ञान और जीवन को बढ़ाये वाले (म-
ता) मा माग दोनों को पुत्र के समान, काकाग और भूमिने हुए निम्न
और सभी पुत्र, राजा और प्रजा दोनों को (अरोचयत्) बड़ाकर करता है ।

(३) (पन्यसे) व्यवहार का मनुष्य करने हों (जनाय) पुरुष के
निम्न (जुष्ट) भोग में भोग करने योग्य (अदुहः) झोड़ में नहीं है
परमेश्वर ! जाग (द्याय) निवृत्त और (पनियं) व्यवहार करने

स्तुति और (चीती) रवा और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (प्र) अच्छी प्रकार (अर्प) हमें प्राप्त हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३८] त्वं ह्यादङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि धुमन्तमः ।
३ १ २ ३ १ २

अमृतत्वाय धोपयन् ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६३९] येना नवग्वा दध्यद्दपोर्युतं येन विप्राम आपिरे ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
देवानां सुप्ते अमृतस्य चारुणा येन अर्वास्याशत ॥२॥१७॥
क० ६ । १०८ । ३, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [५८३] पृ० २६३ ।

(२) (नवग्वा) सदा अभिनव वेदवाणियों को प्राप्त करने वाला, नव-
शिक्षित (येन) जिस परमब्रह्म के द्वारा (दध्यद्) विद्वान्, ध्यानवान्
होकर (अप ऊर्युते) ज्ञान प्रकट करता है । (येन) जिसके बल पर
(विप्राम) विद्वान् संधात्री जन वेदमन्त्रों के तत्त्व या परमपद को (आपिरे)
पहुँचते हैं । और येन जिसके बल पर (देवाना) विद्वान् दिव्यगुणसम्पन्न
महात्माओं के (सुप्ते) सुखकारी यज्ञादि स्थानों में (चारुणः) उत्तम
(अमृतस्य) आत्मा के (अर्वासे) ज्ञान-रहस्यों को (आशत) विद्वान्
ज्ञान प्राप्त करते हैं । हे परमेश्वर ! वही तुम हमें प्राप्त होवो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६४०] सोमः पुनान ऊर्मिणाज्यं चारं विधावति ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

अग्ने वाचः पवमान कनिकदत् ॥१॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४१] धीभिर्मजन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तमत्यविम् ।
३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २

अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 [६४२] असर्जि कलशां अभि मीढ्वान् त्ससिर्न वाजयुः ।
 ३ १ २ २ ३ १ २
 पुनानो वाचञ्जनयन्नलिष्यदत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

अ० ६ । १०६ । १०-१३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७२] पृ० २८८ ।

(२) (घने) शरीर में (क्रीडन्तं) नाना कर्मों को या क्रीड़ा, विनोद, करते हुए (वाजिनं) अति बलवान्, ज्ञानी (अत्यविम्) शरीरबन्धन को अतिक्रमण करके विराजमान, अतीन्द्रिय आत्मा को (धीभिः) धारणावाली बुद्धियों और उत्तम कर्मों द्वारा (मृजन्ति) परिशोधन करते, उसको स्वच्छ और समाहित करके और भी अधिक विवेक से उसके दर्शन करते हैं । (म-तयः) मननशील मुनि लोग (त्रिष्टुभं) मन, वाक्, काय तीनों स्थानों पर विराजमान उस आत्मा को (अभि सम् अस्वरन्) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

(३) (मीढ्वान्) आनन्दघन, वह सोम (वाजयुः) सग्राम में जाने हारे (ससिः न) अश्व के समान (कलशान् अभि) सकल देहों में (असर्जि) प्रकट होता है । और (पुनानः) सब मलों को दूर करता हुआ (वाचम्) वाणी को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (अलिष्यदत्) द्रवित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
 [६४३] सामः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता
 २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १
 पृथिव्याः । जनिताग्नेजनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनि-
 १ २
 तान विष्णा ॥ १ ॥

३ २ ३ १ १ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 [६४४] ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषां मृगाणाम् ।
 ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 श्यनां गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सामपवित्रमत्यन्ति देमन् २॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
 [६४५] प्राचीविपद्वाच ऊर्मि न सिन्धुर्गिरस्तमाप्पवमानो मनीषाः
 ३ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ २ ३ २
 अन्तः पश्यन्वृजनेमावराण्यातिष्ठति वृषभो गोषु जानन्
 ॥ ३ ॥ १६ ॥ श्रु० ६ । ६६ । ६, ७॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अविकल स० [५२७] पृ० २६२ ।

(२) (सोम.) सोम (देवाना) इन्द्रियों और विद्वानों के बीच में (ब्रह्मा) समस्त विद्या के ज्ञाता के समान, (कवीना) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानियों का (पदवीः) मार्गदर्शक, (विप्राणा) मेधावी पुरुषों में (ऋषि.) मन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, (मृगाणा) मृगों के बीच में (महिष.) महिष के समान बलवान्, (गृध्राणा) गृध्र आदि पक्षियों में (श्येन) श्येन के समान आकांक्षा शीलों में बलवान् (वनानां) जंगल के वृक्षों के बीच (स्वधिति) कुठार के समान कर्मबन्धनों के नाश करने हारा (सोमः) आत्मा (रेभेन्) अनाहत नाद करता हुआ (अति एति) सब जालों को पार करके (पवित्रं) शुद्ध निर्मल ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

यास्काचार्य के मत से अध्यात्म पक्ष में—(ब्रह्मा देवानां) यह आत्मा देवनकर्मा क्रीडाशील इन्द्रियों का ब्रह्मा अर्थात् साक्षी है । (पदवी कवीना) चेतन के समान काम करने वाली पदार्थों का ज्ञान करने वाली इन्द्रियों के पद को जानने वाला है । (ऋषि विप्राणा) व्यापन कर्मा इन्द्रियों को गति देने वाला है । (महिषः मृगाणां) विषयों को खोजने वाली इन्द्रियों में से सबसे बड़ा है । (श्येनः गृध्राणां) विषयाभिलाषी ज्ञानशील इन्द्रियों के बीच यह आत्मा स्वतः चेतन ज्ञाता है । (स्वधिति वनानां) विषयों के सेवने वाली इन्द्रियों के कर्मों को स्वयं अपने में धारण करता है । ऐसा सोम, आत्मा (पवित्र) इन्द्रियों पर ही (रेभेन्) स्वयं स्तुति किया जाकर (अति एति) उन द्वारा सब अनुभव करता, सबसे ऊपर विराजता है (निरु० प० अ० २ । १३) ।

(३) (पवमान०) पवित्र, शुद्ध, ज्योतिर्मय आत्मा (मनीषा) मनन साधनों की प्रेरणा करने वाला (सिन्धु. न) नदी के प्रवाह के समान (वाचं) वाणी के (ऊर्मिम्) तरंग को (प्राचीविपत्) प्रेरित करता है । और (गिर०) वाणियों या स्तुतियों के (स्नोमान्) समूहों को भी प्रकट करता है और स्वयं अपने को (अन्तः) भीतर की ओर (परयन्) देखता हुआ (गोपु) हृन्दियरूप गौशों में (वृषभ० इव) बैल के समान वीर्य या बल का सेचन करता हुआ (अवराणि) न वरण करने योग्य, अर्थात् त्याग करने योग्य, अथवा अपने अधीन (इमा) इन (वृजिना) वेगवती हृन्दिर्यों वृत्तियों को (आतिष्ठति) वश करता है ।

इति पष्ठः खण्ड ।

—१०—

३ २२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४५] अग्निं वा वृधन्नमध्वराणां पुरुनमम् ।

२ ३ २ ३ १ २

अच्छा नप्त्रं सहस्वने ॥१॥

३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६४७] अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तदया ।

३ २४ ३ १ २

अस्य कृत्वा यशम्वतः ।

३ १ २२ ३ २४ ३ २ ३ १ २

[६४८] अयं विश्वा अभिथ्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यमे ।

२४ ३ १ २

आ नजैरुष नो गमत् ॥३॥२०॥ ऋ० ऋ० १०२ । ७-६ ।

भा०— १) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [२१] पृ० ६ ।

(२) (स्वष्टा इव) जिस प्रकार तररान शिखरी (तपसा) काट २ का बनाने योग्य (रुपा) पदार्थों को बनाता है उसी प्रकार (यथा) यथावत् ठीक ठीक (अयं) यह (अभि०) सबका सम्पत्ती, सबसे पूर्व विद्यमान ज्ञानवान् परमेश्वर भी (नः) हमारे लिये सब (रुपा) कामिमान् पदार्थों को (आभुवत्) बनाता है । इस संग भी (अश्वत्थ)

समस्त माहिमा वाले (अस्य) इसके ही (कृत्वा) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य
क द्वारा उत्पन्न हुए हैं ।

(३) (देवेषु) दिव्यगुणों से युक्त समस्त पदार्थों, लोकों और विद्वानों
से (अयं) यह (अग्निः) ज्ञानवान् परमात्मा (विश्वाः) समस्त (श्रियः)
लक्ष्मियों को (अभिपत्यते) प्राप्त है, उनका स्वामी है । वह (नः) हमारे
पास (वाजैः) अर्धों बलों ज्ञानों और कर्मों और ऐश्वर्यों द्वारा (उप आगमत्)
हमें प्राप्त हो ।

[६४६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} इममिन्द्र सुत पिव ज्यष्टममर्त्यं मदम् ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋनस्य सादने ॥ १ ॥

[६४७] ^{१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नकिष्ट्वद्रथीनरा हरी यादन्द्र यच्छस ।

^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नकिष्ट्वानु मज्मना नकि. स्वश्व आनशे ॥ २ ॥

[६४८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राय नूनमर्चनोक्त्यानि च ब्रवीतन ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सुता अमत्सुरिन्दवा ज्यष्ट नमस्यता ब्रह्मः ॥ ३ ॥ २१ ॥

अ० १ । म० ४ । ४. ६. ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचिकल स० [३४४] पृ० १७८ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यम्) क्योंकि तू सत्तार को चलाने दारे
बलवान् अर्धों के समान (हरी) ज्ञान और शक्तिरूप बलों को (यच्छस) नियम
में रखता है अतः (त्वत्) तुझ से (रथीतरः) बड़ा रथका स्वामी या अधिक
आनन्दरस और बलवाला (नकि) कोई दूसरा नहीं है । (मज्मना) बल
के कारण भी (त्वा अनु) तेरे सुकायके पर (नकि) कोई नहीं है ।
और (सु-अश्वः) उत्तम व्यापन शक्ति से सम्पन्न या वेगवान् कोई पदार्थ
भी (नकिः आनशे) इस संसार में तुझसे बढ़कर और कोई व्या-
पक नहीं है ।

(३) हे मनुष्यो ! उस (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील परमेश्वर की (अर्चत) उपासना करो और (उक्त्यानि च) सूक्तों वेदमन्त्रों का (प्रवातन) उच्चारण करो । जिस के आश्रय में (सुता०) ये समस्त ससार के उत्पन्न (इन्द्रव०) कान्तिमान, दिव्यगुण सम्पन्न पदार्थ और साधकगण (अमत्सुः) आनन्दलाभ कर रहे हैं । उस (सहः) सर्व शक्तिमान् (ज्येष्ठं) सबसे बड़े और अधिक प्रशसनीय परमात्मा को (नमस्यत) नमस्कार करो ।

१ २ ३ १ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २
[६५२] इन्द्र जुषस्व प्रवहायाहि शूर हरिह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ २३ २ १ २
पिवा सुतस्य मनेन मध्राश्चकानश्चारुमदाय ॥१॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ २
[६५३] इन्द्र जठर नम्य न पूणस्व मधोर्दिचो न ।

३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य मुनस्य मनाऽरेऽनोप त्वा मदा सुवाचो अस्थुः॥२॥
१ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २ ३ २३ ३ २

[६५४] इन्द्रन्तुरापागिमत्रो न जघान वृत्र यनिर्न ।

३ १ २ २३ ३ १ २ ३ २३ ३ २ ३ १ ७
त्रिमद वल भृगुर्न ससाहे शत्रून्मद सोमस्य ॥३॥२२॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (जुषस्व) इस आनन्दरस का सेवन कर । (आयाहि) आ प्रकट होओ । हे (शूर) यत्नवान् शक्तिशालिन् ! हे (हरिह) इन्द्रियरूप घोटों का ताड़न करने हार ! (सुतस्य) इस उत्पन्न आनन्दरस को (पिवा) पान कर (मने न) मनन करने हारे ज्ञानवान् के समान (चारु) अत्यन्त मनोहर होकर (मदाय)

६५७—‘चतुस्त्रिंशश्चराणि मनुना भवन्ति इत्यन०, ‘प्रवह’ ‘हरिह’ ‘मतिन’ इति नवोपमर्गाक्षराणि प्रथमस्यानुचि, द्वितीयाया ‘नम्य न’ ‘दिचो न’ ‘मने’ इति नवोपमर्गाक्षराणि, तृतीयाया ‘नित्रो न’, ‘यनिर्न’ ‘शत्रून्’ इति नवोपमर्गाक्षराणि भवन्ति ॥

हमें आनन्द प्राप्त करने के लिये (मधो.) मधुर ब्रह्मरस की (चकान.) कामना कर सदा उसकी अभिलाषी बना रह उसी को सदा चाह ।

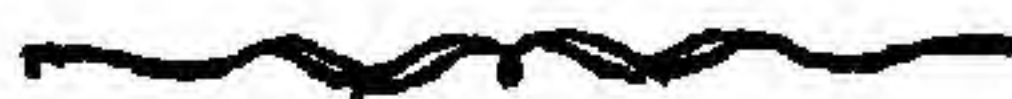
(२) हे आत्मन् ! जिस प्रकार (दिव. न) ज्योति से यह आकाश पूर्ण है उसी प्रकार (मधो) ब्रह्म-आत्मरस से (जठरं) अपने मध्य भीतरी भाग को (नव्यम् इव) सदा तरो ताजा के समान (अस्य सुत-स्य) इस सोमरस के (स्व न) अत्यन्त सुखकारक स्वरूपों के समान (मदा) हर्षतरंग रूप (वाच) सुन्दर वाणीया (त्वा) तुझको (सु-स्थुः) प्राप्त हों ।

(३) (इन्द्र.) वह ऐश्वर्यशील आत्मा (मित्रः न) सूर्य के समान (तुरापाद्) हिंसकों का नाशक (यति न) यम नियम के साधक ज्ञानी के समान (वृत्रे) आवरक काम, क्रोधादि शत्रुओं को (जघान) नाश करे (भृगु. न) पापों को भून डालने वाले योगी या आचार्य या अग्नि के समान (बलं) शत्रु की सेना को (बिभेद) भेद डालता है (सोमस्य) उसी सोम के (मदे) हर्ष में (शत्रून्) कामादि अन्त शत्रुओं को (स-स्राह) पराजित करता है ।

इति सप्तमः खण्डः ।

इति तृतीय प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

इति पञ्चमोऽध्यायः



अथ षष्ठोऽध्यायः ।

(द्वितीयांऽर्धः)

अपि —अथ ऋषिगणाः । २ काश्यप. ३, ४, १३ असित काश्यपो देवलो
वा । ५ अश्वत्थारः । ६, १६ जमदग्नि. । ७ अरुणो वैतहव्यः । ८ उरुचक्रित्रात्रेयः
९ कुहसुतिः काण्व । १० भरद्वाजो बार्हस्पत्य. । ११ भृगुर्वाणिर्जमदग्निर्वा
१२ मनुराप्मः सप्तर्षी गोवा । १४, १६, २ । गोतमो राहूगण. । १७ ऊर्ध्वसमा
कृतयशाश्च क्रमेण । १८ त्रित आत्थ. । १९ रेमसू काश्यपौ । २० मनुर्वामिष्ठ
२१ वसुश्रुत आत्रेय. । २२ नृमेषः ॥ देवता—१—६, ११—१३, १६—२०,
पवमान. सोम. । ७, २१ अग्निः । मित्रावरुणौ । ६, १४, १५, २२, २३
इन्द्र. । १० इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—१, ७ जगती । २—६ म—११, १३, १६
गायत्री । २ । १२ बृहती । १४ १५, २१ पङ्क्तिः । १७ ककुप सप्तर्षी
च क्रमेण । १८, २२ उष्णिक् । १९, २३ अनुष्टुप् । २० त्रिष्टुप् ॥ स्वर
१, ७ निषाद. । २—६, ८—११, १३, १६ षड्ज. । १२ मध्यम. । १४,
१५, २१ पञ्चम । १७ अयम. मध्यमश्च क्रमेण । १८, २२ ऋषभ । १९
२३ गान्धार । २० धैवत. ॥

[६५५] ^{३ १ २} गावत्पवस्व ^{३ १ २} वसुविद्धिरण्यविद्रताधा ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्रो भुवनव्यर्पितः ।
^{२ ३ १ २} त्वं सुवीरो ^{३ १ २} असि ^{३ १ २ ३ १ २} साम विश्वाभेत् ^{३ १ २ ३ १ २} तं त्वा नर उप गिरम
^{२ २} आसने ॥१॥

[६५६] ^{२ ३ १ २} त्वं नृचक्षा ^{३ १ २ ३ १ २} असि ^{३ १ २} सोम ^{३ १ २ ३ १ २} विश्वतः ^{३ १ २} पवमान ^{३ १ २} वृषभ ता
^{२ २} विधावामि । ^{१ २} सन. ^{३ १ २ ३ १ २} पवस्व ^{३ १ २ ३ १ २} वसुमद्धिरण्यवद्वय ^{३ १ २ ३ १ २} स्याम ^{३ १ २} भुवन-
^{३ १ २} पु जीवसे ॥२॥

७५६—१. 'त त्वा विप्रा', इति ऋ० ।

३ २ ३ १२ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [६२७] इशान इमा भुवनानि ईयसे युजान इन्द्रो हारित. सुपर्य्य.
 १ २ ३ १ २ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २
 नारुने क्षरन्तु मधुमद् घृतम् पयस्तव वने सोम निष्ठन्तु
 ३ १ २

कृष्टयः ॥३॥१॥ अ० ८६ । ३६, ३८, ३७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन् ! आप (गो-
 वित्) वेदवाणियों, ज्ञानरश्मियों और इन्द्रियों को प्राप्त कराने हारे, एव
 समस्त गतिमान् पदार्थों में व्यापक हैं । आप (वसुवित्) सब धनो के
 दाता, समस्त जीवों को प्राप्त और समस्त वास देने हारे लोकों में व्यापक
 हैं, आप (हिरण्यविद्) समस्त धनों को प्राप्त करने हारे आर समस्त
 तेजोमय पिण्डों में भी व्यापक हैं । हे (इन्द्रो) इस समस्त संसार में
 व्यापक ! हे ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप (भुवनेषु) समस्त लोकों में
 (रेतोधा) जीवों और नाना प्रकार के सगों को उत्पन्न करने के
 सामर्थ्य को स्वयं धारण करके (अर्पितः) सब में व्याप्त हो, (त्वं) आप
 (विश्ववित्) सर्वज्ञ और (सुवीर) उत्तम शक्तिमान् (अस्मि) हैं ।
 (तं त्वा) उन आपको (इमे नरः) ये समस्त मनुष्य (गिरा) अपनी
 बाणी द्वारा (उप आसते) उपासना करते हैं । आप (पवस्व) हमारे
 हृदयों में प्रकट होइये ।

(२) हे (सोम) सबके प्रेरक ! आप (विश्वतः) सब प्रकार से और
 सर्वत्र (नृचक्षा.) सब मनुष्यों को देखने हारे हैं । हे (पवमान)
 समस्त हृदयों में प्रकट होने हारे ! हे (वृषभ) समस्त सुखों के वर्पक !
 आप ही (ताः) इन प्रजाओं में (वि धावसि) नाना प्रकार से व्यापक
 हो रहे हैं । (सः) वह आप (वसुमद्) वास योग्य प्राणों से युक्त (हि-

७५७—३ 'हिन्यानो' 'अक्रान्देवो' इति अ० ।

३ 'नीयसे' इति अ० ।

रण्यवत्) हिरण्य आदि सम्पत्तियों वाले, या आत्मा से युक्त ऐश्वर्य को (न पवस्व) हमें प्रदान करें । (वय) हम (भुवनेषु) लोकों में (जीवसे) दीर्घ जीवन प्राप्त करने के (स्याम) समर्थ हों ।

(३) हे (ईशान) समस्त ससार के स्वामिन् ! हे (इन्द्रो) ऐश्वर्य से सम्पन्न ! आप (हरितः) हरण करने हारी वेगवान् (सुपर्णः) और सुन्दर, शोभन, कल्याणकारी मार्ग में गमन करने हारी सात्विक, राजस तामस, देव, मानव, तिर्यङ्, द्यौ, अन्तरिक्ष और भूलोक इन सब में उत्पन्न होने हारी तर्जनी प्रकार की प्रजाओं को (युजान्) सन्मार्ग में नियुक्त करते हुए (इमाः) इन समस्त (भुवनानि) लोकों को (ईयसे) शासन करते हैं । (ताः) वे सब प्रजाएँ (ते) आपके लिये (मधुमत्) ज्ञान से भरे, मधुर, भक्तिरसपूर्ण (घृत) स्नेह और कान्ति से युक्त (पयः) आनन्दरस को (चरन्तु) प्रवाहित करें । (कृष्टयः) अमशील मनुष्य प्रजाएँ हे (सोम) परमेश्वर ! (तव व्रते) आपकी आज्ञा में, व्यवस्था में (तिष्ठन्तु) रहें ।

[६५८] पवमानस्य विश्ववित्प्र ते सर्गा असृक्षत ।

सूर्यस्येव न रश्मयः ॥ १ ॥

[६५९] केतुं कृण्वन्दिवस्पारे विश्वा रूपाभ्यर्षसि ।

समुद्रः सोम पिब्वसे ॥ २ ॥

[६६०] जज्ञाना वाचामप्यासि पवमान विधर्मणि ।

क्रन्दन्दवो न सूर्यः ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ९ । ६४ । ७, ६ ॥

भा०—(१) हे (विश्ववित्) सर्वज्ञ (सूर्यस्य इव) सूर्य के समान (पवमानस्य) सर्वव्यापक, (ते) तेरे (सर्गा) घनाये समस्त जगत्, सूर्य

६५८—३. 'दित्वानो' 'अक्रान्दवो' इति अ० ।

से उत्पन्न (रश्मयः न) किरणों के समान (असृजत) उत्पन्न होकर गति कर रहे हैं ।

(२) हे (सोम) सब जगत् के उत्पादक ! (समुदः) समस्त लोकों को अपने भीतर से धारण करने और प्रकट करने हारे आप समुद्र के समान हैं, अनन्त हैं (दिवः परि) आकाश में (केतुं) अपनी महिमा को बतलाने वाले अथवा सब पदार्थों के ज्ञान कराने वाले सूर्य को (कृण्वन्) रचकर (विश्वा रूपा) समस्त कान्तिमान और रूपवान् पदार्थों को (अभि अर्पयि) प्रकट करते, स्वयं व्यापते और (पिन्वसे) सब को पूर्ण कर रहे हो ।

(३) (सूर्यः न) सूर्य के समान (देवः) सर्वत्र प्रकाशक, (जज्ञानः) आप स्वयं हृदयदेश में प्रकट होकर (विधर्मणि) विशुद्ध आत्मा में (पवमान) स्वयं प्रदीप्त होकर, या ज्ञानधारा के रूपमें चरित होकर गर्जते मेघ के समान (क्रन्दन्) उपदेश करते हुए आप (वाचं) वेदवाणी को (हृष्यसि) श्रुतियों के हृदयों में प्रेरित करते हो ।

[६६१] प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्द्रवः ।

श्रीणाना अप्सु वृञ्जते ॥ १ ॥

[६६२] अभि गात्रा अधन्विपुरापो न प्रवता यतीः ।

पुनाना इन्द्रमाशत ॥ २ ॥

[६६३] प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय मादनः ।

नृमियतो विनीयसे ॥ ३ ॥

[६६४] इन्द्रो यद्वटिभिः सुतः पवित्रं परिदीयसे ।

अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥ ४ ॥

६६१ — १ 'मृजते', ६६३ 'सोमेन्द्राय पातने' ६६४ 'पवित्रं परिधावसि' इति श्रु० ।

[६६५] त्वं^१ सोम^२ नृमादन^{३ १ २ ३ १ २} पवस्व^{३ १ २} चर्षणीघृतिः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} सन्निर्यो अनुमाद्यः ॥ ५ ॥

[६६६] पवस्व^{१ २} घृत्रहन्तम^{३ १ २ ३ १ २} उक्थोभिरनुमाद्यः ।

^{१ २ ३ १ २ २ २} शुचिः पावको अद्भुतः ॥ ६ ॥

[६६७] शुचिः^{१ २} पावक^{३ १ २ ३ १ २} उच्यते सोम^{३ १ २} सुतः^{३ १ २} स मधुमान् ।

^{३ १ २ ३ २} देवावीरघशंसहा ॥ ७ ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । २४ । १-७ ॥

भा०—(१) (पवमानासः) अमण करते हुए, (इन्द्रवः) ज्ञान-सम्पन्न, (सोमासः) बहते जलों के समान सौम्य गुणों से युक्त, शमदमादि के साधक, शान्त स्वभाव, मुक्तजन (श्रीणानां) अपने अनुभव और ज्ञान में परिपक्व या तपस्वी होकर (आसु) प्रजाओं या लोकों में (वृजते) अमण करते हैं ।

(२) (गाव) गमनशील, ज्ञानी, विद्वानजन, (प्रवता) प्रकृत उत्तम मार्ग में (यतीः) गमन करते हुए (आप. न) जल प्रवाहों के समान (अभि अधन्विषु) बराबर आगे बढ़ते जाते हैं । और वे (पुनानाः) सब विघ्नों को पार करते हुए और अपने आत्मा को नित्य पवित्र करते हुए (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील उस सबके प्रभु को (आशत) प्राप्त होजाते और आत्मानन्द का लाभ करते हैं ।

(३) हे (पत्रमान) गतिशील ! हे (सोम) विद्वन् शिष्य ! तू (इन्द्राय) आचार्यरूप इन्द्र के लिये (मादन) अति प्रसन्नता का कारण होता हुआ (प्र धन्वसि) उत्तम दशा को, उत्तम ज्ञान को प्राप्त हो और (नृभिः) सन्मार्ग के नेता गुरुओं द्वारा (यत-) नियमों में व्यवस्थित होकर (वि नीयमे) विनयपूर्वक शिक्षित किया जावे ।

(४) हे (इन्द्रो) उपासक शिष्य ! व ब्रह्मचारिन् ! (अविभिः) पर्वत के समान स्थिर प्रज्ञा वाले विद्वानों से (सुतः) प्रेरित एवं शिक्षित होकर (पवित्र) पावन करने वाले ज्ञानस्वरूप प्रभु के प्रति तू (परिदीयसे) समर्पित किया जा रहा है । अर्थात् ज्ञान और सदाचार के मार्ग में आगे बढ़ रहा है । (इन्द्रस्य) ज्ञानवान् आचार्य के (धाम्ने) पद, स्थान के लिये (अरं) तू पर्याप्त रूप से योग्य होजा ।

(५) हे (सोम) शिष्य ! ब्रह्मचारिन् (त्वं) तू (नृमादनः) सब नेता गुरुओं के हर्ष को उत्पन्न करने और (चर्पणीयतिः) निरीक्षक लोगों की दृष्टि में उत्तम आचार को धारण करने वाला होकर (सन्निः) ज्ञान करके, स्नातक होकर (य) जो आप पुनः (अनुमाद्य-) सब के हर्ष का कारण बनकर (पवस्य) ज्ञान का प्रदान कर ।

(६) हे (वृत्रहन्तम) विघ्नों और काम, क्रोध आदि आभ्यन्तर, तामस आवरणों को नाश करने में सबसे उत्तम ! तू (उक्थेभिः) उत्तम वचनों द्वारा (अनुमाद्य) आदर करने योग्य (शुचिः) शुद्ध, कान्तिमान्, (अद्भुतः) आश्चर्यजनक, (पावकः) समस्त प्रजा को पवित्र, निष्पाप बनानेहारा होकर (पवस्व) सर्वत्र अमण्य कर और ज्ञान प्रदान कर ।

(७) (सः) वह ब्रह्मचारी (मधुमान्) ज्ञानवान्, ब्रह्मवेत्ता, (शुचिः) मन, वाणी और कार्य में पवित्र, (पावकः) औरों को पवित्र करनेहारा, पंक्तिपावन (सोमः) सोम (उच्यते) कहाता है जो (देवावीः) विद्वानों का और दिव्यगुणों का रक्षण करने हारा और (अधशंसहा) पाप की वात्सल्य बतलाने वालों के पाप्मण्ड को नाश करने वाला होता है ।

इति प्रथमः खण्डः ॥

[६६] प्र कावर्देववर्तितयेऽव्या वारोभिरव्यक्तः ।

३ १ २२ ३ १२ २२
साद्धान्विश्वा अभिस्पृधः ॥ १ ॥

[६६६] स हि ष्मा जरितृभ्य आवाज गोमन्तमिन्वति ।

पवमानः सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[६७०] परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती ।

स न सोम श्रवो विदः ॥ ३ ॥

[६७१] अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यां ध्रुव रथिम् ।

इष स्तोतृभ्य आभर ॥ ४ ॥

[६७२] त्व राजन् सुव्रतो गिरः सामा विवैशिथ ।

पुनानो वह्ने अन्धुन ॥ ५ ॥

[६७३] स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्तयोः ।

सोमश्चमूपु सीढति ॥ ६ ॥

[६७४] क्रीलुर्मखा न मंहयु पावन्न सोम गच्छसि ।

दधत्स्तोत्रे सुवीयम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । २० । १-७ ॥

भा०—(१) महाचारी (कवि.) क्रान्तदर्शी, विद्वान् वाग्मी, मे-
घावी (दंघवीतये) ज्ञान से प्रकाशमान विद्वानों को प्राप्त होने के
लिये (अन्या वारेभिः) भेड़ के बालों से बने कन्धलों द्वारा (अक्षयत)
अपने को ढांपता है और (विश्वा) समस्त (अभिरुपधः) प्रतिस्पर्धी
शत्रुओं के समान आगे आने वाली बाधाओं को (साहान्) पराजित
करता है । अथवा (अन्या.) रक्षा करने वाली विद्या के (वारेभिः) शय-
रणों, घटों, साधनों से (अक्षयत) अपने को युक्त करता है ।

(२) (स हि) और वही (पवमानः) सर्वत्र गमन जाता हुआ
(जरितृभ्यः) विद्या का उपदेष्टा करने वाले आचार्यों के लिये (सहस्रिणम्)

६६६—देवमीतये ह्य्या 'वादेभिरुपति' ९६९—'मृज्यसे पवसे' इति ऋ० ।

सहस्रों सुखों के देनेहारे (गोमन्तं) गवादि पशु से सम्पन्न धन को (इन्वति) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् ! तू (चेतसा) अपने ज्ञान से (वि-
श्रानि) सबको (परिमृज्यसे) परिशोधित करता है, विवेक करता है ।
और (मती) मनन करने वाली शक्ति से (पवसे) तत्त्व तक पहुँचता है ।
(स.) वही तू (नः) हमें (श्रवः) वेदज्ञान को (विद.) प्राप्त करा ।

(४) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! (बृहद्.) बड़े (यश)
यश को तू (अभि-अर्प) प्राप्त हो और (मघवद्भ्य.) बड़े धनाढ्य पुरुषों
से तू (ध्रुवं) स्थिर (रयिं) धन को भी प्राप्त कर । और (स्तोतृभ्यः)
सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये (इपं) उनकी इच्छा-
नुकूल अन्न, धन (आ हर) लेजा ।

(५) हे (सोम) हे स्नातक ! हे (बह्वे) ज्ञान को धारण करने वाले !
हे (अद्भुत) हे अभूतपूर्व विद्वन् ! तू (सुव्रतः) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदा-
चारी (पुनानः) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ (राजा इव) स्तुति
पात्र राजा के समान (गिर.) वेदवाणियों के (आ विचोरीथ) मर्म में
प्रवेश कर अथवा स्तुतियों को प्राप्त कर ।

(६) (सः) वही (बह्विः) ज्ञान का नेता (सोम.) ब्रह्मचारी,
शान्त, तपस्वी (अप्सु.) प्रजाओं के भीतर (दुस्तरः) दुर्गम, अजेय
(गभस्त्योः) ज्ञान और कर्म द्वारा (मृण्यमानः) शुद्ध पवित्र होकर
(चमूषु) सत्पात्रों में, प्रजा के हृदयों में (सीदति.) स्थिति पाता है ।

(७) हे सोम ! (ऋद्भु) ऋद्धि करने वाला, किशोर-दशा में वर्त-
मान, सुप्रसन्न तू (मख. न) यज्ञ के समान (मंहयुः) पूजनीय
(पवित्रं) पवित्र व्रत में (गच्छसि) आचरण करता है और (स्तोत्रे.)
सत्य गुण के प्रकाशक गुरु के अधीन (सुवीर्य) उत्तम ज्ञान को और बल
को (दधत्) धारण करता है ।

[६७५] यवं यवं नो अन्धसा पुष्टं पुष्टं परिस्रव ।

विश्वा च सोम सौमगा ॥ १ ॥

[६७६] इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः ।

नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥ २ ॥

[६७७] उत नो गोविदश्ववित्पवस्व सोममन्धसा ।

मक्षू तमोभिरहभिः ॥ ३ ॥

[६७८] यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रून्भीत्य ।

स पवस्व सहस्रजित् ॥ ४ ॥ ५ ॥ अ० ५ । ५५ । १-४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबको उत्पन्न करने हारे प्राणों के प्रेरक परमात्मन् ! अन्नपते ! (न) हमें (अन्धसा) प्राण धारण करने हारे सोमार्थ से (पुष्टं पुष्टं) खूब पुष्ट हुए (यवं यवं) यव तथा यव के समान अन्य धान्य भी (परि स्रव) प्रदान कर । (विश्वा च) और समस्त (सौमगा) सौभाग्य देनेहारे पदार्थ भी प्रदान कर ।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवान् ! (अन्धस) जीवन धारण करने हारे, प्राणों के प्राण, अथवा अन्धकार के नाशक तेरी (यथा स्तवः) जिस प्रकार सत्यगुण प्रकाशक स्तुति है और (यथा) जिस प्रकार तेरी प्रमिद्धि है, ठीक उसी प्रकार सम्पन्न होकर (प्रिये) सबको प्रिय लगने वाले धार, उत्तम (बर्हिषि) सूर्य में तेज के समान, बंद में आत्मा के समान विश्व में, या उत्तम आसन पर (नि सदः) विराजमान हो ।

(३) हे (सोम) ऐश्वर्यवान् ! (उत) और (गोवित्) जामेन्द्रियों के वश करने हारे और (अश्ववित्) प्राणेन्द्रियों के वश करने हारे आप (अन्धसा) प्राण के धारक आप (मक्षू तमोभिः) शीघ्र ही गुजर जाने वाले (अहोभिः) इन घोंघे से दिनों में ही (नः) हमें (पवस्व) प्राप्त हो ।

(४) (यः) जो (जिनाति) स्वयं जीत लेता है और (न जीयते) दूसरों से नहीं जीता जाता और (अभि-हृत्य) सन्मुख आकर (शत्रुम्) शत्रु को (हन्ति) नाश करता है (सः) वह (सहस्रजित्) हजारों को जीतने वाला, बलस्वरूप तू (पवस्व) हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो ।

[६७६] यास्तं धारा मधुरच्युनोऽसृग्रमिन्द ऊतये ।

ताभिः पवित्रमासद ॥ १ ॥

[६८०] सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरा धारायव्यया ।

सीदन्नस्य यानिमा ॥ २ ॥

[६८१] त्वं सोम परिरुव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः ।

वरिवोविद् घृतं पयः ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ६। ६२। ७-६ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवन् ! (ते) तेरी (मधुरच्युत) मधुर रस को बहाने वाली, ज्ञान देने हारी, आनन्दप्रद (धारा) धारण करने वाली शक्तियां (याः) जो (ऊतये) रचा करने के लिये हैं (ताभिः) उन से (पवित्रं) पवित्र करने हारे वायु या सूर्य, प्राण में सूक्ष्म रूप से (आसदः) विराजमान हो ।

(२) (सः) वह तू (इन्द्राय) इस अन्तरात्मा के (पीतये) पान के लिये, तृप्ति के लिये, (अव्यया) अवि अर्थात् चित्-प्रकृति के (धारा) आवरण करनेहारे आवरणों को (तिरः) दूर (अर्पे) कर और (अतस्य) प्रकाशस्वरूप सत्य के (योनिम्) आश्रय स्थान ब्रह्म को (सीदन्) प्राप्त होकर (आ) प्रकट हो ।

६८०—'तिरो रोमाण्यव्यया सदिन्योता वनेषा' इति श्रु० ।

६८१—'त्वमिदौ परी' इति श्रु० ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (त्व) तू (चंगिरोम्यः) ज्ञानी आत्माओं के लिये (वरिषोषिद्) वरणा करने योग्य सुखों, आत्मानन्दों को प्राप्त कराने हारा और (स्वादिष्ट) अत्यन्त अधिक रस का देने वाला होकर (घृतम्) अति प्रकाशमय (पयः) अमृत रस को (परिष्व) प्रदान कर ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

२ ३ ५ २ ३ ४ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८२] तव श्रिया वर्णस्येव विद्युतोऽन्नाश्वकिञ्च उपसामिधेनयः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यदापधीरभिसृष्टा घनानि च परि स्वयं चिनुपे अन्नमासनि ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८३] वातोपजूत इपितो वशाँ अनु तृषु यदद्या घंषिषि-
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्याऽश्यथा पृथक् शर्द्धास्यगे
३ १ २ ३ १ २
अजस्य धक्षतः ॥२॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८४] मेधाकारं विदधस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूत-
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मतिम् । त्वामर्भस्य हविषः समानमिर्त्वा मदी घृणुने
२
नान्यं त्वत् ॥३॥ ७॥ श्र० १० । ६१ । २, ७, ८ ॥

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (अग्नेः) ज्ञान प्रकाशक (तव) तेरी (श्रि-
यः) विभूतिया (वर्णस्य) मेघ की (विद्युतः इव) विद्युतों के समान
(उपसा) प्रभात कालों में निकलती हुई (इतयः) किरणों के समान

६८२—'श्रियादिचकिञ्च', 'उपसा न वतव' 'अन्नमासदे' इति ६० ।

६८३—'वामोपजु' 'अजस्य धक्षत' इति ६० ।

६८४—'परिभूत' 'तमिर्भस्य' 'समानमिर्त्वा' इति ६० ।

(चिकित्से) सर्वत्र जानी जाती हैं । (यत्) जब कि (ओपधी०) ओप-
धियों और (वनानि च) वृक्षादि वनस्पतियों में भी (अभिसृष्ट०)
लग कर उनमें भी व्याप्त होकर, (आसनि) मुख में (अन्नम्) अन्न के
समान समस्त पदार्थों को (स्वयं) अपने भीतर लेलेता है ।

ओपधि अन्नादि और वनस्पतियों को जिस प्रकार अग्नि अपने भीतर
जलाकर मानों प्राप्त कर जाता है उसी प्रकार परमेश्वर सब पदार्थों को
अपने भीतर लीन करता है इसी प्रकार विद्वान भी समस्त ओपधि वृक्षादि
को अन्न के समान जानकर उनका स्वरूप से विवेक करे ।

(२) (वातोपजूनः) गन्धन आदि गुणों के ज्ञान से सम्पन्न (हवितः)
स्वयं इच्छा पूर्वक (तृप्) शीघ्र ही (वशां) कमनीय उत्तम गुण से
युक्त वनस्पतियों कां, (अन्ना) और अन्नों को (वेविषद्) प्राप्त कर के
(वितिष्ठसे) नाना प्रकार से प्रकाशित करता है । हे (अग्ने) प्रकाश-
स्वरूप ! विद्वन् (अजरस्य) कभी वृद्ध न होने वाले, (धत्त०) अग्नि के
समान अज्ञान को भस्म करने हारे, (रथ्य०) रथपर चढ़े महारथी शूरवीर
के छोड़े शस्त्र जिस प्रकार (पृथक्) पृथक् २ लक्ष्यों पर जाते हैं उसी
प्रकार (ते) तेरे (शर्धांसि) चल प्रयोग और ज्ञानरूप तेज भी
(पृथक्) पृथक् २ नाना कार्यों में (आयतन्ते) लग रहे हैं, सफल
हो रहे हैं ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् (मेधाकारं) ज्ञान और धारणावती बुद्धि के
उत्पादक (विदथस्य प्रसाधनम्) ज्ञान की परम उत्कृष्ट साधना के करने वाले
(अग्नि) सबके आगे होकर चलने वाले दीपक के समान सर्व प्रकाशक,
(होतार) सबको अपने शरण में लेने और सब सुखों के देने वाले,
(पारिभूतरम्) सब और अपने सामर्थ्य या सत्ता को प्रकट करने हारे,
(मति) मननशील (त्वाम्) मुझको ही (अर्भस्य) छोटे और (मह०)
बड़े, थोड़े और बहुत (हविष०) ज्ञान के लिये भी (समानम्—

[Faint handwritten text at the bottom of the page]

मित्र और धरुण से प्राण और अपान, सभापति और सेनापति, राजा और मन्त्री समझने चाहिये ।

[६८८] ^{३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २} उत्तिष्ठजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः ।

^{१ २ ३ २ ३ २} सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥१॥

[६८९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्धमान मदेताम् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्र यदस्युद्भावः ॥२॥

[६९०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वाचमष्टापदीमह नवसक्तिमृतावृधम् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्रात्परि तन्व मम ॥३॥ ६॥ अ० ८। ७६। १०-१२ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (चमूसुतम्) सेना दलों में अभिवेक को प्राप्त पदाधिकारी के राजा या सेनापति के समान इन्द्रियों, प्राण और अपान रूप धमसों में उत्पन्न हुए (सोम) सबके प्रेरक आत्मा के बल वीर्य और प्राण को (पीत्वा) पान करके (ओजसा) बल और कान्ति सहित (उत्तिष्ठन्) उठते हुए आप (शिप्रे) अपने हनुस्वरूप ज्ञान और कर्म की शक्तियों को (अवेपयः) गति देते हो । परमात्म पक्ष में हनु आवापृथिवी ।

(२) (यद्) जब तू (दस्युडा) विनाशक पदार्थों और बाधक विघ्नों का शत्रुओं के समान नाश (अभव) करता है । हे (स्पर्धमान) सब से आगे बढ़ने हारे (इन्द्र) इन्द्रियों के स्वामिन् ! आत्मन् ! (त्वा अनु) तेरे पीछे २ तेरी शक्ति से (उभे रोदसी) दोनों प्राण और अपान या शरीर के ऊपर और नीचे के दोनों भाग (मदेताम्) आनन्द अनुभव करते हैं ।

(३) मैं (अष्टापदी) आठ चरण वाली (नवसक्ति) नौ प्रकार की रचनावाली (मृतावृधम्) यज्ञ और सत्य की वृद्धि करने वाली (तन्व)

विस्तृत (वाचं) वाणी का (इन्द्रान्) इन्द्रस्वरूप अपने आचार्य या उस परमगुरु परमेश्वर से (परि ममे) ज्ञान प्राप्त करता हूँ ।

अष्टापदी चार वेद और चार उपवेद ये वाणी के आठपद अर्थात् विद्या के आश्रय स्थान हैं । नवत्तक — नव सक्तय. रचना यस्या. । १ शिक्षा, २ कल्प, ३, व्याकरण, ४ निघण्टु, ५ निरुक्त, ६, छन्दः, ७ ज्योतिष, ८ धर्मशास्त्र, और ९ मीमांसा । ये नौ प्रकार की रचनाएँ वेदों के आश्रय स्पष्ट करने के लिये हैं ।

[६६१] इन्द्राग्नी युवामिमेऽशभि स्तोमा अनूपत ।

पिबतं शम्भुवा सुतम् ॥१॥

[६६२] या वां सन्ति पुरुस्पृहा नियुतो दाशुपे नरा ।

इन्द्राग्नी ताभिरागनम् ॥२॥

[६६३] ताभिरा गच्छतं नरोपेद सवनं सुतम् ।

इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥३॥ १०॥ अ० ६ । ६३ ७-६ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) विष्णु और सूर्य के समान सभापति और सेनापति । (युवाम्) आप दोनों के (इमे) ये (सोमाः) प्रशंसा युक्त कार्य (अनूपत) वर्णन करते हैं । आप (शम्भुवा) सबके सुख और कल्याण का कार्य करने हारे (सुतम्) इस दुग्ध आदि रस एवं ओषधियों के रस और ज्ञान को (पिबतम्) पान करो । इन्द्राग्नी, से प्राण्य और अपान, गुरु शिष्य, सभापति और सेनापति सूर्य और विष्णु आदि का ग्रहण उचित है ।

(२) हे (नरा) सबके नेताओ । (दाशुपे) सबको शान्ति सुख देने हारे नरपति के निमित्त (वां) आपकी (या) जो (पुरुस्पृहा) सबको प्रिय लगाने वाली (नियुतः) अनेक निश्चित मतियें (सन्ति) हैं, हे

(इन्द्राग्नी) सूर्य विष्णु के समान ज्ञानोपदेश करने हारे अभ्यापक और उपदेशक महोदयो ! आप (ताभिः) उनके सहित (आगतम्) प्रजाओं में आओ ।

(३) हे (नरैः) दोनों नेताओ ! (ताभिः) आप पूर्वोक्त विवेचक शक्तियों के साथ ही (इन्द्र) इस (सुतं) उत्पादित (स्वनं) यज्ञ में (सोम-पीतये) उत्तम आनन्दप्रद, सोमरस, या धर्मपथ प्राप्त कराने के लिये (उप आ गच्छतं) आइये ।

इति तृतीयः खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[६६४] अर्षा सोम द्युमत्तमोभिद्रोणानि रारुवत् ।
२ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन्यानां वनष्वा ॥१॥

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६५] अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमा अर्पन्तु विष्णवे ॥२॥

१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६६] इपं ताकाय नो दधदसभ्यं सोम विश्वतः ।

१ २ ३ १ २
आपवस्व सहस्रिणम् ॥३॥११॥ अ० ६। ६४। १६-२१ ॥

भा०—व्याख्या देखो अविकल स० [५०३] पृ० २५६।

(१) (इन्द्राय) आत्मा के लिये, (वायवे) प्राण के निमित्त, (वरुणाय) अप्रान के लिये (मरुद्भ्यः) अन्य ज्ञानेन्द्रियों और प्राणेन्द्रियों के लिये और (विष्णवे) इस सर्व व्यापक प्रजापति परमात्मा के साक्षात् ज्ञान के लिये (अप्सा) नाजा ज्ञानों और कर्मों को व्याप्त करने हारे (सोमाः) आनन्दरस और विद्वान् जन (अर्पन्तु) प्राप्त हों ।

६६४—'सीदन् श्रेतो न योनिमा, ६६५—'सोमा अर्पति' इति अ० ।

[१०००] वृषा पुनान आयूपि स्तनयन्नधि वहिषि ।

हरिः सन् यानमासदः ॥२॥

[१००१] युव हि स्थः स्वपती इन्द्रश्च सोम गोपती ।

ईशाना पिप्यतं धियः ॥३॥१३॥ अ० १। १६। १, ३, २, ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (पुनानः) तू सर्वव्यापक परमेश्वर (न.) हमें (यत्) जो (चित्रं) संग्रह करने योग्य उत्तम अमृत (दिव्यं) दिव्यगुण सम्पन्न, (पार्थिवम्) इस पृथ्वी पर (वसु) धन है (तत्) वह (आभर) प्राप्त करा ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! तू (वृषा) सब सुखों का वर्षक (अधिबहिषि) यज्ञ में, इस देह में, अन्तरिक्ष में, (स्तनयन्) गर्जते मेघ के समान उप देशकरता हुआ (आयूपि) समस्त प्राणियों की आयुओं को (पुनानः) पुनः नया, शुद्ध पवित्र इराभरा करता हुआ (हरिः सन्) हुआ संहारी होकर (योनिम्) हृदयदेश में (आसदः) आ विराजमान हो । ईश्वर, पर्जन्य, प्रजापति, सोमरस और योगज ब्रह्मानन्दरस और राजा का समान रूप से वर्णन है । राजा के योनि अर्थात् आश्रय प्रजाएँ हैं ।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक तू और (इन्द्रः च) ऐश्वर्यवान् दोनों (गोपती) इन्द्रियों, प्रजाओं और राशियों के स्वामी (युव हि) आप दोनों (स्वपती स्थः) सब सुख और ज्ञान, ज्योतिर्मय पिण्डों और द्यौलोक के स्वामी हो । आप (ईशाना) सबके ईश्वर हमारे (धियः) बुद्धियों को (पिप्यतं) बढ़ाइये ।

सोम=परमात्मा इन्द्र=आत्मा अथवा इन्द्र=परमात्मा सोम आत्मा । आत्मा, और परमात्मा, जीव और मन, वायु और सूर्य, राजा और मन्त्री आदि का समान रूप से वर्णन है ।

इति चतुर्थः सूक्थः ।

- [१००२] इन्द्रा मदीय वासुदेव सुवर्गे वृत्रहा मभिः ।
 मायामदरुणाजदाममभि दयामने स वाजिपुत्र ना विपत् ॥
 [१००३] अग्निं हि योर्ध्वोऽप्येभि भूरि यमादतिः । यन्निदमस्य
 निजया यजमानाय निशमि सुवर्गेन भूद मे यम् ॥ २ ॥
 [१००४] यदुदीर्य आजयो वृषावे भौयसे यमम् । मुहुर्ग्या
 मन्त्रानुना हर्मा ॥ १ ॥ हनः क यमो द्यौःस्मो द्यौः यमो द्य
 ॥ ३ ॥ १४ ॥ ४० ॥ ८२ ॥ १-३ ॥

भा०—(१) इन्द्रा देविये अग्नि० [४११] पृ० २०६ ।

(२) हे योर्ध्व ! (योऽध्व. अग्नि) तू मेमा का हितकर है । और (भूरि) यदुन (यमादति) मनुष्यों को पराभव देने हारा है । और तू (दमस्य) स्वर्ग भौवे वासुदेव वासे निर्वृत्त को (भिन्) जी (वृष.) यमो हारा (यमि) है । तू (सुवर्गे) सुवर्ग के उदर करने हारे (यजमानाय) यज्ञ के कर्मा, या करणालाओं को (ते भूरि यम्) तू यममा यदुन यम (निशमि) देता है । जो 'हन' अर्थात् खाधी या मेमा के सहित होता है यह 'मेमा' कहलाता है । इन्द्रियमाण आत्मा नेमा के संग होने से सेमा कहलाती है । उनका हितकर, उनमें उत्तम आत्मा 'मेम्य' है । यह काम गोध आदि का पराभव करके स्वाप (दम) ददराजाग को भी विशास करता है और यजमान स्वरूप मुत्तव प्राण को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त भोग्य वस्तु देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देविये अग्नि० सं० [४१४] पृ० २११ ।

- [१००५] स्वादोरित्था विपूयनो मधोः पियन्ति गौर्ये । या इन्द्रेण
 सयावगवृण्णा मदन्ति शोभथा वस्वोरिनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥

१००५—'मदन्ति शोभते' इति श्रु० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २४
 [१००६] ता अस्य पृशनायुव सोमं श्राणन्ति पृश्नयः। प्रिया इन्द्रस्य
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१००७] ता अस्य नमसा सह सपर्यन्ति प्रचेतसः। व्रतान्यस्य
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 सश्विरे पुरुणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥३॥१५॥

अ० १। म० ४। १०-१२॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अधि० सं० [४०६] पृ० २०८।

(२) (ता) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृशनायुव) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुँचने की चेष्टा करने वाली (पृश्नयः) रस तक पहुँचने वाली, (प्रियाः) प्रिय (धेनवः) गौओं के समान इन्द्रिया (सोमं) ज्ञान को (श्राणन्ति) और भी परिष्कृत करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, भन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने वाले आत्मा की शक्तियाँ (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिष्कृत होने पर इन्द्रिया ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रिया अन्नवृत्ति छोड़कर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (तां) वे इन्द्रियरूप गौएँ (अस्य) इस आत्मा के (सह) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

[१६६८] ^{३ १ २ ३ २४ ३ १२ २२ ३ १२ २२} कुवित्सस्य प्र हि व्रजङ्गामन्तन्दस्युहा गमत् ।

^{१ २ ३ १ २} शचीभिरप नोवरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ४५ । २२-०४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपश्रवत्) सुन लेता है तब वह (वसुः) सब संसार को बसाने हारा और सर्वव्यापक (गोमत्) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और व्रज के (दानं) ब्रह्मदान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है ।

(३) (सः) वह (दस्युहा) उपश्रय करने हारे या क्षयशाली विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौओं के निवासस्थान (व्रज) बाड़ा रूप देह का, (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है । पान्तु (स्यः) वह ही उसको (शचीभिः) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—(कुवित्सस्य) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उनके गोमान् व्रज अर्थात् अन्तःकरण में प्राप्त होकर (शचीभिः) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (नः) हमारे कल्याण के लिये (अप अवरत्) दूर कर देता है । अथवा—'कुवित्स' बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुनः देह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१६६८—१. कुर्वित्तं विन्दते वेत्ति मनोति च तस्य, अथवा कुर्वित् दस्युहा, स्वादि-

दिनमि इति कुवित्सः इति सायणः ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

श्रुति प्रथमः खण्डः ।

—:०:—

[१६६६] इदं विष्णुर्विचक्रमे अथा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥

[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि परुषशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सुरयः ।

दिवीच चक्षुराततम् ॥ ४ ॥

[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।

विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥

[१६७४] अतो देवा अवन्तु ना यतो विष्णुर्विचक्रमे ।

पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ ५ ॥

अ० १ । २२ । १६-२१ १६, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप लिया । (अथा) तर्ज प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया । (अस्य) इसके (पांसुले) लोकों को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम शीति से स्थित है । व्याख्या भाषि० सं० [२२२] पृ०।

(२) (गोपाः) समस्त गतिशील लोकों का पालक (अदाभ्यः) नित्य अविनाशी (विष्णुः) वह व्यापक परमात्मा (अतः) निरन्तर गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों का (धारयन्) धारण करने द्वारा होकर (त्रीणि) तीन (पद्मा) शक्तियों से (विचक्रमे) समस्त विश्व को बना और चला रहा है ।

(३) (विष्णोः) उस सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्रय जनक कार्यों को (पश्यत) देखो (यत) जिन कर्मों को देखकर (व्रतानि) जीव समस्त ज्ञानों को (पस्पशे) प्राप्त करता है । वह ही परमात्मा (इन्द्रस्य) इस जीवात्मा का (युज्यः) सदा साथ रहने द्वारा (सुखा) समान ख्याति अर्थात्=नाम से युक्त आत्मा, उसका मित्र है ।

(४) (विष्णोः) सर्व व्यापक परमेश्वर के (परमं) परम उत्कृष्ट (पदं) धाम परमबल, या सोचज्ञान को आब्रवृष्टि से (सूर्याः) विद्वान् आदित्य के समान ज्ञानी पुरुष (सदा) निरन्तर (पश्यन्ति) देखते हैं । वह परम ज्ञान (दिवि) आकाश और पृथिवी में (चक्षुः इव) सर्व पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान (आततम्) सर्वत्र व्यापक है ।

(५) (विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर का जो (परम) उत्कृष्ट (पदं) ज्ञानमय स्वरूप है (तत्) उसको (विपन्युवः) विशेष रूप से सत्य का यथार्थ वर्णन करने वाले (विप्रासः) मेधावी विद्वान् (जागृ-चासः) निरन्तर ज्ञानदृष्टि से जागरण करने वाले, प्रमादराहित होकर (समिन्धते) प्रदीप्त करते हैं, उसको प्रकाशित करते हैं, उसको अपने हृदय—मंदिर में प्रज्वलित करते हैं, उसकी ज्योति जगाते हैं ।

(६) (यत्) जिस कारण से (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (विचक्रमे) सर्व ससार को रचता और चलाता है (अतः) उसी यत्न से

(देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, आकाश आदि भूत और सूर्य, चन्द्र आदि सब लोक, या विद्वान्गण (पृथिव्याः) इस लोक के (अधि सानवि) उच्च से उच्च भाग पर या उत्कृष्ट पद मोक्ष के विषय में भी (नः) हमें (प्रवन्तु) प्राप्त करावे ।

इन मन्त्रों पर भाष्यकारों का अद्भुत मतभेद है और वह सभी विचार योग्य है । हम संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

(१) सायण—(विष्णुः) त्रिविक्रमावतारधारी ने इस जगत् को उद्देश करके (विचक्रमे) विशेष रूप से क्रमण किया और तब (त्रेधा पदं निदधे=त्रिभिः प्रकारः स्वकीयं पदं निहितवान्) तीन प्रकारों से अपना पद रक्खा । (अस्य पासुले समूढं=विष्णोः धूलियुक्ते पादस्थाने इदं सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम्) उस विष्णु के धूली वाले पैर में यह सब जगत् भली प्रकार छिपा है ।

(२) उद्भव-यज्ञ में दक्षिण शकट के दायें चक्र के समीप सुवर्ण रख कर इस मन्त्र से होम करता है । ('इदं' 'जगत्' 'विष्णुर्विचक्रमे' विक्रान्तवान्, सर्वप्राणिनो हि भूनेन्द्रियमनोजीवकायेनाविशति इति विष्णुः किञ्च 'त्रेधा निदधे पदं' पद्यतं ज्ञायते अनेनेति पदं भूम्यन्तरिक्षगुलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदं । किञ्च "समूढमस्य पासुरे" अस्य विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरमित्येवंलक्ष्यम् समूढमन्तर्हितनाविज्ञातमकृतात्मभिः । पासुरे लुप्तोपममेतत् । पासुल इव प्रदेशे निहितं न दृश्यते तत्समूढमिति, अर्थात्—सब प्राणियों में पंचभूत इन्द्रिय मन और जीव इन सब में प्रवेश करने से वह विष्णु है । उसने इस जगत् का क्रमण किया, जिससे ज्ञान किया जाय वह 'पद' है । भूमि, अन्तरिक्ष और गुलोक में अग्नि, वायु, सूर्य, रूप से तीन रूपों में वह 'पद' (ज्ञानसाधन) या ज्ञापक लिंग रक्खा । इस ही विष्णु का अन्य एक 'पद' है विज्ञातघन, आवन्दस्वरूप, अज, अद्वितीय, अक्षर

स्वरूप जिसको अकृतात्मा, असाधक, अविद्वान् पुरुष नहीं जानते । यह लुप्तोपमा, है । जिस प्रकार धूल भरे स्थान में पड़ी वस्तु नहीं दीखती उस प्रकार इत्यादि ।

(३) महीधर—इम भाष्यकार ने सायण और उव्वट दोनों का अर्थ लिया है । इतना विशेष लिखा है कि ("समूढमस्य पांसुरे" पांसवो भूम्यादिलोकस्थाः विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदं समूढ सम्यग् अन्तर्भूत विश्वमिति शेष यद्वेति उव्वटवत्) अर्थात् पांसुरे-भूमि आदि लोक जिसमें स्थित हैं उस पांसुर पद में सब विश्व छिपा है । 'यद्वा' से आगे दूसरा अर्थ उव्वट के समान ही है ।

ग्रीकिय—'इस संसार में विष्णु ने पैर रखे, तीन बार उसने पैर जमाये और सब उसके पैर की धूल में जमा हो गया ।

सायण और महीधर ने यह मन्त्र पौराणिक आशय को लेकर लगाया है । उव्वट को वह अर्थ सम्मत नहीं । उसने पद का अर्थ ज्ञापक लिझ किया है । और संसार में ईश्वर के तीन ज्ञापक अग्नि, वायु, और सूर्य बतलाये हैं । और चतुर्थ ज्ञापक वह परम अक्षर बतलाया है जिसका ज्ञान योगी मुमुक्षु लोग करते हैं ।

सायण के आशय से विष्णु ने तीन चरण रखे और धूलियुक्त चरण में समस्त लोक छिपे हैं । उसके मत में 'पद' क्या वस्तु है यह प्रतीत नहीं होता । महीधर ने 'पद' शब्द की उव्वट कृत व्याख्या को माना है । और भूम्यादिलोकमय पांसु से युक्त समस्त ब्रह्माण्ड को एक पद माना है । और अग्नि, वायु, सूर्य रूप से तीनों लोकों में विष्णु का एक २ ज्ञापक भी स्वीकार किया है । इसमें महीधर के मत में त्रिविक्रम का निरूपण आलंकारिक है । महर्षि दयानन्द—(४६) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् को व्यापक ईश्वर ने (विचक्रमे) यथायोग्य प्रकृति परमायवादि पादों को अर्थात् अंशों को विभेद करके सावयव किया । इस जगत् के

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८४] पृ० १४५ ।

(२) हे इन्द्र ! (मधौ) मधु=शहद पर (मधु. न) जिस प्रकार मक्खी आ बैठती है उसी प्रकार (इमे) ये (ब्रह्मकृतः हि) ब्रह्मयज्ञ करने हारे वेद के विद्वान् गण (ते सच्चा) तेरे साथ मोक्षानन्द प्राप्त करने के लिये (आसते) आ बैठते हैं और ब्रह्म का रस प्राप्त करते हैं । और (इन्द्रे) उस इन्द्र परमात्मा में ही (वसूयवः) वसु=आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले (जरितारः) स्तुतिशील विद्वान्गण (कामम्) अपनी अभिलाषा को इस प्रकार (आदधुः) रख देते हैं जिस प्रकार (वसूयवः रथे पादम्) धनाभिलाषी हस्त्रिय लोग अपना चरण रथ पर रखते हैं और फिर देशों को विजय करते हैं ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १२ २२}
[१६७७] अस्तावि मन्म पूर्ण्य ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।

^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}
पूर्वोऽर्च्यतस्य बृहतीरनूयन स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

^{२३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २}
[१६७८] समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सङ्क्षोणी ममु सूर्यम् ।

^{२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३ १ २}
स शुक्रामः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिपुः
॥ २ ॥ ७ ॥ अ० ८ ५२ । ६, १० ॥

भा०—(१) (अस्तावि) परमेश्वर की ही स्तुति की जाती है । इसलिये (पूर्ण्य) पूर्ण तृप्तिकारक अति प्राचीन (मन्म) मनन करने योग्य (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (इन्द्राय) उस परमेश्वर की स्तुति के लिये (वोचत) पाठ करो । (अर्च्यतस्य) वेद की या यज्ञविषयक या आत्म, और ब्रह्मविषयक सत्यज्ञानसम्यग्धी (पूर्वोऽर्च्यतः) प्राचीन या पूर्ण (बृहतीः) बृहती छन्द के वेद मन्त्रों से (अनूयतः) स्तुति करते हुए (स्तोतुः) स्तुतिकर्ता विद्वान् के (मेधा) माना प्रकार के ज्ञान (असृक्षत) ठरस्र हाते हैं ।

(२) (इन्द्रः) परमेश्वर ने (बृहतीः) बड़ी २ (राय.) सम्पत्ति
याँ और शक्तियाँ (सम् अधूनुत) ओरिते की हैं (उत) और (छोटी)
बहुतसी पृथिवियाँ अर्थात् बहुतसे लोकों को आकाशमण्डल में चला
रक्ता है । और (सम् उ सूर्यम्) सूर्य को भी चला रक्ता है । (शुचयः)
कान्तिमान् (शुक्रासः) शुद्ध कर्म करने हारे निष्पाप पुण्यात्मा (गवा-
शिरः) ज्ञान का आश्रय करने हारे या गो=वेदवाणी का आश्रय लेने
हारे और गो=इन्द्रियों का दमन करने हारे जितेन्द्रिय (सोमा.) यांगों
सुमुहु आत्माएं उस (इन्द्रम्) इन्द्र परमेश्वर को (सम् अमन्दिपुः) प्रसन्न
करते हैं ।

[१६७६] इन्द्राय सोमपातघे वृत्रघ्ने परिपिच्यसे ।

नरे च दक्षिणागते वीराय सद्नासदे ॥ १ ॥

[१६८०] तं सखाय पुरुषं च वयं यूयं च सूरयः ।

अश्याम वाजगन्धं सनम वाजपस्त्यम् ॥ २ ॥

[१६८२] परि त्य हर्यतं हरिम् ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६८ । १०, १२, ७॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१०५] ६६ ।

(२) हे (सखाय.) मित्रगण ! (सूरय.) विद्वान् (यूयं) आप
लोग और (वयं च) हम लोग सब (वाजगन्धं) ज्ञान की सुगंध से
युक्त (वाजपस्त्यम्) और बल के एकमात्र आश्रय, सर्वशक्तिमान् (पुरुषं)
अपने प्रकाश से सबके प्रकाशक (तं) उस सोम परमात्मा को (अश्याम)
प्राप्त हों । सोम ओषधि पत्र में—(वाजगन्धं) अन्नगन्धी और (वाज-
पस्त्यं) बलकारी सोम का भोग करें ।

१६७६—१. 'दषाय सद्नामः' २. 'पुरोक्ष यूय वयं च सूरयः' ३. 'हरिं त्य
हर्यतं हरिं' इति अ० ।

(३) "परि त्वं हर्यंत हरिम्" यह प्रतीकमात्र उद्धृत किया गया है । इसकी व्याख्या देखो अविकल सं० [१५२] पृ० २७७ ।

^{१२ २२ ३}
[१६८२] कस्तमिन्द्र त्वा वसो० ॥ १ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२}
[१६८३] मघोन स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।
^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २}

तव प्रणीती हर्यश्चसूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥६॥

श्र० ७ । ३२ । १४, १५॥

भा०—(१) 'कस्तमिन्द्र त्वावसो०' यह प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अविकल सं० [२८०] पृ० १४३ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (मघोनः) ज्ञानी पुरुषों को (वृत्रहत्येषु) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार और विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों के विनाश के कार्यों में (चोदय स्म) प्रेरित कर । (ये) जो (प्रियाः) प्रिय (वसु) वास योग्य उपकरण गृह आदि अथवा अपने धनों को (तव प्रणीती) तेरे, प्रणय=प्रेम के कार्य में या तेरे बनाये हुए वेदानुकूल मार्ग में (ददति) दान करते हैं उन (सूरिभिः) विद्वानों, त्यागियों की सहायता से (विश्वा) समस्त (दुरिता) पापों को (तरेम) हम पार करें ।

इति द्वितीय खण्ड ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१६८४] एतु मधोर्मदिन्तर सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।

^{१ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
एवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥ १ ॥

१६८१—१. कस्तमिन्वा वसुमा, इति श्र० ।

१६८३—१ "एतु मधोर्मदिन्तर सिञ्चावाध्वर्यो"

[१६८५] इन्द्र^{१ २} स्थान^३ हरीणां^{१ २} नकिंष्ट्रे^{३ १ २} पूर्व्यस्तुतिम् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} उदानंश शवसा न भन्दना ॥ २ ॥

[१६८६] तं^{१ २} वो^३ वाजानां^{१ २ ३ २ ३ १ २} पतिमहूमहि^{३ १ २} अवस्यवः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वानृधेन्यम् ॥ ३ ॥ १० ॥

अ० ८ । २४ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [२८५] पृ० १४६।

(२) हे इन्द्र ! हे (हरीणा) समस्त गतिमान् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिकों के (स्थातः) प्रतिष्ठापक ' परमेश्वर ! (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्व के अपि महर्षियों द्वारा गाई गई, सत्य, यथार्थ गुणवर्णना को (शवसा) अपने यज्ञ से (नकिः) कोई भी नहीं (उदानंश) पा सकता । और (न भन्दना) न कोई संसार के प्रति सुख कल्याण के कार्य करके भी तेरी महती स्तुति को पा सकता है । अर्थात् तू सबसे अधिक शक्तिमान् और सब का कल्याणकारी है तेरे तुल्य दूसरा ' न मृतो न मविष्यति ' न हुआ, न होगा ।

(३) हम लोग (व०) आप लोगों के (वाजानां) ज्ञान, धन, बल और अश्वों के (पति) परिपालक, (अप्रायुभि०) प्रमादों से रहित, विनाशरहित, (यज्ञेभि०) बड़े सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि विशाल कर्मों तथा प्रजापालनादि सत्कर्मों से (वानृधेन्यम्) अपने यज्ञ और महिमा में सब से बड़े (तं) उस परमेश्वर को (अवस्यवः) धन, अश्व, और ज्ञान, वेद की कामना करने हारे हम लोग (अहूमहि) नित्य स्मरण करते हैं ।

यहां 'व' हम युष्मत् के प्रयोग से समस्त संसार के प्राणी अभिप्रेत हैं क्योंकि स्तुतिकर्तों की दृष्टि में अपनेसे अतिरिक्त सब युष्मत् पदवाच्य हैं । परमात्मा केवल 'तत्' पदवाच्य है ।

१ २ ३४ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८७] त गूर्धया स्पर्णं देवालो देवमरति दधन्विरे ।

३ २ ३ १ २
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८८] विभूतराति विप्रचित्रशोचिपमग्निमीडिष्व यन्तुरम् ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोमरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥ २ ॥ ११ ॥

श्र० ८ । १६ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या दत्ता अवि० सू० [१०६] पृ० ६८ ।

(२) हे (सोमरे) उत्तम रीति से ज्ञान का धारण करने हारे !
हे (विप्र) मेधाविन् ! ब्राह्मण ! ज्ञानोपायक ! शिष्य ! तू (अध्वराय)
अविनश्वर या हिंसादि दोषों से सर्वथा रहित, स्वाध्याय यज्ञ या गुरु
परम्परा से कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे, आविच्छिन्न ज्ञानयज्ञ के
निमित्त (विभूतरातिम्) बहुत अधिक ज्ञानराशि के दान करने हारे,
(चित्रशोचिपं) संग्रह करने योग्य ज्ञान और तप आदि तेजस्कर गुणों
से युक्त, (अस्य) इस (सोम्यस्य) ज्ञानयुक्त या ज्ञान के आनन्द प्राप्त
कराने हारे (मेधस्य) पवित्र यज्ञ के (यन्तुरं) नियामक, व्यवस्थापक,
(पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान, सबसे श्रेष्ठ आचार्य रूप परमेश्वर की
(ईडिष्व) उपासना कर ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
[१६८९] आ सोम स्वानां आद्रमिस्त्रां वाराग्नयथा ।

२ ३ २ ३ २ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २
जनां न पुनि चम्यार्विशद्वरि सदा वनंपु दधिपे ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ ३
[१६९०] स मामृजे तिरो अण्वानि मेप्या मीद्वारससिर्न वाजयुः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अनुमाद्य पचमानो मनीषिभि सोमां विप्रैर्मिर्नकभिः

॥ २ ॥ १२ ॥ श्र० १० । १०७ । १०, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१३] पृ० २५३।

(१) जिस प्रकार सोमरस को दूध प्रस्तरों से कूटकर, भेदी के लोम से बने दशापवित्र नामक कम्बल के टुकड़े से स्पृच्छ कर लिया जाता है उसी प्रकार उस आत्मस्वरूप ज्ञान के रस को भी स्पृच्छ कर लिया जाता है, उसी का वर्णन करते हैं। योगी का आत्मा (सतिः न) अति वेगवान् अरब के समान (वाजयुः) बल और ज्ञान को प्राप्त करने द्वारा (सः) वह (भेष्यः) चितिशक्ति के (अण्वानि) सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को (तिरः) प्राप्त करके (मीद्वान्) सब सुखों का स्वयं वर्पण करने द्वारा धर्ममेव होकर (मामृजे) शुद्ध पवित्र हो जाता है। वही (सोमः) शमदमादि गुणों से युक्त सोमस्वरूप आत्मा (पवमानः) पवित्र होता हुआ और अन्य इन्द्रियवृत्तियों, ज्ञानवृत्तियों को पवित्र करता हुआ (मनीषिभिः) मनन करने में गतिशील, (विप्रेभिः) मेधावी (ऋक्षभिः) वेदज्ञों द्वारा (अनुमाद्यः) आनन्द लाभ करने योग्य, प्रशंसनीय होता है।

उ १ २ उ १ २ २ ३ २ उ १ २
[१६६१] वयमेनमिवाहोऽपीपमेह वज्रिणम् ।
१ २ उ १ २ २ ३ २ उ १ २ उ १ २ उ २
तस्मा उ अद्य सवने सुत भग नूनं भूषत श्रुत ॥ १ ॥
१ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २

[१६६२] वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
२ ३ उ १ २ उ २ ३ उ २ उ २ उ १ २ उ २
सैमं न स्तामञ्जुषाण्य आगहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥ २ ॥ १३
अ० ८। ६६। ७, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७२] पृ० १३६।

(२) (अस्य) इस आत्मा का (वारणः) पापों से निवारण करने द्वारा साधन (वृकः विन्) कुत्ते या भेड़िये के समान (उरामथिः) भेड़ के

समान बालों से छिपे चौरों वदे २ संकटों को भी मथन करने द्वारा होकर (वयुनेषु) प्रज्ञा या महान् कार्यों में (आभूषति) शोभा देता है । हे आत्मन् ! (स.) वह आप (इमं) इस (स्तोमं) स्तुतिमय वचन को (जुशुषाणः) स्वीकारते हुए (चित्रया) ज्ञानयुक्त (धिया.) प्रज्ञाबुद्धि से (आगदि) हमें साक्षात् दर्शन दो ।

अथवा—(अस्य) इस इन्द्र का (वृकःशिव्) आदित्य ही (वारण.) अन्धकार दूर करने का साधन (उरामधिः) महान् अन्धकार को मथन कर देने द्वारा होकर (वयुनेषु) समस्त लोकों में (आभूषति) शोभा देता है । अथवा—(वृकःशिव्) आदित्य के समान इसका (वारण.) वैरेणीयस्वरूप (उरामधिः) अज्ञानों का नाश करने द्वारा (वयुनेषु) समस्त प्रज्ञावान् पुरुषों के आत्माओं में (आभूषति) शोभा देता है ।

अथवा—(वृकःशिव् अस्य वारण. उरामधि.) भूमि को काटने द्वारा वृक्ष ही इसका वरण करने योग्य पदार्थ है जो उरामधिः=पृथिवी की ऊन के समान जमी घास को मथन करता है और वही (वयुनेषु) नाना ज्ञानयुक्त कार्यों में (आभूषति) प्रयोग किया जाता है । शोभा देता है । अथवा—(वृकःशिव् अस्य वारण. उरामधिः) सब पापों का निशारक ज्ञानरूप वज्र ही इस आत्मा के शत्रुओं का नाशक वारण=आयुध है जो (वयुनेषु) सब मार्गों में और प्रज्ञाओं में (आभूषति) शोभा देता है ।

अथवा—राजाके पक्षमें (अस्य) इस इन्द्र राजा का (वृकः) वज्र अर्थात् खड्ग और (उरामधि) शत्रुओं का मथन करने द्वारा (वारण.) गज वृक्ष दोनों (वयुनेषु) संग्राम के मैदानों में या राजकार्यों में (आभूषति) शोभा देते हैं । वह राजा (इमं) इस (न.) हमारे (स्तोम) ज्ञानसमूह और देश के विद्वान् सभ को (जुशुषाण.) प्रेम से अपनाता हुआ (चित्रया) विचित्र या ज्ञानयुक्त (धिया) बुद्धि, राजनीति या देश को धारण करने वाली दृष्टिद्वारा (आगदि) उत्तम रूप से शासन करे । अथवा

भाष्यकारों ने 'वृक' शब्द से स्तेन आदि का ग्रहण किया है सो असंगत प्रतीत होता है । ४. वृको लाङ्गलं विकर्त्तनात् (नि० ६ । ख० २६)
५; वृक इति घञनाम विकर्त्तनादेव । (निघं० २ । २०) । वृक आदान
(भ्वादि.) इति इगुपधलक्षणः कः । वृणक्तेर्वा पृपोदरादित्वाद् । वृणोतेर्वौ
णादिक. कः । यद्वा वृजो वर्जन (अदादि ०) इत्यतः औणादिक. कः
नकारजकारलोपश्च । यद्वा वृणक्तेर्वधकर्मणः । विपूर्वकस्य कृन्ततेर्वा पृपोदरादि
त्वाभिपातनम् । ६. 'दाना मृगो न वारण' (६८८) अत्रापि वारणो गजपर्यायः
सायणसम्मत उपलभ्यते ।

अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण उरामथिरावयुनेषु भूपति) जंगली
मेढ़िया भी जो भेड़ों को मारता है इन्द्र की आज्ञा में रहता है । वारणः—
जंगली । आ अपि वृक उच्यते । विकर्त्तनात् । वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः ।
उरणमथिः उरण ऊर्णवान् भवीति । (निरु० ५ । ४ । २) आदित्यो
पि वृक उच्यते यदावृङ्क्ते (निरु० ५ । ५ । १)

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
[१६६३] इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूपथः ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
तद्धां चेति प्रवर्ग्यम् ॥ १ ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
[१६०४] इन्द्राग्नी अपसरपरि० ॥ २ ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
[१६६५] इन्द्राग्नी तविपाणि वां० ॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० ३ । १२ । ६, ७, ८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्राग्नी ! आप (दिवः रोचना) धौलोक को प्रका-
शित करने हारे इन्द्र अर्थात् सूर्य या विद्युन् के समान प्राण और अपान होकर
इस मूर्धास्थल को प्रकाशित करते हो और (वाजेषु भूपथ.) सब कार्यों में
या ज्ञानयज्ञों में शोभा देते, कार्य सम्पादन करते हो । (तत् वीर्य) यह
सब सामर्थ्य (वां च) आप दोनों ही का है । राजपक्ष में इन्द्राग्नी सेना
सनाध्यक्ष । और वाजेषु समारों में ।

(२) 'इन्द्राग्नी अपसस्परी०' प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७७] पृ० ६७१ ।

(३) 'इन्द्राग्नी ताविपाणि वा०' यह भी प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७८] पृ० ६७१ ।

१ २ ३ १२ २३
[१६६६] क ई वेद सुते सचा० ॥ १ ॥

३ २ ३ १२ २३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६६७] दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नकिण्दवा नियमदा सुते गमो महोश्चरस्योजसा ॥ २ ॥

२ ३ १२ २३ ३ १२ २३ ३ १ २
[१६६८] य उग्रः सन्ननिदृशत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
यदि स्तातुर्मघवा शृणवद्धवनेन्द्रो योषत्यागतम् ॥ ३ ॥ १५

श्र० ८ । ३३ । ७-६

भा०—(१) 'क ई' वेद सुते सचा० प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [२६७] पृ० १५२ ।

(२) (मृग) बनैला (वारणः) हाथी (न) जिस प्रकार (दाना) अपने मदजलों के कारण (पुरुत्रा) बहुत से स्थलों पर (चरथं) विचरण (दधे) करता है और उसको काँट (नकिः नियमत्) नहीं रोकता उसी प्रकार हे इन्द्र आप भी मत्त हाथी के समान (दाना) अपने नाना प्रकार के दानों, रक्षण सामर्थ्यों सहित (पुरुत्रा) सर्वत्र (चरथ दधे) विचरण करते हो, (सुते) इस उत्पन्न विश्व में (त्वा) आपको (नकिः नियमत्) कोई भी रोकने वाला नहीं है । आप (महान्) सबसे बड़े होकर (ओजसा) अपने पराक्रम सामर्थ्य से (चरसि) सर्वत्र विचरण करते हो । आप (सुते) इस विश्व में और हमारे हृदय और यज्ञ में (आ-गमः) व्याप्त हैं ।

(३) (यः) जो आत्मा (उग्रः) वीर्यवान्, शक्तिमान् (अ-
निस्तृतः) अविनाशी, किसी से न मारा गया, (स्थिरः) कूटस्थ, नित्य
(रम्याय) सर्वत्र विश्व में और इस देह में रमण करने के लिये
(संस्कृतः) संस्कार किया गया, नाना कर्म फलों से, या तप-साधनों से शुद्ध
किया गया है । (यदि) जब (मधवा) ज्ञानवान् आत्मा (स्तोतुः) स्तुति
करने हारे विद्वान् की (हवे) पुकार को (शृण्वत्) सुनलेता-है तो,
(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् आत्मा (न पोषति) पृथग् नहीं रहता प्रत्युत्
(आगमत्) उसे प्राप्त हो जाता है ।

परमात्मा के पक्ष में—(संस्कृतः) नाना गुणों से उपायित होकर
जब वह अपने भक्त की पुकार सुनता है तो उसके हृदय में प्रकट होता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

—०—

[१६६६] पवमाना असृजत सोमा शुक्रास इन्द्रवः ।

अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

[१७००] पवमाना दिनस्पयन्तरिक्षादसृजत ।

पृथिव्या अधिसानवि ॥ २ ॥

[१७०१] पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्मिन्दवः ।

घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ९। ६३। २५, २७, २६ ।।

भा०—(पवमानाः) शुद्ध पवित्र (शुक्रासः) शुद्ध शुक्ल कर्मों
के करने हारे, (सोमाः) शमादिगुणसम्पन्न, (इन्द्रवः) योगी, विदेहमुक्त
जन (विश्वानि) समस्त (काव्या) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात्
(असृजत) करते हैं ।

(२) (पवमानाः) शुद्ध पवित्र, या गति करने हारे, या ज्ञानवान्-पुरुष (दिवस्परि) द्यौ अर्थात् प्रकाशमान् लोकों में (अन्तरिक्षात्) और अन्तरिक्ष में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि सानधि) उच्च पर्वत भागों में (असृजत) तप और विद्या का सम्पादन करते हैं।

(३) (शुभ्रा) शुभ्रगुणयुक्त, (आशवः) शीघ्र गति करने हारे, अप्रमादी, (पवमानासः) सब को पवित्र करने हारे, (इन्द्रवः) ज्ञानी पुरुष (विश्वाः) सब (द्विपः) द्वेप करने हारे पुरुषों को, या द्वेपभावों को (अप द्रन्तः) दूर मार भगाते हुए (असृग्रम्) कार्य सम्पादन करते हैं ।

यज्ञपक्ष में पवमानाः, शुक्राः, आशवः, शुभ्राः, इन्द्रवः, आदि सब विशेषण गौणवृत्ति से सोमरसों में लगते हैं ।

उ १ २ ३ १ २ उ २ उः १ २
[१७०२] तोशा वृत्रहणा हवे स जित्वानापराजिता ।

उ १ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १ ॥

१ २ उ १ २

[१७०३] प्र वामर्चन्त्युक्थिनः ० ॥ २ ॥

१ २ उ १ २ २ २

[१७०४] इन्द्राग्नी नवर्ति पुरः ० ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ३ । १२ । ४, ९ ॥

भा०—(१) (तोशा) भीतरी रोगादि शत्रुओं के नाशक, (वृत्रहणा) अज्ञान के हनन करने वाले, (सजित्वाना) समान रूप से विजय करने हारे, प्रबल, (अपराजिता) कभी न हारने वाले, अनथक, (वाजसातमा) बल के देने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि प्राण और अपान आत्मा और अन्तःकरण, परमात्मा और जीवात्मा, राजा सेनापति, गुरु शिष्य होते हैं ।

(२, ३-) “ प्रवामर्चन्त्युक्थिनः ० ” और “ इन्द्राग्नी नवर्तिपुर ” यह दोनों प्रतीकमात्र हैं । व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७५, १५७६] पृ० ६७१।

[१७०५] उप त्वा रणवसन्दृशं प्रयस्वन्त सहस्कृत ।

अग्ने ससृज्महे गिरः ॥ १ ॥

[१७०६] उपच्छायाभिव घृणरगन्म शर्म ते वयम् ।

अग्ने द्विरप्यसन्दृशः ॥ २ ॥

[१७०७] य उग्र इव शर्यहा तिरमशृङ्गो न वंसगः ।

अग्ने पुरो करोजिथ ॥ ३ ॥ १८ ॥

अ० ६। १६। ३७-३६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बल और साधना से साक्षात् करने योग्य अग्ने ! (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी मुमुक्षु हम लोग (रणवसन्दृशं) रमण करने हारे या रमणीय और दर्शन करने योग्य या सबके द्रष्टा (त्वा) आप परमेश्वर के (उप) समीप प्राप्त होने के लिये (गिरः) स्तुतियों या वेदवाणियों का (ससृज्महे) उच्चारण करें ।

(२) जिस प्रकार (घृणे) देदीप्यमान सूर्य के तेज से सन्तप्त होकर लोग (छायां इव) छाया का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार हे (अग्ने) ज्ञानवन् प्रभो ! (द्विरप्यसन्दृशः) सूर्य समान स्वरूप वाले (ते) आपके (शर्म) शरण सुख को (वयम्) हम (उप अगन्म) प्राप्त हों ।

(३) (यः) जो (शर्यहा) बाणों से मारने हारे योद्धा के (इव) समान (उग्रः) अति भयंकर शक्तिशाली (वंसगः न) बैल के समान (तिरमशृङ्गः) तीक्ष्ण शृङ्ग अर्थात् प्रखर तेज वाले, हैं वही आप हे (अग्ने) प्रभो ! (पुरः) सब देहों को (करोजिथ) ज्ञान वज्र से तोड़ डालते हो और मुमुक्षुओं को मुक्त कर देते हो ।

सायण ने अग्नि को रुद्ररूप मानकर त्रिपुर दहन की कथा को लगाया है । लिखा है—“ रुद्रो वा एष यदग्निः ” इति श्रुतेः । रुद्रकृतमपि त्रिपुर-

दहनम् अग्निकृतमेवेति श्रूयते । यद्वा त्रिपुरदहनसाधनभूतं वाये अग्नि-
नीकरवनावस्थानादाग्निः पुराणि भग्नवान् इत्युच्यते । ” अर्थात् रुद्र अग्नि
का नाम है ऐसी व्याख्या भ्रुति है । अतः रुद्र का किया त्रिपुरदहन अग्नि
ही का किया कहा जाता है । अथवा त्रिपुर के दहन करने में साधन बने
वायु में अग्नि सहायक था, इससे अग्नि ने पुरों को तोड़ा ऐसा कहा
जाता है । परन्तु इस का रहस्य सायण ने स्पष्ट नहीं किया, यह आत-
कारिक है । वस्तुतः—

वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिपुरं त्रिगुणं वपुः । (पु०)

भस्मीकरोति तदेवत्रिपुरमस्ततः स्मृतः ॥ (स्कन्द० महि० कौ० ख०
२ । अ० २५)

अर्थात्—रुद्र के तीन वेद तीन नेत्र हैं, त्रिगुण वेद त्रिपुर है. उसके
वह ज्ञानरूप से प्रकट होकर भस्म कर देने से त्रिपुरम कहा जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७०८] अतावान वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषरूपनिम् ।

१ २ ३ १ २
अजस्रं धर्ममीमहे ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
[१७०९] य इदं प्रणिपप्रथं यज्ञस्य स्वरुत्तिरन् ।

३ २ १ २ ३ २
अनूत्सृजते वशी ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७१०] अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।

३ २ ३ ३ १ २
सम्राट्का विराजति ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋग्वेदे नास्ति ॥ आषा-यजु० २६ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ३६ । २ ॥ दि-
सीवाण्य० ६ । २६ । २ ॥ सूतीया-यजु० १६ । ११७ ॥

१६०८—२. “स त्रिषा प्रतिचात्कृष्य अतूत्सृजते वशी यस्य वय उत्तिरन्” इति
पाठभेदोऽथर्वणि । ३. ‘अग्ने; परेषु धामसु’ इति अथर्व० ।

भा०—(१) हे अग्ने ! (अतावानं) सत्यज्ञान से युक्त, या इस ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले (वैश्वानरम्) समस्त नर अर्थात् आत्माओं में भी व्यापक, सबके हितकारक (ज्योतिषः पति) सब ज्योतिष्मान् सूर्य आदि विशाल स्रोतों के प्रतिपालक (भजन्) अन्नादि, नित्य, (धर्म) शुद्ध दीप्तिमान् आपकी (इमहे) उपासना करते हैं ।

(२) (यः) जो अग्नि^१ परमात्मा (यज्ञस्य) आत्मा को (स्वः) आनन्दमय मोक्ष (उत्तिरन्) प्रदान करता है और (इदं) समस्त ब्रह्माण्ड को (प्रतिपश्ये) रचता है और सब का धशक्ता, अधिष्ठाता होकर (अतून्) प्राणों को और गतिशील पियडों और छहों कालरूप वसन्त आदि ऋतुओं को सूर्य के समान (उत्सृजेत) उत्कृष्ट रूप में बनाता और प्रकट करता है ।

(३) वह (अग्निः) सब का पूजनिय प्रकाशस्वरूप परमात्मा (भूतस्य) समस्त भूतकाल और उसमें उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों और (भव्यस्य) भविष्यत् काल और उसमें होने वाले समस्त जगत् का (कामः) मूल उत्पादक सकल्प के समान आदिकारण (प्रियेषु) अति श्रेष्ठ और विभूतियुक्त, प्रेष्ठ (धामसु) जोंकों में (एकः) एकमात्र, अद्वितीय (सन्नाट्) सार्वभौम, सन्नाट् परमेश्वर, स्वामी होकर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इत्यष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयोऽर्थः प्रपाठकः ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।

इति—१ विष्णु काङ्क्षितम् । २, १८ अथमा । ३ विद्वान्निवृत्तः । ४ देवानिनि काव । ५, ८, ९, १६ गेहो, गृहणा । ६ वामोऽ० । ७ प्रप्लव कः । १० मनुष्य काङ्क्षितः । ११ मनुष्य काङ्क्षितः । १२ अथपुत्राङ्क्षितः । १३ मनुष्यविशिष्टावापेवी । १४ कुम्भ काङ्क्षितम् । १५ अग्निः । १७ दीर्घमा शोभयः ॥ देवता—१, १०, १३ अग्निः । २, १८ परमानः शोभ । १-५ अ० । ६, ८, ११, १४, १६ आः । ७, ९, १२, १५, १७ अग्निः ॥ अ०—१, २, ६, ७, १८ गृहणी । ३, ४, ५ गृहणी । ४ प्राणम् । ८, ९ उच्छिन्तः । १०-१२ पृथिवीः । १३-१५ निष्ठुः । १६, १७ जाली ॥ अ०—१, २, ७, १८ पृथुः । ३, ४, ५ गृहणी । ८, ९ अग्निः । १०—१२ पृथुः । १३-१५ गेहो । १६, १७ निष्ठुः ॥

३ ७ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ ७ २
[१७११] अग्निः प्रत्नेन जन्मना शुम्भानस्तन्वाऽदे स्वाम् ।

३ १२ ३२

पाथिवेमेण चावृष्टे ॥ १ ॥

३ १२ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७१२] ऊर्जो नपानमाहुवग्नि पाथकशाचिपम् ।

३ १ ३ १ २ ३ २

अस्मिन्यां स्वध्वरे ॥ २ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[१७१३] स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा ।

३ १२ २४ ३ १ २

देवैरासत्सि यद्विपि ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ८ । ४४ । १२-१४ ॥

१७११—१. "प्रत्नेन मन्मना" इति अ० ।

भा०—(१) (आग्निः) ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय आत्मा (प्रत्नेन) अपने पुराने अर्थात् पूर्व के किये (जन्मना) जन्म अर्थात् स्वरूप से या जन्म में किये कर्मों द्वारा (स्वां) अपने (तन्वा) शरीर को 'शुम्भान्') उत्तम रूप से सुशोभित करता हुआ (कविः) क्रांतदर्शी, मेधावी, ज्ञानी होकर (विप्रेण) मेधावी ज्ञानमय परमेश्वर के संग (वावृधे) अपनी वृद्धि और अभ्युदय प्राप्त करता है ।

सायण ने 'जन्मना' और 'विप्रेण' का अर्थ स्तोत्र किया है । तुलसी-रामजी—'प्रत्नेन जन्मना'—पुराने जन्म से—सनातनस्वरूप से । श्रीकृष्ण पुराने तरीक़े से ।

(२) (ऊर्जोनापातम्) बल धीरे का विनाश न होने देने हारे (पावकशोचिषम्) लोकों को शाध कर पवित्र करने हारे तेज से युक्त (अग्निम्) अग्निस्वरूप आत्मा को (अस्मिन्) इस (स्वध्वरे) उत्तमरूप, अधि-नाशी (यज्ञे) दान प्रतिदान स्वरूप यज्ञ या इष्टदेवपूजा या समाधि दशा में या सर्व पूज्य परमात्मा में (आहुवे) समर्पित करता हूं ।

(३) हे (अग्ने) आत्मन् । हे (मित्रमहः) अपने मित्र परमस्नेही परमेश्वर के संग से स्वतः तेजस्विन् ! (त्वम्) तू (शुक्रेण) शुद्ध (तेजसा) तेज से (दंष्ट्रैः) अपनी इन्द्रियों के साथ (बर्हिषि) इस देह में (आ ससि) विराजमान है ।

परमात्म पक्ष में—हे मित्र ! या सूर्य के समान, कान्ति वाले या सब के मित्र एवं पूजनीय परम प्रभो ! (एवं) आप शुद्ध कान्ति से दिव्य गुण युक्त विद्वानों और सूर्यदि 'देव' लोकों के संग इस (बर्हिषि) ब्रह्माण्ड में (आ ससि) विराजमान हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७१४] उक्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिषः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २

सुदस्व याः परिरूपधः ॥ १ ॥

उ १ २ ३ १२ २४ उ १२ २४ ३ २
[१७१४] अया निजग्निरोजना रथसङ्गे धने दिते ।
२ ३ १ २ ३ २

स्तवा अभिभ्युषा हृदा ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २४ उ १ २ उक् २४
[१७१६] अन्य व्रतानि नाघृषे पवमानस्य दुह्या ।
उ १२ २४ ३ १ २

रुज यस्त्वा पृतन्यनि ॥ ३ ॥

१ २ उ २ ३ १ २ उ १ २ उ १ २
[१७१७] नं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम् ।
२ ३ १ २ उ २

इन्दुमिद्राय मत्सरम् ॥ ४ ॥ २ ॥ श्र० ९ । ५३ । १-४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! हे (अद्विच.) आदरणीय !
अध्वयवत्तन् ! परमात्मन् ! आदर करने वाले भग्वं के स्वामिन् ! (ते)
तेरे (शुष्मास.) वज्रप्रयोग (रथः) दुष्ट पुरुषों को, या विघ्नों को (भिन्द
न्तः) विनाश करते हुए (उत् अस्थुः) सबसे ऊपर विराजमान हैं (याः)
जो (स्पृधः) तुझ से स्पर्धा करते हैं उन नास्तिकों को तू (रुद्रस्व.)
नाचे गिरा देता है ।

(२) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! आप (अया) इस प्रकार
के (ओजसा) तेज और वज्र से विघ्नों और विघ्नकारियों को (निजग्निर.)
विनाश करने हारे हो । (रथसङ्गे) इस रथण करने योग्य देह या रसस्वरूप
तेरा सग काम हो जाने पर और 'धने' तृप्ति योग्य भोग्य पदार्थ के (दिते)
प्राप्त हो जाने पर मैं (अभिभ्युषा) निर्भय (हृदा) चित्त से (स्तवा) आपकी
स्तुति करता हू ।

(३) (अन्य) इस (पवमानस्य) पवमान, सर्वप्रेरक, व्यापक
और सब को पवित्र करने हारे एवं स्वयं पवित्र परमेश्वर की (व्रतानि)
व्यवस्थाएं (दुह्या) । दुष्ट बुद्धि वाले, मूर्ख, अभिमानी पुरुष से (न

१७१४—२. धन, धिनोतीति सप्त (निर० ज० ३ । ख० ९) धिनोतिस्तर्पणार्थः ।

आधृषे) अपमान, या विनाश नहीं हो सकती। हे परमात्मन् ! (यः) जो (त्वा) आपका (पृतन्यति) विरोध करता है आपके नियमों और आज्ञाओं का उल्लंघन करता है आप उसको, (रुज ^२) पीड़ा उत्पन्न करते हैं या उसका विनाश कर देते हैं।

(४) (तं) उस (मदच्युतं) आनन्द रस के गहाने वाले, (वा-
जिनम्) ज्ञानमय, (हरिं) दुःखों के हरण करने वाले, सर्वव्यापक (मत्सरम्)
स्वयं परमसुखजनक, आनन्दस्वरूप (इन्दुम्) परमेश्वर को (इन्द्राय)
अपने आत्मा के हित के लिये (हिन्वन्ति) उपासना करते हैं !

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७१८] आ मन्त्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
मा त्वा केचिन्मियेसुरिभ्र पाशिनोऽति धन्वेव तौ इहि ॥१॥
३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[१८१६] वृत्रस्तादो बलं रुजः पुरां दमो अपामजः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
स्थाता रथस्य हयोरमिस्वर इन्द्रो ददाचिदारुजः ॥२॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७२०] गम्भीराँ उदधीँ रिव क्रतुं पुण्यासि गा इव ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा हृदं फुल्या इवाशत
॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १। ४५। १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४६] पृ० १२६ ।

(२) (वृत्रस्ताद.) आधरणकारी अज्ञान का नाशक (बलं रुजः)
बलान करने वाले, प्राण धारण करने वाले देह, या मोक्ष का अपरोध करने
वाले तामस आधरण को तोड़ काटने वाले, (पुरा दमो) पञ्चकोश रूप
पुरियों के विदारक, (रथस्य स्थाता) इस रथ या देह या विशाल ब्रह्माण्ड

^२ रुजो भङ्गे (उदादिः) रुज हिसायाम् (चुरादिः) ।

रूप रथ के अधिष्ठाता (अपाम् अजः) कर्मों और मनः संकल्पों के प्रेरणा करने वाले, (हयोंः अभिस्वरः) प्रायेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय अथवा प्राण और अपान इनका साक्षात् रूप से प्रेरक (इन्द्रः) आत्मा और परमात्मा (दृढाचित्) दृढ़ से दृढ़, कठोर से कठोर बन्धनों या विघ्नों को भी (आरुजः) विनाश कर देता है ।

(६) हे इन्द्र ! (एवं) आप (गंभीरान्) गभीर (उदधन् इव) समुदों को जिस प्रकार निरन्तर सहस्रों जलधारा पुष्ट करती हैं । और वह सूखते नहीं उसी प्रकार आप इस (ऋतुं) जीवात्मा को नाना जीवन धाराओं से पुष्ट करते हो कभी विनाश नहीं होने देते । और (सुगोपाः) उत्तम गोपालक (गा० इव) जिस प्रकार अपनी गौओं को (प्र पुण्यति) खूब खिलाकर पुष्ट करता है उसी प्रकार आप जीवों को भी खूब अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं । और (यथा) जिस प्रकार (घेनवः) गौएं (यवसे) अपने चारे पर आती हैं उसी प्रकार ये जीवगण आपके पास पहुंच जाते हैं और (कुल्या इव) जिस प्रकार सब नहरें या नदियां (ह्रदं) विशाल ताल या समुद्र में आ गिरती हैं उसी प्रकार ये जीव आप में ही सब भेदभाव त्याग कर आ मिलते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ २
[१७२१] यथा गौरो अशक्तं तृण्यन्नैत्यवोरिणम् ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आपि त्वे न. प्रपित्वे तूयमागहि कण्वेषु सु सचा पिव॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७२२] मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्द्वो राधो देयाय सुन्वने ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ १
आमुष्या सोममपिवश्मसूतं ज्येष्ठ तदधिपे सह॥२॥४॥

अ० ८ । ४ । ३, ८ ।।

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२५२] पृ० १२८ ।

(२) हे (मधवन्) ज्ञानवान् आत्मन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (इन्द्रव.) ये सोमरस ज्ञान और आनन्ददायक समाधि के विशेष अनुभव (त्वा) तुम्हको (मन्दन्तु) हर्षित करें । (सुन्वते) ज्ञानरस को उत्पन्न करने हारे साधक विद्वान् योगी के (राधः) सिद्धि (देयाय) प्राप्त कराने के लिये (चमू-सुतं) प्राण और अपान रूप चमू दोनों से उत्पन्न किये गये (सोमम्) सोम अर्थात् आनन्दरस को (अमुष्य) गुप्तरूप से प्राप्त करके स्वयं (सोमम्) ब्रह्मानन्द को (अपिवः) पान करता है और तू (तत्) उस अलौकिक (ज्येष्ठं) सबसे महान् (सह) सह, स्वरूप, सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अपने भीतर (दधिपे) धारण करता है ।

[१७२३] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।

न त्वदन्या मधवन्नास्ति मर्दितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१॥

[१७२४] मा ते राधासि मा त ऊनया वसोऽस्मान् कदाचनादभन् ।

विश्वा च न उपमिमीहि मानुषवसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२॥५॥

अ० १ । ८४ । १६, २० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४७] पृ० १२६ ।

(२) हे (वमो !) सर्व संसार को बसाने हारे परमात्मन् ! (ने) तेरे (राधासि) बलस्वरूप पञ्चभूत (कदाचन) कभी (मा दभन्) विनाशकारी न हों । और (ते ऊनय.) तेरी समस्त पालक शक्तियों (अस्मान्) हमें कभी (मा दभन्) विनाश न करें । और हे (मानुष) मनुष्य ! तू (विश्वा च) समस्त (वसूनि) आवास-साधनों को (उपमिमीहि) स्वयं उत्पन्न कर और उनको ज्ञान कर । और (नः चर्षणिभ्य) हम विद्वान् पुरुषों को वे ज्ञाना पदार्थ जो तू जानता और तैयार करता है (आ) प्रदान कर ।

इति प्रथम खण्डः ।

—०.—

^{२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २}
[१७२५] प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः ।

^{३ १ २ ३ २}
दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
[१७२६] अभेव चित्रारुपी माता गवामृतावरी ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २}
सखाभूदाभिनोरुपा ॥ २ ॥

^{३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २}
[१७२७] उत सखास्यभिनोरुत माता गवामसि ।

^{३ २ ३ १ २}
उतोषो वस्व ईशिपे ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ४ । २२ । १-२ ।

भा०—(१) (स्या) वह (दिवः) सूर्य की (दुहिता) पुत्री उषा (परि स्वसुः) रात्रि के उपरान्त (व्युच्छन्ती) सम को दूर करती हुई (सूनरी) उत्तम नेत्री रूप (जनी) स्त्री के समान (प्रति आदर्शि) प्रकट होती है ।

अथवा—(स्या सूनरी जनी) वह उषा उत्तम पुत्र उत्पन्न करने हारी, शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री के समान (स्वसुः परि) अपनी भगनी के पीछे २ (व्युच्छन्ती) अपना रूप प्रकट करती हुई लोक में प्रकट होती है, उसी प्रकार वह (दिवः) आदित्य के समान प्रकाशमान योगी की (दुहिता) आनन्द रस का दोहन करने वाली ज्योतिष्मती प्रज्ञा (स्वसु) स्वयं सरण करने वाली, आप से आप प्रकट होने वाली प्रतिभा के (परि) साथ २ (जनी) उत्पन्न होती हुई ज्ञान उत्पन्न करने हारी (सूनरी) उत्तम-मोक्ष-मार्ग की नेत्री होकर (प्रति-आदर्शि) दिखाई देती है ।

(२) (उषा) अज्ञानाङ्कुरों का दहन करने हारी उषा साधक की विशोका प्रज्ञा (अम्बा) व्यापनशील विधुत् के समान (चित्रा) विचित्र संज्ञानवती, (अरुपी) सब प्रकार से कान्तिमती तेजस्थिनी, (गवां) इन्द्रियरूप गौशों की (माता) उत्पादन करने वाली (अमृतावरी) साय

ज्ञान को ग्रहण करने हारी या प्राप्त करने हारी अतन्मरा स्वरूप (अग्निना) शरीर भर में व्यापक प्राण और अपान इन दोनों की (सखा) साथ रहने वाली, उनके साथ ही वर्णन की जाने योग्य, अथवा समान रूप से इन्द्रिय देशों में व्याप्त (अभूत्) है।

(३) पूर्व अग्नि के समान ही है (उप०) ज्योतिष्मति । विशोका नामक प्रज्ञे ! (उत्त) यद्यपि (अग्निनोः) अग्नि अर्थात् प्राण और अपान दोनों की तू (सखा असि) सखा है, (उत्त गवां माता असि) और गो अर्थात् इन्द्रियों की तू उत्पादक माता के समान है । अथवा उनके गृहीत ज्ञान को भी ग्रहण करने हारी, प्रमात्री है (उत्त) तथापि हे उषः ! प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञे ! तू (वत्स) आत्मा या प्राण की (इंशिषे) शक्ति को धारण करती है ।

[१७२८] एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।

स्तुत्रं घामश्विना बृहत् ॥ १ ॥

[१७२९] या दक्षा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम् ।

धिया देवा वसु विदा ॥ २ ॥

[१७३०] वच्यन्त वा ककुहासा जूरायामधि विष्टपि ।

यद्वा रथो विभिष्यतात् ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । ४६ । १—३॥

भा०—(१) (एषा उ) यह (उषा) उषा, सकल पापदाहिका विशोका प्रज्ञा (अपूर्व्या) योगी के अनुभव में पूर्व कभी न आई हुई (दिवः) प्रकाशमान आत्मा की (प्रिया) अत्यन्त प्रेमपात्र है । हे (अग्निना) देह में निरन्तर गति करने वाले प्राण और अपान इस विशोका की प्राप्ति के लिये (वा) आप दोनों के (बृहत्) बहुत अधिक (स्तुत्र) गुणकारी होने का बयार्थ वर्णन करता है ।

(२) (या) जो दोनों (देवा) देव, प्राण और अपान (दत्ता) अत्यन्त दर्शनीय, अथवा काम क्रोधादि मल्लों के नाशक, अथवा सब कर्म करने हारे, या रोग विनाशक, शरीर के भीतर सब के कर्म के करने कराने हारे (सिन्धुमातरौ) देह के सब रक्तप्रवाहिनी नदियों या प्राणों को प्रवाहित करने हारे उनको ठीक रीति से संचालक, (रयीणां) सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेंन्द्रियों के ज्ञान और कर्मों को (मनोतरा) मनोबल द्वारा प्रेरणा करने और मनोबल से ही उनके ज्ञान और क्रिया को स्वयं प्राप्त करने कराने हारे (धिया) ध्यान वृत्ति से (वसुविदा) वसु, आत्मा को ज्ञान कराने वाले या, उस तक स्वयं पहुँचने वाले हैं ।

(३) पूर्वोक्त रूप से वर्णित किये गये हे अरिवयो ! (वा) आप दोनों का (रथः) रमणस्थान यह आत्मा (यत्) जय (निभिः) पदार्थों तक पहुँचने वाले प्राणमयों सहित (जूर्णायाम्) अतिप्रशंसा योग्य या सनातन (अधि विष्टपि) मोक्षस्थान पर (पतात्) गमन करता है तब (वां) आप दोनों के (फकुहासः) उत्तम गुण (वच्यन्ते) धर्मेण किये जाते हैं । उन दोनों का (रथः) रमण स्थान यह देह (जूर्णायाम् अधिविष्टपि) जीर्णदशा, वृद्धावस्था तक पहुँच जाता है । पूर्णायु भोग लेता है तब उन दोनों के गुण वर्णन किये जाते हैं ।

१७२८—१. दशि दशदर्शनयोः । दसि दस इत्येके (चुरादिः), दसि भावायः (चुरादिः), तसु उपपद्ये दसु च (दिवादिः) इत्येतेभ्यो 'स्फायितस्त्री सि०' औणादिको रक् (उणा० २ । १३) । दस्मति रोगान् उपपद्यति इति दसः (दया० उणा०) दत्ता ज्ञानूना दासयितारौ, दसयितारौ, कर्मणा कृष्यादीनां कारयितारौ । पतावेविधौ कर्म कारयन्तौ दुर्वाणौ वा इति दुर्गाचार्यः (निर० अ० ६ ख० २६) नीलकण्ठीकायाम् ।

२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३१] उपस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३२] उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरी ।

३ २ ३ १ २
रेवदस्यै व्युच्छं सनृतावति ॥ २ ॥

३ १२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७३३] युंत्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणौ उष ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अथा नो विश्वा सौमगान्यावह ॥ ३ ॥ ८ ॥

अ० १ । ६२ । १३-१५ ॥

भा०—(१) हे (उषः ^१) कमनीय कन्या के समान विशोकप्रज्ञे ! ज्योतिष्मति ^२ ! हे (वाजिनी वति) ज्ञानमय वाणी से युक्त ! (अस्मभ्यं) हमें । तत् (चित्र) सग्रह योग्य प्राप्तव्य ज्ञान (आभर) प्राप्त करा । (येन) जिससे (तोक) पुत्र के समान प्रिय एवं क्रीडाशील चित्त और (तनयं) समान बालन पालन योग्य हम देह को (धामहे) धारण करें, चिरकाल तक जितेन्द्रिय, चिरायु हाकर रहें ।

(२) हे (विभावरी ^३) ज्योति से सम्पन्न या विशेष कान्ति से वरण करने योग्य, या कान्ति से सम्पन्न ज्योतिष्मति ^४ ! हे (उष) आभ्यन्तर मलों को दाह करने हारी चित्तिशक्ति ! हे (गोमति) वाणी या ज्ञानेन्द्रियों या राशिमयों से युक्त ^५ ! हे (अश्वावति) अश्व अर्थात् कर्मेन्द्रिय या मनरूप अश्व वाली ^६ ! हे (सनृतावति) उत्तम ऋत अर्थात् त्रिकालबाधित ज्ञान से सम्पन्न

१ ७३३—१. उष दाहे, (म्वादि), उपस् प्रमानमावे (कण्वादि.) तयो रूपः किचेति असिरौणादिः (उणादि० ४ । २३४) । ओषति दहतीति उषः, कर्णच्छिद्र, पर्वतभेदो वा, (क्षिप्वा) प्रमातप्रकाशः (दया०) ।

अथवा सूनुता वेदवाणी का दर्शन मनन और निदिध्यासन करने दारी तू
(अस्मै) हमारे लिये (रेवत्) रथि, अर्थात् ज्ञान प्राण और ऐश्वर्य से युक्त
आत्म स्वरूप को (व्युच्छ्र) हमारे सामने खोल दे ।

(३) हे उप. ! हे वाजिनीवन्ति ! (अथ) आज (अरुणान्) चेत
नाश से युक्त दीप्तिमान्, अथवा रोगरहित (अश्वान्) प्राणों को (युध्व हि)
इस ढंहरूप रथ में प्रेरित कर । (अथा) और (नः) हमें (विश्वा)
समस्त (सौभागानि) उत्तम सुखदायी पदार्थों को (आवह) प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ १६ २२ ३ १ २
[१७३४] आश्वना वरिस्मादागामदक्षा हिरण्यवत् ।

३ २६ ३ १ २ ३ १ २

अर्वाग्रथ समनमा नियच्छतम् ॥ १ ॥

२६ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२

[१७३५] एह देना मयं भुवा दक्षा हिरण्यवर्त्तनी ।

३ १ २ ३ १ २

उपर्ध्वो नहन्तु लोमपीनये ॥ २ ॥

१ ३ २६ ३ २ ३ २६ ३ १ २ ३ १ २

[१७३६] यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रधुः ।

२ ३ १ २

३ ०

आ न ऊर्ज वहनमश्विना युवम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० १ । ६१ । १६, १८ १७ ॥

भा०—(१) हे (अश्विनौ) देह में व्यापनशील ! प्राण और
अपान ! आप दोनों (दक्षौ) रोगों के विनाशक हो । अतः आप दोनों (स-
मनसा) हमारे मन के मानस बल के साथ होकर (हिरण्यवत्) आत्मा
से युक्त और (गोमन्) इन्द्रियों से युक्त (रथम्) इस रमण योग्य उत्तम
रथ रूप देह को (अर्वाग्) अपने अधीन करके साक्षात् रूप से (नियच्छ-
तम्) नियम में रखेंगे ।

(२) (इह) इस देह में (उपर्ध्वः) ज्योतिष्मती प्रजा को ज्ञान-
जागृति से चेतन कर लेने वाले अथवा प्रबुद्ध यांगी जन (हिरण्यवर्त्तनी)

आत्मा के बल पर अपनी चेष्टा करने वाले अथवा आत्मारूप रथ पर चढ़े हुए अथवा हिरण्य=आत्मा को, चर्त्तन्ति अर्थात् अपना प्रेरक और आश्रये बनाने हारे, (दत्ता) मत्तादिशोधक, अतएव (मथोभुवा) सुख और आरोग्य के उत्पादक, (देवा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (सोमपीतये) तद्वानन्दरस को पान करने के लिये (आवहन्तु) अपने वश करें ।

(३) हे (अश्विनौ) पूर्वोक्त प्राण और अपान ! (यौ) जो आप दोनों (इत्या) इस प्रकार से (दिवः) द्यौलोक या मूर्धाभाग से (श्लोकं) प्रशमनीय या अतिघनीभूत ज्योति विशोका, विवेक ख्याति को (जनाय) साधक पुरुष के लिये (चक्रधुः) उत्पन्न करते हो वे ही (युवं) आप दोनों (नः) हम लोगों के लिये (ऊर्जे) परम पोषक स्वरूप बल को (आवहन्तम्) प्राप्त कराओ ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

उ १२ २२ ३ २४ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ २ ३ १ २
 [१७३७] अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः । अस्ममर्वन्त
 उ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 आशचोऽस्तं नित्यासो वाजिन इपं स्तातृभ्य आभर ॥१॥
 उ २४ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २४ ३ २
 [१७३८] अग्निर्हि वाजिनं विशं ददाति वज्रचर्पणि । अग्नी रायं
 उ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 स्वाभुवं न प्रीतो याति वार्यमिष स्नेतृभ्य आभर ॥२॥
 २ १२ २२ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २ १२ २२
 [१७३९] सो अग्निर्यो वसुर्गणे लं यमायन्ति धेनव । समर्वन्तो
 उ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 रघुद्रुवः समुजानासः सूरय इपं स्तातृभ्य आभर ॥३॥
 १० ॥ अ० ५ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आदिकल सं० [५२५] पृ० ।

(२) (हि) निश्चय से (विशे) प्रजाओं के हित के लिये (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा हमें (धाजिनं) बलवान् पुरुष, ज्ञानी पुरुष और अज्ञादि पदार्थ (ददाति) देता है । वह (विश्वचर्पाणिः) समस्त ससार को देखने वाला सर्वसाक्षी, (अग्निः) प्रत्येक अंग २ में व्यापक सबका प्रकाशक है । (सः) वह (प्रीतः) उत्तम प्रेम से परिपूर्ण एवं प्रसन्न होकर प्रभु (स्वा भुवम्) अपने आश्रय पर प्राण धारण करने वाले जगन् को (राये) उत्तम कल्याण के लिये (याति) प्राप्त होता है और वही (स्तोतृभ्यः) विद्वान् वेदज्ञों को (वार्यम्) वरण करने योग्य (इयं) ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान करे ।

(३) (सः) वह (अग्निः) 'अग्नि' (गृणे) कहा जाता है (यः) जो (वसुः) समस्त ससार को बसाने हारा और स्वयं सब में बसने हारा, सब का आच्छादक, शरण्य है । और (यं) जिसके शरण में (धेनवः) गौएँ, घाणियाँ एवं ज्ञानरस का पान करने और कराने हारे विद्वान्जन (सम् आयन्ति) पहुँचते हैं । और जिसके शरण (रघुदुषः) ज्ञान मार्ग में गमन करने वाले विद्वान् (सम्) प्राप्त होते हैं, उपासना करते हैं, और (सुजातासः) ससार में उत्तम स्थिति को प्राप्त, कृतकृत्य, यशस्वी (सूरयः) सूर्य के समान प्रजाओं को धर्ममार्ग में चलाने हारे महापुरुष जिसके शरण में (सम्) आजाते हैं वह तू परमेश्वर ज्ञानस्वरूप (स्तोतृभ्यः) विद्वान् उपासकों को (इयं) उत्तम ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान कर ।

२ 'सप्रीतो याति' इति पाठः सायणादिसम्मतः । अजमेरुद्रिते तु 'सुप्रीतो' इति निरामनादरणीयः, कापि नोपलम्भात्, ऋक्पाठविरोधाच्च 'सप्रीतो' इत्येष ऋग्वेदीयः पाठः ।

- [१७४०] महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती । यथा चित्रो
 अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनुते ॥१
- [१७४१] या सुनीथे शौचद्वये व्यौच्छो दुहितर्दिवः । सा व्युच्छ
 सहीयसि सत्यश्रवासे वाय्ये सुजाते अश्वसूनुते ॥२
- [१७४२] सानां अद्यो भरद्वसुवर्गुच्छा दुहितर्दिवः । या व्यौच्छ
 सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनुते
 ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ५ । ७९ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (उपः) उपा के समान ज्योतिष्मति विशोका प्रज्ञे !
 तू (दिवित्मती) ज्योतिष्मती होकर (अद्य) आज, अब (महे) बड़े
 भारी (राये) आत्मज्ञानरूप धन को प्राप्त करने के लिये (नः) हमें
 (बोधय) जगा, ज्ञानवान् कर, प्रबुद्ध कर । हे (अश्वसूनुते) व्यापक
 आत्मा में शुभ, श्रुत अर्थात् उत्तम ज्ञान को पूर्ण करने और वाणी को
 धारण करने वाली प्रज्ञे ! (वाय्ये) जुने जाने योग्य सूत्र के समान अवि
 च्छिन्न, निरन्तर विद्यमान, सब इन्द्रियों को उस सूत्र में पिरोने हारे (सु-
 जाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भाव होने वाले (नः) हमारे (सत्यश्रवसि)
 सत्य संकल्पकारी आत्मा में (यथाचित्) जिस प्रकार से उत्तम रीति से
 हो सके उस प्रकार (अबोधयः) तू ज्ञान का प्रकाश कर । देखो व्याख्या
 अधिकृत संख्या [४२१] पृ० २१५ ।

(२) (दिवः) हे सूर्य के समान प्रेरक आत्मा के (दुहितः) आ-
 नन्दरस का दोहन करने वाली उपः । श्रुतम्भरे ! (या) जो तू (सुनीथे)
 उत्तम पद पर प्राप्त, मुक्त (शौचद्वये) अति पवित्र, शुद्ध, चित्स्वरूप
 आत्मा में, (व्यौच्छः) अज्ञान आवरण को हटाती रही है वैसे ही अन्न, हे

(अश्वसूनुते) आत्मामें सत्य आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान को सम्यवाणी और धारण करने हारी अतमभरे ! (सा) वह तू (वाय्ये) तन्तु या पट के समान निरतन्तर अविच्छिन्न क्रिया साधन करने हारे (सत्यश्रवसि) सत्यज्ञानमय (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भूत (सहीयसि) सहनशील यज्ञवान् आत्मा में भी (व्युच्छ) अज्ञान के आवरण को दूर कर ।

(३) हे (दिवः दुहितः) आत्मा के रस दोहन करने हारी विशोके ! (भरद्-वसुः) वसुरूप प्राणों और मुख्य आत्मा को ज्ञान से भरपूर करने वाली पूर्वोक्त ! तू (या) जो (सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते) सहनशील तपस्वी, सत्यज्ञानी, अविच्छिन्न, उत्तम, शुभरूप से प्रकाशमान आत्मा से (व्यौच्छः) आवरण को दूर करती है (सा) वह तू हे (अश्वसूनुते) आत्मा को सत्यज्ञान से पूर्ण करने हारी तू (नः) हमारे अज्ञान को भी (अद्य) आज (व्युच्छः) दूर कर ।

उपा के दृष्टान्त से गृहपत्नी के कर्तव्य भी इस सूक्त में बतलाये हैं ।

[१७४३] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} प्रति प्रियतमं रथ वृषणं वसुवाहनम् ।
^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} स्तोता चामश्विना वृषिः स्तोममिभूषति प्रति ।
^{२ ३ १ २ ३ १ ३} माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

[१७४४] ^{३ १ २ ३ २ २ २ ३ १ २ २ २} अत्यायातमश्विना तिरौ विश्वा अह सना ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३} वस्त्रा हिरण्यवर्त्तना सुपुम्णा सिन्धुवाहसा ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २} माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ २ ॥

[१७४५] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ २} आ नो रत्नान विभ्रतावश्विना गच्छन् युवम् ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २} रुद्रा हिरण्यवर्त्तनी जुपाणा वाजिनीवसू ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २} माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० १।७।५।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४१८] पृ० १३ ।

(२) हे (अग्निना), पूर्वोक्त प्राण अपानरूप अग्निदेवो ! आप (दक्षा) दोषों के परिशोधक, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मा के आश्रय पर विराजमान, (सुपुम्ना) उत्तम सुख के देने हारे, अथवा 'सुपुम्ना' उत्तम रूपसे शरीर में व्यापक, सुपुम्ना रूप से विद्यमान, (सिन्धुवाहसा) गतिशील नादियों में रुधिर को प्रेरित करने हारे, (माध्वी) मधुर, अमृतमय मधुविद्या से युक्त (सना) सनातन से वर्त्तमान, आप दोनों (अतिआयातम्) सब वाचाओं को पार करके प्राप्त होवो (अहं) और मैं आत्मा (विश्वाः) सब को (तिरः) पार करूं । अतः आप (मम) मेरी (हवम्) उपासना या आज्ञा या वचन को (श्रुतं) श्रवण करो ।

(३) हे (अग्निनौ) अग्निदेवो ! (युवं) आप दोनों (रत्नानि) रमण साधन इन्द्रियों को धारण करते हुए (न) हमारे पास (आगच्छतं) आओ । आप दोनों (रुद्राः) देह को छोड़ते समय कष्ट देने हारे, रुताने हारे, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मरूप रथ पर गति करने वाले (वाजिनीवत्) ज्ञानमयी और बलमयी चित्ति शक्ति में बसने हारे (माध्वी) मधु-विद्या, आमाविद्या जानने हारे, (श्रुपाया) नित्य इस जीवन यज्ञ को सेवन करने वाले (मम हवं श्रुत) मेरे वचन को श्रवण करो मेरे वशवर्ती रहो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

१ २ ३ २ ३ ० ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ०
[१७८६] अचोप्यग्निः समिधा जनानास्पति धेनुमिवायतीमु-
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
पासम् । यद्वा इव प्रवयामुज्जहानाः प्र भागवः सकृत्
२ ३ १ २
नाकमच्छ ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
 [१७४७] अबोधि होता यजथाय देवानूध्वो अग्नि सुमना
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

प्रातरस्थात् । समिद्धस्य रुशददर्शि पाजां महान्दधस्त-

२२ ३ १ २
 मसो निरमोचि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१७४८] यदो गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्गुके शुचिभिर्गोभि-
 ३ २ १ २ २ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

रग्निः । आहृदिणा युज्यते वाजयन्त्यूत्तानामूध्वो अ-

३ १ २
 धयज्जुह्वभिः ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ५ । १ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [७३] पृ० ३८ ।

(२) (देवान्) विद्वानों और ३३ देवों को (यजथाय) एकत्र संगति करने के लिये, (होता) समस्त जगत् का दान अर्थात् उ पत्ति और आदान अर्थात् प्रलय का कर्त्ता (अग्निः) सूर्यके समान स्वयं प्रकाशक परमात्मा, (सुमनाः) उत्तम ज्ञान से युक्त (अबोधि) सदा उदित होता है । वही सबसे (ऊर्ध्वः) ऊपर विराजमान होकर भी (प्रातः) प्रकट रूप से व्यापक होकर प्रातः उदित सूर्य के समान सर्वत्र (अस्थात्) विद्यमान रहता है । (समिद्धस्य) दग्दीप्यमान उस महान् प्रभु का (रुशत्) तेजस्वी (पाजाः) बल (अदर्शि) साक्षात् दीखता है । वही (महान् देवः) महान् देव, सूर्यके समान महा देव समस्त चर अचर संसार को (तमसः) मृत्युरूप तम से (निरमोचि) सर्वथा मुक्त कर निश्चेयस प्राप्त कराता है । प्रातः—प्राततेरङ्गु (उणादि० ५ । ५६) प्रकटमतति गच्छति इति प्रातः (दया० उ०) ।

(३) (यद्) जब (ई अग्निः) यह अग्नि, स्वयंप्रकाश समस्त जगत् का प्रकाशक, सब का प्रबोधक परमात्मा (गणस्य) सब प्राणियों और स्थावर पदार्थों की (रशना) भोग सामग्री और उसमें व्यापक चेतना शक्ति और नियामक शक्ति को स्वयं (अजीगः) अपने वश में किये

है अपने आप समेटे हुए हैं और वही (अग्निः) सूर्य के समान प्रकाशक (शुचिभिः) शुद्ध (गोभिः) रश्मियों और वेदवाणियों द्वारा और तेजस्वी पितृओं द्वारा (अङ्गैः) समस्त विश्व के ज्ञानों और पदार्थों का प्रकाशित कर रहा है तब (वाजयन्ती) ज्ञान और कर्म का सम्पादन और बल का प्रकाश करने वाला (दक्षिणा) विश्वदमनकारिणी शक्ति को (युज्यते) संसार को मदान् कार्यों में जगाता है । और (उत्तानां) उत्कृष्ट रूप से सर्वत्र विसृत उस शक्ति को (ऊर्ध्वे) वह समस्त उच्च पद पर विराजमान परमात्मा (जुह्विभिः) अपनी दान, आदान क्रियाओं द्वारा (अधयत्) अपने वश करता और अपना बल प्रदान करता है उसको अपने भीतर ही लीन करता या धारण करता है ।

अशेरशच् (उणादि० २ । ७५) अश्नुते व्याप्नोति इति रशना (दया० उ०) :

उ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३
[१७४६] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषा ज्योनिरागाश्चित्र प्रकेतो अजनिष्ट
१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ ३
विभवा । यथा प्रसूता सत्रितुः सवायैवा राज्युषसे
१ २
योनिमरैक् ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१७५०] कशदत्सा कशती श्वेत्यागादरैगुकृष्णा सदनान्यस्याः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २
समानबन्धू अमृते अनूची हावा वर्णं चरत आभिमाने
॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
[१७५१] समानो अष्वा स्वस्रोर्गन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न मेथेने न तस्थतुः सुमेके न कोपासा समनसा त्रिरूपं
॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० १ । ११३ । १-३ ॥

भा०—(१) (इदं) यह साक्षात् (श्रेष्ठं) सबसे उत्कृष्ट (ज्योतिषो ज्योतिः) सब ज्योतिष्मान् दिव्य पिण्डों को भी प्रकाशित करने द्वारा ज्योति (आगात्) प्राप्त होता है । और इसी ज्योति से यह (चित्रा) अद्भुत आश्चर्यजनक परमपूजनीय ग्रहण करने योग्य (प्रकेतः) उत्तम प्रज्ञान (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है । (यथा) जिस प्रकार उत्पन्न हुई उषा (सवितुः) सूर्य के (सवाय) उत्पन्न होने के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) रात्रि (उपसे) उषा के लिये (योनिम्) पूर्वरूप को (भारैक्) जोड़ती है (एवा) उसी प्रकार अतम्भरारूप उषा (सवितुः) सर्व प्रेरक ब्रह्म के (सवाय) ज्ञान प्रादुर्भाव के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) सब को सुख प्रदान करने वाली सुषुम्ना (उपसे) अतम्भरा प्रज्ञा के उदय के लिये (योनिं) आश्रय स्वरूप आत्मा को (भारैक्) सम्पर्क करा देती है ।

राशदिभ्यां त्रिप् (उणादि० ४ । ६७) रातिसुख ददाति इति रात्रिः (दया० उ०)

(२) (श्वेत्या) जिस प्रकार शुक्लवर्णा गौ या महिला के समान उषा (रुशती) दीप्तियुक्त होकर (रुशद्भस्मा) देदीप्यमान सूर्य को अपने श्वेत बन्ध के समान साथ लिये अती है और (उ) मानो (कृण्या) श्याम गोया महिला के समान रात्रि (अस्या) उस श्वेत गौर-उषा के लिये (सदनानि) विराजने के निमित्त स्थान (भारैक्) खाली कर देती है, आदर से छोड़ देती है ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों (समानबन्धू) समान रूप से प्रिय बन्धु हों । और दोनों ही (अमृते) कभी न मरने वाली (अनूची) अनिवर्चनीय होकर (वर्णा) समस्त जगत् के वर्णनीय रूप को साक्षात् करने योग्य (आमिनाने) बनाती हुई (द्यावा) तेजोरूप होकर (चरतः) विचरण करती हैं । उसी प्रकार यह उषा रूप विशोका प्रज्ञा स्वयं अध्यात्म कान्तियों से सम्पन्न होकर अपने राक्षसान् यज्ञक

प्राण को या हंसरूप आत्मा को साथ लिये प्रकट होती है और कृष्ण= आकर्षण करने वाली या दुःखों को काटने वाली सुषुम्ना वृत्ति (अस्याः सदनानि अरैक्) इस विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा के लिये उचित भूमि या आधार तैयार कर देती है । ये दोनों ही (अमृते अनूची समानबन्धू) अमृतरस, आत्मानन्द से पूर्ण, अवर्णनीय और समान नामक सर्वगत प्राण द्वारा बद्ध होती है, या परस्पर समान रूप से सम्बद्ध होती है । ये दोनों (वर्णं आमिमाने) वरण करने योग्य आनन्द या आत्मज्ञान को उत्पन्न करती हुई (धावा चरतः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के साथ वर्तमान रहती हैं ।

(३) (स्वप्नोः) रात्रि और उपा इन दोनों भगिनियों या भाई बहनों का (समानः) समान रूप से (अनन्त) अनन्त (अद्वा) मार्ग है । (तं) उस मार्ग पर (देवशिष्टे) देवरूप सूर्य से अनुशिक्षित होकर ये दोनों (अन्या अन्या) एक २ करके (चरतः) चलती हैं । (सुमेके) शुभ लक्षण वाली (नङ्गोपासा) रात्रि और उपा दोनों (विरूपे) विरुद्ध रूप काली और श्वेत, तम और प्रकाश रूप होकर भी (समनसा) एकचित्त होकर परस्पर (न मंथेते) न लड़ती भिड़ती हैं और (न तरयतुः) न कभी कही रुकते हैं । इसी प्रकार इन रात्रि और उपा के समान इस देह में विशोका और सुषुम्ना वृत्ति इन दोनों (स्वप्नोः, अद्वा समान.) बहनों का या स्वयं सरण करने वाली, स्वयं प्रकट होने वाली दोनों वृत्तियों का (अद्वा) मार्ग या आश्रय समान है या वह सर्वत्र देह में समभाव से वर्तमान आत्मा ही है । (देवशिष्टे) प्रकाशमान ज्ञानी आत्मा से अनुशिक्षित होकर दोनों (अन्या अन्या) जुड़ी जुड़ी (तं चरतः) उसी को प्राप्त होती है । अर्थात् ये दोनों अवस्थाएं उसी आत्मा की हैं । ये दोनों (सुमेके) उत्तम रूप से आनन्द के उत्पन्न करने वाली धर्ममेघ समाधि के स्मरण करने वाली (विरूपे) सुख और ज्ञान दो प्रकार के भिन्न २

अनुभव कराने से विभिन्न २ रूप वाली होकर (समनसा) समान रूप से एक ही मन का आश्रय लेने वाली (न मेधेते) एक दूसरे का बाधक नहीं होतीं और (न तस्थतुः) निरन्तर स्थिर भी नहीं रहतीं प्रत्युत क्रम २ से प्रकट होती हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ २
 [१७५२] आभात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणान्देवया वाचो अस्थुः ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २
 अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्म-
 २ २
 मच्छ ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १
 [१७५३] न सस्कृतं प्रमिमीतो गविष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह ।
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २
 दिवाभिपित्वेऽवसा गमिष्ठा प्रत्यघर्ति दाशुपे शम्भविष्ठा
 ॥ २ ॥

३ १ २ २ ३ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१७५४] उतायातं सङ्गवे प्रातरहो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य ।
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ २
 दिवानक्लमवसा शन्तमेन नेदानीर्पीतिरश्विना ततान ॥
 ३ ॥ १५ ॥ अ० ५ । ७६ । १-३ ॥

भा०—(१) (अग्निः) सूर्य (उपसाम् अनीकम्) मानो उपागों का मुख हो ऐसे (आभाति) प्रकाशित होता है । (विप्राणा) मेधावी विद्वान् भक्त पुरुषों की (देवया) इष्टदेव परमात्मा तक पहुँचने वाली (वाचः) वेदमन्त्र ध्वनिया (उद्-अस्थुः) उठने लगती है । हे (अश्विनो) अग्निदेवों ! प्राण और अपान एवं स्त्री पुरुषों ! हे (रथ्या) देहरूप रथपर आरूढ प्राण और अपान आप दोनों ! (इह) इस देह में (अर्वाञ्चम्) निग्न देश में गति करने वाले होकर भी (यातम्) अब ऊपर आओ और (पीपिवास) यथावर बढ़ते हुए (घर्म) ज्योतिस्वरूप रस को (अच्छः), साक्षात् करो । अथवा

(अग्निः, उपसां अनीकं) अग्निहोत्र की अग्नि उपाओं का मुखरूप होकर (आभाति) प्रकाशित होता है ।

अथवा—अध्यात्मपक्ष में विशोका प्रज्ञाओं का (अनीक) पूर्वरूप मुखरूप (अग्निः) विशेष तेज (आभाति) धारणाप्रदेशों में प्रकाशित होता है । उसी समय विद्वान् पुरुषों की इष्टदेव आत्मविषयक वेदवाणियाँ प्रकट होती हैं । शेष पूर्ववत् हे (अश्विनौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों रथपर देह के हितकरी होकर (अर्वाञ्चा) साक्षात् रूप से प्रकट होकर (पीपिवांसं धर्मम्) बराबर बढ़ते हुए तेज को (अञ्छ यातं) उत्तम रीति से प्राप्त होओ या प्राप्त कराओ । जैसाकि श्वेताश्वर उपनिषद् (अ० २ । ११ । १२ ।) में लिखा है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योताविद्युत्स्फटिकशशिनाम् ।

पुतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि श्रोत्रे ॥

पृथिव्यसेजोनिबन्धे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् ॥

योग समाधि के अभ्यास के अवसर में ब्रह्मसाक्षात् के पूर्व नीहार धूम, सूर्य, अग्नि, विद्युत् स्फटिक आदि के रूप प्रकट होते हैं । उस समय पाचों मूर्तों पर वश हो जाता है । जरा और मृत्यु हट जाती है शरीर योगाग्निमय हो जाता है ।

(२) हे (उपस्तुता) प्रशंसनीय ! आदर योग्य ! हे (अश्विनौ) अश्विगण प्राण और अपान ! या स्त्री पुरुषों ! आप दोनों (अन्ति) अत्यन्त समीप (गमिष्ठा) प्राप्त होने हारे (सस्कृत, उत्तम रूप से तैयार किये इस ब्रह्मरस को (न प्रमिमोते) विनाश नहीं करते । प्रत्युत (दिवा अभिपित्वे) प्रकाश या दीप्ति के प्राप्तिकाल में आप दोनों (अवसा) अपने पालक बल सहित (आगमिष्ठा) अवश्य प्राप्त होते हो और (वाशुधे) अपने को समर्पण करने हारे आत्मा के (अचरिं प्रति) पुनः जीवन में लौट

कर न आने अर्थात् मुक्त हो जाने के निमित्त (शस्त्रभिषिष्टा) कल्याणकारी होते हो ।

(३) हे (अरिचना) अरिवराण ! प्राण और अपान आप दोनों (अह्ना) दिन के (प्रातः) प्राप्त होने पर प्रातः काल में (उत) भी (आयातम्) आइये । और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) ऊर्ध्वस्थान पर प्राप्त होने के (मध्याह्ने) मध्याह्न काल में भी आइये । और (शान्तमेन) अति कल्याणकारी सुख शान्तिदायक (अवसा) अपने पालक बल द्वारा प्राप्त होइये । (इदानीं) इस समय अन्य इन्द्रियों की (पीति.) रसास्वादन की क्रिया (न आतप्तान) नहीं की जाती बल्कि यह केवल ब्रह्मरस के आस्वादन का भाग आपके ही करने का है । प्रातः मध्याह्न और साय इन तीनों कालों में प्राणायाम करने से योगियों को विशेष सुख की प्राप्ति होती है । अथवा तेज पुञ्जों के प्रकट होने के प्रारम्भ, मध्य और नैरन्तर्य काल में अर्थात् जब दिवानक्त अर्थात् रात दिन समान रूप से हो तब भी प्राण और अपान ही ब्रह्मरसास्वादन में भारी सहायक है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७५५] एना उ त्या उपस० केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुः
३ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
मञ्जने । निष्कुर्यान्ना आयुधानीव धृष्याव० प्रति गावोर०
३ १ २

पीर्यन्ति मातरः ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[१७५६] उदयसन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुपिर्गो अयुक्षत ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
अक्रन्नुपासो ध्युनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिभ्रयुः
॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
 [१७५७] अर्चन्नि नारीरपसो न विष्टिमिः समानेन योजनेना
 २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 परावतः। इषं वहन्ती सुकृतं सुदानवं विश्वेदह यजमानाय
 ३ २
 सुन्वते ॥ ३ ॥ १६ । अ० १ । ६२ । १—३ ॥

भा०—(१) उषापक्ष में—(एताः उ त्याः) ये वे (उषसः) उषाएं
 अन्तरिक्ष लोक में (पूर्वे अर्द्ध) पूर्व के आधे भाग में (भानुम्) सूर्य
 को (अञ्जते) प्रकट करती हैं । मानो (केतुम्) सब को अपना आगमन
 दर्शाने के लिये ज्ञापक चिह्न, ध्वजा=झण्डे के समान (अकृत) बना लेती
 हैं । (अरुपी,) प्रकाशमान (मातरः) मातास्वरूप उषाएं (अरुपीः)
 दीप्तिमान् (गावः) किरणों को (आयुधानि इव) अपने हथियारों के
 समान (निष्कृज्वानाः) सजाती हुई (धुष्यवः) शत्रुओं का मानदलन
 करने वाले सुभटों के समान (प्रतियन्ति) अन्धकार को दूर करने के लिये
 युद्धयात्रा सी करती हैं ।

अध्यात्म पक्ष में—(एताः उ त्याः) ये वे, जिनका वर्णन पूर्व किया
 और जो योगाभ्यासी के लिये अपूर्व हैं वे (उषसः) नई नई विशोका
 व्यांतिष्मती प्रज्ञाएं (केतुम्) अपने ज्ञापक (भानुम्) आदित्य के
 समान स्वयं प्रकाश और विशोका के प्रकाशक प्राणात्मा का (रजसः^१)
 तीहार या धूम के प्रकटीभाव होने के (पूर्वे) पूर्ण रूप से (अर्द्ध^२)

१७५५-१. 'रजसः'—रजति रज्यति वा तद् रज. । भूरज्जिम्या कित् । (उणा०

४ । २१७) लोकः सप्तमधूलिः, कीमुरपगुणो वा इति दयानन्द उणादि-
 व्याख्यायाम्, रज रणे [भ्वादि दिवादिश्च]

२. अर्धो हस्ते विपरीताद् धारयतेर्वा रयादृष्टं सवत्युभोतेर्वा स्याद्धतमो
 विभागः (निरु०) । अथु वृद्धौ (दिवादिः) । अथु वृद्धौ छन्दसि (स्नादिः) ।

अद्भुतम वा उत्तम रूप से सम्पन्न होजाने पर (अब्जते) प्रकाशित करती हैं।
 'वे (अरुषी) सर्वतः प्रकाशमान (मातरः) प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान कराने
 वाली अतम्भराए (धृण्यावः) शत्रु पर चढ़ाई करने हारे सुभट जिस प्रकार
 (आयुधानि इव) अपने भाते आदि शस्त्रों को ऊपर उठाते और चलाते
 जाते हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रियवृत्तियों को वा प्राणों को (निष्कृ-
 णवानाः) आगे प्रेरित करती हैं ।

योगाभ्यास की यह दशा विशेष विचारयोग्य है । अभिवृद्ध और
 उषा का उदय ये दो घटनाएँ योगाभ्यास में प्राणायाम की साधना के
 अनन्तर उत्पन्न होने वाली विशोका ज्योतिष्मती के उदय को दर्शाता
 है । यहा स्पष्ट करने के लिये योग शास्त्र के सूत्र एवं भाष्य का उद्ध-
 रण देते हैं ।

मन को स्थिर करने के लिये "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।"
 (योग० १ । ३४) प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण का जो अभ्यास किया
 जाता है वही प्राणायाम कहा जाता है । इसी प्रच्छर्दन और विधारण को प्राण
 और अपान के नाम से पुकारा जाता है । अथवा धारणा द्वारा—"विषय
 वर्ती वा प्रवृत्तिरूपज्ञा मनस स्थितिनिबन्धिनी ।" (योग० १ । ३५)
 विषयवाली जब कोई सचित् प्रवृत्ति उत्पन्न होजाती है तब भी मन उसमें
 स्थिर हो जाता है । और वे सचित्त ज्ञान भी समाधिप्रज्ञा अर्थात् विशोका
 के उत्पन्न होने में कारण हो जाता है । उसके बाद "विशोका वा ज्यो-
 तिष्मती ।" (योग० सू० १ । ३६) हृदयदेश में धारण करने पर बुद्धि
 सत्य सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप साक्षात् होता है । उसके बाद आत्मज्ञान
 होता है । जैसा इसी सूत्र पर महर्षि व्यासजी ने अपने भाष्य में लिखा है ।

'हृदयपुण्ड्राके धारयतो वा बुद्धिसंविद् । बुद्धिसत्यं हि भास्वर-
 माकाशरूपं । तत्र स्थितिवैशाद्यरात् प्रवृत्तिः । सूर्य-इन्द्रु-ग्रह-मणि-
 , प्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथाऽस्मिताया समापन्नं चित्तं निस्तारकमहो-

दधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तं—‘तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत्स प्रजानीते’ इति । एषा द्वयी विशोका विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिज्योतिष्मतीत्युच्यते । यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभते ।’

अर्थात्—हृदय पुरुषार्थ में धारणा करते हुए योगी को बुद्धिमयवित् अर्थात् मानुष दिव्य प्रज्ञा की सिद्धि होती है । वह बुद्धिसत्त्व मानस आस्वर=सूर्य के समान प्रकाशवान् विशाल आकाश के समान व्यापक प्रभापटल साक्षात् होता है, उस दशा में योगी का चित्त अति आनन्दजनक, स्थिर स्थिति को प्राप्त करता है । वहाँ वह बुद्धिसंघित् या चितिशक्ति सूर्य, चन्द्र शुक्रादि ग्रह, दिव्य मणियों की विशेष प्रभा का स्वरूप होकर स्वयं प्रकाशित होता है, उस समय वह बुद्धितत्त्व सुषुम्ना में रहता है । इसकी उत्पत्ति वैकारिक अहंत्व से ही होने के कारण अतिसात्विक होने से अस्मितामात्र ‘अहं’ ऐसा ही मान होता है । उस समय वह चित्त तरङ्गरहित, विशाल समुद्र के समान शान्त और अनन्त प्रतीत होता है । इसी दशा को उपनिषत्कार महर्षियों ने उपनिषदों में लिखा है—‘तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येव स प्रजानीते’ इति । अर्थात् उस अणुपरिमाण आत्मा को प्राप्त करके ‘अस्मि’ मैं हूँ इस प्रकार ज्ञान कर लेता है । विशोका दो प्रकार की होती हैं एक ‘विषयवती’ जिसमें गन्धादि पाचों ब्राह्म विषयों की तीव्र सवित् की जागृति होती है और दूसरी ‘अस्मितामात्र’ इसमें ‘अहं’ तत्त्व या मनस्तत्त्व का साक्षात् अनुभव होता है । दोनों प्रकार की विशोका ‘ज्योतिष्मती’ नाम से ही कही जाती है । इसके साक्षात् होने से योगी आनन्द में मग्न हो जाता है और फिर उसका चित्त इसी के द्वारा स्थिति पद को प्राप्त हो जाता है । इस ज्योतिष्मती के संग एक चित्तवृत्ति का दूसरा रूप भी होता है उस को योग शास्त्र में ‘स्वप्नज्ञान’ या ‘निद्राज्ञान’ दो नामों से पुकारा जाता है उसका

आलम्बन करके भी योगी का चित्त मग्न होजाता है । यह सात्त्विकी निद्रावृत्ति है । उपासनारूप में साधक जाग इसका स्वरूप ऐसा निर्धारण करते हैं जैसे चन्द्रमण्डल से निकलने वाली, कोमल मृणाल खण्ड के समान शुभ्रवर्णा, मानों चन्द्रकान्तमणि की बनी हो । बहुत से उसी को इष्टदेव की मूर्ति जानकर इसकी उपासना करते हैं । उसी निद्रा या सुप्तावस्था को भी ब्रह्म का स्वरूप कहा करते हैं वेद में उसको उपा के साथ 'नक्त' या रात्रि' नाम से पुकारा है । योगी का इस प्रकार धारणा या प्राणायाम द्वारा स्थिर चित्त जिस विषय पर बैठ जाय वहा ही उसी की 'तत्स्थ-तदब्जजता' हो जाती है । अर्थात् वह उसी में तन्मय तदाकार हो जाना है । यह 'समापत्ति' कहाती है यह 'सवितर्का' और 'निर्वितर्का' 'सविचारा' और 'निर्विचारा' भेद से चार प्रकार की होती है । ये चारों ही समाधि' दशा कहाती हैं । इनमें निर्विचार दशा में चित्त पर कोई अशुद्धि या मल का आवरण नहीं रहता । उस समय बुद्धिसाध का प्रवाह स्वच्छ सिन्धु के समान रहता है । उसी दशा में योगी का अध्यात्मप्रसाद और 'प्रज्ञालोक' उत्पन्न होता है । " निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद " (१ । ४७) । और उसी समय 'अतमरा तत्र प्रज्ञा' (१ । ४८) 'अतमरा' नामक सत्यदर्शिनी बुद्धि का उदय होता है । प्रायः उपा देवता के मन्त्रों में हमी 'विशोका प्रज्ञा' और 'स्वप्न ज्ञान' और चारों समाधियों और अतमरा का वर्णन है । सद्यप से यहा विषय दर्शाया है । इसका विशेष ज्ञान, योगदर्शन पर व्यासमुनिकृत भाष्य देखने से प्राप्त होगा ।

(२) उपा पक्ष में—(अरुणाः) दीप्तिमान् (मानवः) उपाकल की किरणों (वृथा) सर्वव्यापन करती हुई अथवा अनायास, आप से आप (उदपसन्) ऊपर उटती हैं । मानों उपा के रथ में (स्वायुजः) आपसे आ जुड़ने वाली सुशील (अरुणीः) दीप्तिवाली (गा) गौओं या बैलों के समान रश्मियों को (अशुचत) लगाया हो । इस प्रकार

उपाणं (पूर्वधा) सोने के पूर्व वर्तमान गत दिवस के (वयुनानि) ज्ञानों और व्यवहारों को (अक्रन्) पुनः उत्पन्न करती है । तब (अरुषी) देदीप्यमान उपाणं (रुशन्तं भानुम्) देदीप्यमान सूर्य का (अशिश्रयुः) आश्रय लेती है ।

अध्यात्मपक्ष में—(अरुणाः भानवः ब्रूया उदपसन्) कान्तिमान् रश्मिवा या अलोक सहज ही मूर्धाभाग को आवरण करने हार नाना धारणा प्रदेशों में प्रकट होते हैं अर्थात् बहुत से सवित् उत्पन्न होते हैं । वे (स्वायुजः) स्व=अपने २ विषयों से या आत्मा से, जुड़ने हारी (गाः) इन्द्रिय-वृत्तियां (अरुषी) विशेष आलोक से आलोकित होकर (अयुक्षत) समाधि द्वारा प्रकट होती हैं अर्थात् ये विषयवर्ती विशोकाए हैं । ये सब उपाणं या ज्ञानालोक (पूर्वधा) पूर्वकाल से वर्तमान (वयुनानि) चित्त के सब सस्कारों, स्मृतिज्ञानों को (अक्रन्) जागृत कर देते हैं । और ये सब प्रज्ञाणं (अरुषी.) देदीप्यमान होकर (रुशन्तं भानुं) देदीप्यमान आत्मा को (अशिश्रयुः) आश्रय किये रहती हैं ।

(३) जिस प्रकार (विष्टिभिः) अपने वेतनों के कारण (आपराधतः) दूर देश से भी आई (समानेन योजनेन) समान उद्योग में लगी हुई (अपसः) काम करने वाली (नारी) स्त्रिया (सुदानवे) उत्तम दानशील, (सुकृते) उत्तम कर्मशील (सुन्वते) सोम सवन करते हुए (यजमानाय) यजमान वेतनदाता स्वामी पुरुष के लिये (इष्टं) उत्पादित अन्न उस के अभिलषित कार्य को मार पछोर कर तैयार करती हुई (अचंस्ति) उसका यश गान करती हैं (न) उसी प्रकार यह उपाणं=ज्यातिष्मती विशोका प्रज्ञाणं (विष्टिभिः) तत्त्व में प्रवेश करने वाली रश्मियों से (समानेन योजनेन) समान रूप समाधि योग से (सुन्वते) आनन्दरस के उत्पादक (सुदानवे) आत्म-सम्पर्क, (सुकृते) निष्ठ, कुशल (यजमानाय) आत्मा के लिये (विश्वा इष्टं अह) समस्त (इष्टः) ज्ञान और बल (बहन्ती.) प्राप्त करती हुई

(परावतः) दूर देशों तक विद्यमान पदार्थों का (अर्चन्ति) ज्ञान करा देती हैं और उसी की महिमा का प्रकाश करती हैं ।

१ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ २ १ ३ ३ ३ २१
[१७५८] अर्वाङ्मयग्निर्जम् उदेति सूर्यो व्यूऽऽपाञ्चन्द्रा मध्यावा
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १
अर्चिषा । आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीह्वः
२ ३ २४ ३ १ २

सन्निता जगत्पृथक् ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३
[१७५९] यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुत्त-
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २

तम् । अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिवन्तं वयं धना शूर-
साना भजेमहि ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१७६०] अर्वाङ्त्रिचक्रो मधुनाहनोरथो जीराश्वो अश्विनार्यातु
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुण्डुतः । त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शन्न आवक्षद्
३ २ ३ १ २

द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० १ । १५७ । १-३ ॥

भा०—(१) (जमे) पृथिवी में (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अग्निहोत्र के समय (अनोधि) जगाया जाता है और (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है । और (चन्द्रा) आल्हादकारिणी (उपा) उपाएं भी (मइती) विशाल रूप में (वि आनः) विविध तेजों सहित प्रकट होती और अन्धकारों को हटाती है उसी प्रकार इस आत्मारूप चेदि में ज्ञानरूप अग्नि प्रदीप्त होजाता है और ब्रह्मरूप सूर्य उदित होता वा आनन्दरस को उत्पन्न करने वाली विशोका ज्योतिष्मती उपा के समान (अर्चिषा) अपने तेज से (वि आव) मन्त्रावरणों को दूर कर देती है इस कारण है (अश्विना) प्राण और अपान ! तुम दोनों (यातवे) आत्मा तक पहुँचने के लिये (रथम्) इस देह या मनरूप रथ को (आ-

अयुषताम्) योगाभ्यास द्वारा युक्त करो । जिनसे (सविता) सबका प्रेरक (देवः) प्रकाशमान् आत्मा (जगत्) समस्त जगत् के पदार्थों को (प्रा-
साधीत्) उत्तम रूप से ज्ञान करे ।

(२) हे (अभिना) प्राण और अपान आप दोनों (यत्) जब (वृषणं) सुखों के वर्षक (रथे) रमणसाधन, चित्त या आत्मरूप रथ को (युञ्जाथे) योगाभ्यासा द्वारा समाहित करते हो तब आप (न) हमारे (चित्रम्) प्रेरक आत्मा को (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (उच्यतम्) संचन करते हो और (अस्माकं) हमारे (पृतनासु) विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियवृत्तियों में (ब्रह्म) विशेष सत्य संचित् ज्ञान को (जिन्वतं) उत्पन्न करते हो और (वयं) हम (शूरसातौ) आत्मज्ञान की प्राप्ति में (धना) जाना दिव्य ज्ञानों को (भजेमीह) प्राप्त करते हैं ।

(३) (अभिनोः) उन प्राण और अपान का (त्रिचक्रः) तीन चक्रों से युक्त (मधुवाहनः) अमृत = 'ओ३म्' अथवा एकमात्र वहन करने वाले आत्मारूप अश्व से युक्त (जीराश्वः) बहुत प्राचीन सनातन अमर अविनाशी अश्व अर्थात् आत्मा से युक्त (सुस्तुत) उत्तमरूप से वर्णित किया गया रथ (अर्वाह्) साक्षात् रूप से (यातु) गति करता है । (मधवा) वह ज्ञानवान् योगी आत्मा रथरूप, (त्रिवन्धुरः) तीन प्रकार के सारथिपीठों या बन्धनों से युक्त है और उनमें आत्मा मन और इन्द्रिय या तीन गुण या वात, पित्त, कफ आदि तीन धातु ये तीन ही प्रकार के सारथि या बन्धन के हेतु हैं । और वह (विश्वसौभगः) समस्त संसार को सौभाग्य या सुखैश्वर्य का देने वाला अथवा समस्त संसार के सब उत्तम ऐश्वर्यों को सिद्ध करने वाला होकर (नः) हमारे (द्विपदे) समस्त मनुष्य संसार और (चतुष्पदे) पशु संसार को (शं) कल्याण (आ-
वहत्) करे ।

इसी सनातन अश्व के पीछे लगे रथ की कल्पना को प्रकारान्तर से श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार बतलाया है:—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् आजते यद् उ अनङ्वान् ।

एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानाधितिष्ठत्येकः ॥

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचराति स्वकर्मभिः ।

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहकारसमन्वितो यः ॥

इसी प्रकार मुण्डक में—

‘दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्याम्ना प्रतिष्ठितः ।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठिताऽग्रे हृदयं सनिधाय ।

सद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति । इत्यादि ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७६१] प्र ते धारा असञ्चतो दिवो न यन्ति वृष्टये ।

२ ३ १ २ ३ १ २

अच्छा वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१७६२] अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षणा अर्षन्ति ।

१ २ ३ १ २ २ २

हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[१७६३] स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव मुव्रतः ।

३ १ २ २ २

श्येनो न वंसु पीदति ॥ ३ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[१७६४] स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि ।

३ १ २ ३ १ २

पुनान इन्दवामर ॥ ४ ॥ १८ ॥ अ० ६ । ७७ । १—४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! आत्मन् ! (असञ्चतः) संगरहित (दिव) प्रकाशस्वरूप (ते) तेरी (धाराः) धारणा शक्तिया (दिवः) यौत्ताक स (वृष्टयः) वर्षाओं के समान (सहस्रिणं) अतिबलवान् या सहस्रों शानों

से युक्त (वाज) ज्ञानस्वरूप परमात्मा को (अच्छ) प्राप्त होती है
अथवा ब्रह्मानन्द की धाराएं आत्मा को प्राप्त होती हैं ।

(२) वह आत्मा ! (विश्वा) समस्त (प्रियाणि) मनोहर
(काव्या) जगत् के सूक्ष्म ज्ञानों को (अभि । साक्षात् रूप में (चक्षायः)
दर्शन करता हुआ (आयुधा) अपने प्रहार करने वाले ज्ञान से (तुंजानः)
कर्म बन्धनों को काटता हुआ (हरिः) मोक्षपद में गमन करने वाला
मुक्तात्मा होकर (अभि अर्पति) सर्वत्र विचरता है ।

(३) (स०) वह आत्मा (आयुभिः) दीर्घायु, ज्ञानवान् तपस्विणों
द्वारा (भर्मृजानः) योग साधनों से परिमार्जित किया गया (इमः)
निर्भय (राजा इव) राजा के समान और (श्येनः न) पक्षि ससार में
निर्भय बाज या गरुड़ के समान (सुव्रतः) उत्तम कर्मों से युक्त (वंसु)
अपने इच्छानुकूल समस्त लोकों में (सीदति) विचरता है ।

(४] हे इन्द्रो ! सोम ! ऐश्वर्यवान् ! परमात्मन् ! (सः) वह तू ,
(न) हमें (दिव) धौलोक के (उत उ) और (पृथिव्याः अधि)
पृथिवी पर के (विश्वा वसू) समस्त पदार्थों को (पुनानः) पवित्र करता
हुआ (न०) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त करा ।

उक्त चारों मन्त्र परमात्मा पक्ष में भी स्पष्ट है ।

(१) (असश्रुत ते धारा दिवो वृष्टयो न सहस्रिणं वाजं अच्छ)
हे ईश्वर तुरू असङ्ग परम पुरुष की धारणपोषणकारी शक्तिया सहस्रों
घनों से युक्त अन्न को दान करती हैं ।

(२) (प्रियाणि विश्वा काव्यानि चक्षायः आयुधा तुंजान हरि
अभि अर्पति) मनोहर समस्त लोकों को देखता हुआ अपने बल से विघ्नों
का नाश करता हुआ परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है ।

(३) (स आयुभिर्मृजानः, इमो राजा इव सुव्रत श्येनो न वंसु
सीदति) पुरुषों द्वारा हृदय में स्वच्छरूप में साक्षात् करने योग्य वह

अभयरूप उत्तम कर्मों को सम्पादक परमेश्वर राजा के समान और आत्मा के समान सब लोकों में विराजमान है ।

(४) चतुर्थ स्पष्ट है ।

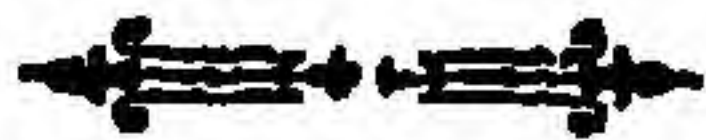
इति पञ्चमः खण्डः ।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठकः । इति अष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ।

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः ॥

अथ नवमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥



अधिः—१ नृमेधः । ३ प्रियमेधः । ४ दीर्घनमा औच्यः । ५ वामदेवः ।
 ६ प्ररुक्णवः काण्वः । ७ बृहदुक्थो वामदेव्यः । ८ विन्दुः पूतदक्षो वा । ९
 जमदग्निर्भागवः । १० सुक्लः । ११—१३ वमिष्ठः । १४ सुडा पंजवनः । १५
 मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चागिरसः । १६ नीपातिथिः काण्वः । १७ जमदग्निः ।
 १८ परुच्छेपो देवौशसिः । २ एतत्साम ॥ देवता.—१, २७ पवमानः सोम ।
 ३, १७ २०-२६ इन्द्रः । ४, ५ १८ अग्निः । ६ अग्निरभिनयुषाः । १८ गस्तः ।
 ६ सूर्यः । ३ एतत्साम ॥ छन्दः—१, ८, २०, १५ गायत्री । ३ अनुष्टुप् प्रथमतः
 गायत्री उत्तरयोः । ४ उष्णिक् । ११ सुरिगनुष्टुप् । १३ विराटनुष्टुप् । १४
 शक्ती । १६ अनुष्टुप् । २७ द्विपदा गायत्री । १८ अन्यष्टिः । २ एतत्साम ।
 स्वरः—१, ८, २०, २५, १७ षड्जः । ३ गान्धारः प्रथमतः, षड्ज उत्तरयोः
 ४ अथमः । ११, १३, १६, १८ गान्धारः । ५ पञ्चमः । ६, ८, १२ मध्यमः
 ७, १४ वैषतः । २ एतत्साम ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१७६५] प्रास्य धारा अक्षरन्वृणः सुतस्यौजसः ।

३ १ २ २ ३ १ २

देवा अनुप्रभूषतः ॥ १ ॥

१ २

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१७६६] ससि मृजन्ति वेधसा गृणन्तः कारवो गिरौ ।

१ २ ३ २ ३ २ २

ज्यातिजज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २ ॥

३ १ २

३ १ २

३ १ २

[१७६७] सुपहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो ।

१ २ ३ १ २

वर्द्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ३ । २६ । १-३ ॥

भा०—(१) (सुतस्य) सबके प्रेरक, (वृणः) सुखों के वर्षक (देवान्) देवों के (अनु प्रभूषतः) इन्द्रिय वृत्तियों को अपने अनुकूल रखकर उन पर वश करने वाले, (प्रास्य) इस आत्मा के (ओजसः) शक्ति और तेज की धाराएं (अक्षरन्) चारों ओर प्रवाहित होती हैं ।

परमात्मापक्ष में देव, पञ्चभूत आदि दिव्य पदार्थ और विद्वान् गया ।

(२) (कारवः) कर्मण्य, कर्त्ता, कर्मयोगी (वेधसः) मेधावी, विद्वान् पुरुष (उक्थ्यम्) 'ओ३म्' इस प्रकार के उक्थ नाम से कहाने योग्य, स्तुत्य, वेदसूत्रों के प्रतिपाद्य; श्रेष्ठ (जज्ञानम्) प्रादुर्भाव होती हुई (ज्योतिः) ज्योति को (गिरा) अपनी चाणी द्वारा (गृणन्तः) स्तुति करते हुए (ससिम्) सर्पणशील सात इन्द्रियों से युक्त आत्मा को ही (मृजन्ति) मांजते, शुद्ध, पवित्र, परिष्कृत किया करते हैं । ससि= सात मूर्धागत प्राण, जैसे-दो नाक, दो आक्ष, दो कान, एक मुख और आठवीं चाणी ।

(३) हे सोम ! हे (उक्थ्य) वेदप्रतिपाद्य परमात्मन् ! या आत्मन् ! हे (प्रभूवसो) प्रभूत ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! अथवा हे सामर्थ्यवान् होकर सब विश्व में बसने वाले अन्तर्यामिन् ! प्रभो ! (ते) तेरे (तानि)

वे समाधि दशा में प्रकट होने हारे तेज (सुसहा) अन्य सब चित्त वृत्तियों और व्युत्थान संस्कारों को उत्तम रीति से विनाश करने हारे होते हैं । अतः उनसे ही तू (समुदम्) उस रसों के आनन्ददायक स्रोत को (वर्ध) और बढ़ा ।

ज्योतिष्मती विशोका के विवरण में व्यासदेव ने लिखा है—

“हृदयपुण्डरीके शरयतो या बुद्धिसवित् बुद्धिसत्त्व हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकोरय विकल्पते तथा अस्मिताया समापन्न चित्त निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्र भवति ।” इसका विवरण देखो अवि० सं० [१७५६] पृ० ७५३-७५७ पर उद्धरण दिप्पण । इस मन्त्र में समुद शब्द से ‘निस्तरय महोदधिकल्प’ चित्तदशा का ही ग्रहण होता है ।

उ २ उ २ उ ३ २ उ ३ २ उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ
[१७६८] एष ब्रह्मा य ऋत्विष्य इन्द्रो नाम श्रुनो गृण ॥ १ ॥

१ २ २ २ ३ २ उ २ उ ३ १ २
[१७६९] त्वामिच्छुवसरूपने यन्ति गिरां न संयतः ॥ २ ॥

२ उ २ उ १ २ उ २
[१७७०] विस्तृतयो यथा पथा० ॥ ३ ॥ २ ॥ सक्तम् अग्नेदे नारित ।

भा०—(१) (३) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [४३८] पृ० २२२ ।

और [४५३] पृ० २२७ ।

(२) हे (शवसरूपते) बलों के स्वामिन् ! सर्वशक्तिमन् ! (सयत) प्राणों का सयम करने हारे साधक, ईश्वर प्रणिधान के अभ्यासी पुरुष की (गिरां न) वाणियों के समान समस्त (गिरः) वेदवाणियाँ (त्वाम्-इत्) तुझको ही (यन्ति) प्राप्त होती हैं ।

१७६८—३ प्रतीकमात्र दीर्घ है ।

७ ३ २ ३ २ २ १ ७
[१७७१] आ त्वा रथं यथातथे० ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७७२] तुविशुण्म तुविक्रतो शचीधो विश्वया मते ।
१ २ ३ २

आ पप्राथ महित्वना ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ ७
[१७७३] यस्य ते महिना महः पारेज्जमायन्तगीयतु ।
७ ३ १ २ ३ १ २

हस्ता वज्रे हिरण्ययम् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ८ । ३८ । ०-२॥

भा०—(१) न्याय्या देखो अविकल स० [३५४] पृ० १८३ यह प्रती-
कमात्र है ।

(२) हे (तुविशुण्म) प्रभूत अनन्त शक्तिशालिन् ! हे (तुविक्रतो)
विशाल प्रभूत कर्म करने वाले ! अथवा बहुप्रज्ञ ! अनन्तज्ञान ! हे (श-
चीधः) शक्ति के स्वामिन् ! परमेश्वर ! आप (विश्वया) समस्त विश्व
में व्यापक (महित्वना) महिमा या महान् सामर्थ्य से (आ पप्राथ) सर्वत्र
व्यापक हैं ।

(३) (यस्य महत) जिस महान तेरी (महिना) बढ़ीभारी शक्ति से
(हस्तौ) तेरे हनन साधन दो विशाल शक्तियाँ (परि) सर्वत्र (ज्जमायन्तं)
व्यापक (हिरण्ययम्) गतिशील (वज्रे) वज्र को (ईयतुः) ग्रहण
करती हैं वह तू इन्द्र है ।

७४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७७४] आ य पुरं नार्भिणीमिदीदेत्यः कविर्नभन्योरे नार्वा ।
७ ३ १ ७ ३ २ ३ १ २

सुरा न रुक्काञ्छतात्मा ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७७५] अभि द्विजन्मा ग्री रोचनानि विश्वा रजासि शुशुचाना
२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्थात् । होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥ २ ॥

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
 [१७७६] अयं स होता यां द्विजन्मा विश्वा दध्रे चार्याणि अचस्या
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 मर्तो यां अस्मै सुतुको ददाश ॥ ३ ॥ ४ ॥

अ० ११ १४६ । ३-४॥

भा०—(१) (य.) जो (नार्मिणी) नर=आत्मा और मन के निवास योग्य (पुर) इस देहरूप पुरी को (अदीदेत्) प्रकाशित करता है, चेतन बनाये रखता है । वह (कविः) कान्तदर्शी इन्द्रियों द्वारा क्रमण करके देखने द्वारा (नभन्यः) अन्तरिक्ष आकाश अर्थात् विचरण करने वाले व्यापक वायु=के समान प्राणरूप हृदयाकाश में व्यापक (अर्वा न) अश्व के समान वेगवान् और (सूर न) सूर्य के समान (रुक्मान्) कान्तिमान् (शतात्मा) सैकड़ों प्राणियों में आत्मारूप से विराजमान है ।

(२) यह आग्नि (द्विजन्मा) ज्ञान और कर्म इन दोनों से अपना प्रादुर्भाव करने द्वारा अथवा कर्ता भोक्ता रूप से, अथवा साधारण अग्नि जिस प्रकार दो अराणियों के रगड़ने से उत्पन्न होता है उसी प्रकार देह और प्रणव इन दो अराणियों से प्रकाशमान अन्तरात्मा (श्री) तीन (रोचनानि) भू अन्तरिक्ष और द्यौः लोकों को (शुशुचानः) प्रकाशित करता हुआ अथवा तीनों प्रकृति के सत्व, रजस, तमस, इनको परिशोधित परिष्कृत करता हुआ (विश्वा) समस्त (रजासि) लोकों में या देहों में (अस्थात्) विराजमान है । और वही (होता) सबका ग्रहण करने द्वारा (यजिष्ट.) सबसे बड़ा यज्ञकर्त्ता होकर (अपा) लोकों के या कर्म और ज्ञानों के (सधस्थे) एक साथ रहने के स्थान ब्रह्माण्ड में (अस्थात्) विराजमान है ।

(३) (यः) जो आग्नि (द्विजन्मा) कर्त्ता और भोक्ता इन दो रूपों में प्रकट होते द्वारा अथवा पूर्वोक्त रूप से देह और 'ओ३म्' इन दो अर-

शियों से निष्पादित होने वाला (होता) सब का दाता और अदानकर्त्ता है (सः) वह (विश्वा) समस्त (चायोणि) वरण करने योग्य, उत्तम, (अवस्था) कीर्ति के योग्य कार्यों को (दधे) धारण करता है । (य.) जो (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (अस्मै) इसके निमित्त अपने को (ददाश) समर्पण करता है वह (सुतुक) उत्तम सन्तति वाला होजाता है ।

[१७७७] अग्ने तमद्याश्वश्च स्तोमैः क्रतुञ्ज भद्रं हृदिस्पृशाम् ।

३ १ २ ३ १ ३ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
ऋष्यामा त ओहः ॥ १ ॥

[१७७८] अथा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधो ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
रथीर्ऋतस्य बृहती बभूथ ॥ २ ॥

[१७७९] एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाकस्वादेण ज्योतिः ।

२ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न विश्वभि सुमना अनीकैः ॥३॥५॥ अ० ४।१०।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३४] पृ० २२० ।

(२) (अध हि) और क्योंकि हे अग्ने ! परमेश्वर ! आप (बृहतः) बड़े भारी (ऋतस्य) सत्य ज्ञान और इस महान् ब्रह्माण्ड के (रथीः) धारण करने वाले (बभूथ) हो और (क्रतोः) प्रज्ञानस्वरूप (भद्रस्य) भजन या सेवन करने योग्य कल्याणकारी (साधो.) अभीष्ट फलों के साधक यज्ञ के भी (रथी) प्रवर्तक हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप आप (स्वः न) सूर्य के समान (विश्वेभिः) समस्त (अनीकैः) सुखस्वरूप दिव्यगुण पदार्थों के सहित (सुमनाः) उत्तम चित होकर (न.) हमारे (अर्वाक्) समक्ष (एभिः) इन (अर्कैः) अर्चनायोग्य तेजों से (भव) प्रकट होवो ।

श्रुति प्रथमः खण्डः ।

—:०:—

[१७८०] अग्ने विष्वदुषसश्चित्र राधो अमर्त्य ।

आ दाशुषे जातवेदो वह्ना त्वमद्या देवा उपवुधः ॥ १ ॥

[१६८१] जुष्टो हि दूता असि हव्यवाहनाञ्जन रथारध्वराणाम् ।

सजूरश्वभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्वो बृहत् ॥ २ ॥

॥ ६ ॥ अ० १ । ४४ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०] पृ० १७।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (अध्वराणा) सब यज्ञों के (रथी.) नेता और (जुष्ट.) सब विद्वानों से सेवित (हव्यवानः) समस्त स्तुतियों के धारण करने हारे एवं समस्त जगत् के धारण करने हारे (दूतः) सर्वव्यापक या उपासित (असि) हैं । आप (अभिभ्यां) प्राण और अपान के द्वारा (उपसा) ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा द्वारा (अस्मे) हमें (सुवीर्यं) उत्तम बल और (बृहत्ः) विशाल (श्व.) ज्ञान (धेहि) धारण करावें ।

[१७८२] विधुं दद्राणं समने बहूनां युवान सन्नं पलितं जगार ।

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ १ ॥

[१७८३] शाकमना शाको अहण सुपण आ यो महः शरः सना-

दनीड । यच्चिरुत सत्यमित्तन्न माघं वसु स्पार्धमुत

जेतोत दाता ॥ २ ॥

[१७८४] एभिर्देवै बृहण्या पौस्यानि येभिरोजद्वत्रहत्याय वर्जा ।

ये कर्मणः क्रियमाणस्य महः श्रुते कर्ममुदजायन्त देवाः

॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १० । १५ । ५-७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो भावे० सं० [३२५] पृ० १६७ ।

(२) (य०) जो (शूर) सर्वभेरक (सनाद्) सनातन, नित्य, (अनीड०) स्वतः सबका आश्रय होने से किसी अन्य पदार्थ का आश्रय न लेने हारा, सब का स्वयं मूलकारण, (अरुणः) दीप्तिमान् सब का भेरक, (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान् सबका उत्तम पालक (शक्मना) अपनी ही शक्ति से (शाक०) सर्वशक्तिमान्, परमात्मा (यत्) जो कुछ भी (चिकेत) स्वयं जानता और ऋषियों के हृदय में ज्ञान उत्पन्न करता है (तत्) वह सब (सत्यम् इत्) सत्य ही होता है (न मोघं) वह कभी व्यर्थ निष्प्रयोजन नहीं होता । वही उस (स्पार्ह) सब के अभिलाषा योग्य, (वष्ट) आवास योग्य सब भूमियों का (जेता) विजेता (उत) और (दाता) जीवों को सब ऐश्वर्य का दान करने हारा है ।

(३) परमात्मा (एभि०) इन मरुद्गाय रूप शक्तियों से (वृष्ण्या) सुखों के वर्णने वाले (पौंसानि) नाना पौरुषयुक्त बलों को (ददे) अपने वश में कर रहा है (येभि०) जिन वेगवती शक्तियों से (वृत्रहत्याय) प्राणियों के उपद्रव शान्त करने के लिये, अथवा अज्ञान विघ्नों का विनाश करने के लिये, (औचद्) सुखों, जलों और ज्ञानों की वर्षा करता है । और (ये देवा०) जो देव विद्वान्गाय और दिव्य शक्तिया (महून्०) बड़े भारी (क्रियमाणस्य) किये जाने योग्य (कर्मणः) जगत् प्रचालनरूप कर्म के (ऋते) तथ्य ज्ञान में विराजमान होकर (कर्मम्) कर्मबन्धन को (उद अजायन्त) पार करके मुक्त हो जाते हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ ३
[१७८५] अस्ति सोमो अयं सुन० पिवन्त्यस्य मद्यत० ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३

उत स्वराजो अश्विना ॥ १ ॥

^{११ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २}
[१७=६] पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूनस्य वरुण ।

^{३ २ ३ १ २}
त्रिषधस्थस्य जावतः ॥ २ ॥

^{३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ ०}
[१७=७] उतो न्वस्य जोषमा इन्द्र सुतस्य गोमेतः ।

^{३ १२ २२}
प्रातर्होतेव मत्सति ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६४ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१७४] पृ० ६६ ।

(२) (मित्र०) सूर्य के समान स्नेह करने द्वारा, सबको अपने २ कर्म में प्रवृत्त कराने द्वारा, (अर्यमा) सयका स्वामी, न्यायकारी (वरुण०) सय दुखों का निवारक, ये तीनों देव (जावत०) ज्ञान के उत्पादक, आनन्दजनक (त्रिषधस्थस्य) प्राण, अपान और समान, या इडा, पित्तज्ञा, और सुषुम्ना तीनों में विराजमान सोमरूप ब्रह्मानन्द का (पिबन्ति) पान करते हैं । मित्र, अर्यमा, और वरुण ये तीनों भोगियों के तनि भेद हैं । १ सूर्य के समान प्रज्ञालोकवान् मित्र, भूतजय करने द्वारा इन्द्रिय-संविद् द्वारा स्थितिप्रज्ञ अर्यमा और विशाल आकाशरूप समुद्र के समान शान्त, शुद्धचित्त सत्व का अनुभवी योगी वरुण कहाता है ।

(३) (प्रात०) प्रातःकाल के अवसर में (होता इव) जिस प्रकार सोमयाग करने वाला होता प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार (इन्द्र०) अध्यात्मयोगी का आत्मा (उतो) भी (जु) निश्चय से (अण०) इस (गोमेत०) इन्द्रियों के संविद् ज्ञानों से युक्त (सुतस्य) उत्पादित ब्रह्मरस को (जोषम्) सेवन कर लिये (आ मत्सति) खूब मग्न हो जाता है ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१७=८] वर्णमहँ असि सूर्य वडादित्य महँ असि ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १}
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम सदा देव महँ असि ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१७८६] वट् सूर्ये अवसा महौ असि सत्रा देव महौ अभि ।
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
 महा देवानामसुर्य पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्
 ॥ २ ॥ ६ ॥ अ० ७ । ३१ । १७, १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७६] पृ० १४१ ।
 (२) हे सूर्य ! सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (अवसा) ज्ञान
 और यश के द्वारा (वट्) सचमुच (महान्) सबसे बड़े (असि) हैं ।
 हे देव ! प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप (सत्रा) सचमुच निश्चय से
 (महान् असि) सबसे बड़े हो । आप ही (देवाना) सब विद्वानों के
 (महा) अपने महत्व या शक्ति से (असुर्य) प्राणों को चेताने हारे,
 (पुरोहित) साक्षात् पुरोहित के समान प्रवर्तक, उनको साक्षात् धारण
 करने हारे और साक्षीरूप हुआ हो, आप ही वास्तव में (विभु) सर्वत्र
 विशेष रूप से व्यापक, (अदाभ्यम्) आविनाशी, नित्य (ज्योतिः) ज्योतिर्
 मान प्रकाशस्वरूप हैं ।

इति द्वितीय खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१७९०] उप नो हरिभिः सुतं याद्वि मदानाम्पतं ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २
 उप ना हरिभिः सुतम् ॥ १ ॥
 ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
 [१७९१] द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २
 उप नो हरिभिः सुतम् ॥ २ ॥
 १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१७९२] त्वं हि वृत्रहभेषां पात्रा लोमनामसि ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २

उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ । ६३ । ६१-३३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५०] पृ० ८४ ।

(२) (ष.) जो (वृषहन्तमः) समस्त विष्णो का विनाशक और (शतक्रतु.) सैंकड़ों कर्मों का करने हारा है उसको (द्विता) दो रूपों में (विदे) मैं जानता हूँ । एक परमात्मा रूप से और दूसरा जीवात्मा रूप से । वह (नः सुतम्) हमारे उत्पन्न किये पदार्थों को (हरिभिः) अपने हरणकारी वायु आदि साधनों और आत्मपक्ष में इन्द्रियों द्वारा (उप) प्राप्त करें ।

(३) हे (वृषहन्) अज्ञान के विनाशक ! (एषा) इन (सोमा-नां) सोमों, समस्त जगत् के जीवों का (पाता) पालनकर्ता (एवं) वही (अक्षि) है । (न.) हमारे (सुतम्) योग साधनों से परिकृत आत्मा को (हरिभिः) ज्ञानों द्वारा (उप) प्राप्त होइये ।

१ २, ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६३] प्र वो महेमहे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्रसुमर्ति कृणुध्वम् ।

१ २ ३ १ २ २
विशः पूर्वी प्रचरचर्षणि प्रा. ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६४] उरुव्यचसे महिने सुवृक्षिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
तस्य वनानि न मिनन्ति धीराः ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७६५] इन्द्र घाणीरनुत्तमन्युमेव सन्ना राजानं दधिर सदधै ।

१ २ ३ २ ३ २
हृथश्वाय बर्हया समापीन् ॥ ३ ॥ ११ ॥

पृ० ७ । ११ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३२८] पृ० १६६ ।

(२) (विप्रा.) विद्वान् ब्राह्मण लोग (उरुव्यचसे) महान् ब्रह्माण्ड से व्यापक (महिने) यड़े भारी (इन्द्राय) परमात्मा की (सुवृ

क्रिस्) उत्तम स्तुतिरूप (ब्रह्म) वेद का (जनयन्त) ज्ञान करते हैं ।
(धारा.) वे विद्यावान्, ध्यानवान् पुरुष (तस्य) उसके (व्रतानि)
उपदेश किये नियमों को (न मिनन्ति) विनाश नहीं करते, उल्लंघन
नहीं करते ।

(३) (वाणी.) वेदवाणियों और (सम्रा) समस्त विश्व के (राजान)
प्रकाशक स्वामी । अनुत्तमन्युं) आद्वितीय नित्य ज्ञानी, नित्य, सामर्थ्यवान्
(इन्द्रं) इन्द्र को (सदाभ्यै) सब पर दमन करने के लिये (दधिरे)
भारण करती हैं । भक्त, हे नर (हयंभाय) समस्त लोकों और जीवों
में व्यापक ईश्वर के किये (आपीन्) अपने समीप आप सब बन्धुओं
को (सम् वदंय) उत्तम रीति से बड़ा, उन्नत कर ।

[१७६६] यादन्द्र यावत्तत्त्वमेनावदहमीशीय ।

स्नोतारामिद्वाधिषे रदावसो न पापत्वाय गंसिषम् ॥१॥

[१७६७] शिष्यमिन्महयते ददौ दिवे राय आ कुहचिद्विदे ।

न हि त्वदन्यन्मवधवन्न आप्य वस्यो अस्ति पिता च न

॥ २ ॥ १२ ॥ अ० ७ । १२ । १८, १६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आविकल सं० [३१०] पृ० १५८ ।

(२) परमेश्वर का संकल्प है कि (मइयते) दानशालि या
मेरी स्तुति करने हारे (कुहचिद्विदे) कहीं भी हो बड़ा ही उसे
(दिवे दिवे) प्रतिदिन (रायः) धनों को (आ शिष्यम्) दान
दिया करता हूँ । इस प्रकार की ईश्वर की दयादृष्टि होने से भक्त का भी
संकल्प होता है कि हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! (त्वदन्यत्) तेरे से दूसरा
कोई और व्यक्ति (नः) हमारे लिये (वस्यः) आवास देने द्वारा, (आप्य)
प्राप्त करने योग्य, इष्टदेव, उत्तम वस्तु (नहि) नहीं है और तुझ से 'उत्तम'
दूसरा (पिता च) पिता पालक भी (न) नहीं है ।

उ १४ २२ उ २४ उ २ उ २ उ १ २ उ २
[१७६८] शुभ्री हव विपिपानस्याद्वैर्षोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम् ।

३- २४ उ १ २ उ २ उ ३
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ १ ॥

२- ३ २ उ १ २ ३ २ उ २ उ १ २ उ २ उ २
[१७६९] न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान् ।

१ २ उ १ २
सदा ते नाम स्वयशो विवाचिम् ॥ २ ॥

२ ३ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ २
[१८००] भूरि हि ते सवनामानुषषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ।

२४ उ १ २ उ १ २
मारे अस्मन्मधव ऊज्यांकः ॥३॥१३॥ श्रु० ७ । २२।४-६॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (विपिपानस्य) आनन्दरस का पान करने हारे (अद्ने) आदरणीय और ज्ञानी, एवं पर्वत के समान दृढ़, काम क्रोध आदि से दीर्घ न होने वाले योगाभ्यासी के (हव) पुंकार को (शुधि) श्रवण कर (अर्चतः) स्तुति करते हुए (विप्रस्य) मेधावी विद्वान् पुरुष की (मनीषाम्) मन की गति, या स्तुति को (चोध) आप जानते हो । और (सचा) आप सहायक रूप से (इमा) इन (दुवांसि) शुभ कामनाओं को (अन्तमा) हृदयंगम (कृष्व) कीजिये ।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (असुर्यस्य) प्राणों के हितकारी, (तुरस्य) शत्रुओं के नाशक, अथवा सबके प्रेरक (ते) तेरा धर्शन करने हारी (गिरः) वाणियों की भी (न मृष्ये) कभी पारित्याग नहीं करता । और (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर मैं (ते सुस्तुतिम्) तेरी उत्तम स्तुति को भी कभी नहीं त्यागता । (ते) तेरे (स्वयश) अश्वस्वरूप उज्ज्वल (नाम) नाम को (सदा) नित्य (विवाचिम्) विविध प्रकार से बखाना करता हू ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (ते) तेरे लिये (मानुषषु) मनुष्यों में (भूरि) बहुत से (सवना) उपासना प्रकार, या ऐश्वर्य हैं । (मनीषी) मननशील विद्वान् भी (त्वामित्) तेरी ही (भूरि) बहुत (हवते) स्तुति करता है । हे

प्र मधवम्) ज्ञानाश्रय । हे सर्वेशक्तिमन् । आप (अस्मत्) हमसे (आरे)
 धूर (ज्याक्) कभी भी (मा कः) मत होवे ।
 इति तृतीयः खण्डः ।

— ० —

[१८०१] प्रोण्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूयमर्चत । अभीके चिदु
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा । अस्माकं वोवि चोदिता
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ १ ॥

[१८०२] न्वं सिधून् वासुजोऽधराचो अहभहिम् । अशत्रुरिन्द्र
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

जहिषे विश्वं पुन्यसि वार्यम् । तं त्वा परिण्वजामहे
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ २ ॥

[१८०३] विषु विश्वा अरामयोऽर्यो न शन्त नो धियः । अस्तासि
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

जत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति । या ते रातिर्ददिवसु
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३ ॥ १४ ॥

अ० ८० । ११३ । २-३ ।

भा०—(१) (अस्मै इन्द्राय) इस ऐश्वर्यवान् प्रभु के (पुरो-रथम्) विश्वं,
 ब्रह्माण्ड रूप रथ को पूर्ण करने दारे, या पालन करने वाले, या गति देने
 वाले (शूयम्) बल को (प्र सु अर्चत इ) यथारूप से वर्णन करो ।
 देखो, वह ईश्वर (अभीके) अत्यन्त समीप, चित्त में साक्षात् (चिद-उ)
 ही (लोककृत्) सब का दर्शन करता है, सबको देखता है, या चित्त में
 सब के प्रकाश करता है । और (सङ्गे) संग हो जाने पर आत्मा को
 प्राप्त कर (समत्सु) इन्द्रियवृत्तियों में (वृत्रहा) तामस आवरण का नाश

कर देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अस्माकं) हमें (बोधि) ज्ञान देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अन्यकेषां) हमारे आभ्यन्तर तुच्छवृत्ति शत्रु, काम आदि के (धन्वसु) कमलों पर (अधि) चढ़े हुए (व्याका) निर्बल चिल्ले भी (नमन्ता) टूट फूट जाते हैं ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! तूने (सिन्धू) सब नदियों को और शरीर की नादियों को (अधराच.) नीचे जाने वाली (अवासृजः) रचा है । और तू (प्राहिम्) न हटने वाले या आघात या पीड़ाकारी तामस आवरण, या मेघ को (अहन्) विनाश करता है । हे इन्द्र ! तू (अशत्रुः) शत्रुरहित सब का मित्र (जज्ञिषे) जाना जाता है । ऐसे ही (तं) उस सब के मिन परमस्नेही (स्वा) आपको (परि स्वजामहे) इस आतिथान करते हैं, अपना निरन्तर का सजी बनाते हैं, अपनाते हैं, हृदय में धारण करते हैं ।

(३) हे इन्द्र ! (नः) हमारे (विधा.) समस्त (अर्थः) शत्रु रूप, इस पर चढ़ाई करने वाले (अरातयः) अदानशक्ति, उचित कर न देने वाले, (विरघा) सब शत्रुगण (वि सु नशन्त) नाना प्रकार से खूब नाश को प्राप्त हों । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (यः) जो (नः) हमें (जिवा सति) विनाश करना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु पर (वधं) अपने हननकारी बल को (अस्तामि) प्रयोग कर । और (या) जो (ते) तेरी (रतिः) दान और कृपा है वह हमें (नसु) धन आदि पदार्थों का (ददिः) दान करे । (अन्यकेषां व्याका धन्वसु नमन्ताम्) और अन्य तुच्छ शत्रुओं के धनुषों की निर्बल डोरियाँ नष्ट हो जावें ।

उ २ व ३ १ २ ३ १ र २ १ २
[१८०४] रवां इद्रेवतस्तांता स्यात्त्रावतो मघानः ।

१ २ ३ १ २
प्रवु हरिवः सुतस्य ॥ १ ॥

[१८०५] उक्थ च न शस्यमानं नागो रायिराचिकेत ।

न गायन्न गीयमानम् ॥ २ ॥

[१८०६] मा न इन्द्र पीयत्नेव मा शर्धते परा दा ।

शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ८।२।१३—१५ ॥

भा०—(१) हे (हरिश्वा) गतिमान् समस्त लोकों के स्वामिन् !
अथवा किरणों और प्राणों के प्राण ! हे प्रभो ! लोक में (रेवत्) धनाढ्य
पुरुष का (स्तोता) स्तुति करने द्वारा (रेवत्) धनवान् हो जाता है ।
और ज्ञानी पुरुष का उपासक ज्ञानवान् (स्यात्) हो जाता है । फिर
(स्यावतः) तुझ जैसे अनुपम (मघोन) ज्ञानी और धनसम्पन्न (सु-
तस्य) ऐश्वर्यवान्, अथवा ब्रह्मानन्दरस के उत्पादक प्रभु का तो प्र वृत्त
फिर क्या कहना ! तेरा उपासक तो भारी धनी और ज्ञानी हो ही
जायगा ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [२२५] पृ० ११६ ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (नः) हमें (पीयत्नेव) हिंसक, दुष्ट
पुरुष के हाथों में (मा परा दाः) मत डाल । और हमें (शर्धते) हमारा मान
भंग करने हारे हिंसक पुरुष के हाथों में (मा परादाः) मत डाल ।
तू (शचीभिः) अपने ज्ञानों और शक्तियों से ही हे (शचीवः) शक्तिमन् !
हमें (शिक्ष) शिक्षित कर, दण्डित कर, अथवा ज्ञान प्रदान कर ।

[१८०७] एन्द्रा याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ १ ॥

[१८०८] अत्रा वि नेभिरेपामुरां न धूनुते वृकः ।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १२ २२
[१८०६] आ त्वा आवा वदन्निह नोमो घोषेण वक्षतु ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ८ । १४ । १, ३, २ K.

(भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [३४८] पृ० १८० ।

(२) (वृकः) मेढिया (उरा न) जिस प्रकार मोड़ को (धुनुते) धुन देता है, भय से कंपित करता है उसी प्रकार (एषां) इन प्राणों का (नेमिः) नमन करने द्वारा वश करने द्वारा, आत्मा भी उस (उरा) चित्तिशक्ति को (विधूनुते) अपने बल से प्रचलित करता है । (दिव) प्रकाशमान, प्रकाशस्वरूप, विश्व में रमण या क्रीड़ा करने हारे (शासत) शासकरूप (अमुष्य) इस परमात्मा के (दिवः) ज्योतिर्मय ज्ञान को है (दिवावसा) उत्तीतिरूप प्रकाश में वास करने हारे जीवात्मन् ! तू (यय) प्राप्त हो ।

(३) हे प्रभो ! (इह) इस संसार में, इस जन्म में (सोमी) सोमरस का आस्वादन करने द्वारा आत्मज्ञानी (आवा) विद्वान्, ज्ञानोपदेशक (त्वा) तेरी (वदन्) स्तुति करता हुआ (घोषेण) वेद ज्ञान के साथ ही (त्वा वक्षतु) तुम्हें प्राप्त हो । हे (दिवावसो) आत्मन् ! (अमुष्य शासत दिवः दिवं यय) आत्मक्रीड़ा, आत्मरति होकर उस शासन करने हारे परमात्मा के प्रकाशस्वरूप मोक्ष लोक को तू प्राप्त हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८१०] पञ्चस्र सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८११] न सुतासो विरश्चितः शुक्रा वायुमसृक्षत ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८१२] असृग्रं देववीतये य जयन्तो रथो इय ॥ ३ ॥ १७ ॥

अ० ६ । ६७ । १६, २८, १७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) ज्ञानैश्वर्यं सेयुक्त (मधुमत्तम.) अतिशय ज्ञान सम्पन्न होकर (मन्द्रयन्) आनन्दमय होता हुआ योगिन् । तू (इन्द्रोषे) परमेश्वर को प्राप्त होने के लिये (पवस्व) गतिकर ।

(२) (ते) वे (विपाश्रित) ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानों का संग्रह करने हारे या ज्ञानरूप अग्नि का चयन करने हारे परमात्मदर्शी (शुक्र) तेजस्वी, या शुक्ल कर्म करने हारे, (सुतास०) सिद्ध यागी (वायुम्) सर्व भेदक प्रभु परमात्मा को (असृष्टत) प्राप्त होते हैं ।

(३) सोमस्वरूप योगी गण (वाजयन्त) संग्राम करने हारे विजयी (रथा हव) रथों के समान स्वयं (वाजयन्तः) ज्ञानस्वरूप होकर (रथा) केवल आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर (देवर्वातये) ईश्वर को प्राप्त होने के लिये (असृष्टम्) जा रहे हैं ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



उ० १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
[१८१३] अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसो स्रुतु ।

२२ ३ १ २ ३ ० ३ २ ३ १ २
सहस्रो जातवेदसं विप्रं जानवेदसम् ॥

२ ३ १ ० ३ २ ३ १ २ ३ २
य ऊर्ध्वया स्वध्वरोदवाच्या कृपा ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ० ३ १ २
घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सापय ॥१॥

१ २ ३ १ ० ३ २ ३ १ २ ३
[१८१४] यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमद्भिरसां विप्रं

१ २ ३ १ १ ३ १ २
मन्मभिर्विप्रैभिः शुक्र-मन्मभिः ॥

१ २ ३ ११ २२ ३ २
परिजमानामिब द्यां होतारं चर्षणीनाम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शोचिष्केशं वृषणं यमिमात्रिशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥२॥

१४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१८१५] स हि पुरुचिदोजसो विरुक्मता दीयानो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भवानि द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
वीहुविद्यस्य समृनौ श्रुवद्वेनेष यत्स्थिरम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
निष्पहमाणो यमते नायने धन्वासहा नायने ॥३॥१८॥

श्रु० १ । १०७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६५] पृ० २३४ ।

(२) हे (विप्र) ज्ञानवान् ! अग्ने ! परमेश्वर ! हम (यजमानाः) तेजोपासना करने हारे लोग (यजिष्ठ) सब उपासकों में से सबसे अधिक श्रेष्ठ, (अंगिरसां) समस्त ज्ञानवान् आत्माओं से भी (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ परमात्मरूप आपको (विप्रोभिः) विशेष रूप से आपके महाव को दर्शाने हारे ज्ञानमय (मन्मभिः) विचारों, मन्त्रों से (स्वा) आपको (हुवेम) स्मरण करते हैं । हे (शुक्र) तेजस्वरूप सबके प्रकाशक ! (परिग्मान) सर्वव्यापक, (या) तेजस्वरूप, (चर्यणीनां) समस्त मनुष्यों को (दोतारं) कृपा का दान करने हारे (शोचिष्केशं) कान्तिमान् सूर्यादि पियहों को वश करने हारे (वृषण) सब सुखों के वर्षक (यं) जिस आपको (हमा) ये समस्त (विश.) आप में आश्रय पाने हारे जीवगण (प्रावन्तु) प्राप्त होते हैं ।

(३) (स. हि) निश्चय से वह अग्नि (विरुक्मता) विशेष कान्ति से युक्त (याजमा) तेज से (पुरुचित्) अति अधिक (दीयानः) प्रकाशित होता हुआ (द्रुहन्तर) वृषों को विनाश करने हारे (पाशुः न) फरसे के समान (द्रुहन्तर.) द्रव्यशील, विनाशी इस वेद बन्धन को काटने द्वारा (भवति) होता है, (यस्य) जिसको (समृ नृत्ता) सम्पन्न में साक्षात् प्राप्त कर लेने पर (वीहु) दृढ़ और (यत्) जो (स्थिर)

स्थिर, स्थायी यह संसार या देहबन्धन (चित्) भी (बना हव) जंगल या जसों केसमान (श्रुवत्=क्षुवत्) छितरा जाता है । अग्नि के संयोग जिस प्रकार जंगल जल जाता या जल भाफ होकर विहीन होता है उसी प्रकार यह समस्त संसार भी जिस में प्रलय काल में विहीन होता है वह (निः सहमानः), समस्त संसार की सब विरोधिनी शक्तियों को अपने वश करता; हुआ (अयते) समस्त संसार की व्यवस्था करता है और उसी में प्रीति करता है एवं (धन्वा सह न) धनुर्धर विजयी के समान (अयते) संसार के स्थ क्षेत्र में भी आता है और (न अयते) और इसके भीतर पाश में भी नहीं आता ।

इति नवमस्य प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धप्रपाठकः*

अथ नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

अधिः—१ अग्निः पावकः । २ सोमरिः काण्वः । ३, ४ अमरसारः काश्यप अन्ये च अपयो वृष्टलिङ्गाः* । ५ वासुप्रीः । ६ गोपूतयश्मसूक्तिनी काण्वायनौ । १० त्रिशिरास्त्राष्ट्रः सिधुदीपो वाम्बरीषः । ११ उलो वातायनः । १३ वेनः । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥ देवता—१, २, ५ अग्निः । ३, ६ विदवे देवा । ९ इन्द्र । १० अग्निः । ११ वायुः । १३ वेनः । ३, ४, ७, १२ इतिसाम ॥ छन्दः—१ विष्टारपङ्क्तिः, प्रथमस्य, सतोवृष्टी उत्तरेषा त्रयाणां उपरिष्टाज्ज्योतिः अत उत्तरस्य, त्रिष्टुप् चरमस्य । २ प्रागाथम् काकुमम् । ३, ६, १३ त्रिष्टुप् । ८-११ गायत्री । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥ स्वरः—१ पञ्चमः प्रथमस्य, मध्यमः उत्तरेषा त्रयाणां, धैवतः चरमस्य । २ मध्यमः । ३, ६, १३ धैवतः । ५-११ पञ्चमः । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥

*के० । चिन्मतेनात्र विंशध्यायस्य, पञ्चाखण्डस्य च विरामः ।

[१८१६] अ॒ग्ने तव श्र॒वो वयो महि॑ भ्राजन्ते अ॒र्चयो विभा॑वसो ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २

बृह॒न्नानो श॒वसा वाज॑मु॒क्थ्यां ३ दधा॑सि दा॒शुने क॒वे ॥१॥

[१८१७] पा॒नक॑वर्चा शु॒क्रव॑र्चा अ॒नू॒न॒व॒र्चा उ॒दिया॑पि॒ मानु॑ना ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पु॒त्रो मा॒तरा वि॒चर॑न्नु॒पावा॑मि पृ॒णाक्षि॑ रा॒न्दसी॑ उ॒भे ॥२॥

[१८१८] ऊ॒र्जो न॒पा॒ज्जा॒तवे॒द सु॒श॒स्तिभि॑र्म॒दस्य॑ धी॒तिभि॑र्हितः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्वे इ॒ष स॒न्दधु॑र्भूरि॒वर्ष॑सः श्वि॒घ्रात॑यो वा॒मजा॑ता ॥३॥

[१८१९] इ॒रज्य॑न्न॒ग्ने प्र॒थम॑स्य ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रा॒यो अ॒मर्त्य॑ ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

स दर्श॑तस्य ष॒पुषो॑ वि॒राज॑ति पृ॒णाक्षि॑ दर्श॑तं क॒नुम् ॥४॥

[१८२०] इ॒क्ष्मर्त्त॑रि॒मध्व॑रस्य प्र॒चेत॑सं क्ष॒यन्तं॑ रा॒धसो॑ मह । रा॒ति
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वा॒मस्य॑ सु॒भगा॑ म॒हीमे॑पं दधा॑सि सा॒नासि॑ र॒धिम् ॥५॥

८२१] अ॒तावा॑नं म॒हिपं॑ वि॒श्वदर्श॑नम॒ग्निं सु॒म्नाय॑ द॒धिरे पु॒रो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

ज॒ना । श्र॒त्कर्णो॑ रा॒प्रथ॑स्तम त्वा गि॒रा दै॒व्या मा॒नुषा॑

यु॒गा ॥ ६ ॥ १ ॥

न० १० । १४० । १-६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने, ज्ञानस्वरूप ! प्रकाशक ! परमात्मन् ! (विभा॒वसो) अग्ने विंशेष प्रकाश से तव को यज्ञाने और सर्वत्र स्वयं समनेदारे व्यापक परमात्मन् । (तव) तेरा (श्रवः) कर्ति और (वयः) ज्ञान, यत् (महि) महान् है और तेरी (अर्चयः) उघालायें मूर्धे अदि रुद्र में

ऋषिर्लिङ्गा द्या० भाष्ये पाठः १८१६—२. 'गन्दर्वादिना' ४. पु॒गादि॒मान-

१. हिं इति ५० ।

(आनन्तो) प्रकाशित हो रही हैं । हे (बृहद्भानो) सब प्रकाशों में महान् ! याप (उक्थ्ये) वेद द्वारा प्रतिपादनीय (याजं) ज्ञान दो । हे (कथे) मेधाविन् ! तू (दाधूपे) आत्ममत्तपेण करने द्वारे जित्प को आध्यात्म के समान (उपासि) धारण करता है ।

(२) हे भग्न ! तू (पाथकथ्योः) पथिन करने द्वारे तेज से युक्त (शुक्रांश्चोः) शुक्ल, निमल कान्ति से सम्पन्न, (समूनच्योः) सघ से अधिक तेजस्वी होकर (मानुना) प्रकाशक तेज के सहित (उद्-इयर्षि) उदय होता है, उदय में प्रकट होता है । जिस प्रकार (पुनः) पुन (मातरा) मातृस्वरूप या मां याप दोनों के समीप (विचरन्) विचरता हुआ उनको पुनः पालता और पोषता है और जिस प्रकार यह सूर्य आकाश और पृथिवी दोनों के बीच विचरता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) लोकों को आधान करता और पालन पोषण करता है वही प्रकार तू भी समस्त लोकों को (उपासि) स्वयं उन में व्यापक होकर रक्षा करता और (पृणधि) पालन करता है । इसी प्रकार देहगत जीवात्मा पर भी यह मन्त्र स्पष्ट है ।

(३) हे (कर्तो नपात्) बल को, सामर्थ्य को एवं प्राज्ञानन्दरस को कभी न परित्यक्त करने द्वारे ! हे (ज्ञातवेदः) सर्वज्ञ ! तू (सुशस्तिभिः) उत्तम स्तुतियों में और (धीतिभिः) वेदाध्ययन और अग्निहोत्रादि यज्ञा-धानों से (मन्दरय) प्रसन्न हो, अपना आनन्दमय स्वरूप प्रकट कर । (भूरिवर्चसः) नानारूप (चित्रोत्तयः) विचित्र या मनाह्व सुन्नि घाले (वामनानाः) उत्तम प्रकृति के कुलीन, विद्वान् लोग भी (ते) तेरे निमित्त ही (इयः) गाना अथवा आदि, दावियों को (संदधुः) अग्नि में, डालते हैं । या तेरे आग्रय नाना कामनाएँ करते हैं ।

(४) हे (अग्ने) प्रकाशावस्व ! हे (अमर्त्य) अविनाशी परमात्मान् ! याप (जन्तुभिः) जगज्ज होने द्वारे जन्तुओं द्वारा (राज्यम्) ऐश्वर्य

को बढ़ाते हुए (अस्मे) हमारे (रायः) धर्मों को (प्रथयस्व) बढ़ाओ ।
 (सः) वह आप (दर्शतस्य) दर्शनीय (यपुषः) अपने बीज वपन करने
 हारे, उत्पादक सामर्थ्य से (विराजसि) सब पर ईश्वर होकर विराजमान
 हैं । और आप (दर्शतं) दर्शनीय (कर्तुं) अपने बनाए हुए इस संसार
 को (पृथञ्चि) पालन पोषण करते हो ।

(५) (अश्वरस्य) इस महान् जगत् मय यज्ञ के (इष्कारिन्)
 प्रेरणा करने हारे, या पूर्णरूप से संचालन करने हारे (प्रचेतसः) उत्तम,
 ज्ञानवान् (महः) बड़े भेष्ट, (राघसः) आराधनीय, या साधनयोग्य
 धन या ज्ञान को (विपन्तं) अपने वश करने हारे, उसके स्वामी और
 (वामस्य) प्राप्त करने योग्य उत्तम भेष्ट पदार्थों के (रतिं) दाता की
 हम स्तुति करते हैं । हे परमात्मन् ! आप (मही) बहुत बड़ी (सुभगा)
 उत्तम सौभाग्ययुक्त, शुभ (इषे) यज्ञ आदि सम्पदा को और (सानसि)
 परस्पर विभाग कर के भोगने योग्य अथवा प्रत्येक को पृथक् २ प्राप्त
 (रयिम्) प्राण, देह आदि अध्यात्म-सम्पत्ति को (दधासि) धारते और
 प्रदान करते हो ।

(६) (जनाः) मनुष्य लोग (ऋतावानं) सत्यज्ञान से युक्त,
 (महिषं) बड़े सामर्थ्यवान्, (विश्वदर्शतम्) सबसे अधिक दर्शनीय, विश्व
 के दृष्टा एवं सब पदार्थों के प्रदर्शक विद्वान् (अग्निम्) अग्नि अर्थात् आचार्य के
 समान अग्रणी ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर को अपने (पुरः) समक्ष साक्षिरूप से
 और मार्गदर्शक रूप से (सुस्नाय) सुख प्राप्त करने एवं प्रत्येक कार्य पर
 उत्तम रूप से मनन करने और स्वयं उसका उत्तम ज्ञान प्राप्त करने के
 लिये (दधिरे) पुरोहित, आचार्य और गुरुरूप में रखते हैं । उसी प्रकार
 हे परमात्मन् ! (मानुषा) मननशील (युगा) नर नारियों के जोड़े
 (सप्रथस्तमं) सर्वत्र अति प्रासिद्ध, विख्यात (अत्कर्णम्) श्रुतिरूप
 कर्णों से युक्त अथवा वेद के अनुसार समस्त जगत् के रचने हारे (गिरा)

उस वेदवाणी के अनुसार (दैर्घ्यं) दिव्यगुणों से युक्त (त्वां) तुम्हको अपने सुख-सम्पादन के लिये (पुरो दधिरे) सब कार्यों में साधी या आचार्य पुरोहित के समान स्थापन करते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

—0—

[१८२२] प्र सो अग्ने तत्रातिभि सुवीराभिस्तरनि वाजकर्मभिः ।
यस्य त्व सख्यमात्रिथ ॥ १ ॥

[१८२३] तव द्रप्सा नीलवान्वाश आत्विष इन्धानः सिष्णावा
वदे । त्व महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि
॥ २ ॥ २॥ अ० ८ । १६ । ३०, ३१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१०८] पृ० ५८ ।

(२) हे (सिष्णो) आनन्दरस से हृदय के सेचन में समर्थ ! धर्म मेघरूप आत्मन् ! (तव) तेरा (द्रप्सः) द्रव्यशील व्यापक रस (नील-वान्) आश्रयदाता, (वाशः) कमनीयरूप, (आत्विषः) प्राणों में रहने वाला (इन्धानः) प्रदीप्त होकर (आदेद) मन से ग्रहण किया जाता एवं सबको अपने वश करता है, जाना जाता है । (त्वं) तू (महीना) विशाल या पूजनीय (उषसा) ज्ञानोदय से युक्त विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं का (प्रियः) प्रिय (असि) है और (क्षपः) सर्व दुःखों के नाश करने वाली, रात्रि के समान अन्तः सात्विक निद्रा से सम्बद्ध (वस्तुषु) तत्वों में (राजसि) प्रकाशमान, जागृत रहता है ।

[१८२४] तमोपधीदधिरे गर्भमृत्विषं तमापो अग्निं जनयन्त
मातरः । तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोन्तर्वतीश्च सुवते
च विश्वहा ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १० । ६१ । ६ ॥

भा०—(१) (त) उस (ऋत्विज) ऋतुओं में सूर्य के तेजो रूप में प्रकट होने वाले अग्नि को (ओषधीः) ओषधिगण अपने भीतर रसरूप से (दधिरे) धारण करती हैं (त) उसी (अग्नि) अग्नि को (मातरः) स्रव के मूल-कारण (आपः) आप-जल भी (जनयन्तः) उत्पन्न करते हैं और (तम् इत्) उसको ही (समानं) समान रूप से (वनिनः) वन के बड़े २ वृक्ष भी धारण करते और उत्पन्न करते हैं और उसी अग्नि को (अन्तर्वतीः) गर्भ धारण करने वाली पुष्पिणी (च) और (वीरुधः) विशेष रूप से रोहण करने वाली लताएँ (विश्वहा) सर्वदा उत्पन्न करती हैं । उसी प्रकार वनस्पति और लताओं के दृष्टान्त से आत्मा का उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—(मातरः) माताएँ, (आपः) प्राप्त होने योग्य पतियों से सगत (ओषधीः) तेज=वीर्य को धारण करने वाली (त) उस आत्मरूप अग्नि को (ऋत्विज) ऋतुकाल में होने वाले (गर्भं दधिरे) गर्भरूप से धारण करती हैं (त) उसी को (जनयन्तः) वात्सल्य रूप से उत्पन्न करती हैं । (च) और (वनिनः) नर वृक्षों के समान पुरुष और (वीरुधः) लताओं के समान (अन्तर्वतीः च) गर्भिणी स्त्रियाँ (विश्वहा) सदा (समानः) समान भाव से (सुवते) उसको प्रसन्न करती हैं ।

फलतः वृक्ष वनस्पतियों में भी वही जीव है । एवं जो जल वृष्टिरूप से पृथिवी पर आकर वनस्पति रूप से उत्पन्न होता है और खाये जाकर वही वीर्य बनकर पुनः पुरुषों द्वारा वही गर्भों में निषिक्त होता है और वही गर्भ में जमकर पुनः पुत्ररूप में उत्पन्न होता है, यह सूक्ष्म रहस्य उपनिषदों में पञ्चाहुतिप्रकरणों से दर्शाया गया है ।

[१८२५] अ॒ग्निरिन्द्रा॑य॒ प॒वते॑ दि॒वि शु॒क्रो वि॒राज॑ति ।

महि॑षी॒य वि॒जाय॑ते ॥ ४ ॥

भा०—(१) (अग्नि) वह आत्मा (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (पवते) त्रिवेक से निर्मल होकर उसकी ओर गति करता

है । (शुक्र) शुक्लकर्मा, निर्मल कान्तिमान् होकर (दिवि) मोक्ष में (विराजति) प्रकाशित होता है । (महिषी इव) जिस प्रकार (महिषी) राजमहिषी, महारानी नाना प्रकार के रूप धारण करके प्रजा के सम्मुख उपस्थित होती है वसी प्रकार वही आत्मा (विजायते) नाना रूपों में प्रकट होता अथवा (महिषी इव) दुग्धरस देने हारी भैंस के समान वही आत्मा आनन्दरस की धार वर्षण करने हारी कामधेनु बनकर चितिशक्ति के रूप में ऋतम्भरा रूप से प्रकट होती है ।

अथवा अग्नि=परमात्मा इस इन्द्र=आत्मा के लिये प्रकट होता है वही मोक्ष में शुद्ध रूप से विराजमान है । वही उसको रस देने हारी कामधेनु के समान नाना पदार्थ प्रदान करता है ।

[१८२६] यो^२ जागार^३ तमुच^२ कामयन्ते^३ यो^३ जागार^२ तमु^३ सामानि^२
यन्ति । यो^३ जागार^२ तमय^३ साम^२ आह^३ तवाहमस्मि^२ सख्ये^३
न्योका^२ ॥ १ ॥ ५ ॥ अ० ६ । ४४ । १४ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (जागार) अविद्या की भौंद से जाग जाता है (त) उसको (तमुच) ऋग्वेद की ऋचाएँ और उन के समान ज्ञानप्रद जन भी (कामयन्ते) चाहते हैं । और (य.) जो (जागार) अविद्या निद्रा से जग जाता है (तमु) उसको ही (सामानि) माम के उपामनापरक मन्त्र और उपासना करने वाले भक्त लोग भी (यन्ति) प्राप्त होते हैं (य) जो (जागार) ज्ञानमार्ग में जागृत सावधान रहता है (तम्) उसको ही (अय) यह (सोम.) सोमरूप, सब का प्रेरक जगदीश्वर, या ससार का ऐश्वर्य भी (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में ही (अहम्) मैं भी (न्योका) निवास करता हूँ । इसी ऋचा से अगती ऋचा में इस जागरणशील निरावास तपस्वी को 'अग्नि' नाम से चनजाया है ।

[१७२७] अग्निर्जागार तमृच. कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सा
 मानि यान्ति । अग्निर्जागार तमर्थं साम आह तवाहमस्मि
 सख्ये न्योकाः ॥ १ ॥ ६ ॥

भा०—(१) पूर्व ऋचा के (यः) 'जो' की जिज्ञासा में ही यह
 उत्तर ऋचा कही जाती है । इसमें विद्वान् निराजस आत्मा के साथ २
 परमात्मा का भी वर्णन इस रूप से होता है । अर्थात्—अग्नि=परमात्मा ही
 सदा जागता है, ऋग्वेद की ऋचाएँ उसको चाहती है, उसी का सामगण गान
 करते हैं और यजुः स्थानाय सोम अथवा कर्मप्रधान यह जीव भी उस परमेश्वर
 को ही कहता है कि हे भगवन् ! मैं आपके मित्रभाव में सदा आश्रय प्राप्त करूँ ।

[१८२८] नमः सखिभ्य पूर्वसङ्गय. नमः साकनिषेभ्य ।

युञ्ज वाचं शतपदीम् ॥ १ ॥

[१८२९] युञ्ज वाचं शतपदी गाय सहस्रवर्तनि ।

गायत्र त्रैष्टुभ जगत् ॥ २ ॥

[१८३०] गायत्र त्रैष्टुभ जगद्विश्वा रूपाणि सम्भृता ।

देवा ओकासि चक्रिः ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (पूर्वसङ्गय.) पूर्णब्रह्म, मोक्षधाम में विराजमान
 (सखिभ्य.) मेरे आत्मा के समान आख्यान वाले मुक्तात्माओं को (नमः)
 मैं नमस्कार करता हूँ । और (साकनिषेभ्य) साथ ही विराजमान
 विद्वान् मित्रों के लिये भी (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार है । मैं आप
 लोगों के समान ही (शतपदी) सैकड़ों ज्ञानों से पूर्ण (वाच) वेदवाणी
 का (युञ्ज) समाहित चित्त से विचार करता हूँ ।

(२) (शतपदी) सैकड़ों ज्ञानों से युक्त (वाच) वाणी का
 (युञ्ज) योगसमाधि द्वारा मनन करता हूँ और (सहस्रवर्तनि)

सहस्रों मागं से युक्त सहस्रवर्मां सामवेद जिसमें (मायत्र) गायत्र (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ और (जगत्) जगत् साम विशेष है उसका (गायं) गान करता हूँ ।

(३) (गायत्रं, त्रैष्टुभं, जगत्) गायत्र, त्रैष्टुभ और जगत् इन तीन मुख्य सामों के ही (विश्वा रूपाणि) नाना प्रकार के रूप (स-भृता) बनाये गये हैं । और उनमें ही (देवाः) विद्वान् लोग (ओकासि') संहिताओं का या ज्ञानवाक्यों का (चक्रिरे) साक्षात् कर प्रकाश करते हैं ।

[१८३१] अग्निज्योतिर्यज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्यज्योतिरिन्द्रः ।

सूर्यो ज्योतिर्यज्योतिः सूर्यः ॥ १ ॥

[१८३२] पुनरुज्जानं वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा ।

पुनर्नः पाह्यहसः ॥ २ ॥

[१८३३] सह रय्या न वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।

विश्वस्वस्था निश्वनस्परि ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋग्वेद नास्ति । आषा यजु० ३ । ६ । द्वितीया यजुः० १२ । ४० ॥

तृतीया यजु० १२ । ४१ ॥

भा०—(१) (अग्नि.) अग्नि (ज्योति) ज्योतिःस्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप ही (अग्नि.) अग्नि है । (इन्द्रः) इन्द्र भी (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (इन्द्रः) इन्द्र है । (सूर्यः) सब का प्रेरक सूर्य (ज्योति) ज्योतिर्मय है ।

१८३०—१. ओकासि—बाहुलकादवतैरौणादिकः कक् । उणा० ३ । ४१)

श्लोक —राशिः स्थान वा । अथवा षष्ठेः सार्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०

४ । २१६) उच्यते श्लोकः ।

१८३१—१. "अग्निज्योतिरग्नि. स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्यज्योतिः सूर्यः स्वाहा"

इति याजुषः पाठः । मध्यमः पाठो यजुर्मन्त्रे नास्ति ।

(ज्योतिः) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (सूर्य०) सूर्य है । फलतः ज्योतिर्मय होने से ही अग्नि, इन्द्र और सूर्य तीनों नाम एक पदार्थ के हैं । वह समानरूप से तीन नाम एक पदार्थ के और इनका चौथा पर्याय ज्योति है । ये चारों नाम मुख्यता से ईश्वर के और गौणदृष्टि से अग्नियों के हैं ।

(२) हे अग्ने परमात्मन् । आप (ऊर्जा) रसस्वरूप आनन्दघन रूप में और (इषा) ज्ञानरूप में और (आयुषा) जीवनरूप स (पुन० पुन०) बार बार हमें (नि वर्तस्व) प्रकट हों । अर्थात् प्रत्येक समाहित दशा में एव प्रतिजन्म में आपके सत् चित्, और आनन्द तीनों रूपों के हमें दर्शन हों ।

(३) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (रय्या) अपने रमणीय, मनोहर मोहनीय रूप से हमें (नि वर्तस्व) पुनः प्राप्त हो । हे अग्ने ! तू हमें (विश्वतः परि) सबसे अधिक, एवं सबपर शासन करने वाले (विश्वधन्या) समस्त ससार को अपने भीतर लें लेने वाली सर्वव्यापिनी (धारया) अपनी रसधारा से (पिबस्व) तृप्त कर ।

इति पष्ठः खण्डः ।

[१८३४] ^{१ २ ३ ४ ३ १२ २३ ३ २ ३ २ ३ २} यद्विन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।

^{३ २ ३ १ २} स्मोता मे गोमखा म्यात् ॥ १ ॥

[१८३५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} शिक्तयमस्मै तित्मेयं शचीपते मनीषिणे ।

^{१ ३ १२ २३ ३ २} यदहं गोपातं म्याम् ॥ २ ॥

[१८३६] ^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३} धेनुष्ट इन्द्रं मनुता यजमानाय सुन्यते ।

^{१२ २२ ३ १ २} गामभ्य पिप्युपी दुहे ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । १४ । १—३॥

भा०—(१) व्याख्या देवो अत्रिकल सं० [१०२] २० ।

(२) (यद्) यदि (अहं) मैं (गोपति०) बाणी, भूमि और गौओं का पति=पालक (स्याम्) होऊँ तो हे (शचीपते) शक्तिमान् ईश्वर ! आत्मा और ब्रह्मविद्या के स्वामिन् ! मैं (अस्मै) इस (मनीषिणे) मनस्वी, नितोन्दिन्य बुद्धिमान् पुरुष को (दित्वेय) दान कर दूँ और (शिषेय) विद्या की शिक्षा दूँ ।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरी (सूनृता) उत्तम सत्य सत्तों के दर्शाने वाली सत्यमयी (धेनु) ज्ञानरस का पान कराने वाली चेतनायी (सुन्वने) ज्ञान सम्पादन करने वाली (यजमानाय) स्वाध्याय यज्ञ के करने वाले अध्येता को (पिप्पुषी) पुष्ट करती हुई (गाम्) बाणी और (अभं) आत्मिक मामर्थ्य युक्त आत्मा का भी बल (दुहे) प्रदान करती है :

[१८३७] आपो न्नि न्ना मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

मह रणाय क्लृप्ते ॥ १ ॥

[१८३८] यो च शिवनमो रसस्तस्य भाजयेनह न ।

उजनीरथ मानर ॥ २ ॥

[१८३९] तस्मा अरुहमाम वो यस्य क्षयाय जिग्रथ ।

आपो जनयथा च न ॥ ३ ॥ १० ॥

अ० १०१ । ६ । १-३ ॥ अर्थः १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (आपः) प्राप्त होने वाली ज्ञान जलधाराओं ! आप ही (मयोभुव) बान्ति और कल्याण के उत्पन्न करने वाली (स्थ) हो । ज्ञानजल (न) हमें (ऊर्जे) बल या आनन्द-रस प्राप्त करने के लिये (दधातन) अपने में धारण करें । और वे ही हमें (महं) बड़े (रणाय) रमणीय, दर्शनीय इष्टदेव के (चक्षसे) दर्शन प्राप्त करने के लिये (दधातन) समर्थ और पुष्ट करें ।

(२) हे (आपः) प्राप्तव्य योगभूमियो ! (य.) जो (व) आप का (शिवतमः) अति कल्याणकारी, शान्तिदायक, सर्वोत्तम (रस.) आनन्दरस है (तस्य) उसको (इह) इस लोक में (नः) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ । आप साक्षात् (उशतीः) पुरुषों के प्रति उनको पुष्टि करने की जान्नसा से भरी (मातरः) माताओं के समान हम मुमुक्षुओं को (मातर.) ज्ञान देने हारी हो ।

(३) हे (आप.) प्राप्ततम योगभूमियो ! (तस्मा) उस रस के प्राप्त करने के लिये ही (व) आपके प्रति हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमाम) प्राप्त हों । (यस्य) जिसके (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये आप (जिन्मथ) हमें प्रेरित करते हो । (न.) और जिसके लिये हमें (जनयय) उत्पन्न करती हो, उसके लिये समर्थ भी होती हो ।

उन मन्त्रों में आपः जल है । वह वे जल हैं जो आत्मा नदी में बहत है । जिसका वर्णन व्यासदेव ने किया है—

‘ आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीततटा दधोभिः ’ ॥

अथवा जिसमें वह कर भरू कहा करते हैं:—

‘‘ओषधं जान्हवीतोय वैद्यो नारायणो हरिः ।’’

[१८४०] धान आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु ना हृदं ।

प्र न आयुंषि नारिषत् ॥ १ ॥

[१८४१] उत धान पतासि न उत आतोत नः सखा ।

स नो जीघातये कृधि ॥ २ ॥

१८४०—अपिदेवता च नान्यथ सहितान्गन्म्यते । सगन्म्योन्ते स्म कोशान्दं मुदापिमायणमाप्यगात्रिर्येव शेष । सगन्म्युत्तिगद्यदितादा केन 'क्षिति साम' क्षितिमात्र प्रदर्शितम् ।

[१८४२] यदेदो वात ते गृहेऽमृतनिहित गुहा ।

तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥११॥ अ० २० । १८६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१८४] पृ० ६६ ।

(२) हे वात ! सर्वव्यापक परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (पिता असि) प्राणवायु के समान साक्षात् पात्रक हैं, (उत आता) और प्राण वायु के समान भरण पांषण करने वाले और (नः सखा) हमारे आत्मा के समान हमारे प्रेमी मित्र हैं । (सः) वह आप (नः) हमें (जीवात्तवे) जीवनमय यज्ञ के लिये सदा समर्थ (कृधि) करो ।

(३) हे (वात) प्राणों के प्राण परमात्मन् ! (यत्) जो (अद) वह कभी न मूजने योग्य (अमृतं) अमृतरस, परमज्ञान (ते) तरे (गृहे) शरण में (गुहा) हृदयरूप गुहा में (निहितं) गुप्तरूप से रक्खा है भगवन् ! (तस्य) उसको (नः जीवसे) हमारे जीवन के निमित्त (धेहि) प्रदान करो ।

[१८४३] अभि वाजी विश्वरूपो जनित्र हिरण्यं विभ्रदत्तं सु-
पण । सूर्यस्य भानुमृतुया वसानः परिस्वयं मेघमृज्जी
जजान ॥ १ ॥

[१८४४] अप्सु रेत शिश्रिये विश्वरूपं तेजं पृथग्यामधि यत्नं
बभूव । अग्निरिक्षे स्वम्माहिमानं मिमानं कनिकान्ति
वृणो अश्वस्य रेतः ॥ १ ॥

[१८४५] अथ सहस्रा परि युक्ता वसान सूर्यस्य भानु यज्ञा दा-
धार । सहस्रदाः शतदा भूरिदात्रा धर्ता दिवा भुवनस्य
विशपात ॥३॥१२॥ अग्नेर्नास्ति । अथर्वणि यजुषि च नो लभ्यते ॥

भा०—(१) (विश्वरूप.) नाना प्रकार के रूपों को धारण करने हारा जीवात्मा (वाजी) ज्ञानवान् और बलवान् होकर (सुपुंगुः । उत्तम प्रज्ञान और पालन करने के सामर्थ्य से सम्पन्न, या उत्तम मार्गगामी (ऋज्र) कर्मोश्यों को परिपाक करके (हिरण्य) तेज.सम्पन्न (जति त्रम्) अपने मूलभूत (अत्क) आत्मस्वरूप को (विश्रत्) परिपुष्ट करता हुआ (ऋतुथा । प्राणों के बलपर अथवा नियत काल के अनुसार स्वयं (सूर्यस्य) आदित्य के (भानुं) कान्ति और तेज का (वसान) धारण करता हुआ (स्वयं) आप से आप (मध) उस पवित्र परमपुष्प को (परिजजान) ज्ञान कर लेता है प्राप्त होजाता है ।

(२) (विश्वरूप तेज) नाना प्रकार के नर, तिर्यक् आदि रूप धारण करने वाले जीवात्मारूप ज्योति ने (अप्सु) जलो में (रेत) वीर्य रूप होकर (शिश्रियं) आश्रय प्राप्त किया (यत्) पुनः उसके बाद वह (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अवि सग्वभूव) जीवरूप से उत्पन्न हुआ उसके बाद वह (स्वं) अपने (माहिमान) सामर्थ्य को (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में भी (मिमान) व्यापारित करता हुआ अर्थात् पृथ्वी या सूर्य रूप में प्रकट होकर (घृण्य) उस वीर्यसत्ता सब के पिता (अश्वस्य) परमात्मा के (रेत) वीर्य की (कनिकान्ति) महिमा का वर्णन करता है ।

(३) वह विश्वरूप अग्नि (यज्ञ.) आत्मारूप (दिव.) स्वर्ग का (धर्ता) धारक और (भुवनस्य) इस लोक की (विश्वति.) समस्त देहधारी प्रजाओं का परिपालक, (सहस्रदा) सहस्रों पदार्थों का दाता (शतदा.) सैकड़ों पदार्थों का दाता और (भूरिदाया) इतने वस्तु की बहुतसी मात्रा का दाता, अथवा बहुत दान देने वाला, (महत्या) हजारों (युक्ता) देहों को (वसान.) धारण करता हुआ (सूर्यस्य) सूर्य के (भानुं) तेज को भी (दाधार) धारण करता है ।

यह समष्टि रूप से जीव शक्ति का वर्णन किया है जिसका संज्ञा में वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस रूप से किया है ।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव मे चोपभोक्ता ।
 स विश्वरूपान्निगुणस्त्रिवर्मा प्राणाधिप सचरीति स्वकर्मभिः ॥
 अंगुष्ठमात्रो रावितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
 बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥
 सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहप्रोसाम्बुवृद्ध्यात्माविवृद्धिजन्म ।
 कर्मानुरागान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥
 स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
 क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां सयागहेनुरपराऽपि दृष्टः ॥
 अनाद्यनन्तं कालितस्य मध्ये विश्वस्य स्रग्वरमेनकरूपम् ।
 विश्वस्यैकं परिवोष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुन्यते सर्वपाशैः ॥

[श्वेता० अ० ५]

[१८४६] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा घनन्ता अभ्यचक्षन्
 त्वा । हरण्यपक्ष वरुणस्य दूनं यमस्य योनौ शकुनं
 भुरग्युम् ॥ १ ॥

[१८४७] ऊर्ध्वो गन्धर्वो अत्रि नाके अस्थात्प्रत्यङ्गचित्रा निभ्र-
 दस्यायुधानि । वसाना अत्क सुरभिन्दशे कं स्वाशर्ण
 नाम जनन प्रियाणि ॥ २ ॥

[१८४८] द्राक्ष' समुद्रमाभ यज्जिगानि वश्यन् गृध्रस्य चक्षुः
 विधर्मन् । भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तुनीये चक्रं
 रजसि प्रियाणि ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० १० । १०३ । ६-८ ॥

भा०—(१) हे (वन) कर्म सन्तान उत्पन्न करने हारे आत्मन् । कान्ति-
 मन् । दृष्टः (त्वा) तुभका (यद्) जब (हृदा) हृदय से, मन से (घनन्त)
 कामना करते हुवे विद्वान् लोग (अभि अभ्यक्षन्) साक्षात् करते हैं तब वे

(हिरण्यपथं) ज्योति-स्वरूप, (वरुणस्य) सबसे बरने योग्य, दुष्टों के निवारक परमात्मा के (दूत) पास गमन करने द्वारे और (भुरग्युम्) अपने सामर्थ्यों को धारण करने वाले (शकुनम्) शक्तिमान् तुम्हें उस समय (यमस्य) समस्त ससार के नियामक जगदीश्वर के (नाके) दुःख-हित (योनौ) आश्रयस्थान मोक्षपद में (उप पतन्तं) विचरण करते हुए (मुपयं) उत्तम ज्ञान और कर्म रूप पथों के धारक पक्षी के समान (अभ्यचक्षत) दसते हैं।

(२) (गन्धर्व) गौ-किरणों के धारण करने द्वारे सूर्य के समान अपनी इन्द्रियों का धारण करने वाला वह वेन-मेधावी आत्मा प्राणरूप से (चित्रा) विचित्र दर्शनीय (आयुधानि) यम नियमादि साधनाओं को (विभ्रत्) धारण करता हुआ (कं) आनन्दमय, सुख रूप (स्वानः) सूर्य के समान तेजोमय (नाम) परम रूप को (दृशं) देखने के लिये (अधिनोक) माघ मार्ग में (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है और (प्रियाणि) अपने प्रिय पथेष्ट कामनाओं को (जनयत) उत्पन्न करता है, पथेष्ट विचरता है।

(३) वह ज्ञानी आत्मा (यत्) जय (द्रप्स) स्वयं बड़ों द्वारे नद के समान गति करता हुआ (समुद्रम्) उस आनन्द-रस के अगाध समुद्र के समान गंभीर परम जगदीश्वर को (जिगाति) प्राप्त होता है या (विधर्मन्) अपने विशेष धारण करने द्वारे भगवान् की दया में स्थित होकर (गृध्रस्य) हमकी अकांक्षा करने द्वारे याचक के समान मोक्ष भिलापी की (चक्षसा) दृष्टि में (परयन्) अपने स्वामी को दसता है तब वह स्वयं (भानुः) सूर्य के समान (शुक्रण) शुद्ध (शोचिषा) नेत्र से (चक्रान) वेदास होना हुआ (तृतीये) तारण करने द्वारे, परम, सर्वो कृष्ट, (रजसि) प्रकाशमान पद में (प्रियाणि) अपने प्रिय मनोारथों को (चक्र) पूर्ण करता है। इति मत्तमः गणः ।

इति विशोध्ययः समाप्तः ॥

इति नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽध्यायः ।

अथैकविंशोऽध्यायः

अथ नवमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ॥

श्रुति — १—४ अप्रतिरथ ऐन्द्र. । ५ अप्रतिरथ ऐन्द्र प्रथमयो. पायु-
मौरद्वजः चरमस्य । ६ अप्रतिरथः पायुर्भारद्वजः प्रजापतिश्च । ७ शामो भारद्वजः
प्रथमयोः । ८ पायुर्भारद्वज प्रथमस्य, तृतीयस्य च । ९ जय ऐन्द्र. प्रथमस्य, गो-
तमो राहुगण उत्तरयो. ॥ देवता—१, ३, ४ आद्योरिन्द्र चरमस्यमस्त. । इन्द्र. ।
बृहत्पति. प्रथमस्य, इन्द्र उत्तरयोः ५ अज्वा प्रथमस्य, इन्द्रो मस्तो वा द्वितीयस्य
इपवः चरमस्य । ६, ८ लिंगोक्ता संग्रामाक्षिणः । ७ इन्द्रः प्रथमयोः । ९ इन्द्रः
प्रथमस्य, विश्वेदेवा उत्तरयो ॥ छन्दः—१-४, ६ त्रिष्टुप् । ५, ८ त्रिष्टुप् प्रथमस्य
अनुष्टुप् उत्तरयो । ६, ७ षड्तिः चरमस्य, अनुष्टुप् द्वयोः ॥ स्वरः—१—४, ६
धैवतः । ५, ८ धैवतः प्रथमस्य, गान्धार उत्तरयो. । ६, ७ पञ्चम. चरमस्य,
गान्धारो द्वयोः ॥

[१८४६] आशुः शिशानो घृषभा न भीमो घनाघनः क्षोभणश्च
घर्षणीनाम् । सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शनं सेना
अजयत्साकामिन्द्र ॥ १ ॥

[१८५०] सङ्क्रन्दनेनानिमिषण जिष्णुना युत्कारण दुश्कृपवनेन
घृष्णुना । तदेन्द्रण जयत तत्सहस्रं युधो नर ह्युह-
स्नेन घृष्णा ॥ २ ॥

[१८५१] सः पुहस्तैः स निषङ्गिमर्चशी सं क्षणा स युध इन्द्रो
राणन । सं सृष्टजित्सोमपा बाहुशर्च्युऽग्रधन्वा प्रति
हितामिरस्ता ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० १० । १०३ । १—३ ॥

भा०—(१) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील इन्द्र राजा जिस प्रकार (शिशान्) तीक्ष्णमति, (शीशुः) शीघ्रगामी, (वृषभ न भीमः) वृषभ के समान अति भयंकर (घनाघन) शत्रुओं को बार २ मारने वाला, (चर्यणीना) मनुष्यों और प्रजाओं को (लोभणः) विस्तुब्ध करने कंपा देने हारा, (संक्रन्दनः) शत्रुओं के सुलाने वाला या उनको संग्राम के लिये बुलाने वाला, (अनिमिष) आलस्यरहित (एकवीरः) एकमात्र वीर होकर भी (साकं) एक साथ ही (शत) सैकड़ों (सेनाः) सेनाएँ (अजयत्) विजय कर लेता है उसी प्रकार यह इन्द्ररूप आत्मा (आशुः) व्यापक (शिशान्) अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म २ तत्वों में भी जाने के लिये तीक्ष्णमति (वृषभ न भीम) जिस प्रकार बैल अपने दोनों सींगों से भय पैदा करता है उसी प्रकार तप और ज्ञान से सबके हृदय में आतङ्क बैठाने वाला, (घनाघनः) आनन्द को निरन्तर वर्णने के लिये साक्षात् धर्ममेव स्वरूप, (चर्यणीना) पदार्थ देखने हारा, इन्द्रियों को कशने हारा उनमें गति देने हारा, (संक्रन्दनः) उत्तम रीति से ईश्वरस्मृति का उच्चारण करने वाला, (अनिमिष) आलस्यरहित, निद्रा को भी वशकारी (एकवार) इन्द्रियों में एकमात्र सामर्थ्यवान् होकर वह (साकं) एक साथ ही (शत सेनाः) सैकड़ों चित्तवृत्तियों को (अजयत्) विजय कर लेता है ।

(२) हे (नर) पुरुषों ! आप लोग (संक्रन्दनेन) शत्रुओं को सुलाने वाले (अनिमिषेण) आलस्य न भूषकने वाले, निरालस्य, सावधान, (जिष्णुना) विजयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने हारे, (दुश्शयनेन) अविचलित रहने हारे (धृष्णुना) धैर्यवान्, (इषुहस्तेन) धनुष बाण हाथ में लिये, (वृष्णा) चलवान् (इन्द्रेण) राजा में जिस प्रकार शत्रुओं को दबाया जाता है और युद्धों में विजय प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार आप लोग स्वराज से भी अधिक कष्टमाय्य मोक्ष को (संक्रन्दनेन)

स्तुतिशील, (अनिमिषेण) अनासृसी, (जिष्णुना) सब इन्द्रियों विषयों पर जयी, (युत्कारेण) विघातक विघ्नों से युद्ध करने हारे (दुष्पयवनेन) साधना से अविचल (धृष्णुना) धैर्यवान् (इषुहस्तेन) ज्ञान को हाथ में लिये (वृष्णा) सुखवर्षक (इन्द्रेण) इस इन्द्र आत्मा से (तत् सहध्व) वह सब सहन करो और (युध०) आने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (जयत) जीत जाओ ।

(३) जैसे (स०, इन्द्र०) वह इन्द्र राजा (इषुहस्तै) धनुष बाण हाथ में लिये सुभटों से (वशी) सब राष्ट्र पर वश करता है उसी प्रकार वह आत्मा भी इषु अर्थात् कामनाआ से प्रेरित, मरुन् अर्थात् एकादश प्राणों से समस्त शरीर पर वश करता है और ईश्वर अपने विद्युत् जल वायु एवं प्रवहण आदि मरुनों द्वारा समस्त ससार पर वश कर रहा है । (सः) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (निषङ्गिभिः) धार्यों से भरे तूणीर तर्कस वाले सुभटों के द्वारा नगर वा राष्ट्र का (वशी) विजय करता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्र नित्य निरन्तर सज्ज रहने हारे प्राणों द्वारा ही शरीर पर एवं परमात्मा प्रतिपरमाणु में व्याप्त पञ्चमूर्तों द्वारा सब ब्रह्माण्ड पर वश कर रहा है, (स इन्द्र०) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (युध) युद्ध करने द्वारा होकर (गणेन) अपने सहायक प्रजागण से (सस्रष्टा) मिल कर (सस्रष्टजित्) अपने विपक्ष में मिले शत्रुसंघ को जीत लेता है उसी प्रकार वह इन्द्र आत्मा (युधः) समस्त देहों को चलाता हुआ (गणेन सस्रष्टा) अपने प्राणगण से ही इस देह को उचित रीति से निर्माण करके स्वयं अपने से विपक्ष में सज्जठन किये काम, क्रोध, लोभ मोहादि इन्द्रिय व्यसनों को एक बार ही जीत लेता है । और परमात्मा भी (गणेन) प्राकृतिक वैकारिक गण द्वारा समस्त ससार का (सस्रष्टा) रचने द्वारा होकर ही सब संसार के संघात से बने पदार्थों को अपने वश करता है । और जिस प्रकार राज्याभिषेक युक्त राजा (सोमपा) सोमरस का पान करके (ब्राह्मणैः)

अपने बाहुबल में उत्कृष्ट होकर (उग्रधन्वा) भयंकर धनुष लेकर (प्रतिहिताभिः) फेंके गये वायों से ही (अस्ता) सब शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार यह इन्द्र आत्मा (सोमपा) ज्ञान और योगाभ्यास रस का आस्वादन करके प्राण और अपान इन दो बाहुओं के बल से सम्पन्न होकर ओंकाररूप धनुष को तान कर (प्रसि हिताभिः) प्रेरित इडा, पिण्डा, सुषुम्ना आदि नादियों से इस देह-बन्धन को शीघ्र ही काट डालता है । और वह परमात्मा भी समस्त संसाररूप सोम या सूर्यरूप सोम का पान या अदान करने, या अपने वश करने द्वारा अपने प्रेरक बल से सर्वशक्तिमान् उग्ररूप में संसार की कर्म व्यवस्था से सब को धुन डालने द्वारा होकर अपना प्रेरित शक्तियों से (अस्ता) संहार करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१८५२] बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपवाधमानः ।
१ १ २ २ ३ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणा युधा जयस्रस्माक्रमेधपविता
२ २
रथानाम् ॥ १ ॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २
[१८५३] चलभिश्चायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ २ ३
उग्रः । अभिवीरो अभिसत्त्वा सहाजा जैत्रमिन्द्र रथमा
२ ३ २
तिष्ठ गोवित् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
[१८५४] गोत्रभिदं गोविदं वज्रवाहुं जयन्तमजम् प्रमृणन्तमो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
जसा । इमं सजाता अनुत्रीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनुसं-
२
रभध्वम् ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० १० । १०३ । ४०६ ॥

भा०—(१) (बृहस्पते) बृहती, वेद वाणी के परिपालक आत्मन् ! जिस प्रकार बृहती=बड़ी भारी सेना का स्वामी, सेनापति (रक्षोहा) दुष्ट पुरुषों का विनाशक, (अमित्रान्) शत्रुओं को दूर ही से मार भगाता हुआ अपने (रथेन) रथ से युद्धक्षेत्र में चारों ओर परिक्रमा करता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू भी (रक्षोहा) सब समाधिविधातक विघ्नों, काम, शोध आदि भावों का विनाश कर । (अमित्रान्) स्नह वृत्ति के विनाशक, शत्रुभावों के उत्तेजक प्रलोभनों, या द्वेषभावों को वितर्कबाधना द्वारा दूर करता हुआ (रथेन) अपने मन या देहरूप रथ से (परिदीया) परित्राट् हांकर मोक्ष मार्ग पर गमन कर । और जिस प्रकार सेनापति (सेना प्रभञ्जन्) शत्रु सेनाओं को तोड़ता फोड़ता हुआ और (युधा) अपने प्रहारों से (प्रमृणन्) प्रतिहिंसक शत्रुओं को (जयन्) जीतता हुआ अपने पक्ष के रथों का रक्षक होजाता है उसी प्रकार हे बृहस्पते इन्द्र ! आत्मन् ! तू भी (सेना. प्रभञ्जन्) मोह से उत्पन्न दोषवृत्तियों को विनाश करता हुआ (युधा प्रमृण. जयन्) प्राणायाम के बल से विरोधी इन्द्रियों को वश करता हुआ (अस्माक) हमारे (रथानाम्) इन देहों का (अविता) परिपालक (एधि) हो ।

(२) जिस प्रकार सेनापति (वलविज्ञायः) अपने समस्त सेना सामर्थ्य को भली प्रकार जानता हुआ और साथ ही शत्रुपक्ष को भी जानता हुआ, (स्थविरः) पुराना, अनुभवी या स्थिर रूप से युद्ध के अवसर पर जमने वाला, (प्रवीर.) सब वीरों में उत्तम सामर्थ्यवान्, (सहस्वान्) शत्रु के आक्रमण को सहन करने हारा, (वाजी) ज्ञान और वेग से युक्त, (सहमानः) शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ, (उग्र) तीक्ष्णस्वभाव होकर (अभिधीरः) वीर सुभटों को साथ लिये (अभि. सत्वा) सात्विक बल और तेज को धारण कर (गोविद्) अपने अश्वों

को रासों से सम्भाल कर (जैत्रं रथं) विजयशालि रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार है (इन्द्र) आत्मन् ! तू भी (बलविज्ञायः) आत्मिक बल को जान कर (स्थविरः) योगसाधनों अर्थात् मुमुक्षु मार्ग के योग्य तप साधनों में स्थिर रूप से रह कर अथवा पुरातन, तू (प्रवीर) उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होकर, (सहस्वान्) सहनशील (वाजी) ज्ञानवान्, (सहमानः) तपस्वी तितिक्षु, (उग्रः) तेजस्वी, (अभिवीरः) चारों ओर अपने सामर्थ्यवान् प्राणों को संग लिये, (अभियत्वा) सत्त्व गुण में प्रतिष्ठित होकर (सहो-जाः) ओजस्वी और (गोविस्) जितेन्द्रिय, वेदवाणियों को ज्ञानी या आत्मारूप गौ को प्राप्त होकर (जैत्रं रथं) मोक्षमार्ग पर विजय करने हारे रथरूप ब्रह्म पर (आ तिष्ठ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा ।

(३) जिस प्रकार (गोघ्नीभेदं) शत्रुकुलों का नाश करने, (गो विदं) पृथिवी के विजेता या विद्वान्, (वज्रबाहु) वज्र अर्थात् सङ्ग हाथ में लिये (अजम जयन्तं) सम्ग्राम करते हुए (ओजसा) अपने बल से (प्रमृणन्तं) शत्रु का नाश करते हुए सेनापति को उसके सहवर्त्ती सहायक लोग और बान्धव लोग प्रोत्साहित करते और उसके साथ ही स्वयं भी उसकी आज्ञा के अनुसार युद्ध करते हैं । उसी प्रकार है (मर्याय) समान आख्यान या नाम से पुकारे जाने वाले इन्द्रियगण और विद्वानों ! है (सजाताः) उसके साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करने दारो । आप लोग भी (गोघ्नीभेदं) उग्र देहबन्धन को तोड़ने हारे, (गोविदं) आत्मा को या परमेश्वर को प्राप्त करने हार ज्ञानी, (वज्रबाहुं) वैराग्य या ज्ञानरूप तन्त्र-चार को हाथ में लिये (ओजसा) अपने तप और ज्ञान के सामर्थ्य से काम, क्रोधादि अन्तःशत्रुओं को (प्रमृणन्तं) मर्दन करते हुए (अजम) चरम, प्राप्य स्थान तक (जयन्तं) विजय करने दारें (इमं) इन्द्र (इन्द्रम्) आत्मा के (अनुवीर्यम्), पीछे २ उसकी आज्ञा में रह कर

सामर्थ्यवान् रहो और (शत्रु संरक्षणं) और उसके शासन में ही सब कार्य करो ।

उ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २ उ
[१८५५] अभिगोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीर. शतमन्यु-
१ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २
इन्द्रः । दुश्चयवनः पृतनापाड्युध्योऽस्माकं सेना
४ २ उ २

अवतु प्रयुन्तु ॥ १ ॥

१ २ उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ १ २
[१८५६] इन्द्र आसावता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञ पुर एतु साम् ।
उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २

देवसंनानामभिमञ्जताना जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ २

१ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्याना मरुतां शर्व-
उ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २

उग्रम् । महामनसा भुनक्त्यवानां घोषो देवानां जय-
उ १ २

तामुदस्थात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० २० । १०३ । ६—६ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (इन्द्र.) वीर सेनापति, या राजा, (गोत्राणि अभि) शत्रुकुलों के प्रति चढ़ाई करता हुआ और उनको (सहसा) अपने बल से (गाहमानः) धीरता हुआ, (अदयः) उन पर दयाभाव न रखता हुआ, (वीर.) वीर, सामर्थ्यवान्, (शतमन्युः) सैकड़ों प्रकार से उन पर क्रोध करने द्वारा, (दुश्चयवनः) शत्रुओं से अविचालित, (पृतनापाट्) शत्रुसेनाओं का विजेता, (युत्सु) युद्धों में अपनी सेनाओं की रक्षा करता है उसी प्रकार (गोत्राणि अभि) देहों के भीतर (सहसा गाहमान.) अपने बल के सामर्थ्य से विचरता हुआ, (अदय.) तपस्या आदि द्वारा शरीर के सुखों पर विचार न कर, निर्भय होकर तप करने द्वारा (वीर.) सामर्थ्यवान्, (इन्द्र.) आत्मा (शतमन्यु) सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त होकर

(दुरज्यवन.) अग्नि सिद्धि के प्रसोभनों में न गिरकर, दृष्टम होकर,
(पृथनापाद्) दुर्बृत्तियों का दवाता हुआ, (शयुध्य) अद्वितीय होकर,
(युत्सु) सन्नाहों में आसुर और सात्विक भावों के परस्पर भ्राम्य के पक्ष
सर्वों पर (अस्माक सेना) हमारी सात्विक सेना, उत्तम प्राण वृत्तियाँ
(प्र शयतु) रहने करे ।

(२) (इन्द्रः) जिस प्रकार राजा (आसा) इन मरुद्गण पैरों
का या वायु के समान चढ़ाई करने में तेज सेनाओं का नेता होता है, उसी
प्रकार (इन्द्र) आत्मा मरुद्गण प्राणों का भी नेता है । उष्क (पुर) आग
आगे (वृहस्पति) शृङ्गी=वाक् का पालक मन, राजा के मन्त्री के समान,
(दक्षिणा) कार्यकुशल, यज्ञशालिनी चित्तिगति और (यज्ञ) पुनर्भाव
परमात्मा और (सोमः) मद्यका प्रेरक प्राण ये आग २ (वसु) चमके हैं ।
(अभिमञ्जरीना) असुर सेनाओं का विनाश करने वाली, (यज्मन्ना)
असुर वृत्तियों पर विजय करने वाली (देवसेनानी) विश्वप्राणों का १३
वृत्तियों का (अग्रं) आगे २ मुख्य भाग पर (जगत्.) एकादश प्रण (वसु)
समन करते हैं ।

(३) (शृणु) सुनों की शक्ति करने वाले विद्वत् धर्मधेय सगर्विक
सायक (इन्द्राय) इन्द्र, आत्मा का (राजा) मद्यक सेनाधी (वसुधा)
सन्नेत्रेष्ठ परमात्मा का चर (आदित्यानां) १२ आदित्य और (इन्द्रः)
१३ इनका (उग्र) अति प्रबल (जगत्.) धन समस्त है । 'मदमया'
गिनाका चित्त एवं ज्ञान के धारकवर्तों (भुवत्तरययानां) भुवत्तरययानों
देह के बन्धन को नाश करने वाले (जगत्तम) आसुरभावों पर विजय करने
वाले (देवानां) इन सात्विक सत्त्वों का (धेनू) पाद । उद्भवात् ।
ऊपर उठे ।

धार्मिक राजा और उसकी सेनाओं के विषय में यह मन्त्र स्पष्ट है । परमात्मा पक्ष में भी इन मन्त्रों की योजना है । प्रलय काल में तीनों लोकों का विनाश ही त्रिपुरदहन है । उस कल्पना को चित्त में रखकर हमें भक्तिकार को लगाना उचित है ।

[१८५८] उद्धृष्य मधवज्जायुधान्युत्सत्त्वनां मामक्राना गनालि ॥

[१८५८] उद्धर्षय मधवज्ञायुधान्युत्सत्त्वनां मामकानां गनालि ॥

१२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ , ३ १ २
उद्धप्रहन्वाजिना वाजिनान्युद्धथानां जयतां यन्तु घोषा ॥१॥

१॥ ३ २ ३ २ ३ १ २ ॥ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ॥
[१८५६] अस्माकमिन्द्र. समन्तेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता

जयन्त । अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मा ल देवा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३ ॥

उ १२ २२ ३ १२ ३ १२ १ १ २ ३ १२

[१-६] वासुदेवः सा विष्णुः कुरुते । विष्णुः सा ब्रह्मा । ब्रह्मा सा महेश्वरः ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

माना । ता गूह्यं तमसापिबनज यथतषामिन्या अन्य
उ २

न जनिव् ॥ ३ ॥ ४ ॥

संतीया अग्नेये नस्ति किञ्च यजः १७ । ५३ । अथ ३ । ३ । ६ ॥

[illegible]

को (उन् हर्षय) ऊँचा कर । (भामुकाना) मेरे सम्बन्धी (सत्त्वना)

सात्विक वीर, बलवान् पुरुषों के (मनांसि) हृदयों को (उत्) हर्षित

(वाजिनां) ज्ञानो पुरुषा और अश्वों के (वाजिनानि) ज्ञानयुक्त कजो

कोशलेय और वेणोको (उल) वदाओ और (जयता) रथाना) विजयः

शक्ति रथों के (घोषाः) नाद (उद्) ऊँचे उठें। इसी प्रकार आपस पक्ष में—(मघवन् आयुधानि उद्धपय) हे परमात्मन्! या आत्मन्! हमारी दृष्टवृत्तियों से युद्ध करने के, या उनको प्रहार करके निकट भगाने के साधनों को उत्तत करो। (मामकानां सत्यनां गमाभि उद्) मेरे निजी बलशाली सात्विक प्राणों को उत्तम बलयुक्त करो। हे (युध हन्) (वाजिनां वाजिनानि उद्) अज्ञान आवरणों के विनाशक प्रकार स्वरूप आत्मन्! इन्द्रियों की संविद्ध शक्तियों को बढ़ाओ। (जयन् रथानां घोषाः, उद्) विजयशील सिद्ध आत्माओं के घोष, घेदवाड और स्तुतियों भी उच्च स्वर से हों।

(२) (इन्द्रः) राजा (अस्माकं ध्यजेषु समृतेषु) हमारे ऊपर जय शत्रुओं के ऊपरों में जा मिलें तब भी हमारी रक्षा करें। (अस्माकं याः इषवः ता जयन्तु) हमारे जो वाण हैं वे ही विजयशील हों। (अस्माकं वीराः, उत्तरे भवन्तु) हमारे वीर उत्कृष्ट बलशाली निर्भीक हों। (देवाः द्येषु अस्मान् उ भवन्तु) देव=दिव्य शस्त्रधारी विद्वान् मेमांनि गण युद्धों में भी हमारी रक्षा करें। आप्यामपक्ष में—(इन्द्र) आत्मा (अस्माकं) हमारे (ध्यजेषु) प्राणों के (समृतेषु) परस्पर समान हो जाने पर रक्षा करें, (याः) जो (इषवः) मानसवृत्तियाँ हैं (ताः) वे (जयन्तु) बलवान् हों। (अस्माक वीराः) हमारे आत्मान् बलवान् होकर (उत्तरे) उत्कृष्टतर होकर रहें। (देवाः) विद्वान् योग दान इन्द्र शक्तियों (द्येषु) ईश्वर की उपामना के अवसरों में (अस्मान्) हमें (भवन्तु) सुर मार्ग में जाने में सहायें।

(३) (हे (मरुत) वायु के समान वेगवान् हों) ता उत्तरेषु विरैक्षी गेमो! (असौ वा परेषां मेग) वह जो वायुओं की मेग। अ भोजसा श्रधमाता) बन्ध में हमारे साथ गयीं करती हूँ। (कर्मन्)।

हमारी तरफ बढ़ती चली आरही है (तां) उसका (अपव्रतेन तमसा गूह्यत) क्रियाशक्ति को नष्ट करनेहार तम या मूर्छा से ढक दो (यथा असी अन्यो अन्य न जानात्) जिससे वे पुरु दूसरे को न पहचान सकें, इसी प्रकार अध्यात्मपक्ष में—हे (मरुतः) प्राणो ! (असौ) यह (या) जो (संना) मोहादि वृत्तियों की परम्परा (परेषां) प्रलोभनों की अपने आत्मा में अतिरिक्त अन्य अनात्म पदार्थों को (आजसा) आत्मा के बल से प्रतिस्पर्द्धा करती हुई, उसके बल या तेज पर आवरण ढालती हुई (अभ्यैति) साक्षात् आरही है और मुग्ध कर रही है (तां) उसको (व्रतेन) कर्म और ज्ञान के दृढ़ संकल्प द्वारा (तमसा) उसको शिथिल कर ढालने वाले बल से (अप गूह्यत) दूर करदो । (यथा) जिससे (अन्य) एक अनात्मभाव (अन्यं) दूसरे भाव को (न जानात्) न उत्पन्न करे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८६१] अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यथै परेहि ।
३ २४ ३ १ २ ३ १४ २४ ३ २ ३ १ २
अभिप्रेदि निर्दह हत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा
सचन्ताम् ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८६२] प्रेतो जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १४ २
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६३] अत्रसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २४ ३ २ ३ १ २
यच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां कं च नोच्छ्रियः ॥ ३ ॥ ५ ॥

आपे चर्मा, अ० १० । १०६ । १२, १३ ॥ आपा, यजु० १७ । ४५ ॥
द्वितीया यजु० १७ । ४७ ॥ तृतीया अ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० २७ । ४५ ॥

भा०—(१) (अमीपा) इन शत्रुओं के (चित्त) चित्त को (प्रति लोभयन्ती) विमोहित करती हुई हे (अग्ने) पापप्रवृत्त ! व्याधे ! या हे भीति ! (अङ्गानि) उनके अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले अर्थात् उनके शरीरों का नाश कर दे । (अभिग्रेहि) उन तक पहुँच और (हृत्सु) हृदयों में प्रवेश करके उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) जला । (अमित्राः) शत्रुगण (अन्धेन तमसा) अन्धकारमय मोह से (सचन्ताम्) युक्त हो जाय । अध्यात्मपक्ष में—हे पापप्रवृत्ते ! (अग्ने) सन्मार्ग से दूर हटाने वाली । (अमीपा) इन हमारे प्राणों के (चित्त) चेतन सामर्थ्य को (प्रतिलोभयन्ती) प्रलोभन करती हुई तू (अङ्गानि) हमारे अङ्गों, शरीरों को (गृहाण) ग्रहण करती है । अतः (परेहि), तू दूर हट जा । और तू स्नेह न करने हारे, द्वेष करने वाले पुरुषों के पास, (अभिग्रेहि) जाती है और उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (हृत्सु) हृदयों में (निर्दह) दाह उत्पन्न करती है, इसलिये (अमित्राः) द्वेष भावों से युक्त पुरुष ही (अन्धेन तमसा) अन्धकार भरे मोह से (सचन्ताम्) घिर जाते हैं ।

(२) हे (नरः) नेता लोगो ! (ग्रेत) आगे बढ़ो (जयत) और विजय करो । (वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली परमात्मा (शर्म) सुख और शान्ति (यच्छतु) दे । (वः) आप लोगों को (बाहवः) बाहुपुं (उग्रः) उग्र बलवान् (सन्तु) हों (यथा) जिससे (अनाद्यत्याः) आप लोग किसी के भी बशीभूत, अपमानित न (असथ) हों ।

(३) हे इषो ! हे (शरव्ये) शरकारुड के बने वाण ! हे (ग्रास संशिते) मन्त्र द्वारा तीक्ष्ण किये गये ! (अवसृष्टा) तू छोड़ी जाकर (परापतः) दूर जा । और (अमित्रान्) शत्रुओं को (मप्यसृच) पहुँच और

(अमीषां) उनमें से (कंचन) किसी को भी (सा) मत (उच्छिष्य.) दवा रहने दे । अध्यात्मपक्ष में—हे (शरव्ये) अज्ञान के नाश करने वाली, हे (ब्रह्मसंगिते) ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मोपासना से तीक्ष्ण की हुई आत्मशक्ते ! (अचमृष्टा) युक्त होकर (परा) इस देहबन्धन से दूर मोक्षधाम में (पत) चली जा और (गच्छ) ज्ञान प्राप्त कर, (अग्नि-जान्) मोहादि शत्रुओं और बाधक अन्तराधों को भी । प्रपश्यत्य । प्राप्त कर । (अमीषां) उनमें से भी (कंचन) किसी एक को भी ना उच्छिष्य-) दवा न रहने दे ।

नवेतदक्षरं ब्रह्म स प्रायास्तदु वाङ्मनः ।

तदेतत्तत्तं तदमृतं तद् वेदव्यं सौम्य विद्धि ॥

धनुर्गृह्णात्षोपनिषद् महास्त्रं शरं ब्रुवासानिशितं सधयीत ।

आयम्य तद् भागवतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डक २ । ३, ३, ४)

मुण्डक उपनिषद् में ब्रह्म को वेधन योग्य लक्ष्य मानकर उसको वेध करने के लिये शौपनिषद्, ब्रह्मविद्यामय धनुष्, उपासना की शाय पर चढ़ा आत्मा रूप बाण और प्रणव ओंकार रूप धनुष् से निष्प्रमाद होकर छापने पर ब्रह्ममय होजाने का उपदेश किया है ।

३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८६४] कदा. सुपर्णा अनुयन्त्येनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु
१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सेना । मैषां मोक्ष्यघहारश्च नेन्द्र वयांस्येनाननुसंय-
३ १ २
न्तु सर्वान् ॥ १ ॥

उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१८६५] अभित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छुनूयतीमभि ।

उ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २

उभौ तमिन्द्र वृत्रहन्निश्च दहतं प्रति ॥ २॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६६] यत्र वाणां सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु ॥

उ २ ३ २ २

विश्वाहा शर्म यच्छन्तु ॥ ३ ॥ ६ ॥

आधे ऋग्वेदे न स्तः । तत्र द्वितीया अथर्व० ३ । १ । ३ ॥

तृतीया अ० ३ । ७५ । १७ ॥ यजु० २७ । ४८ ॥

भा०—(१) (सुपर्णा.) उत्तम पक्ष वाले (कका.) गीध (एना)
उन शत्रुओं पर (अनु यन्तु) जा दौड़ें । (असौ सेना) वह शत्रुसेना
(गृध्राणा) गीधों का (अन्नम्) भोज्य (अस्तु) हो । हे इन्द्र ! राजन्
(एषा) इनमें से कोई भी (मा मोचि) न बच रहे और (अघद्वारश्च)
कोई पापी भी (न) न छूट जाय (एनान् सर्वान्) इन सब पर (यथा-
सि) गीध और कौवे ही (अनु संयन्तु) आ लगे ।

अध्यात्म पक्ष में—(सुपर्णाः) उत्तम ज्ञान वाले, (ककाः) सुपा-
मिक्षापी पुरुष (एनान्) अन्तः—शत्रुओं, ब्रह्मनिधा के बिना के (अनु
संयन्तु) पीछे लग जावें ! अर्थात् उनका निर्मूल नाश किये बिना न छोड़ें ।
(असौ सेना) यह दुष्ट वासनाओं की सेना (गृध्राणाम्) गृध्र के समान
उत्पन्नशील प्राणों के (अन्नम्) भोज्य बने अर्थान् प्राणों के विरोध से
उनका नाश किया जाय । (एषा मा मोचि) इन पापभावों में से एक
भी न छूट जावे । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (अघद्वारश्च न) पाप का भागी

भी कोई विचार शेष न रह जाय । (वयांसि) गतिशील प्राण भी (पुनान्) इनको (अनुसंयन्तु) पीछा करके सर्वनाश करें ।

(२) हे (मधवन्) इन्द्र ! राजन् ! (अस्मान्) हमारे प्रति (अभि शत्रुयतीम्) साक्षात् शत्रुरूप होकर चढ़ाई करती हुई, (ताम्) अमहा बलवती (अभित्रसेना) शत्रु सेना का आप (अग्नि. च) और अग्नि अग्रणी दोनों मिलकर (प्रति दहतं) भस्म कर डालो । अध्यात्मपक्ष में— हे (इन्द्र) वृत्रहन् ! अज्ञाननाशक ! मधवन् ज्ञानवन् पुरुष ! तुम उस अभित्र=द्वेषभावों की परम्परा को अग्निरूप परमात्मा से मिलकर भस्म करदो ।

(३) (यत्र) जहां (विशिखाः) शिखारहित (कुमार इव) बालकों के समान (बाणाः) बाण (सम्पतन्ति) पड़ रहे हों (तत्र) वहां (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का विद्वान्, परमेश्वर (अदितिः) अखण्डित सामर्थ्यवान् होकर हमें (शर्म) शान्ति और सुख (यच्छतु) प्रदान करें और (विशाहा) सदा (शर्म यच्छतु) कल्याण करें ।

२४ ३ ५४ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१८६७] विरक्षो विमृधो जहि वि वृत्रस्य हन् रुज ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन् अभित्रस्याभिदासतः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८६८] वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यो अस्मा अभि दासत्यधरं गमया तम ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८६९] इन्द्रस्य बाह्व स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रनीकाव-

३ २ १ २ ३ २ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सह्यौ । तौ युजीत प्रथमौ योग आगतं याम्यां जितः

२२ ३ ३ २ ३ २
मसुराणा सहो महत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

आगे द्वे अ० १० । १५२ । ३ । ४ ॥ तृतीया अग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे वृत्रन् ! (रक्ष०) राक्षस पुरुष को (विजिह) विनाश कर । और (मृध विजिहि) हमारे उत्तम द्रव्यों पर लोभ करने वाले पुरुषों को भी विनाश कर । (वृत्रस्य) हमें घेर कर नाश करने वाले निम्नरूप शत्रु को (हनू) आघातकारी उन दाढ़ों को (विरुज) तोड़ डाल, जिन्हें वे हमारे ऊपर गढ़ाना चाहता है । और (अभिदासत्) हमारे नाश करने वाले और हमें दास की तरह पराधीन करने वाले (अभिन्नान्) आभ्यन्तर शत्रुओं के समान शत्रुओं के (मन्युं) अभिमान और क्रोध को भी (वि) विनाश कर ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (न) हमारे (मृध०) शत्रुओं को (विजिहि) नाशकर और (पृतन्यत) अपनी सेनाएं बढ़ाना चाहने वाले लोगों को भी (नीचा यच्छ) नीचे डाल दे । (य) और जो (अस्मान्) हमें (अभि दासति) सब प्रकार से विनाश करता या दास के समान पराधीन करता है उसको (तम०) तृष्णा में या अन्धकार में (गमय) डाल । अध्यात्म पक्ष में—आभ्यन्तर शत्रुओं को इन्द्र आत्मा नाश करे । हृदय का स्पर्श करने वाले दुर्भावों का नियमन करे और विनाशक मोहादि भावों को दूर करे ।

(३) (इन्द्रस्य) राजा के समान इस आत्मा की (युवानौ) जवानों भरी सदा बलवान् (स्थविरा) मज्जबूत, पक्की, सदा स्थिर रहने वाली, (अनाष्टयौ) कभी पराजित न होने वाली (सुप्रतीकौ) उत्तम रीति से शत्रु का मुकाबला करने वाली, (असह्यौ) शत्रुओं के लिये असह्य (बाहु) उनको पीड़ा देने वाली, प्राण और अपान दो बाहुएं हैं (प्रथमे) प्रारम्भ में ही (योगे आगते) संग्राम के समान कठिन, श्रमदायी योग समाधि के अवसर प्राप्त होने पर (तौ) उन दोनों को उचित रीति से (युञ्जीत) समाधि साधना में प्रयोग करे, अर्थात् चित्तवृत्ति के स्थिर करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास करे । (बाभ्या) जिनसे (असुराणां) अन्य प्राणों का (महत्) बड़ा भारी (सहः) बल (जितम्) बल किया जाता है ।

[१८७०] मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि सोमस्त्वा राक्षामृतनानु-
 वस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानुदेवा
 मदन्तु ॥ १ ॥

[१८७१] अन्धा अमित्रा भवताशीर्पाणाऽहय इव ।

तेषां वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरं वरम् ॥ २ ॥
 [१८७२] यो नः स्वाऽरणो यश्च निष्ट्यो जिघासति । देवास्तं सर्वे
 धूर्नन्तु ब्रह्म वर्म समान्तरं शम्भु वर्म समान्तरम् ॥ ३ ॥

पथमा तृतीया च अ० ६ । ७९ । १८ । १९ ॥ तृतीया अथ० १ । १६ ॥

३. ५ । ण्यो पूर्वोत्तरार्धे । द्वितीया अग्नेवे नास्ति ॥

भा०—(१) (ते) तेरे (मर्माणि) कोमल मर्मों को (वर्मणा)
 कवच से (आच्छादयामि) ढकता हूँ । (सोम- राजा) दीप्तिमान् राजा
 के समान सबका प्रेरक सोम, परमेश्वर (अमृतेन) अमर आत्मशक्ति से
 (अनु वस्ताम्) और भी सुरक्षित करे । (वरुण-) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर
 (ते) तुम्हें (उरोर्वरीय) अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख (कृ-
 णोतु) उत्पन्न करे । (जयन्तं) चरन मोक्ष को प्राप्त होते हुए (त्वां)
 तुम्हें देखकर (देवा-) विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) हर्षित हों ।

(२) हे (अमित्रा) द्वेषभाव रखने वाले शत्रुओं ! तुम लोग (अ-
 शीर्पाणा) बिना दिमाग के, बिना सिरवाले क्रोधी (अहय इव) साँपों

१८७०—३. यो नः स्वो यो अरणः स जात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदा-
 सति' इति (१ । १६ । ३) इत्यस्या- पूर्वार्धभाग । 'देवास्तं
 सर्वे धूर्नन्तु ब्रह्म वर्म समान्तरम्' इति (११ । १९ । ४-) इत्यस्या
 उत्तरार्धभागः इति पाठमेव निवेदकः; अथर्व० ।

के समान (अन्धा. भवत) अन्धे, आविवेकी होजाओ । (अग्निनुष्ठाना) अपने ही क्रांन्ध की आग से फुंके हुए, (तेषां) उनके (धरं धरं) उत्तम २ पुरुष या शिर को (इन्द्रः) राजा, प्रभु नाश करे ।

(३) (य.) जो (नः) हमारा (स्वः) सम्बन्धी होकर भी या स्वयं (अरय.) अप्रियाचरण करने वाला है और जो (निष्ट्यः) दूर रहकर भी छुपे रूप में (न.) हमें (जिघासति) मारना चाहता है (त) उसके (सर्वे) समस्त (देवा.) विद्वान् पुरुष (धूवेन्तु) विनाश करें । (ब्रह्म) वेदज्ञान और परमेश्वर (मम) मेरा (अन्तर) भीतरी (धर्म) कवच या रक्षासाधन हो । (शर्म) वह सुखकारी, आनन्दघन सब का शरण दाता हो (मम) मेरा (अन्तरम्) भीतर का एकमात्र रक्षक साक्षी है ।

[१८७३] ^{३ २ ३}मृगो न भूमि. ^{३ १}कुचरो ^{२ ३ १}गिरिष्ठा. ^{२ ३ १}परावत आ जगन्था ^{१ २}
^{१ २}परस्या. ^{३ २}सुक् सं शाय ^{३ १ २}पविमन्द्र ^{३ १}तिग्म ^{२ २}वि शत्रू. ^३ताडि
^२वि मुधो ^{२ २}नुदस्व ॥ १ ॥

[१८७४] ^{३ २}भद्रं कर्णेभि. ^{३ १ ३}शृणुयाम ^{३ १ २}देवा भद्रं ^{३ १ २}पश्येमाक्षभिर्व्यजत्राः ।
^{३ १ २ २ २}स्थिरैरगैस्तुष्टुवासस्तनूभिर्व्यशेमहि ^{३ १ २ ३}देवहितं यदायु ॥

[१८७५] ^{३ २}स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ^{३ २ २}स्वस्ति नः पूषा ^{३ २ ३}विश्वयन्त्रा ।
^{३ २ ३}स्वरित नमन्तार्यो ^{३ २ ३}आग्निनेमि. ^{३ २ ३}स्वस्ति नो बृहस्पतिः
^{३ २ ३}धानु ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ३ ॥ ६ ॥

आणा श्र० २० । १८० । २ ॥ उत्तरे द्वे श्र० १ । ८६ । ८. ६ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) परमेश्वर ' आप (गिरिष्ठाः कुचर मृग. न भूमिः) पर्वतों में रहने वाले, कुलित रूप से विचरण करने वाले, जंगलों

हिंसक हाथी या सिंह के समान भयकारी एवं आप (मृग-) योगियों से भीतरी गुफा में खोजने योग्य, या आत्म-परिशोधन करने योग्य हैं, आप (कुचर) कहा नहीं व्यापक हो ? अर्थान् सर्वव्यापक हो । आप (गिरिष्ठा) विद्वानों, त्राणियों एवं वेदमन्त्रों में शब्द और उसके अर्थ रूप में विद्यमान हो और साथ ही सबके ऊपर शासक होने से सब के भयप्रद हो । (आ परस्याः परावत) दूर से दूर देश, अलभ्य मुक्तिधाम से हमारे हृदयों तक या 'परा' ब्रह्मविद्या के भी (परावतः) निगूढ परम रहस्यमय भाग से आप (आजगन्ध) आते हो, या प्रकट होते हो । हे (इन्द्र) परमात्मन् (सूक्त) प्रसरणशील (तिग्मं) तेजोमय, तीक्ष्ण (पविम्) परमपावन ज्ञानवज्र को (सशाय) अति तीक्ष्ण करके (शत्रून्) अन्तः-शत्रुओं को राजा के समान (वि ताडि) विनाश करो और (मृधः) हमारा सर्वस्व अपहरण करनेहारे डाकुओं के समान तामस भावों को (वि नु-दस्व) परे करो, दूर हटाओ ।

(२) हे (देवाः) विद्वान् पुरुषों ! हम सब (कर्णेभिः) कानों से (भद्र) कल्याणकारी, एवं सदा सुखपूर्वक उत्तम उपदेशकों को (शृणु-याम) श्रवण करें । और हे (यजत्राः) सदा यज्ञ आदि धर्मकार्यों का अनुष्ठान करनेहारे भद्र पुरुषों ! हम सब (अक्षभिः) आँखों से (भद्रं) सुखकारी एवं कल्याणकारी पदार्थों को (पश्येम) दर्शन करें और (तु-ष्टुवासाः) ईश्वर का भजन एवं सत्य का वर्णन करते हुए (स्थिरैः) दृढ़ (अग्रे) अगों और (तनूभिः) दृढ़ शरीरों से (यद्) जो (आयु) आयु (देयहित) विद्वानों के हित में लगे या देव, परमात्मा जो दीर्घ आयु प्रदान करे उम दीर्घ ११६ या १२० वर्ष या इससे भी अधिक आयु का हम (वि अशेमहि) भोग करें ।

(३) (वृद्धश्रवाः) महान्, यशस्वी और ज्ञानवान् (इन्द्रः) परमेश्वर (न) हमारा (स्तास्ति दधानुः) कल्याण करे । (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ,

सब पदार्थों का स्वामी, (पूषा) सब ससार का पालक, पोषक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे । (अरिष्टनेमिः) जिसके काल-रूप महान् शासन का कोई विनाश नहीं करता वह (तार्यम्) सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे । (बृहस्पति) वेदवाणी का पति, स्वामी, पालक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे ।

॥ ओ३म् ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

वेद-भगवान् का स्वामी भगवान् हमारा सदा कल्याण करे ।

इति तृतीयाऽर्चप्रपाठकः नवमश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इत्युत्तरार्चिक समाप्तः ॥

इति सामवेदसंहिता समाप्ता ॥

रामवस्त्रङ्कचन्द्रेण्डे पण्ड्यां पौवे सिते शनौ ।

आलोकभाष्यं वेदस्य साम्नोऽवधिमुपागमत् ॥

इति श्रीकागडीगुरुकुलविधविद्यालयस्य प्रतिष्ठितविद्यालकारपदवीविभूषतेन

कलिकातः स्वयमस्कृतविद्यालयस्य मीमांसनीयोंराध्यलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तुः

श्री १०८ पृथ्वीपाद महर्षिदानन्द

स्वस्तिप्रीतिपूज्यपादश्री १०८ स्वामिश्रदानन्दमरस्वती-

शिष्येण यैर्निर्मितं व्याख्यानगोत्रोद्भवेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा

परिचितं आलोकसामवेदभाष्यभाष्ये नवप्रपाठ-

कात्मकं उत्तरार्चिकभागं पूर्तिमागम् ॥

समाप्ता वेदसंहिताऽऽलोकभाष्यम् ॥

[१००२] इन्द्रा मदाय वावृध्रे शवसे वृत्रहा नृभि ।

तामेन्महत्स्वाजषूतमभे हवामहे सवाजेपु प्र ना विपत् १

[१००३] असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः । असि दम्भस्य

चिद्धयो यजमानाय शिञ्जसि सुन्वते भूरे ते वसु ॥ २ ॥

[१००४] यदुदीरत आजयो घृष्णाव धीयते धनम् । युजुद्धवा

मदच्युता हरी क हनः क वसौ दधाऽस्मा इन्द्र वसौ दधः

॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ८१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० [४११] पृ० २०६ ।

(२) हे वीर ! (सेन्यः असि) तू सेना का हितकर है । और (भूरि) बहुत (पराददिः) शत्रुओं को पराजय देने हारा है । और तू (दम्भस्य) स्वल्प थोड़े मामर्थ्य वाले निर्बल को (चिद्) भी (वृधः) बढ़ाने हारा (असि) है । तू (सुन्वते) सुखों के उत्पन्न करने हारे (यजमानाय) यज्ञ के कर्त्ता, या करदाताओं को (ते भूरि वसु) तू अपना बहुत धन (शिञ्जसि) देता है । जो 'हन' अर्थात् स्वामी या नेता के सहित होती है वह 'सेना' कहाती है । इन्द्रियगण आत्मा नेता के संग होने से सेना कहाती हैं । उनका हितकर, उनमें उत्तम आत्मा 'सेन्य' है । वह काम क्रोध आदि का पराभव करके स्वल्प (दम्भ) दहराकाश को भी विशाल करता है और यजमान स्वरूप मुख्य प्राण को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त भोग्य वस्तुएं देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देखिये अवि० सं० [४१४] पृ० २११ ।

[१००५] स्वादोरिथा विपूत्रनो मधोः पिवन्ति गौर्य । या इन्द्रेण

सयावरार्चुणा मदन्ति शोभथा वस्वार्चु स्वराज्यम् ॥१॥

१००५—'मदन्ति शोभते' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २५
[१००६] ता अस्य पृथनायुव सोमं श्रृणन्ति पृथयः। प्रिया इन्द्रस्य

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १
[१००७] ता अस्य नमसा सह सपर्यन्ति प्रचेतसः। व्रतान्यस्य

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सन्धिरे पुरुषि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥३॥१५॥

अ० १ । ८४ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [४०६] पृ० २०८ ।

(२) (ताः) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृथनायुव.) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुँचने की चेष्टा करने वाली (पृथयः) रस तक पहुँचने वाली, (प्रिया.) प्रिय (धेनवः) गौशों के समान इन्द्रिया (सोमं) ज्ञान को (श्रृणन्ति) और भी परिपक्व करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, ध्वस्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने वाले आत्मा की शक्तिया (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिपक्व होने पर इन्द्रिया ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रियां अन्नवृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (तां) वे इन्द्रियरूप गौण (अस्य) इस आत्मा के (सहः) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये), पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

३ १६ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०१३] प्राणा शिशुर्महीना हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ २ ३ २

[१०१४] उप त्रितस्य पाप्योऽऽरभक्त यद् गुहा पदम् ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २

यज्ञस्य सप्तधामभिरध प्रियम् ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१०१५] त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेऽन्वैरयद्रयिम् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ६ । १०२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [५७०] पृ० २५५ ।

(२) (यत्) जब (त्रितस्य) मन, वाक्, काय तीनों से साधना करने हारे योगी आत्मा के (पाप्यो.) पापाण के समान कुचल डालने वाले, प्राण और अपान दोनों के बीच में प्रकट होकर वह आनन्दरस (गुहा) भीतरी आकाशगुहा में (पदं) स्थिति को (उप अमक्त) प्राप्त होता है, तब (यज्ञस्य) यज्ञस्वरूप आत्मा के (सप्तधामभि.) सातों ऊपर के धारणशील प्राणों से (प्रियम्) आनन्दकारी, उस आत्मानन्दरस का अस्वादन किया जाता है ।

(३) (त्रितस्य) साधक आत्मा की (धारया) धारणा से केवल (त्रीणि) तीन रसस्थान प्रकट होते हैं । और उन तीनों (पृष्ठेषु) रस के सेचक मुख्य केन्द्रों में आत्मा अपने (रयिम्) कान्तिसय ऐश्वर्य को (ऐरयत्) प्रकट करता है । (सुक्रतु) उत्तम योगी साधक (अस्य) इस आत्मा के (योजना) तीनों योग द्वारा-जागृत स्थानों को (वि मिमीते) विशेष रूप से जान लेता है और साध लेता है । तीन स्थान-१ प्रह्वरन्ध्र,

१०१५—'पृष्ठेऽन्वैरयद्रयिम्' इति ऋ० ।

० आज्ञाचक्र या सोमचक्र और ३ मणिपूर या स्वाधिष्ठान चक्र अथवा मूलाधार, हृदय और अमृत्य ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०१६] पवस्य वाजसातये पवित्रे धारया सुतः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०१७] त्वां रिहन्ति धीतयो हरिस्पवित्रे अद्भुहः ।

३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वत्सं जातं न मानरः पवमान विधर्मणि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०१८] त्वं घां च महिष्रत पृथिवीं चाति जभिषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रति द्रापिमसुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ६। १००। ६, ७, ६ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (वाजसातये) ज्ञान प्राप्ति के लिये (धारया) धारणावती बुद्धि द्वारा निरन्तर (सुतः) साक्षात् किया गया, प्रेरित या उत्पन्न किया गया, तू (मधुमत्तरः) बराबर क्रम से अधिक २ आनन्द और सुख का देने हारा होकर (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा और (विष्णवे) सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकाश के लिये और (देवेभ्यः) विद्वानों के हितार्थ या प्राणों के ज्ञान के लिये (पवस्य) प्रकट हो ।

(२) हे (पवमान) व्यापक रसस्वरूप ! (मातरः) गौण (जातं) उत्पन्न हुए (वत्सं न) बछड़े को जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं । उसी प्रकार (धीतयः) ध्यानवृत्तियाँ (विधर्मणि) विशेष धारणा के स्थल, (पवित्रे) पवित्र शुद्ध धारणास्थान में (अद्भुहः) एक दूसरे का घात-प्रतिघात या विरोध न करती हुई (हरिं) सब दुःखों के हारक (रवा) तुम्हको उत्सुकता से (रिहन्ति) आस्वाद लेती हैं तेरे आनन्द अनुभव करती हैं ।

.. (३) हे (महिमत) महान् कर्मों के करने वाले परमात्मन् ! आप (यां) आकाश या सूर्य, और (पृथिवीं च) पृथिवी दोनों लोकों को (अति जम्भिषे) पार करके भी दोनों को ग्रहण किये हुए हो । हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (महिस्वना) अपनी महिमा से आप (दापि) रूपवान् जगत् को कवच को वीरपुरुष के समान (प्रतिमुन्वथा) धारण कर रहे हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०१६] इन्द्रुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रं सामः सह इन्धन्मदाय ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हन्ति रक्षो वाधते पर्यरतिं धरिचरुगवन्धृजनस्य राजा ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २
[१०२०] अथ धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रि दुग्धः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रुरिन्द्रस्य मख्यं जुपाणां देवां देवस्य मत्सरो मदाय ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०२१] अभि प्रतानि पवते पुनानां देवो देवान्स्त्रेन रोमेन पृञ्चन् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रुर्दर्मायुतुथा वसानां दश क्षिपो अत्यत सानां अग्रे

॥ ३ ॥ २० ॥ अ० ६ । ६७ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [५४०] पृ० २७० ।

(२) (अथ) और (अद्रिदुग्धः) दूध साधनों द्वारा या धर्ममेध द्वारा उत्पन्न किया गया (इन्द्रुः) आनन्दरूप सोमरस (मध्वा) शान्तसम्पन्न, मधुर, मनोहर (धारया) धारणा द्वारा (पृचानः) संयुक्त होकर (रोम) व्यवधायक पदार्थों को (तिरः) पार करके (पवते) बहता या प्रकट होता है । यह (इन्द्राय) आत्मा की (मख्यं) मित्रभाव, प्रेम या आनन्दरूपता को (जुपायाः) प्राप्त करता हुआ (देवः) प्रकाशमान, (सामाः) आनन्द हर्षस्वरूप होकर (देवस्य) दश, आत्मा के (मदाय) दान और आनन्द का कारण होता है ।

(३) (स्वेन रसेन) अपने आनन्द रस से (देवान्) विद्वानों या इन्द्रियों को (पृच्छन्) तृप्त करता हुआ (देवः) सुख शान्तिप्रद, तेजोमय वीर्य, (पुनान्) स्वतः स्वच्छ और पवित्र एवं व्यापक होकर (व्रतानि) सब कर्मों को (अभिपवते) पवित्र कर सर्वत्र प्रकट होता है । (इन्द्रः) आत्मा (ऋतुथा) प्रत्येक ऋतु के अनुकूल, या प्राणों के बल से (धर्माणि वसान) धारण-सामर्थ्य या नाना धर्मों अर्थात् गुणों को सम्पादन करता हुआ (अन्ये सानो) न गतिशील, प्राणमय, स्थिर सानु अर्थात् सुखग्राहक अन्तःकरण में (दश विपः) दशों विप्रगति करनेहारी इन्द्रियों को (अभ्यत) प्राप्त होता है ।

ऊर्ध्वरेता योगियों की साधना से वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर उन में सब ऋतुओं में सहनशीलता उत्पन्न करता और इन्द्रियों में बल पैदा करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।



[१०२२] आ० ते० अग्न इवीमदि धुमन्त देवाजरम् । यद्धस्या ते०
पनीयसी समिहीदयनि द्यवीषं स्तोतृभ्य आभर ॥ १ ॥

[१०२३] आ० ते० अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते । सुश्वन्द्र
दस्म विस्पते हव्यवाद् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥ २ ॥

[१०२४] ओमे सुश्वन्द्र विस्पते दवी श्रीणीष आसनि । उतो न
उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥ ३ ॥ २१ ॥

अ० ५ । ६ । ४, ५, ६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मन् !
हे (देव) सबके प्रकाशक ! (ते) तेरी प्राप्ति के निमित्त या तुझ से हम

१०२३—'शोचिषस्पते' । १०२४—'उमे सुश्वन्द्र सर्पिषो' इति अ० ।

(शुमन्तं) प्रकाशित, (अजरम्) न जीर्ण होने वाले, अमर, नित्य अपने आत्मा को (हवीमहि) प्रकाशित करते हैं । (यत्) और जो (धवि) मध्य आकाश में (पनीयसी) व्यवहार करने योग्य, अतिस्तुत्य (समिद्) समान रूप से प्रकाशित होने वाली सूर्य रूप ज्योति (दीदयति) चमकती है (स्य०) वह भी (ते) तेरा ही प्रकाश है । इम कारण हे परमात्मन् ! (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को आप ही (इपं) उत्तम ज्ञान और अन्न (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(२) हे (ज्योतिषः स्पते) सूर्य आदि ज्योतियों के परिपालक परमात्मन् ! (शुक्रस्य) शुद्ध कान्तिस्वरूप (ते) आपको (अच्चा) ऋग्वेद के ज्ञान द्वारा (हविः) समर्पण करने योग्य इस आत्मा रूप हवि को (तुभ्यं) आपके लिये (आहूयते) सब प्रकार से अर्पित किया जाता है । हे (सु० चन्द्र) सबको उत्तम सुख, आह्लाद देने हारे ! हे (इस्म) सधके भीतर व्याप्त, वा विघ्नों के हर्ता ! हे (हव्यवाट्) समस्त संसार को वहन करने हारे ! हे (विशपते) समस्त प्रजाओं के स्वामी (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशकों के निमित्त (इपम्) अन्न और उत्तम ज्ञान प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(३) हे (सु-चन्द्र) सर्व उत्तम पेश्वों के स्वामिन् ! सर्वसुखकारक, (विशपते) प्रजेश्वर ! हे (शवस स्पते) सर्वशक्तिमन् ! सब वलों के स्वामिन् ! आप (उभे) दोनों (दर्वी) अज्ञान का दहन करने हारे ज्ञान और कर्म या सूर्य और पृथिवी को (आसनि) अपने मुखस्थानीय तप में (श्रीणीपे) परिपक्व करते हो और (उक्थेपु) प्रशंसा करने योग्य धर्म-युक्त कर्मों में, यज्ञों में (नः) हमें (उत्पुण्यां) उत्तम फलों द्वारा पूर्ण करें (इपं स्तोतृभ्यः, आ भर) आप विद्वान् सत्यज्ञानी पुरुषों को अन्न और ज्ञान प्राप्त कराइये ।

[१०२५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २} इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यचे ॥१॥

[१०२६] त्वामेन्द्र॥भेभूरसि त्वं सूर्यमरोचय ।

विश्वकर्मा विश्वदेवो महौ असि ॥२॥

[१०२७] विभ्राजज्यातिपा स्वाऽऽरगच्छो रोचनन्दिव ।

देवास्त इन्द्र सख्याय येभिरे ॥३॥२२॥ अ० ६।१८।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८८] पृ० २०० ।

(२) हे इन्द्र ! (त्वम्) आप (अभिभू०) सबसे अधिक सामर्थ्यवान् (असि) हो । (त्वं) आप ही (सूर्य) सूर्य को (अरोचयः) प्रकाशित करते हो । और आप ही (विश्वकर्मा) समस्त मंसार के बनाने हारे (विश्वदेवः) सबके प्रकाशक और उनके उपास्य देव सब ऐश्वर्यों के दाता, सब देवों के देव और (महान्) सबसे बड़े पूजनीय (असि) हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (दिवः) सूर्य आदि समस्त बौलोक के (रोचनं) प्रकाशक, आनन्दमय, सात्विक (ज्योतिषा) ज्योति से (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान होकर (स्व) आनन्दमय मोक्ष में (अगच्छ) व्याप्त हो । (देवाः) सब विद्वान्गण और तेजस्वी पृथिवी आदि लोक भी (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिये (येभिरे) प्रयत्न करते हैं ।

[१०२८] असावि सोम इन्द्र त शत्रिषु घृण्णवागहि ।

आ त्वा पृणक्तिन्द्रिय रजः सूर्यो न राश्मिभिः ॥१॥

[१०२९] आ तिष्ठ वृत्रहन् रथ युक्ता ते महारणा हरी ।

अर्वाचीनं सुने मनो आवा कृणोतु वग्नुना ॥२॥

[१०३०] इन्द्रमिद्धरी वहता प्रतिघृष्टशवसम् ।

ऋषीणां सुष्ठुतीरुप यक्ष च मानुषाणाम् ॥३॥२३॥

अ० २ । ८४ । १, ३, २

भा०—(१) ज्याख्या देखो अविकल सं० [३४७] पृ० १८० ।

(२) हे (वृत्रहन्) विघ्नों के नाशक ! (रथम्) रमणीय, अत्यन्त प्रिय, रस रूप हृदय या आत्मा में, रथमें वीर पुरुष के समान (आ तिष्ठ) आ, विराज । (ते) तेरे (हरी) हरण करनेहारे, भजन करने वाले मन और चाणी दोनों को (ब्रह्मणा) मन्त्र द्वारा (युक्ता) चाणी (वस्तुना) मनो-हर ध्यान द्वारा हमें (ते) तेरे (अर्वाचीनां) अभिसुख (सु-कृत्योः) उत्तम प्रकार से करे जिससे तेरा साक्षात् करें ।

(३) (हरी) हरण करने हारे मन और चाणी, ज्ञान और कर्म दोनों (अप्रतिष्टित-शवम्) अदृश्य और असह्य, बलवान् (इन्द्र) आत्मा को (अर्वाणां) विद्वानों या इन्द्रियों की (सुस्तुतीः) उत्तम स्तुतियों और अभिज्ञायाओं को और (मानुषाणां) मनुष्यों के (यज्ञम्) यजन योग्य, उपार्य और सगति करने योग्य परमेश्वर को (उप वहतः) प्राप्त कराते हैं ।

इति सप्तमः खण्डः ।



इति द्वितीयोऽध्यायः ।

इति तृतीयाः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति पष्ठोऽध्यायः ॥



अथ चतुर्थः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अथ सप्तमोऽध्यायः



अपिः—१ (१) आकृत्यमाया (२, ३) मित्रानिवापरी च । २, ११ कृशयः । ३ मेधाविधिः । ४ हिरण्यम्पू । ५ सप्तमारः । ६ जमदग्निः । ७ कुम्भ

आगिम्सुः । ८ वसिष्ठः । ९ त्रिशोकः काण्वः । १० दयावाथः । १२ सत्तप्यः ।
 १३ वनदीयुः । १४ धुनःशेष आजीगर्तिः । १६ मान्धाता यौवनाथः । १५
 मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । १७ अमिनः कादयपो देवलो वा । १८ अणचयः क्षात्तयः ।
 १९ पवननारदो । २० मनुः सानरणः । २१ कुन्सः । २२ वन्धुः सुवन्धुः श्रुतव
 न्धुर्विप्रवन्धुश्च गौपायना लौपायना वा । २३ भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ।
 २४ अपि रक्षाः, प्रतीकत्रय वा ॥ देवता—१—६, ११—१३, १७—२१
 एगानः सोमः । ७, २२ अग्निः । १० इन्द्राग्नी । ६, १४, १६, इन्द्रः । १५
 सोमः । ८ आदित्यः । २३ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, ८ जागती । २—६, ८—११,
 १३, १४, १७ गायत्री । १२, १५, शुक्ती । १६ महापङ्क्तिः । १८ गायत्री
 सप्तोद्गती च । १९ उष्णिक् । २० अनुष्टुप् २१, २३ त्रिष्टुप् । २२ भुरिगृष्टी ।
 स्वरः—१, ७ निपातः । २—६, ८—११, १३, १४, १७ पङ्क्तः । १—१५,
 २२ मध्यमः १६ पञ्चमः । १८ पङ्क्तः मध्यमश्च । १९ अपभः । २० गान्धारः ।
 २१, २३ धैवतः ॥

[१०३१] ज्यानिर्घृक्षस्य पचते मधुप्रियं पिना देवनां जनिता
 विभूवसुः । दधानि रत्नं स्वधयोरेषाव्य मदिन्तमो मत्सर
 इन्द्रिया रसः ॥१॥

[१०३२] अभिरुन्दन् कलशं वाज्यर्पति पतिर्दिवः शतधारो विच-
 क्षणः । हरिमित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मजानोऽविभिः
 सिन्धुभञ्जपा ॥२॥

[१०३३] अग्रे सन्धूनां पचमानां अर्धम्यग्रे वाचा अग्रिया गोषु
 यच्छसि । अग्रवाजस्य भजसे महसूतं स्वायुधः सौतृभिः
 सोम सूरसे ॥३॥ १॥ अ० ६ । ८७ । १०—१२ ॥

भा०—(१) (यज्ञस्य) यज्ञ, जीवन और समस्त ब्रह्माण्ड का (ज्योतिः) प्रकाशक (प्रियम्) सबसे उत्कृष्ट (मधु) मनुन करने योग्य, योग समाधि द्वारा साक्षात् करने योग्य, (देवाना पिता) २४ देवों का पालक और (जनिता) उत्पादक, (विभूवसुः) सर्वव्यापक होने से सब के भीतर वास करने और सबको वास कराने द्वारा, (स्वधयोः) अपनी सत्ता से देह और विद्या को धारण कराने वाले, जीवात्मा और प्रकृति इन दोनों के भीतर (अपीच्यम्) अति सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक (मदिन्तमः) सबसे अधिक आनन्दमय और (मत्सरः) सबके हृदयों में आनन्द को बहाने वाला (इन्द्रियः) ऐश्वर्यमय, अथवा इन्द्ररूप जीव आत्माओं का हितकारी, (रसः) सर्वव्यापक, रसस्वरूप परमात्मा (रत्नं) समस्त ज्योतिर्मय पिएड, हिरण्यगर्भ को या अति रमण योग्य सुखमय मोक्ष को (दधाति) धारण करता है ।

(२) (वाजी) सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (दिवः पतिः) द्यौलोक का या सूर्यादि दिव्य पिण्डों का भी परिपालक, उनको नाश होने से बचाने वाला स्वामी, (शतधार) सैकड़ों धारण-शक्तियों से युक्त, (विचक्षणः) समस्त संसार को देखने वाला, (अभिक्रन्दन्) नाद करता हुआ, गर्जता हुआ (कलशेषु) कलशों में, जीवधारियों के देहों में आत्मा के समान (अर्पति) व्याप्त रहता है । और वही (हरिः) सबके कष्टों और तारों को हरने वाला, सबको गति देने द्वारा (मित्रस्य) अपने स्नेहपात्र आत्मा के (सदानेषु) निवासगृह, देहों में भी (सीदति) व्यापक होकर विराजता है । वही (वृषा) सब सुखों का वर्धक (सिन्धुमि.) विषयों के प्रति द्रुत गति से जाने वाली (अविभिः) तन्मात्राओं या इन्द्रियों या प्राण शक्तियों द्वारा, धारणाओं द्वारा (मर्मज्ञान) बार २ शोधा, धा बार २ खोजा, या साक्षात् परिष्कृत किया जाता है ।

(३) हे आत्मन् ! तू (सिन्धूना) उन सूक्ष्म इन्द्रिय शक्तियों प्राणों के (अग्ने) आगे ही (पथमानः) ज्योतिस्वरूप होकर प्रकट होने वाला (वाचः अग्ने) वाणी के भी आगे और (गोपु) प्राणेंद्रियों के भी (अग्निः) नेता के समान (अग्ने) आगे होकर (गच्छसि) जाता है अर्थात् वह उनसे भी परे रहकर उनका ग्राह्य विषय नहीं होता । (वाजस्य) ज्ञान और यज्ञ का स्वामी प्राण के भी (अग्ने) आगे (महद् धनं) बड़े भारी आनन्दरूप कोष को (भजसे) धारण करता है और (सु आयुधः) उत्तम सत्संग साधनों से युक्त या उत्तम शक्तियों से सम्पन्न होकर है (सोम) सबके प्रेरक, आत्मन् ! (सोतृभिः) योगियों द्वारा तू (सूयसे) साक्षात् किया जाता है ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[१०३४] अखुक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।

३ १ १ ३ १२ २२
शुक्रासो वीर्याशत्रः ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३५] शुम्भमाना ऋतायुभिर्भृज्यमाना गभस्त्योः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
पचन्ते घारे अन्नये ॥२॥

१२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०३६] ते विश्वा दाशुष वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा ।

१ २ ३ १२ ३२
पचन्तामान्तरिद्या ॥३॥२॥ अ० ६ । १६४ । ४-६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४८२] पृ० २२४ ।

(२) (ऋतायुभिः) सत्य, यज्ञ और आत्मा की कामना करते वाले शिष्य साधकों द्वारा (शुम्भमानाः) स्तुति किये, गये, प्रार्थना किये गये या उनसे शोभा प्राप्त करने वाले, (गभस्त्योः) अन्धकार को दूर करने हारे, ज्ञान और योगाभ्यास दोनों से (भृज्यमानाः) अपने को परिष्कृत शुद्ध, निष्पाप मलरहित, करते हुए (अन्नये) आत्मा से उत्पन्न, या

अप्यय, अधिनाशी (चोर) सब कष्टों के धारक, रक्षास्थान, अमय परमेश्वर में (पवन्ते) विचरते हैं ।

(३) (ते) वे (सोमाः) सोम्यगुणसम्पन्न, विद्वान् योगीजन (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य के लिये (दिव्यानि) दिव्य, पारलौकिक और (पार्थिवा) इहलोक के और (आन्तरिक्षा) मध्यमलोक के (वसु) वास योग्य ज्ञानरूप ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्रदान करते और स्वयं प्राप्त करते हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[१०३७] पवस्व देववीरनि पावन्न सोम रंक्षा ।

१ २ ३ १२ २२
इन्द्रमिन्दो घृषा विश ॥१॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१०३८] आवच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो धुन्नवत्तमः ।

१२ २२ ३ २
आ योानन्धर्षसिस्सदः ॥२॥

१ २ ३ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३९] अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः ।

३ १ २ ३ १ २
अपो क्षसिष्ट सुक्रतुः ॥३॥

३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१०४०] महान्तं त्वामहीरन्वापो अर्पान्तं सिन्धवः ।

११ २२ ३ १ २
यद् गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०४१] समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।

१ २ ३ १ २ ३ २
सोम पवित्रे अस्मद्यु ॥५॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
[१०४२] अचिक्रद्दृष्ट्वा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।

१२ २२
स सूर्येण विद्युते ॥६॥

[१०४३] गिरस्त इन्द्र ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युव- ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

याभिमदाय शुम्भसे ॥७॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०४४] तन्त्वा मदाय घृण्वय उ लोककृत्नुमीमहे ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

तव प्रशस्तये महे ॥८॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०४५] गोषा इन्द्रो नृषा अस्यश्वासा वाजसा उत ।
३ २ ३ १ २ ३ २

आत्मा यज्ञस्य पूर्ये ॥९॥
३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

[१०४६] अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मधोः पवस्व धारया ।
३ १ २ ३ १ २

गर्जन्यो वृष्टिर्माँ इव ॥२०॥३॥ अ० ९ । २ । १-६० ॥

भा०—(१) (देवधी.) पृथिवी तत्त्वों और प्राणों में भी व्यापक, उन को कान्ति देने द्वारा, उनको प्रेरित करने द्वारा, तू हे (सोम) आत्मन् ! (रंक्षा) वेग से (पवित्रे) हृदयदेश, मन को (अति) अतिक्रमण करके (पवस्व) प्रकाशित हा । हे (इन्द्रो) कान्ति और ऐश्वर्ययुक्त ! (वृषा) सुखों का वर्षक ! तू (इन्द्रं) आत्मा या परमात्मा के ऐश्वर्यमय स्वरूप में (विश) प्रवेश कर ।

(२) हे (इन्द्रो) आत्मन् ! (वृषा) सुखों का वर्षक (शुम्भवत् तमा) अति अधिक तेजःसम्पन्न, यशस्वी, होकर (महि) बड़े (प्सर) ज्ञान को (आ वन्पस्व) प्रकट कर । और (धर्योसिः) धृतिशील, भ्रुव होकर (योनिम्) अपने आश्रय स्थान या स्वरूप में (सदः) प्रतिष्ठित हो ।

(३) (सुतस्य) योग साधनों से निष्पन्न (वर्धसः) स्वयं कर्त्ता, विद्वान् योगी की (धारा) धारणा शक्ति (प्रिय मधु) अति आनन्द

अमृत रस को (अधुसत) दोहती हैं, प्रकट करती हैं और (सुक्रतुः) उत्तम कर्मनिष्ठ योगी (अप) समस्त प्रजानों और कर्मों और लोकों पर (व सिष्ट) वश करता है और उनमें वास करता है ।

मधु अमृतम् [सा०]

(४) हे सोम ! (यत्) जब (गोमिः) आदित्य की सी किरणों से तू (वासयिष्यसे) आच्छादित हो जाता है तब (त्वा) तुझे (महान्त) महान् को (सिन्धव) गतिशील, व्यापक (मिहीः) बड़े भारी (आपः) प्राप्त होने योग्य लोक (अनु अर्षन्ति) पीछे २ गमन करते अर्थात् अनुसरण करते, तेरे वशवर्ती होते हैं ।

(५) (पवित्रे) महान् आकाश में (सोमः) सूर्य (अस्मयुः) हमारा आश्रय (दिवः धरुण) द्यौलोक को धारण करने वाला (विष्टम्भ) नाना प्रकार के पिरों का स्तम्भ, आश्रय, (समुदः) समुद्रों को बहाने वाला होकर (अप्सु) अन्तरिक्ष में जैने (मासृजे) विशुद्ध रूप में भासता है । उसी प्रकार योगी का आत्मा भी भीतर हृदयाकाश में आनन्दरस का सा होकर विराजमान होता है ।

(६) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६७] पृ० २४६।

(७) हे (इन्द्रो) आत्मन् ! (ते) तेरे (ओजसा) बल से (अपस्युवः) कर्म और इच्छा को प्रकाश करने हारी (गिरिः) वाणिया (ममृज्यन्ते) परिष्कृत स्वच्छ शुद्ध हो जाती हैं (यामिः) जिनसे (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये तू (शुम्भसे) प्रकाशित होता है ।

(८) हे सोम ! परमात्मन् ! (मदाय) हर्ष के लिये (घृण्वये) आत्मा के स्पर्श करने वाले (मदाय) आनन्द को प्राप्त करने के लिये (लोककृत्तु) दर्शन करने हारे, सर्वदृष्टा या ज्ञान के उत्पादक या समस्त ससार के रचयिता (त) उस परमानन्दस्वरूप (त्वा) आपको (महे)

चढ़े भारी (तव) आपकी (प्रशस्तये) महिमा होने के कारण (ईमहे) प्राप्त होते हैं या प्रार्थना करते हैं ।

(६) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (गोपा) वाणियों, गौओं, शरियों और ज्ञान इन्द्रियों के दाता (नृपा) पुत्र भृत्यादि तथा नेता अग्रणी पुरुषों के देने हारे, (अश्वसा) देहों में आत्मा, ब्रह्माण्ड में सूर्य और प्राणोन्द्रियों और धन में अश्वों के देने हारे, (वाजसा) ज्ञानबल और अन्न के देने वाले (उत) मी (असि) हो । आप ही (यज्ञस्य) आत्मा, ब्रह्माण्ड, जीवन और सब कर्मों के (पूज्यः) पूज्य करनेहारे, सबसे आदिम (आत्मा) आत्मा, कर्त्ता, स्वामी हो ।

(१०) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (मधोः) अमृत की (धारया) धारणा शक्ति से (इन्द्रियं) आत्मा के बल को बढ़ाने वाले या उसके स्वरूप के दर्शन रस को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये जिस प्रकार (वृष्टि-मान्) वर्षाने वाला (पर्जन्यः) मेघ रस को वर्षाता है उसी प्रकार (पवस्व) बरसाओ ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:०:—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०४७] सना च सोम जेधि च पवमान महिश्रवः ।

१ २ ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०४८] सना ज्योतिः सना स्वाऽर्द्धिर्वा च सोम सौमगा ।

१ २ ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०४९] सना दक्षमुत क्रतुमप सोम सृधो जहि ।

१ २ ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥

- [१०५०] ^{१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} पवीतारः पुनीतन साममिन्द्राय पातवे ।
^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ४ ॥
- [१०५१] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} त्वं सूर्ये न आभज तव क्रत्वा तवोतिभिः ।
^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५ ॥
- [१०५२] ^{२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम् ।
^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६ ॥
- [१०५३] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विवर्हसं रथिम् ।
^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ७ ॥
- [१०५४] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अभ्याऽर्धानश्च्युतो वाजिन्समत्सु सासदिः ।
^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ८ ॥
- [१०५५] ^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वा यज्ञैरवीवृधन् पवमान विधर्मणि ।
^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ९ ॥
- [१०५६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} रथि वध्विन्नमश्विनामिन्द्रो विश्वायुमाभर ।
^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १० ॥ ४॥ १० ६ । ४ । १-१० ॥

भा०—(१) हे (पवमान) सधन्यापक ! हमें (मर्दि) बहुत पदा
 (अन्न) यज्ञ और ज्ञान का (मन) दान करो और (जेथि च) यज्ञों
 पर विजय करो । (अथ) और याज्ञ में (न) हमें (वस्यस.) ऐश्वर्य
 से युक्त या जानियों में धृष्ट (कृधि) करो ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! हमें (ज्योतिः) प्रकाश, ज्ञान (मन)
 दो । (स्व) सुख (मन) दो । और (विश्व च सौमगा) मनस्त
 सौमाययुक्त वदार्थ दो । (या न नम्यम कृधि) और हमें उत्तम यज्ञ-
 मान् अर्थात् शर्मा जनों में धृष्ट करो ।

(३) हे प्रभो ! हमें (दक्षम् उत क्रतुं) बल और उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य (सन) दो और (मृध.) प्रतिस्पर्धी, विघ्नकारी हिंसकों को (अप जहि) विनाश करो, (अथ नः०) और हमें सब में श्रेष्ठ करा ।

(४) हे (पवितारः) प्रभु को साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय पातवे) आत्मा को पान कराने के लिये (सोम) आनन्दरस या ज्ञान को (पुनीतन) उत्पादन करो, प्रकट करो (अथ न००) और हमें श्रेष्ठ करो ।

(५) हे (सोम) परमात्मन् ! (तव) तेरे (क्रवा) ज्ञान सामर्थ्य या कर्म सामर्थ्य से और (तव ऊतिभिः) तेरी शक्तियों से (त्व) तू (न.) हमें (सूर्ये) सबके प्रेरक आत्मा या परमात्मा में (आ भज) प्राप्त करा (अथ न.०) और हमें सबसे उत्तम बना ।

(६) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (तव क्रवा) तेरे ज्ञान से (तव ऊतिभिः) तेरी प्रेरणाओं से (सूर्ये) सूर्य के समान ज्ञान और प्रकाशस्वरूप तेरा (ज्योक्) धिरकाल तक (पश्येम) दर्शन करें ।

(७) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! हे (स्वायुध) उत्तम साधनों, यज्ञों से युक्त ! (त्व) तू (द्विषहंस) दोनों लोकों में बढ़ाने वाले (रथि) प्राणरूप सामर्थ्य को (अभि अर्प) दे । और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ बना ।

(८) हे (सोम) प्रेरक ! (समत्सु) समान भाव से आनन्द के प्राप्त करने के अवसरों में हे (वाजिन्) बल और ज्ञान से सम्पन्न ! (अनपच्युत) अविचल और (सासहि) अभ्यन्तर शत्रुओं को दधाने हारा होकर तू (अभि अर्प) प्रकट हो (अथ न ०) और हमें सबसे श्रेष्ठ बना ।

(९) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (विधमंणि) अपने विशेषरूप से परिष्कृत और नामः शक्तियों के आश्रय स्थान आत्मा में (यज्ञै.) कर्म, ज्ञान, तप आदि यज्ञों द्वारा साधकजन (त्वा) तुम्हको ही, (अवीवृधन्) बढ़ाते हैं और तू (अथ न.०) हमें सबसे उत्तम बना ।

(१०) हे (इन्दो) परमेश्वर ! तू (चित्र) संग्रह करने योग्य नाना प्रकार के (अधिनम्) इन्द्रियों का धारण करने हारे (विश्वायुं) समस्त आयु को देने वाले (रयिं) आत्मिक सामर्थ्य, धैर्य को (आ भर) दे । और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ उत्तम बना ।

[१०५७] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ १ ॥

[१०५८] उस्मा वेद वसूनाम्मर्त्तस्य देव्यवसः ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ २ ॥

[१०५९] ध्रस्त्रयोः पुरुषन्त्यारा सहस्राणि ददाहे ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ ३ ॥

[१०६०] आ ययोस्त्रिशत तना सहस्राणि च ददाहे ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ५ ॥ श्र० ९ । ५८ । १-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [५००] पृ० २४८ ।

(२) (उस्मा) ऊपर की ओर सञ्चरण करने वाली (देवी) सुख और प्रकाश की देने वाली, प्रकाशस्वरूप, सोमरूप शुक्र की धारा (मर्त्तस्य) मरुधर्म शरीर के भीतर (वसूना) वास करने हारे प्राणों को (अन्नम्) रक्षा करने का सामर्थ्य (वेद) प्राप्त कराती हैं । तभी (तरत्स मन्दी धावति) वह योगी आत्मा आनन्दमय होकर, सब कष्टों को पार करता, दुःखा प्रलम्ब की ओर चला जाता है ।

(३) हम (ध्रस्त्रयोः) दुःखों को खत्म करनेहारे, या स्वतः विनष्ट होने वाले (पुरुषन्त्योः) पुरुषरूप आत्मा के मक्ष ममीप वर्तमान प्राण और अपान दोनों के हे (सोम) परमेश्वर ! (सहस्राणि) हजारों आस प्रभाम तथा वक्र,

कर्मों को हम (आदवाहे) धारण करें, अपने वश करें । उन बलों से ही (तरस् स०) वह आत्मा सैकड़ों कष्ट पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है ।

(४) हम (ययो०) जिनके बल पर (त्रिंशत् सहस्राणि) तीस हजार ३०००० (तना) दिन, रात अर्थात् लगभग ४०० वर्ष पथन्त (आदवाहे) जीवन ग्रहण करते हैं उनके बल पर ही (तरस्स मन्दी धावति) वह आनन्दमय जीव सब दुःखों को पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है ।

[१०६१] एते सोमा अखत्त गृणाना शवसे महे ।

मदिन्तमस्य धारया ॥ १ ॥

[१०६२] अभि गव्यानि वीतये नृम्या पुनानो अर्पसि ।

सनद्वाज परिस्रव ॥ २ ॥

[१०६३] उन नो गोमतीरिषा विश्वा अर्प परिष्टुम ।

गृणानो जमदग्निना ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६२ । २२-२४ ॥

भा०—(१) (मदिन्तमस्य) अति आनन्दकारक परमात्मा की (धारया) आनन्दरूप धारणा शक्ति से (महे) बड़े भारी (शवसे) ज्ञान प्राप्ति के लिये (गृणाना०) वेद का अभ्ययन, प्रवचन करते हुए (एते सोमाः) ये विद्वान् गुरुजन (अखत्त) उत्पन्न हो । 'अवमे' इति अ० ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! (वीतये) सर्वत्र कान्ति या प्रकाश करने के लिये (गव्यानि) ज्ञान-वाणियों के योग्य (नृम्यानि) मनुष्यों के चित्तों को (पुनान) पवित्र करता हुआ तू (अभि अर्पसि) साक्षात् प्रकाशित होता है । हे (सनद्वाजः) ज्ञान के देने हारे, बल के देने हारे ईश्वर ! आप हमें ज्ञान और बल (परिस्रव) प्राप्त करावें ।

(३) हे परमात्मन् ! (जमदग्निना) आत्मा को साक्षात् करने हारे योगी द्वारा (गृणान०) स्तुति किये हुए (न०) हमारे लिये (गोमतीः)

वेदवाणियों से सम्पन्न (विश्वा, इष.) सब कामनाओं और ऐश्वर्यों को और (परिशुभ.) सब प्रार्थनाओं को (उत) भी (अर्प) पूर्ण स्वीकार कर प्रदान करो ।

[१०६४] ^{३ २ ३} इमं ^{३ १ २} स्नाममर्ते ^{३ १ २} जातवेदसे ^{३ १ २} रथमित्र ^{३ १ २} सम्महेमा ^{३ १ २} मनीष्या ।
^{३ २ ३} भद्रा हि न. ^{३ १ २} प्रमतिरस्य ^{२ १ २} संसद्यान ^{३ १ २} सत्ये मा ^{३ १ २} रिषामा ^{३ १ २} यथ
 तथ ॥ १ ॥

[१०६५] ^{१ २ ३} भरामधमं ^{३ १ २} कृण्वामा ^{३ १ २} हवीषि ते ^{३ १ २} चितयन्न. ^{३ १ २} पर्यगा ^{३ १ २} पर्भणा
^{३ १ २} चयम् । ^{३ १ २} जीवातये ^{३ १ २} प्रतरां ^{३ १ २} साधया ^{३ १ २} धियोऽग्नं ^{३ १ २} मरये मा
^{३ १ २} रिषामा ^{३ १ २} यथ तथ ॥ २ ॥

[१०६६] ^{३ १ २} शुकैत त्वा ^{३ १ २} समिध ^{३ १ २} साधया ^{३ १ २} धियस्तये ^{३ १ २} दद्या ^{३ १ २} हविर्दग्धा-
^{३ १ २} हुनम् । ^{३ १ २} नमोदत्या ^{३ १ २} आधह ^{३ १ २} गान्मुऽऽऽमस्यग्नं ^{३ १ २} सत्ये
^{३ १ २} मा रिषामा ^{३ १ २} यथ तथ ॥ ३ ॥ ५० १ । ३४ । १, ४, ३ ॥

भा०—(१) (अर्धेन) पूजनीय (जगवेदये) तत्त्व के ज्ञाना, इस विज्ञान, परमेश्वर और आचार्य के शिष्य (मनीषया) अथवा मनी ग (रथन इष) उक्त ज्ञानास के समान गुणकाक (यमोम) गुण कर्त्तव्य (समर्पण) को । (भवति) यथा मे (अग्न) हवीर्दे (धामि) उक्त मने और ज्ञान (म.) हमारे शिष्य (भद्रा) कदापि और गुणकारी होने है । हवीर्दे (धामि) मिनगाव मे (मा रिषाम) हम कभी कभी न पावे । हे यमो ! और हे विद्वन् गुरु ! (यथ तथ) हम नृदने है । हविर्दे का ज्ञान के लिये, भद्रों का ईश्वर के लिये और शिष्यों का गुरु के लिये समानरूप में वक्ष्य है ।

(२) हे यमो ! उक्त ज्ञानास के समान (मे) मे शिष्य (हवीर्दे) अथवा, मेमार्थ होने के समान के (मागम) हम प्रार्थना को । (हवीर्दे)

ग्रहण करने योग्य नाना पदार्थों को (कृण्वाम) सम्पादन करें । और (वय) हम (ते) तेरा (पर्वणा) पोरु २ पर, या पूर्ण साधन या प्रति पर्व, या अध्याय २ द्वारा (चितयन्त) शक्ति और ज्ञान का लाभ करते हुए, (जीवात्तवे) अपने जीवन के निमित्त (तव सख्ये) तेरे सहयोग या मैत्री में (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों । और तू (प्रतरां) बहुत उत्तम प्रकार से (धियः) हमारी प्रज्ञाओं और कर्मों को (साधय) सुदृढ़ बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! प्रभो ! गुरो ! (धियः) हमारा बुद्धियों को (साधय) उत्तम बना । हम (समिधम्) उत्तमरूप से प्रकाशित होने हारे (त्वा) तेरी सेवा करने में (शकेम) समर्थ हों । (त्वे) तेरे आधार पर (देवाः) विद्वान् लोग (आहुतम्) श्रद्धापूर्वक दान किये हुए अन्न आदि पदार्थ को (अदन्ति) भोग करते हैं । (त्वम्) और तू सूर्य के समान (आदित्यान्) किरणों, चारहों मासों, अथवा आदित्य के समान, तेजस्वी या सवत्सर के अधीन रहने वाले मासों के समान गुरु के अधीन रहने वाले शिष्यों को यथायोग्य (आ वह) प्राप्त कर, हम (तान्) उनको (उष्मासि) चाहते हैं । और हे (अग्ने) प्रकाशक ! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (मा रिषाम) कभी दुःख, पीड़ा प्राप्त न करें ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:०.—

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०६७] प्रति वां सुर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम् ।

३ १ २ ३ १ २

अर्यमणं रिशादसम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०६८] राया हिग्यया मतिरियमवृक्ताय शवसे ।

३ १ १ २ ३ १ २

इय विप्रा मेधसातये ॥ २ ॥

[१०६६] ^{१ २}ने स्याम देव ^{३ १ २}वरुण ते मित्र ^{३ १ २ ३ २}सूरिमिः सह ।

^{३ ३६ २२}

इषं स्वश्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० ७ । ६६ । ७-६ ॥

भा०—(१) (सूर) सूर्य के समान सबके प्रेरक, मुख्य आत्मा के (उदिते) उदय होने पर, जागृत होने पर (मित्र) मित्र, (वरुण) और वरुण, प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (रिषादस) विघ्नों के नाशक (अर्थमयम्) न्यायकारी स्वामी के समान पालक जानकर (प्रति-गृणीषे) उन दोनों को उपदेश करता हूँ ।

(२) (इयम्) यह हमारी (मतिः) मति, बुद्धि, मननशक्ति, (हिरण्यया) हितकारी, मनोहर (राया) सम्पत्ति द्वारा, (अवृकाय) हिंसक, चोरों से अतिरिक्त साधु पुरुष के (शवसे) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे (विप्रा) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान (मेघसातये) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने के लिये हो ।

(३) हे देव ! वरुण ! हे (मित्र) मृत्यु को मेटने वाले ! (सूरिमिः) तत्व के ज्ञाता विद्वानों के साथ हम (स्याम) रहें । और (ते) तेरे (इषं) अन्न, ज्ञान और (स्वः च) सुख, आनन्द-स्वरूप को (धीमहि) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] ^{३ १३}मिन्धि विश्वा अप ^{३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१}द्विषः परि वाधो जहो मृत्रः ।

^{१ २ ३ १२ २२}वसु स्पाह नटाभर ॥ १ ॥

[१०७१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २}यस्य ते विश्वमानुषभूरदक्षस्य वदति ।

^{१ २ ३ २२ २२}वसु स्पाहन्तदा भर ॥ २ ॥

[१०७२] ^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २}यद्दीडाविन्द्र यत् स्थिर यत्पथानि परा मृनम् ।

^{१ २ ३ १२ २२}वसु स्पाह तदाभर ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । ४५ । ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१३४] पृ० ७२ ।

(२) हे इन्द्र (ते) तेरे (भूरे) बहुतसे (यस्य) जिस (दत्तस्य) दिये हुए दान के विषय में (विश्वम्) समस्त संसार (आनु-
पम्) बराबर सदा युक्त रह कर (वेदति) जानता या प्राप्त करता है (तत्)
वह (स्पर्ह) अभिलाषा करने योग्य (वसु) वासयोग्य जीवनरूप उत्तम
धन (आ हर) हने प्राप्त करा ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [२०७] पृ० १०८ ।

^{३ २ ३ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१०७३] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सखी वाजेषु कर्मसु ।

^{१ २ ३ १ २}
इन्द्राग्नी तस्य बोधनम् ॥ १ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २२}
[१०७४] तोशाखा रथयावाना वृत्रहणापराजिता ।

^{१ २ ३ १ २}
इन्द्राग्नी तस्य बोधनम् ॥ २ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १ २}
[१०७५] इदं वा मदिरे मघ्वधुक्षत्रद्रिभिर्नर ।

^{१ २ ३ १ २}
इन्द्राग्नी तस्य बोधनम् ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ । ३८ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र, गुरो । और अग्ने । विद्वन् । आचार्य
और अध्यापक आप दोनों (यज्ञस्य) इस महान् अध्ययनाध्यापन ज्ञान
दानरूप यज्ञ और परमेश्वर के (ऋत्विजौ) यथाश्रित प्रवर्तक एवं प्राण
साधना द्वारा उपासना करने वाले (स्थ) हो । और (वाजेषु) ज्ञान यज्ञों
में और (कर्मसु) सब कर्मों में (सखी) छातक पारगत हो । (तस्य)
उस उक्त यज्ञ के विषय में आप (बोधनम्) हमें ज्ञान कराइये ।

(२) आप दोनों (रथयावाना) रथरूप देह या रसस्वरूप प्रभु को
प्राप्त होने वाले (वृत्रहणा) समस्त अज्ञान आवरण का नाश करने वाले,
(अपराजिता) कभी पराजित न होने वाले, (तोशाखा) विघ्नों के नाशक

हैं, (इन्द्राग्नी) आप इन्द्र और अग्नि परमात्मा और आचार्यस्वरूप दोनों मुझको उस यज्ञ का ज्ञान कराइये ।

(३) (नरः) विद्वान् मनुष्य (अग्निभिः) अखण्ड व्रतों से (वा) आप दोनों के (इदं) इस दर्शनीय (मधु) अमृत, ज्ञान को (अधुचन्) प्राप्त करते हैं (तस्य) उसका (बोधतम्) हमें भी ज्ञान कराइये ।

इति तृतीय खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१०७६] इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

अर्कस्य योनिमासदम् ॥१॥

१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१०७७] नत्वा विमा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम् ।

१ २ ३ १ २

स त्वा मृजन्त्यायव ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१०७८] रसं ते मित्रो अयमा पिबन्तु वरुण कवे ।

१ २ ३ १ २

पवमानस्य मरुन ॥३॥११॥ ऋ० १ । ५४ । २२-२० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४७२] पृ० २३८ ।

(२) हे प्रमो ! (वचोविद) वेदवाणी का सर्व जानने हारे वे (वि-
मा) मेधावी लोग (तं) उस स्मरणीय (धर्णसि) समस्त संसार को
देह के समान धारण करने हारे (त्वा) तुम परम आत्मा को (परिष्कृ-
ण्वन्ति) नाना प्रकार से घटानेत हैं । (त्वा) तुमको ही (आयव) मनुष्य
लोग (सं मृजन्ति) योग साधनों से खोजने और आत्मा को पवित्र करते हैं ।

(३) हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् विद्वन् ! (मित्रः) मृत्यु से बचाने
हारा प्राण और (वरुणः) वरुणरूप अपान और (अयमा) समान और
(मरुतः) शेष प्राणगण भी (पवमानस्य ते) प्रवाहित होते हुए तेरे
(रस) बल को (पिबन्तु) पान करें ।

[१०७६] ^{३ १ २} मृज्यमानः ^{३ १ २} सुहस्त्या ^{३ १ २} ममुद्रे ^{३ १ २} वाचामन्वासि ।

^{३ २ ३ १ २} राधे ^{३ १ २} पिशङ्गे ^{३ १ २} बहुलं ^{३ १ २} पुरुष्पुङ्गं ^{३ १ २} पवगानाभ्यर्षामि ॥१॥

[१०८०] ^{३ १ २} पुनानो ^{३ १ २} वारं ^{३ १ २} पवमानो ^{३ १ २} अज्यये ^{३ १ २} वृषा ^{३ १ २} अचिक्रवद्वने ।

^{३ १ २} देवानां ^{३ १ २} सोम ^{३ १ २} पवमान ^{३ १ २} निष्कृतं ^{३ १ २} गोभरञ्जानां ^{३ १ २} अर्षसि
॥२॥१२॥ अ० ६ । १०७ । २१-२२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५१७] पृ० २५५ ।

(२) (अज्यये वारं) प्राणमय या कर्ममय आवरण में से (पुनानः) पवित्र होता हुआ, (पवमान) व्यापक आत्मा (वृषः) सुखों का वर्षक होकर (वने) इस ब्रह्माण्ड या अन्तरिक्ष में मेघ के समान (अचिक्रवत्) अनाहत रूप से नाद करता और सुखों की वर्षा करता है । हे (सोम) प्रेरक ! आप (गीर्मे.) राशियों से (अंजानः) अभिव्यक्त होते हुए (देवाना) समस्त प्रकाशमान पदार्थों क (निष्कृतं) स्थान या मूलकारण को (अर्षसि) प्राप्त हो । आत्मपक्ष में—ब्रह्म (गोभिः) प्राणों से (अंजानः) प्रकट होकर इन्द्रियों के आश्रय को प्राप्त है ।

[१०८१] ^{३ १ २} एतमु ^{३ १ २} न्यं ^{३ १ २} दश ^{३ १ २} क्षिपो ^{३ १ २} मृजन्ति ^{३ १ २} सिन्धुमानरम् ।

^{१ २ ३ १ २} ममादित्यभिरक्ष्यन् ॥१॥

[१०८२] ^{१ २ ३ १ २} समिन्द्रेणात ^{१ २ ३ १ २} वायुना ^{१ २ ३ १ २} सुत ^{१ २ ३ १ २} एनि ^{१ २ ३ १ २} पवित्र ^{१ २ ३ १ २} आ ।

^{१ २ ३ १ २} सं सूर्यस्य ^{१ २ ३ १ २} गङ्गिभिः ॥२॥

[१०८३] ^{१ २ ३ १ २} न नो ^{१ २ ३ १ २} भगाय ^{१ २ ३ १ २} वायव ^{१ २ ३ १ २} पूष्णा ^{१ २ ३ १ २} पवस्व ^{१ २ ३ १ २} मधुमान् ।

^{१ २ ३ १ २} चारुमित्रं ^{१ २ ३ १ २} वरुणं ^{१ २ ३ १ २} च ॥३॥१३॥ अ० ६ । ६१ । ७-६ ॥

१०८१—२ 'मृजानो वारे,' वृषावचक्रदो वने' इति अ० ।

भा०—(१) (एतम्) इस (उ त्वं) ही उस (सिन्धुमातरं) दक्षिण शील प्राणों के माता अर्थात् उत्पादक या ज्ञाता आत्मा को (दश द्विपः) बाहर फैके गये दस गौण प्राण, इन्द्रियां (मृजन्ति) परिष्कृत करती हैं। वह (आदि-योमि) किरणों के समान खगी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (सम् अ-वपत) भली प्रकार देखता है। परमेश्वर के पक्ष में—उस (सिन्धुमातरं) समस्त आकाश और सागर आदि के निर्माता प्रभु को दशों दिशाएँ सुशोभित करती हैं। वह सूर्य से सबको प्रकाशित करता है।

(२) (इन्द्रं) आत्मा (उत वायुना) और प्राण से (सुतः) निष्पादित होकर वह आनन्दरस (सूर्यस्य) सबके प्रेरक मुख्य प्राण को (ररिम-भिः) किरणों में (पवित्रे) पवित्र करने द्वारे अन्तःकरण में (सम् आ पति) उत्तम रीति से विदित होता या प्राप्त है।

(३) (सः) वह (मनुमान्) अमृत स्वरूप (भगावः) ऐश्वर्यवान् (वायवे) प्राण स्वरूप (पूण्याः) पृष्टिकारक, आत्मा के निमित्त और (मित्रे) प्राण और (वरुणे च) अपान के लिये सी (पवस्व) प्रकट हो। परमेश्वर पक्ष में—(मित्रे वरुणे च) सर्व जंहवान् और सर्व दुःखवारक के रूप में प्रकट होता है।

इति चतुर्थः खण्डः ।

ॐ नमः शिवाय ॥

अ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०८४] रेवतीर्षं सग्रमाद् इन्द्रे सन्तु तुविमजाः ।

३ २ ३ २ ३ १ २

सुमन्नो यामिर्मदम ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[१०८५] आ घ त्वावान्मना युक्तः स्तातृभ्यो घृण्णीयीरानः ।

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३

अथारक्षं न चम्या ।

१२ २२ ३ १२ २२ ३ २
[१०८२] आ यहुत्र शतक्रवाकामं जरितृणाम् ।

३ २४ ३ १२ २२
ऋणोरक्षं न शचीभि ॥३॥१४॥ ऋ० १ । ३० । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५३] पृ० ८६ ।

(२) हे (धृण्यो) शत्रुओं के या काम क्रोधादि के धर्पण अर्थात् मान मर्दन करने हारे (चक्रयो.) रथ के चक्रों का (अक्ष न) धुग जिस प्रकार स्वयं अपने आश्रय रहकर भा रथ को दूर देश में पहुँचाता और आप भी जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! (त्वाचान्) तेरे सदृश तू ही (त्मना युक्त) स्वयं अपने आपमें समाहित होकर (इयान.) इसको अभीष्टतक पहुँचाता हुआ (आ ऋणोः) मोक्ष तक पहुँचता और साथ ही स्वयं भी वहा प्राप्त होता है ।

(३) (अक्षं न) जिस प्रकार धुरा (शचीभि.) अपने में लगे अरों द्वारा रथ को दूर देश तक पहुँचा देता है । उसी प्रकार हे शतक्रतो ! सैकड़ों प्रश्नों से युक्त आत्मन् ! (जरितृणाम्) विद्वान् ज्ञानोपदेशकों को भी (आकाम) उनकी कामताओं के अनुसार (दुव.) उनके मनोरथ या प्रार्थित पदार्थ (शचीभि) अपनी शक्तियों से (आ ऋणो.) प्राप्त करा देते हो ।

सर्वाप्तकाम ब्रह्मवेदी जीवनमुक्त की दशा का वर्णन है । उसके साथ ही राजा और प्रभु का वर्णन भी स्पष्ट है ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[१०८७] सुरूपकृत्तुमूतये सुदुर्धामिव गोदुहे ।

२ ३ २ ३ २
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०८८] उप नः सवनागहि सोमस्य सोमपाः पित्र ।

३ २४ ३-२-३ १ २
गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥

[१०८६] अथा ने अन्तमाना विद्याम सुमतीनाम् ।

मा नो अतिव्य आगहि ॥३॥१५॥ अ० १ । ४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अविकल सं० [१६०] पृ० ८६ ।

(२) (सोमपा) सोम अर्थात् आत्मानन्द के रस का पान करने द्वारा, समस्त आत्म पदार्थों और ज्ञानों का रक्षक, सोम्य गुणों को धारण करने वाले विद्वानों का पालक, सूर्य के समान विद्यार्थियों का प्रकाशक आचार्य और परमात्मा (सोमस्य) उत्पन्न कार्य ऊगत् के बीच में (स-वना) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों और ज्ञानों को प्रकाशित करने के लिये (न.) हमारे (उप) समीप (आगहि) आवे और (पिव) स्वयं ज्ञान प्राप्त करके अन्यो का पान करावे । (गोदा.) ज्ञान की आखों को देने वाला (इन्) ही (रेचत) इष्ट पदार्थ को प्राप्त करने वाले जीव को (मद.) हर्षकारी होता है ।

(३) हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्तमाना) समीप में प्राप्त (सुमती-ना) उत्तम मेधावी ज्ञानियों के पास से (विद्याम) हम तेरा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें (न., आगहि) आप हमें प्राप्त होइये, (मा नो अतिव्य) हमें त्याग न कीजिये ।

[१०६०] उभ यदिन्द्र रादसी आयप्राथोपा इव ।

महान्त त्वा मदीनां सन्नज चर्पणीनाम् ।

देवा जानिज्यजीजनद्भ्रा जानिज्यजीजनत् ॥१॥

[१०६१] दीर्घे ह्यइकुश यथा शक्ति विमपि मन्तुमः ।

पूर्वेण मधवन् पदा त्रयामजा यथा यम ।

देवा जानिज्यजीजनद्भ्रा जानिज्यजीजनत् ॥२॥

१ २ ३ ५ २ ७ २ ३ ०
[१०६२] अथ स्म दुर्हणायतो मर्त्तस्य तनुहि स्थिरम् ।

३ १ २ ७ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अथस्पदं तभी कृत्रि यो अस्मो अभिदासति ॥

३ १ २ १ २ ३ १ २ २ २

देवी जनित्र्यजीजनद्वा जनित्र्यजीजनत् ॥३॥१६॥

अ० १०। १३४। १, ६, २ ६

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३७६] पृ० १६६ ।

(२) हे (मन्तुम.) ज्ञानवान् ! सर्वज्ञ ! (यथा) जिस प्रकार आप (दीर्घ) दूर तक जाने वाले (अकुशम्) ज्ञानांकुश को (विमर्षि) धारण करते हो उसी प्रकार (शक्ति) उसके प्रयोग के सामर्थ्य और उपाय को भी जानते हो । हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! (यथा) जिस प्रकार से (यमः) इन्द्रियों और उनके समान लोकों पर वश करने द्वारा (अज.) अजन्मा आत्मा परममा-मा (पूर्वेण) पूर्व (पदा) ज्ञान और सामर्थ्य से (यथा) व्यापक प्रकृति को वश करता है और तभी (देवी) दिव्यगुण वाली यह प्रकृति (जनित्री) समस्त ससार को उत्पन्न करने वाली (अजीजनत्) इस संसार को उत्पन्न करती है । (भद्रा) कल्याण और सुख को देने वाली (जनित्री) प्रकृति (अजीजनत्) इस ससार को उत्पन्न करती है । और (भद्रा) वह सुखदात्री (जनित्री) माता के समान संसार की जननी होकर भी महिमा को प्रकट करती है ।

(३) हे परमेश्वर (दुर्हणायत.) दुष्ट चोर (मर्त्तस्य) मनुष्य की (स्थिरं) स्थिति को (अथतनु हि स्म) नीचा कर । (य.) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) गुलाम बनाना चाहता है (तम् ईम्) उसको ही (अथ पदं) नीचे के स्थान में (कृत्रि) करदे । (देवी जनित्री ०.) उस दिव्यगुण वाली सबकी माता प्रकृति तेरी महिमा को

प्रकट करती है । वह कल्याणकारी सब की माता होकर भी तेरी महिमा को प्रकट करती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ ७}
[१०६३] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्रे सोमो अक्षरत् ।

^{१ २ ३ १ २}
। मदेषु सर्वधा अग्नि ।

^{२४ ३ ७ ३ २४ ३ २ ३ १२ २२}
[१०६४] त्वं विप्रस्त्व कविर्मधुप्रजातमन्त्रत ।

^{१ २ ३ १ २}
मदेषु सर्वधा असि ॥२॥

^{१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१०६५] त्वं विश्व सजाषसो देवासः पीतिमाशत ।

^{१ २ ३ १ २}
मदेषु सर्वधा असि ॥३॥१७॥ अ० ६ । १८ । १-२ ॥

भा०—। १) व्याख्या देखो अविकल स० [४७५] पृ० २२६ ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् (त्वं) तू (विप्र०) मेधावी (कवि०) कान्त दर्शी है । (अन्धस) अज्ञ से (जातम्) उत्पन्न हुए जीवन शक्ति के रूप में प्रकट होने वाले (मधु) अमृतस्वरूप वीर्य और आनन्द को (प्र) प्रदान कर । तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वधा०) समस्त ससार को धारण करने हारा है ।

(३) (त्वं) तू (विप्रे) समस्त (सजाषनः) समान रूप में आप को प्रेम करने हारे (देवासः) विद्वान् लोग (पीतिम्) आपके रसान्वादन का आनन्द (आशत) प्राप्त करते हैं और (मदेषु) सब आनन्दों में आप ही सबको धारण करने हारे हो ।

^{१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ १ २ २२}
[१०६६] स सुन्वे या वसुना यो रायामानना य इडानाम् ।

^{२ ३ १ २ ३ २}
सोमो यः सुचितीनाम् ॥१॥

[१०६७] यस्य त इन्द्र पिबाद्यस्य मरुतो यस्य धर्मिण्या भगः ।

आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे ॥२॥१८॥
अ० ६ । १०८ । १३-१४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१८२] पृ० २६३ ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर (यस्य) जिस (ते) तेरे रस को (इन्द्र-)
मह आत्मा (पिबात्) पान करता है (यस्य) जिस तेरे रस को (मरुत-)
ये दश प्राण और समस्त विद्वान्गण और (यस्य चो) जिस तेरे रस या
बल को (धर्मिण्या) धर्मिणा अर्थात् समान वायु के साथ (भगः) उद्दान
वायु और सुंथ पान करते हैं और (येन) जिसके बल पर (मित्रावरुणा)
प्राण और अपान दोनों को (आ करामहे) परिचाजित करते हैं और
(इन्द्रम्) जिसके बल पर विद्वान्गण आत्मा को (आ) साक्षात् करते हैं ।
वह तू (महे अवसे) बड़ी रक्षा प्राप्त करने के लिये है तू ही शान्तिप्रद,
अमय स्वरूप है ।

[१०६८] तं च सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।

शिशुभहन्यैः स्वदयन्त गृक्षिभिः ॥१॥

[१०६९] स वत्स इव मातृभिरिन्दुहिन्वाना अज्यते ।

देवावीमदो मातेभिः परिष्कृतः ॥ २ ॥

[११००] अयं दद्याय साधनाज्य शर्घाय वीतये ।

अयं देवेभ्यो मधुमत्तरः सुतः ॥३॥१९॥ अ० ६ । १०९ । १-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१६९] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभि) दूध पिलाने वाली माताओं द्वारा (वत्स-
इव) जिस प्रकार बच्चा (हिन्वानः) प्रीति और परिधिहित और पालित

१०६८—३ 'मधुमत्ताः सुतः' इति अ० ।

पोषित होकर (भज्यते) प्रकट होता है । उसी प्रकार (इन्दु०) सोम= विद्वान् शिष्य भी (मातृभिः) विद्वान् ज्ञानियों द्वारा बालक के समान (हिन्वानः) शिक्षित किया गया (भज्यते) विद्या आदि उत्तम गुणों से प्रकट होता है । वह (देवादीः) विद्वानों के पास जाने द्वारा (मदः) सबको हर्षकारक (मतिभिः) विशेष मननयोग्य प्रज्ञाओं या मननशील विद्वानों द्वारा (परिष्कृत०) परिष्कृत, अलंकृत होता है ।

(३) (अयं) यह (सोमः) उत्तम गुणों से युक्त ज्ञानवान् पुरुष (दद्याय) बलशाली कार्य को (साधनः) साधन करने वाला और (अयं) यह (शर्धाय) बल या ज्ञान के प्राप्त करने (वीतये) और कान्ति, दीप्ति या तेज प्राप्त करने के लिये यत्नवान् हो । (अयं) यह (देवेभ्यः) विद्वानों के हित के लिये (मधुमत्तरः) माधुर्य आदि गुणों से और अधिक युक्त होकर (सुतः) उत्पन्न या दीक्षित है ।

सोम के दृष्टान्त से स्नातक का वर्णन किया है ।

[११०१] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्य गातुविचमाः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाभ्यः स्वर्विद॥१॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[११०२] ते पूतासो विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सूरासो न दर्शतासां जिगत्स्नवो ध्रुवा घृते ॥२॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[११०३] सु ण्वाणासो व्यद्विभिश्चिताना गोरत्रि त्वक्षि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इषमस्मभ्यमभित० समस्वरन्वसुविद० ॥३॥२०॥

अ० १ । १०१ । १०, १२, ११ ॥

भा० — (१) व्याख्या, देखो अविकल सं० [५४८] पृ० २७५ ।

११०१—१. 'मित्रा सुवानाः' २. 'अरे. पूताः' इति अ० ।

(२) (ते) वे (पूनासः) पवित्र हृदय-वाले (विपश्चितः) मेधावी (सोमासः) सोमवर्ण्य वाले विद्वान्- (धृते) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में (जिगत्स्वः) उन्नति की तरफ जाने वाले (धृचा०) स्थिर, अखण्डित, दृढ़ (सुरासः) आदित्यों के समान तेजस्वी, विद्वान्, आदित्य ब्रह्मचारी होकर (दर्शतासः) दर्शनीय, भव्य हों ।

(३) (गोः) सूर्य के समान तेजस्वी गुरु के (अधि स्वचि) आश्रय या संरक्षकता में (सु स्वानासः) ज्ञानवान् होते हुए (अद्रिमिः) 'विद्वानों द्वारा (वि चित्ताना०) नाना प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए (वसुविदः) 'आत्मज्ञान के जानने वाले (अस्मभ्यम्) हमें (अभित०) सब ओर से (हर्ष) ज्ञान का (सम्-अस्वरन्) उपदेश करें ।

३ २ ३ १ २ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०४] अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्रधत्व ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मश्चिद्यस्य वातो न जूर्ति पुरुमेधाश्चिर्चकवे नरं धातु॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०५] उत न पना पवया पवस्वाधि श्रुते अवायस्य तीर्थे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
पष्टि सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय॥२॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १ २
[११०६] महीमे अस्य वृषनाम शूप्ते मांश्चत्वे वा पृशने वा वधेत् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अस्वापयानिगुतः सेहयच्चापामिर्त्रो अपाचितो अचेतः
॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० ९ । ६७ । ५२-५४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५४१] पृ० २७० ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर । (अवायस्य) अवण करने योग्य उपदेश के दाता तुम प्रसिद्ध जगद्गुरु के (तीर्थे) ज्ञानसागर से तराने वाले स्थान, या आश्रमस्वरूप (श्रुते) वेद में (अधि) और भी अधिक (पुना) इस प्रकार की (पवया) पवित्र करने वाली ज्ञान धारा या धारणा से- (न० १)

। हमारे लिये (पवस्व) उपदेश करो । (वृषं न यकं) जिस प्रकार फल
 , चाहने वाला, पके फलों से लदे वृक्ष को बल से कंपाता है और सहस्रों फल
 नीचे, आ टपकते हैं वसी प्रकार आप (नैपुतः) जो सुख से कभी न कहे
 , जाते हों ऐसे अत्यन्त गुह्य, ज्ञानों के रक्षक हैं । आप (पटि सहस्रा) ६०
 हजार या १०६० (वसुनि) ज्ञान रत्नों को (रक्षाय) आत्मा के आनन्द
 प्राप्ति के लिये (धूनतव) हमें प्राप्त कराओ ।

(३) (अस्य) इस आत्मा के (इमे) ये (वृष नाम) सुखों का
 वर्णन और उद्धर्तों का नमन ये दोनों काम (मही) बड़े भारी (शूरे)
 सुखकारी, मन के एकमात्र गतिस्थान हृदय में होते हैं । हे साधक (वा)
 और (पृशने) स्पर्शन करने वाले (बध्नन्) हिंसा या पीड़ा से बचाने
 वाले आश्रय त्वग्निन्द्रिय में (निगुतः) छुपे हुए, निगूढ़, काम और क्रोध
 आदि शत्रुओं को (अस्वापयन्) सुजाता हुआ (स्नेहयत च) और उन
 का नाश करता हुआ तू (अभिग्रान्) उन शत्रुओं और (अचित अप)
 ज्ञान रहितों को दूर कर और (अचेत) चेतना रहित जड़ पदार्थों मूर्खों,
 हृदयहीनों को भी (अप) दूर कर ।

इति पठः पठ ।



- [११०७] अग्ने त्वं नो अन्तम उन आता शिवा भुवो वरुध्य ॥१॥
 १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००
- [११०८] वसुरग्निर्वसुधवा अच्छा नक्षि शुमत्तमां रयि दा. ॥२॥
 १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००
- [११०९] तं त्वा शोक्विष्ट दादिव सुन्नाय नूनभीमहं सप्रिभ्य ।
 ॥३॥ २२ ॥ अ० ५ । २४ । १, २, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११८] पृ० २२६ ।

(२) (वसु.) मयमें वास करने द्वारा (वसुधवा) ज्ञान का अवगण
 करने वाला ज्ञानधन (अग्नि) ज्ञानवान् (शुमत्तमः) अग्नि अधिक

तेजस्वी, आत्मा (नदि) हृदय में व्याप्त है । वह तू हमें (रयि) समस्त जीवन रूप धन को (दाः) दान कर ।

(३) हे (शोचिष्ठ) कान्ति और तेज से युक्त ! हे (वीदिषः) दीप्ति-मान् अग्ने ! प्रभो, हम (सुम्नाय) सुख के लिये और (सखिभ्यः) अपने समान ब्यापति वाले अपने मित्रों और बन्धुओं के लिये (नून) अवश्य (हमारे) आप से याचना करते हैं ।

[१११०] ^{३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} इमां नु कं भुवना सीपधमन्द्रश्च विप्र्ये च देवाः ॥३॥

[११११] ^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} यश्च नस्तन्यं च प्रजां चादित्यैरेन्द्रः सह सीपधातु ॥२॥

[१११२] ^{३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आदित्यैरेन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजां करत् ॥ ३ ॥ २३ ॥ अ० १० । १५७ । १, २, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सू० [४५२] पृ० २२७ ।

(२) (नः) हमारे (यज्ञम्) आत्मा को (तन्यं च) और गरीर को (प्रजां च) और प्रजा सन्तति को (इन्द्रः) परमात्मा (आदित्यैः) द्वादश भासों, या आदित्य स्वरूप विद्वानों और प्राणों के (सह) साथ (सीपधातु) रक्षा कर ।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मरुद्भिः) प्राणों और (आदित्यैः) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या वायुओं और अक्षुओं के द्वारा सूर्य के समान (सगणः) अपनी अन्य सहायक शक्तियों सहित (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भेषजा) आरोग्यकारक उपाय (करत्) करें ।

[१११३-१५] ^{१ २४} प्रचोर्चोप ॥२४॥

भा०—(१) (चः) आप लोग (प्र) परमेश्वर की उत्तम रूप से, (२) (अर्चः) स्तुति करो,

११११—२, 'सहवीर्यपाति' ३, 'अस्माकं भूतविता कनूना' इति च ।

३ (३) और (उप) उपासना करो ।

[सायणाचार्य ने इस मन्त्र को एक ऋचा मान कर व्याख्या की है । माधव ने अपने विवरण में इस मन्त्रों को तीन मन्त्रों की एक संक्षिप्त प्रतीक माना है जो क्रम से 'प्र व इन्द्राय०' 'अर्चन्त्यकं०' 'उप प्रचं मधुम०' इन मन्त्रों के आद्य, अक्षरों से बनी है । इन तीनों मन्त्रों की क्रम से व्याख्या देखिये अविकल सं० [४४६, ४४५, ४४४] पृ० २२५; २२४] तदनुसार इनको यहां संक्षेप से रख देने का प्रयोजन 'उद्देश्यपुत्र' नामक ऊहगान को दर्शाना मात्र है ।

इति सप्तमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः प्रपाठकः ।

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य (द्वितीयोऽर्थः)

ऋषि — १ वृषगणो वामिष्ठः । २ असितः काश्यपो दिक्लो वा । ११ अगु-
र्वाकणिर्जमदग्निः । ८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ४ यजत आत्रेयः । ५ मधुच्छन्दो
वैश्वामित्रः । ७ सिकता निवावरी । ८ पुरुहन्मा । ६ पर्वतानारदौ शिखण्डिन्यौ
काश्यप्यावप्सरसौ । १० अग्नयो धिष्ण्याः । २२ वत्सः काण्वः । नृमेधः । १४
अग्निः ॥ देवता—१, २, ७, ६, १० पवमान सोमः । ४ मित्रावरुणौ । ५, ८,
१३, १४ इन्द्र । ६ इन्द्राग्नी । १२ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप् । २,
४, ५, ६, ११, १२ गायत्री । ७ जगती । ८ प्रागाथः । ६ उष्णिक् । १०
द्विपदा विराट् । १३ ककुप्, पुर उष्णिक् । १४ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—३
वैवतः । २, ४, ५, ६, १२ षड्जः । ७ निषादः । १० मध्यमः । ११ ऋषभः ।
१४ गान्धारः ॥

- १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[१११६] प्रकाव्यमुशनं वृवाणो देवो देवाना जनिमाविवक्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
मद्विवतः शुचिवन्धु पावकः पदा वराहो अभ्येनि रेमन् ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१११७] प्रहंसासस्तृपलावन्नुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अङ्गोषिणो पवमानं सखायो दुर्मर्षं वाणं प्रवदन्ति साकम् ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१११८] स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परीणसं कृणुते तिग्मशृङ्गो विषा हरिर्दृष्टो नक्तमृजः ॥३॥
अ० ६ । ६७ । ७-६ ॥
[१११९] प्र स्वानासो रथा इवार्धन्तो न श्वस्यथ ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमासो राये अक्रमुः ॥ ४ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११२०] द्विन्वानासो रथा इव दधान्विरे गभस्त्योः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भरासः कारिणामिव ॥ ५ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११२१] राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यक्षा न सप्त धातुभिः ॥ ६ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११२२] परिस्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मघो अर्षन्ति धारया ॥ ७ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११२३] आपानासो विवस्वतो जिन्वन्ति उपसो भगम् ।
१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुरा अण्वं वितन्वने ॥ ८ ॥

१११७—'वृषल मन्त्र', 'आगूष्य पवमान', 'दुर्मर्ष साकं प्रवदन्ति वाण' ।

१११८—'सरहत उरुगायस्य' इति अ० । ११२३—'जनन्त उपसो भग' ।

[११२४] अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋणवन्ति कारवः ।

वृणो हरस आयवः ॥ ६ ॥

[११२५] समीचीनास आशत होता नः सप्त जानयः ।

पदमकस्य विप्रतः ॥ १० ॥

[११२६] नामा नामि न आददे चक्षुषा सूर्य दृशे ।

कवरपत्यमावुहे ॥ ११ ॥

[११२७] अभि प्रिय दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् ।

सूरः पश्यति चक्षसा ॥ १२ ॥ १ ॥ अ० ६ । १० । १-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११२४] पृ० ४८७ ।

(२) (हंसासः) नीर शीर का विवेक करने द्वारे हंसों के समान सत्यासत्य का विवेक करने द्वारे परमहंस योगी लोग (तृपत्ता^१) सत्व, रजस् और तमस् तीनों को पार करके जाने द्वारे, या काम क्रोधादि को प्रहार करने द्वारे, उन पर वशी, (वानुम्) रमणीय भनाहत नाद को (अच्छ) लक्ष्य करके (वृषगणाः) उत्तम, धर्ममेघ समाधि के साधक योगिजन (अमात्^२) अव्यक्त ब्रह्म या ज्ञान से (अस्तं) शरण-योग्य आत्मा को (प्र अयासुः) प्राप्त होते हैं । (सखायः) वे समान आत्मा नाम वाले, या परम प्रभु के प्यारे, (साकं) एक साथ (पदमानं) व्यापक (दुर्मर्ष) न सहन करने योग्य, असह्य तेज से युक्त (अंगोपिगं^३) इव देह में

११२५—‘नामने होनार’, ‘सप्त जानयः’ ।

११२६—‘ननुभिर्युगै मन्वा’ । ११२७—‘अभिप्रिया दिवस्पद’ इति अ० ।

१. तृपत्तः क्षिप्रप्रहारी, सुप्रप्रहारी मोमो वा इन्दो वा (निर० ५।१।७)

२. अमा पुनर्निर्मित अवानि (निर० ५।१।८)

३. उर शोऽं दीपौ च । दीप्त मोमं इति (मा० नि०)

बसने हारे, कान्तिस्वरूप या स्तुति करने योग्य (वाचं) भोग्य आत्मा को (प्र वदन्ति) उपदेश करते हैं ।

(३) (स०) वह योगी (उरुगायस्य) विशाल गुणों वाले, स्तुतियों से सम्पन्न परमात्मा को (जूर्ति) ज्योति या प्रेरणा को (चोदते) समाधि द्वारा साक्षात् करता है । (गाधः) अन्य इन्द्रियगण या अन्य लोग (वृथा) अनायास (क्रीडन्तं) नाना प्रकार से जगत् सर्जन प्रलय आदि लीला करते हुए उस परमात्मा को (न) नहीं (मिमते) ज्ञान करते । (सः हरिः) वह सब दुःखों को हरण करने वाला, हरि (त्रिगुणशृंगः) तीक्ष्ण तेज से युक्त होकर आदिस्थ के समान (परीणसं) नाना प्रकार का तेज प्रकट करता है, और वह (श्रुजः) विस्पष्ट प्रकाश से युक्त अश्रु मार्ग पर चलने हारा, धार्मिक, होकर (दिवा नक्तं) रात दिन (ददृशे) प्रकाशित होता है ।

इसमें सूर्य और स्वराट् योगी का वर्णन है । जिसके मुख पर दिन रात तेज का मण्डल दीखने लगता है ।

(४) (स्वानासः) विशुद्ध रूप में प्रकट होने वाले (सोमासः) ज्ञानी लोग (रथा इव) वेगवान् रथों के समान और (अर्चन्तः न) अर्धों के समान (श्रवस्यवः) अन्न, ज्ञान और परम ऐश्वर्य की कामना करने हारे (रायं) आत्म साक्षात्कार या परमानन्द प्राप्ति के लिये (अक्रमुः) और आगे कदम रखते हैं ।

(५) वे (रथा इव) रथों के समान प्रबल वेगवान् होकर और (कारिणाम्) योद्धाओं के (भरासः) सग्राम या यज्ञकर्त्ताओं के कर्त्ताओं के समान (दिग्वानासः) आगे बढ़ते हुए (गमस्वोः) प्राण और अपान दोनों की साधनाओं द्वारा (दधान्विरे) साधना करते हैं ।

(६) (प्रशस्तिभिः) उत्तम कीर्तियों, स्तुतियों से (राजानः न) राजाओं के समान और (सप्तधातुभिः) सात ज्ञान धारण करवेहारे

याज्ञिक ऋत्विगों द्वारा या सात मुख्य प्राणों द्वारा आत्मा के समान (गोभिः) प्रकाश की किरणों द्वारा (अज्जते) आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं ।

(७) (इन्द्रव) ज्ञान सम्पन्न योगिजन (स्वानासः) महारस का सम्पादन करते हुए, (बर्हणा) बड़ी, ब्रह्मरूप (गिरा) वेदवाणी द्वारा (मर्धाः) असृज्य रस या आत्मानन्द की (धारया) धारक शक्ति से युक्त होकर (मदाय) ब्रह्मानन्द प्राप्ति के लिये (परि अर्पन्ति) और आगे बढ़ते हैं । [देखो अवि० सं० ४८५ । पृ० २४२]

(८) (अप नास) अपान को वश करने हारे योगिजन (विवस्वतः) विशोध्य रूप से देह में निशाम करने हारे आत्मा के (उषसः) पापनाशक, तमोनाशक तेज के (मगम् ऐश्वर्य) को (जित्वन्ति) प्राप्त करते हैं । वे (सूर्या) सूर्य के समान आदिभ्य योगी उस (अणव) अति सूक्ष्म आत्म-तत्त्व को (वितन्वते) विशेषरूप से साक्षात् करते हैं ।

(९) (प्रनाः) पुरातन, उत्कृष्ट अभ्यासी, (कारवः) योगक्रिया के करने हारे (वृष्णः) वर्षणशील, सुगन्धपंक आत्मा के (हरसः) स्वरूप को प्राप्त होने वाले (आयवः) उस तक पहुँचे हुए जन (मतीर्ना) अनन शक्तियों के (द्वारा) द्वारों को (अप अणवन्ति) खोज सकते हैं ।

(१०) जिस प्रकार यज्ञ में एक बजमान का कार्य सम्पादन करने के लिये मात होता लोग बैठते हैं उसी प्रकार (समीचीनासः) उत्तमरूप से गति या ज्ञान सम्पादन करने हारे, शान्तस्वरूप, सोमस्वरूप (सप्त) मात, या प्रसर्पणशील, प्राण (होतार) आत्मा का अनुसन्धान करनेहारे (जानयः) ज्ञानोपायक इन्द्रियगण और विद्वान्जन (एकसा) एक ही आत्मा के (पदं) स्थान, स्वरूप, ज्ञान या सामर्थ्य को (विप्रत्न) पूर्य करते हुए (आश्रय) विप्रजते हैं, आनन्द का गोग करते हैं ।

(११) (नाभि) सबको केन्द्ररूप होकर बांधने हारे आत्मा को (नः) हम (नाभा) अपने शरीर के केन्द्र, या सुप्त वन्धनस्थान अपने मन में (आददे) धारण करें जिससे (चक्षुषा) ज्ञान चक्षु से हम (सूर्य) सर्वप्रेरक प्रकाशक आदित्यरूप परमात्मा का (दृशे) दर्शन करें । (कवेः) क्रान्तदर्शी, मेधावी के (अपत्यं) अविनाशी, अपने आश्रित को नीचे न गिरने देने वाले भुव स्वरूप परमात्मा के (आदुहे) आनन्द रस का ग्रहण करें ।

अपत्यं कस्मादपततं भवति, न अनेन पतति इति (निरु० ३। १। १)

(१२) (सूर.) सूर्य के समान आदित्य योगी, उत्तम योगवत् से सम्पन्न होकर (चक्षुसा) दिव्य चक्षु द्वारा (अभिप्रियं) अत्यन्त मनोहर (अस्वयुभि.) जीवन यज्ञ के सम्पादक, इन्द्रियों के सूक्ष्म सामर्थ्यों सहित (गुहा हितम्) हृदयाकाश रूप गुहा, या गुह्यरूप परमात्मा के भीतर (दिव.) दीप्त तेजस्वरूप आत्मा के (पद) स्वरूप को (पश्यति) देखता है ।

दिवस्पदं तस्यात्मन. पदम् (सा०) ।

इति प्रथम. खण्डः ।

[११२८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} असुप्रमिन्दव पथा धर्मभूतस्य सुश्रियः ।

^{३ १ २ ३ १ २} विद्वाना अस्य योजना ॥ १ ॥

[११२९] ^{२४ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २४} प्र धारा मध्वा अग्नियो मध्वरिपो विगाहते ।

^{३ २ ३ १ २ ३ १ २} हविर्हवि.पु वन्द्यः ॥ २ ॥

[११३०] ^{२ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २} प्र युजा वाचो अग्नियो वृषा अचिक्रददने ।

^{२ ३ २ ३ १ २ ३ २} नमामिस्त्या अघ्नरः ॥ ३ ॥

२ ३ १२ २२ ३ २३ १ २ ३१२ २२
[११३१] परि यत्काव्या कविर्नृम्णा पुनानो अर्पति ।

१२ ३ १ २
स्वर्वाजी सिपासति ॥ ४ ॥

१२ ३ २३ ३ २ ३ १२
[११३२] पवमानो अभिस्पृधो विशो राजेव सीदति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
यदीमृगवन्ति वेधसः ॥ ५ ॥

२ ३ १ ३ १ २ ३ २३ ३ १ २
[११३३] अव्या वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति ।

३ १ २ ३ २
रेभो वनुष्यते मती ॥ ६ ॥

२ ३१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२
[११३४] स वायुमिन्द्रमश्विना साकं सदेन गच्छति ।

२ ३ १ २ ३ १ २
रणा यो अस्य धर्मणा ॥ ७ ॥

२ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[११३५] आ मित्रं वरुणे भगे मधो. पवन्त ऊमयः ।

३ १ २ ३ १ २
त्रिदाना अस्य शक्मभिः ॥ ८ ॥

३ १ २ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २
[११३६] अम्मभ्य रोदसी रयि मध्यां वाजस्य सानये ।

२ ३ १ २ ३ १ २
अगो वसुनि सज्जिनम् ॥ ९ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११३७] आ ते दत्तं मयोभुवं यद्विपद्या गृणीमहे ।

२ ३ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥

२ ३ १२ २२ ३ २२ ३ १ २ ३ १ २
[११३८] आगन्ध्रमागरेगयमाधिप्रमा मनार्थिहम् ।

२ १ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ ११ ॥

११३१—'नृम्णा' 'पुनानो' । ११३३—'उमयो' 'मती' ।

११३४—'सदेन' 'गच्छति' । ११३५—'म. विपद्या' 'वसुनि' 'सज्जिनम्' 'मनार्थिहम्' ।

[११३६] आ रथिमा सुचतुर्नमा सुकतो तनूष्वा ।

पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १२ ॥ २ ॥

मात्रा नव अ० ६ । ७ । १-६ । शेषास्तित्त. ऋ० ६ । ६५ । ५८-६० ॥

भा०—(१) (इन्द्रव.) आत्मसम्पत्ति से सम्पन्न, शमादि गुणयुक्त योगीजन, (अतस्य) सत्यज्ञान के (धर्मन्) धारण करने हारे परमात्मा के स्वरूप में (सुश्रियः) उत्तम रूप से आश्रय प्राप्त करने वाले (पथा) सत्य ज्ञान के मार्ग से (अस्य) इस आत्मा के (योजना) योग-समाधि द्वारा मिलापों के आनन्दों का (विद्वान्) लाभ करते हुए (अष्टमम्) कृतकृत्य होजाते हैं ।

(२) (हविषु) समस्त अभिलाषा योग्य, या इष्टदेव को समर्पण करने योग्य पदार्थों में भी उत्तम (हविः) स्वीकार करने और धरने योग्य पदार्थ आत्मा ही (वन्द्य.) स्तुतियोग्य है । वह (मही.) बड़े (अपः) ध्यान, धारणाओं, और कर्मों और प्रज्ञाओं को समुद्रों के समान (विगाहते) पार कर जाता है और (मधो.) अमृत की (अग्रिय.) आगे प्रकट होने वाली, मुख्य, उत्तम (धाराः) शक्तियों को (प्र) प्राप्त करता है ।

(३) (अग्रिय.) मुख्य या प्रबल (वृषा उ) सुखों का वर्षक आत्मा ही (प्रयुजाः) प्रयोग करने योग्य (वाच.) वाधियों को (चने.) भजन करने योग्य मूल में (अचिक्रदट्) उच्चारण करता है । वह योगी आत्मा (सत्यः) सत्याचरण करने द्वारा, सज्जनों में श्रेष्ठ, (अक्षर) किसी की हिंसा न करने द्वारा, (सद्म) अपने आश्रयस्वरूप, परम शरण परमेश्वर को (अभि) प्राप्त होता और साक्षात् करता है ।

(४) (यत्) जब (कधिः) मेधावी, ज्ञानवान् (नृम्यानि) मनुष्यों के सत्तनशील साधन, चित्त को (पुनानः) शुद्ध पवित्र करता हुआ (क्रान्ता) उत्तम वेदवाधियों का (प्रति अर्पति), ज्ञान प्राप्त करता है

तब वह (वाजी) ज्ञानज्ञान होकर (स्वः) परमसुखमोक्षरूप आनन्द को (सिषास्येति) सेवन करना है ।

(५) (यद्) जब (ईम्) इस आत्मा को (वेधसः) योगसाधक ज्ञानी लोग (ऋणवन्ति) प्राप्त करते हैं तब (पवमानः) देदीप्यमान, आत्मा (अभिस्पृघः) स्पर्धा करने हारे, विघ्नकारी, बाधक कार्यों या व्युत्थान लक्ष्यों का दूर करके (विशः राज इव) प्रजाओं पर राजा के समान (सीदति) प्रबल होकर बैठता है ।

(६) (हरिः) दुःखों के विनाशक आत्मा (प्रियः) अत्यन्त प्यारा होकर (वनेषु) देहों में (अन्याः वारे) चितिशक्तिरूप अवि के आवरणकारी, या वरण-योग्य त्रिपुटी आदि स्थान में (परिसीदति) विराजता है । और (रेभः) अप्रतिहत नाद करने द्वारा, या स्तुतिशील (मती) मननशक्ति द्वारा (वनुष्यते) प्राप्त किया जाता है ।

वनुष्यतिर्हन्तिकर्माऽनवगतसस्कारो भवति (निरु० ५ । ६ । २)

(७) (यः) जो (अस्य) इस सोम के (धर्मणा) धारणयोग्य गुण या धारणा बल से (रणा) रमण करता है, (सः) वह आत्मज्ञानी (वायुम्) प्राणवायु, (इन्द्रम्) आत्मा और (अभिनौ) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को (मदेन) आनन्द और हर्ष के साथ (गच्छति) वश कर लेता है ।

(८) (मधो) हर्षकारक आनन्दरूप सोमरस की (ऊर्मयः) ऊर्ध्वगति या तरंग (मित्रे) प्राण और (वरुणे) अपान (भगे) और समान में (पवन्ते) गति करती हैं । और साधकजन (अस्य) इस आत्मा की (शक्मभिः) शक्तियों द्वारा (संविदानाः) उत्तम रीति से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

(९) हे (रोदसी) सूर्य और पृथिवी, प्राण और अगान तुम दोनों (अभ्यः) हमें (वाजस्य) ज्ञान और (मध्व) आनन्दस्वरूप अमृत की (सासये)

प्राप्ति के लिये (रयि) प्राण सामर्थ्य, बल, (भवः) उपदेश, (वसुनि) जीवनोपयोगी पदार्थों पर (स जितं) वश करादो ।

(१०) हे सोम ! (वयं) हम लोग (अथ) आज (मयोभुवं) शान्ति को उत्पन्न करने हारे, (वह्नि) शक्तियों के घट्टन करने हारे, (पान्तं) हमारे पालक, (पुरुस्पृहं) सब के कामना के योग्य, (ते दक्षं) तेरे बल को (आवृणीमहे) उत्तम समस्त कर प्राप्त करते हैं । अवि० [४६८]-

(११) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वोत्तम, (विप्रं) मेधावी और (मनीषिणं) सबके हृदयों के प्रेरणा करने हारे (पान्तं) सब के पालक (पुरुस्पृहम्) सब के प्रेमपात्र आपको हम (आ) साक्षात् करते हैं ।

(१२) हे (सुकतो) उत्तम कर्म और ज्ञान से युक्त ! प्रज्ञा से सम्पन्न ! हे (साम) सब के प्रेरक ! (रयिम्) रयिस्वरूप (सुचेतुनम्) उत्तम ज्ञाता (तनूषु आ) हमारे देहों में भी व्याप्त (पान्तं) रक्षक (पुरुस्पृहम्) प्रजा के प्रेमपात्र और सबके स्नेही आपको (आ) वरण करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।



[११४०] मूर्धनं दिवा अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जानमागमम् ।

कवि संम्राजमतिथि जनानामालम्बः पात्र जनयन्त देवाः ॥ १॥

[११४१] त्वा विश्वे अमृतं जायमानं शशुं न देवा अभि सं नवन्ते ।

तव कतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रा दीदः ॥ २॥

[११४२] नाभि यज्ञाना सदन रयीणा महामाहात्रमभि सं नवन्त ।

वैश्वानरं रथमध्वराणा यज्ञस्य केतु जनयन्त देवाः ॥ ३॥ ३॥

। ११४० ॥ ११४१ ॥ ११४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६७] पृ० ३४ ।

(२) हे (अमृत) मरणरहित अमृतस्वरूप ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आत्मन् ! (शिशुं न) लोम बालक के प्रति जिस प्रकार प्रेम से आकृष्ट होकर उसको थार २ देखने की इच्छा से उस पर मुक्ते और प्रेम प्रकाश करते हैं (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुणयुक्तः सूर्य, चन्द्र, वायु आदि पदार्थ और विद्वान् गण उसी प्रकार (शिशुं) सर्वत्र गुप्त रूप से व्यापक (जायमानं) अपने सामर्थ्य से सर्वत्र प्रकट होने हारे आपको (अभि सनवन्ते) साक्षात् कर स्तुति करते हैं । हे (वैश्वानर) समस्त मनुष्यों के हृद्यों में व्यापक ! वे विद्वान् योगी लोग (तव) आपके ही (ऋतुभिः) उपदिष्ट कर्मों और ज्ञानों द्वारा (अमृतत्वम् आयन्) अमृतत्व या मोक्षपद को प्राप्त करते हैं । और आपका रसरूप तेज (पित्रोः) मातृ पिता के बीच में पुत्र के समान ही देह के पालक प्राण और अपान के मध्य सुपुग्ना नाड़ी में (अदीदेः) प्रकाशित होता है ।

(३) (यज्ञाना) देवपूजा, सत्सग, मैत्री और समस्त दान पुण्य आदि परोपकार के कार्यों के (तामि) एकमात्र आश्रय, केन्द्र (रयीणा सदन) समस्त पेश्वों और धीर्य-सामर्थ्यों के भयद्वार (महा) बड़े भारी (आहाव्यं) तृष्णा का शान्त करने के निमित्त सब को अपने प्रति बुलाने वाले जलाशय के समान जीवनाधार रस के समुद्र, आपको (देवाः) विद्वान् लोग (अभि मं नवन्ते) साक्षात् स्तुति करते हैं । और उसको (अश्वराणां) समस्त हिंसा रहित पवित्र कार्यों के (रथ्यम्) महारथी के समान वहन करनेहारे (वैश्वानरं) समस्त हृद्यों में व्यापक, सबके नेता और (यज्ञस्य) आत्मा का (केतुं) ज्ञापक (जनयन्त) वतलाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१६४३] प्र दो मित्राय गायत वरुणाय विषा गिरा ।
१ २ ३ २ ३ २

महि क्षत्रावृतं घृहत् ॥१॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
[११४४] सन्नाजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च ।

३ २ ३ १ २ ३ २
देवा देवेषु प्रशस्ता ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[११४५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ।

१ २ ३ २ ३ १ २
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥३॥४॥ अ० ५ । ६ । १-३ ॥

भा०—(१) (वः) आप लोग (मित्राय) जीवन को स्नेह करने
हारे प्राण और (वरुणाय) दोनों का धारण करने वाले अपान को या
विद्वान् और उपदेशक को (विषा) ज्ञानयुक्त, मन से प्रेरित, सार्थक
(गिरा) बाणी से (प्र गायत) स्तुति करो । हे मित्र और वरुण, (महि-
क्षत्रा) बड़े बलशाली आप दोनों (बृहत्) बड़े भारी (क्षतं) सत्य आत्म-
ज्ञान को प्रकाश करते हो ।

(२) (या) जो (मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण प्राण और
अपान हैं वे (उभा) दोनों (घृतयोनी) कान्ति, प्रकाश और तेज के उत्पत्ति-
स्थान और (सन्नाजा) स्वयं उत्तम रीति से प्रकाश देनेहारे (देवेषु)
दिव्य पदार्थों, विद्वानों और इन्द्रियगण में (प्रशस्ता) प्रशंसा योग्य
(देवा) सुख के दाता हैं ।

(३) (ता) वे दोनों (नः) हमारे लिये (पार्थिवस्य) पृथिवी
और (दिव्यस्य) आकाश से होने वाले (महः) बड़े भारी (रायः)
ऐश्वर्य सामर्थ्य को (शक्तं) भोगने और धारण करने में समर्थ हैं ।
(देवेषु) समस्त दिव्य पदार्थों और विद्वानों में (वां) आप दोनों का भी
(महि क्षत्रं) बड़ा भारी बल है ।

१ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११४६] इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
अयूवीभिस्तना पूतासः ॥१॥

[११४६] तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत् ।

कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥१॥

[११५०] य इन्द्र आ विवासनि सुग्नमिन्द्रस्य मर्त्ये ।

द्युम्नाय सुतगा अपः ॥२॥

[११५१] ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः ।

एन्द्रमग्निं च वाढवे ॥३॥ ६॥ अ० ६ । ६० । १०-१२ ॥

भा०—(१) हे मनुष्य ! (तम् अग्निम्) उस सबके पापों के दहन करने हारे ज्ञानमय परमात्मा की (इडिष्व) उपासना कर (य०) जो (अर्चिषा) अपने तेज से (विश्वा) समस्त (वना) भोगने योग्य कर्म-बंधनों को वनों में अग्नि के समान (परिष्वजत) जा लगता है और जैसे अग्नि वनों में लगकर उनको जलाकर काला कर देता है उसी प्रकार वह अपनी (जिह्वया) अग्नि की उवाला के समान भस्म करने वाली शक्ति से सबको (कृष्णा) छिन्न भिन्न, दग्ध (कृणोति) कर डालता है । जंगलों को जला देने वाली अग्नि से कर्मदाहक ज्ञानाग्नि की तुलना है ।

(२) (य मर्त्ये०) जो मरणधर्मो मनुष्य (इन्द्र) स्वयं प्रकाशित, ज्ञानवान होकर (इन्द्रस्य) आत्मा के (सुग्नं) सुख करने वाले ज्ञान को (आ विवासति) उद्घाटन करता है उस (द्युम्नाय) प्रकाशस्वरूप ज्ञानों के लिये (अप) कर्म बन्धन (सुतगा) सुख में तरण योग्य हो जाते हैं ।

(३) हे प्राण और अपान ! (ता) वे आप दोनों (वाजवती, इषः) ज्ञानसम्पन्न कामनाओं और (आशून्) शीघ्रगामी वेगवान् (अर्वतः) ज्ञानेन्द्रियों को (पिपृत) तृप्त करो जिससे हम (इन्द्रम् अग्निम् च) हम आत्मा और उस ज्ञानस्वरूप ईश्वर को (वाढवे) अपने में सुख से धारण करें ।

इति तृतीय खण्डः ।

[११५२] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रमिनाति
 सङ्गिरम् । मर्य इव युवतिभिः समर्पति सोमः कलशे
 शनयामना पथा ॥१॥

[११५३] प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवो मनस्युव संवरणेऽ-
 क्रमुः । हरि क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभो भि धेनव पयस
 दशिध्रयुः ॥२॥

[११५४] आ न सोम संयतं पिप्युधीमिपमिन्दो पवस्व पवमान
 ऊर्मिणा । या नो दोहातं निरहससम्पुधी जुमन्वाजवत्स-
 धुमत्सुवीर्यम् ॥३॥ ७॥ ऋ० ६ । ६८ । १६-२८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५७] पृ० ७८० ।

(२) हे (सोमाः) विद्वान् पुरुषो ! (ध०) आप लोगों की (धियः)
 प्रज्ञाएं, बुद्धियां, वाणिया (मन्द्रयुवः) आनन्दस्वरूप परमात्मा की तरफ
 लगी हुई (मनस्युव०) स्तुति करने की इच्छा करती हुई, (विपन्यव०)
 और स्तुति करती हुई (संवरणेषु) हृदयों में विशेषरूप से या विविध
 यज्ञगृहों ममास्थानों, विद्वान्-मण्डलों में (अक्रमुः) फैलती हैं । (स्तुमः)
 विद्वान् लोग (क्रीडन्तं) जगत् का सर्जन और (हरि) प्रलय करने हारे
 परमात्मा को (इत्) ही (अभ्यनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं और
 (धेनव) रसपात्र करने काने हारे व्याख्याता लोग भी अपने (पयसा)
 वर्णनरस से, दुग्धरस में गौधों के समान उसको ही (अभि अग्निध्रयुः)
 अपना आधार बनाते हैं । अथवा (धेनव०) वेदवाणियों (पयसा) अपने
 ज्ञानरस में उसका ही अभिप्रेक करती हैं ।

११५२—१. 'दययान्ना' २. 'मिगन्नेन्द्रयुः' 'सोम मनीषा अत्यन्त' '५१'।

मृनिध्रियु 'यमानो मग्निध' इति ऋ० ।

(३) (हे इन्दो) तेजस्विन् ! सोम ! (पवमान) सर्वत्र व्यापक !
(या) जो (नः) हमारे लिये (अहन्) दिन में (त्रि.) तीनवार (अस
श्चुपी) बिना रोक टोक के (सुमत्) कीर्तियुक्त (वाजवत्) बलयुक्त,
ज्ञानयुक्त (मधुमत्) आनन्दरस से पूर्ण (सुवीर्यम्) उत्तम बल (दोहते)
प्राप्त करावे ऐसी (संपतं) उत्तम रीति से सुप्रबन्ध युक्त (पिप्युपीम्) सदा
वृद्धि करने हारी (इपं) समृद्धि को (कर्मिणा) अपनी अनन्त शक्ति से
(पवस्व) प्राप्त कराओ ।

[११५५] नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।

इन्द्रश्च यज्ञैर्विध्वगूर्त्तमभ्वन्नमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥ १ ॥

[११५६] अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुः प्रयः ।

सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्धोवः क्षाभीरनोनवुः ॥ २ ॥

अ० ८ । सू० ४ । सू० २-४॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१४३] पृ० १२४ ।

(२) (यस्मिन्) जिसके (जायमाने) प्रादुर्भाव होने पर (उरुप्रयः)
अति वेगवान् पराक्रमी (मही) बड़ी २ (धेनव) गौओं के समान अधिक
सम्पत्ति देनेहारे प्रजागण या विद्वानगण (अनोनवुः) मुकते और स्तुति करते
हैं । उस (अषाढं) असह्य (पृतनासु सासहिं) सेनाओं में सबसे अधिक
सामर्थ्य वाले शासक के प्रति (याव) तेजस्वी, उत्तम श्रेणी के धनाढ्य
और ज्ञानी पुरुषगण या साधारण प्रजापुं (क्षाभीः) पृथिवी के निवासी
जमींदार या भूपाल भी (अनोनवुः) विनयपूर्वक स्तुति करते हैं । आत्मप्रय
में—पृतना=इन्द्रियगण । धेनवः—वायिया, वेद-आचार्य आधिदैविक पक्ष
या ब्रह्मपक्ष में, धेनव=वेदवायियाँ, क्षावः, क्षाभीः=तेजोमय लोक और
पार्थिव लोक । इति चतुर्थं खण्डः ।

११५५—'धृष्णुमोजसा' २. अपाल्ह' 'याव. क्षमो' इति अ० ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[११५७] सखाय आ निर्पादित पुनानाय प्रगायत ।

२ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
जिथुन्न यज्ञैः परिभूयत श्रिये ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११५८] सधी वत्स न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।

३ २ १ २ ३ १ २ २२
देवाव्यादेमदमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११५९] पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्द्धाय वीतय ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० ६ । १०४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६८] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभिः) माताओं से जिस प्रकार (वत्स न) बच्चे या बछड़े को उनका दूध प्राप्त करने के लिये मिलाया जाता है उसी प्रकार (ईं) इस (सोमं) सोम रूप शुक्र को (मातृभिः) ज्ञान के साधन इन्द्रियों और मनन-शक्तियों से और (सोमं मातृभिः) निश्वास शिष्य को ज्ञान कराने वाले गुरुओं से (अभि स सृजन) साक्षात् रूप से संयोजित करो । उस (गयसाधनम्) समस्त प्राणों को वश करने हारे, (देवाव्य) दिव्य कान्ति, सामर्थ्य और बल के प्रेरक प्रकाशक या रक्षक (मदम्) हर्षकारक और (द्विशवस) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के बल को धारण करने हारे वीर्य तथा शिष्य को (अभि) उत्तम रूप से सम्पादन करो, शिक्षित करो ।

(३) (दक्षसाधनं) शरीर के बल को सम्पादन करने वाले इस सोम अर्थात् शुक्र को हम प्रकार (पुनात) सम्पादन करो, प्राप्त करो कि (यथा) जिस प्रकार वह (शर्द्धाय) शरीर के बल की वृद्धि और (वीतय) कान्ति के निमित्त हो । और (यथा) जिस प्रकार (मित्राय) मित्र और

११५८—'अभि प्रद्विशवसम्' इति कनिष्ठ प्रामादिक मायणादिना मातृभिः

नादितवान् ।

(वरुणाय) अपान इन दोनों जीवनाधारों के लिये भी (शान्तमम्) अति अधिक सुख और कल्याणकारक हो ।

[११६०] ^{२ ३६ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} प्र वाज्यक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम् ॥१॥

[११६१] ^{२ ३६ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २} स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणान् ॥२॥

[११६२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २} प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षो नृभिर्धेमाणो अद्रिभिः सुतः

॥ ३ ॥ १० ॥

अ० ६ । १०६ । १६-१८ ॥

भा०—(१) (वाजी) शक्तिमान्, ज्ञानी या आनन्दरस (सहस्रधारः), सहस्रों धारण करने वाली शक्तियों से युक्त होकर (अव्यं) भुव, प्राणमय, (पवित्रं) पावन करने वाले (वारं) वरणीय, या दुःखों के वारक आत्मा को (तिर. वि प्र अक्षाः) साक्षात्, नाना प्रकार से उत्तम रीति से प्राप्त हो ।

(२) (सः) वह सोम योगी का आत्मा या आनन्दरस (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, (सहस्ररेता) सहस्रों पदार्थों का मूलकारण, सहस्रों शक्तियों से युक्त (अद्भि) कर्मों और प्रज्ञाओं से (मृजानः) पवित्र होता हुआ, अधिक विस्पष्ट होता हुआ (गोभिः), वाणियों द्वारा (श्रीणानः), परिपक्व होकर (अक्षा) हृदय में प्रकट हो ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (नृभिः) नेताओं द्वारा (धेमानः) हृदय-देश में यम नियमों द्वारा या ईश्वर-प्रणिधान द्वारा विचार किया जाकर (अद्रिभिः) स्थायी अखण्डित तपःकर्मों, या ज्ञानी पुरुषों से (सुतः) साधित होकर (कुक्षौ) आत्माकाशरूप गुहा में (आयाहि) आ, प्रकट हो ।

[११६३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} य सोमास परावति य अर्वावति सुन्विरे ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} ये वादः शर्यणावति ॥ १ ॥

[११६४] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} य आजोकिपु कृत्वसु य मध्ये पस्त्यानाम् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} ये वा जनेपु पञ्चसु ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
 [११६५] ते नो वृष्टिं दिवस्पति पवन्तामा सुवीर्यम् ।
 ३ २ ३ २ ३ १ २

स्वाना देवास इन्द्रवः ॥४॥११॥ ऋ० ९ । ६५ । २२-२४ ॥

भा०—(१, २, ३) (ये) जो (सोमासः) सोम, विद्वान् लोग (परावति) दूर देश में और (ये) जो (अर्वावति) समीप-देश में और (ये वा) जो (शर्यणावति) विषम अरण्यभूमि में और जो (अर्जीकेषु) ऋजु और सरल, सम देशों में और जो (पस्थाना) गृहमेधी, गृहस्थियों के (मध्ये) बीच में (कृत्वसु) बनाये हुए गृहों में, (ये वा) और जो (पञ्चसु) पांचों प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पाष्वर्षे निपाद जो चारों वर्णों के भी धर्म पालन न कर सकने के कारण देश या नगर की सीमा से बाहर कर दिये जाते हैं उनमें भी (सोमासः) ज्ञान-सम्पन्न विद्वान् लोग हैं (ते) वे (न०) हमें (दिव०) आकाश या प्रकाश और शुभ पदार्थों की ज्ञान प्रकाश से उत्तम हितोपदेशों की (वृष्टिं) वर्षा अर्थात् अति अधिक राशि को (परिपवन्ता) दें और (सुवीर्यं) हमें उत्तम बल भी प्राप्त करावें । क्योंकि (देवासः) विद्या आदि शुभ दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (स्वानाः) ज्ञानी पुरुष ही (इन्द्रवः) सोम या 'इन्दु' कहाते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।



१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
 [११६६] आ तं वत्सो मनो यमत्परमादित्सधस्थात् ।

२ ३ १ २ ३ १
 अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ १ ॥

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 [११६७] पुरुषा हि सदङ्गसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः ।
 ३ १ २

समत्सु त्वा हवामहे ॥ २ ॥

[११६८] ^{३ २ ३ १ २ २} समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे ।

^{१ २ ३ १ २} वाजेषु चित्रराधसम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ८ । ११ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८] पृ० ४ ।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (पुरुषा) समस्त प्रजाओं को आप (सद्गुरु) समान दृष्टि से देखने वाले (असि) हो । (विश्वा दिशः, अनु) समस्त दिशाओं में (प्रभुः) आप ही ईश्वर, उत्तम सामर्थ्यवान् हो । (नमस्तु) आनन्द, उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों पर (त्वा) तेरी ही (हवामहे) याद करते हैं ।

(३) हम (नमस्तु) एकत्र आनन्द उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों में (वाजेषु) ज्ञान, बल और अस्त्रादि के प्राप्ति, उत्पत्ति और वृद्धि के कार्यों में (वाजयन्तः) ज्ञानों और ऐश्वर्यों की कामना करते हुए या बल प्राप्त करते हुए हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) आगे के नेता-स्वरूप, आचार्य, परमगुरु परमात्मा का ही (हवामहे) स्मरण-करते हैं ।

[११६९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्यं शतक्रतो विचपंथे ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} आ धीरं पूननासहम् ॥ १ ॥

[११७०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो वभूविथ ।

^{१ २ ३ १ २} अथा ते सुसमीमहे ॥ २ ॥

[११७१] ^{३ १ २ ३ १ २} त्वां शुष्मिन्पुरुहत वाजयन्तमुगृध्वे सहस्कृत ।

^{१ २ ३ १ २} स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०५] पृ० २०६ ।

(२) हे (वसो) सब में निवास करने वाले सर्वव्यापक ! (त्वं हि) आप ही हमारे (पिता) पालक हैं । (त्व) आप (माता) माता के

समान उत्पादक और ज्ञानदाता (बभूविथ) हैं । (अथ) और हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों, कर्मों को अनायास सम्पादन करने वाले ! हम (ते) आपके (सुग्न) आनन्द, सुख की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं ।

(३) हे (शुष्मिन्) सर्वशक्तिमन् ! हे (पुरुहूत) बहुतों से, स्तुति योग्य हे (सहस्कृत) सब बलों और बलशाली शक्तिमान् पदार्थों के, उत्पादक ! (वाजयन्तम्) ज्ञान और बल को दान करने हारे आपसे मैं (उपमृवे) प्रार्थना करता हूँ कि (नः) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम बल, वीर्य और पुत्र, तेज और यश का (रास्व) प्रदान करें ।

[११७२] यदिन्द्र चित्र म इहनास्ति त्वादातमद्रिवः ।

राश्वस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥ १ ॥

[११७३] यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र धृक्षन्तदाभर ।

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने ॥ २ ॥

[११७४] यत्ते दिक्षु प्रराध्य मनो अस्ति श्रुनंघृहत् ।

तेन दृढा विदद्रिव आ वाज दपि सातये ॥ ३ ॥ १४ ॥

श्र० ५ । १६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो, अधि० सं० [३४५] पृ० १०६ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (यत्) जो (शुष्म) अन्न, धन और यश आप (वरेण्यं) वरण करने योग्य श्रेष्ठ (मन्यसे) जानते हैं (तद्) वही (आभर) हमें प्राप्त करावें । (तस्य) उस अधिन्य महिमा वाले (अकूपारस्य) अति सुन्दर, अनिन्दनीय, असीम परम आनन्द के

२२७२—'उपमृवे सहस्रतः' इति श्र० ।

२२७३—'दावने' । ११७४—'यत्ते दिक्षु' इति श्र० ।

सागरस्वरूप, सबको उत्तमरूप से पालन करने हारे (ते) तुम्ह (दावनः) दानशील के दान को हम (विधाम) प्राप्त करें ।

(३) हे (अदिवः) ज्ञानस्वरूप या प्रलय करने वाली शक्ति के मालिक ! (यत्) जो (ते) तेरा (दिक्षु) समस्त दिशाओं में (प्रराध्यं) उत्तम रूप से पाराधन करने योग्य, (बृहत्) बड़ा विशाल, (श्रुतं) श्रवण करने योग्य (मनः) मनन करने योग्य बल और ज्ञान है (तेन) उस से ही (दृढाचित्) पुष्ट, उत्तम (चाजं) ज्ञान और बल को (सातये) सबको समान रूप से दान करने के लिये (आदर्पि) खण्ड २ करके, अनुभव और विचारक्रम से देते हो ।

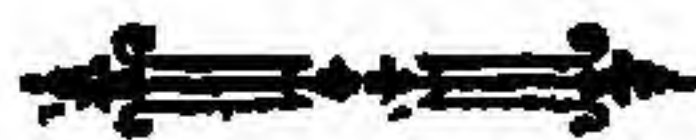
इति षष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्घ ।

इति चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः । इत्यष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्घः)

अथ नवमोऽध्यायः ।



। अथि—१ प्रतर्दनो देवोदामि । २-४ अमितः काश्यपो देवलो वा । ५, ११ उचध्यः । ६, ७ अमहीयुः । ८, १५ निप्रुवि कश्यपः । ९ वसिष्ठः । १० सुमन्त्रः । १२ कविः । १३ देवादिभिः काण्वः । १४ भर्गः प्रागावः । १५ अम्बरीषः । अजिष्ठा च । १७ अस्यो धिण्या ऐश्वराः । १८ वशना काव्य । १९ नृमेषः । २० जेताभ्यामुच्छन्दम् ॥ देवता—१-८, ११, १२, १५-१७ पवमानः सोमः । ९, १८ अग्निः । १०, १३, १४, १५, १६ इन्द्रः ॥ छन्दः—२-११, १५, १८ गायत्री । त्रिष्टुप् । १२ जगती । १३ बृहती । १४

[११७५] शिशुं जज्ञानं हर्यनं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन।

[११७६] ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षा. सहस्रनीथः पदधीः कवी
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 नाम् । तृतीयं धाम महिषः शिषासन्त्सोमो विराजमनु
 ३ २
 राजनि ष्टुप् ॥ २ ॥

भा०—(१) विद्वान् जोग (मरुत गयेन) अपने प्राणों के गण प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, देवदत्त, कृकल, धनंजय, नाग, कूर्म आदि, अथवा मूर्धा स्थान के ७ प्राणों द्वारा (जज्ञानं) ज्ञान प्राप्त करने हारे (हर्यतं) कान्तिस्वरूप, सद्य का प्रकाशक (विप्रं) ज्ञान और कर्म से सम्पन्न, (शिशुं) शरीर में शयन करने हारे, आत्मा को (मृजन्ति) शुद्ध करते और (शुम्भन्ति) नाना गुणों से सुशोभित करते हैं । (कविः) क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी मेधावी, पुरुष (काव्येन) क्रान्तदर्शी परम ज्ञानी परमेश्वर के ज्ञानमय वदमय काव्य से (कवि) अन्यो को ज्ञान देने द्वारा (सन्) परमगति को प्राप्त मुक्त होकर (सोमः) सोम्यगुणवान् आनन्द और शमादि से सम्पन्न आत्मा (पवित्रं) सब पतितों के पावन परमात्मा

की (रेमेन्^२) अर्चना, ध्यान, गुणगान करता, हुआ (अति एति) कर्म बन्धन को पार कर जाता है ।

(२) (य) जो (ऋषिमनाः) मन्त्रदष्टा के समान मनन शक्ति से युक्त, स्वयं (ऋषिकृत्) अपने आपको ऋषि, तत्त्वदर्शी बनाने द्वारा, विवेकी, (स्वर्पाः) स्वयं उत्तम २ सब पदार्थों के मर्मों का द्रष्टा, (सहस्रनीयः) सहस्रों प्रकार से ईश्वर को स्तुति करने द्वारा, या सहस्रों सुख और ज्ञान औरों को प्राप्त कराने द्वारा (कवीना) बहुत मेधावी प्रज्ञावान् पुरुषों को (पदधीः) ज्ञान प्राप्त कराने द्वारा, सन्मार्ग का दर्शक स्वयं (महिषः) महान् है, यह सुमुत्तु जीव (तृतीयं) तीसरे (धाम) लोक को अथवा इस कर्मबन्धन को पार करके प्राप्त होने योग्य परम ज्योति स्वरूप मोक्ष को (सिपामन्) प्राप्त करता हुआ, (विराजम्) विराट परमेश्वर की (ष्टुप्) स्तुति करता हुआ (अनु राजति) उसके अनुग्रह से आनन्द प्राप्त करता है और सद्गति को प्राप्त होता है ।

(३) (चमूपत्) अपनी प्रादुर्भाव-शक्तियों में पूर्ण रूप से विराजमान (श्येन) गतिशील आत्मा कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष मार्ग से गमन करने द्वारा, (शकुनः) शक्तिसम्पन्न, (विभूत्वा) समस्त लोकों में विहार करने में स्वतन्त्र होकर (गोविन्दुः) समस्त ज्ञान-रश्मियों और आदित्यमय लोक या परमब्रह्म को प्राप्त करने द्वारा जितेन्द्रिय या समस्त लोकों को प्राप्त करने द्वारा, (आयुधानि) सकल सामर्थ्यों को (विभ्रत्) धारण करता हुआ, (महिषः) महिमा में सम्पन्न, महत्त्व को प्राप्त होकर (अपा) समस्त लोकों के (ऊर्मिम्) प्रेरक (समुद्रं) समुद्र के समान एकमात्र उत्कृष्ट सब के आश्रय परमेश्वर को (स्तवमानः) भजन करता हुआ (तुरीयं) मोक्षस्वरूप (धाम) आनन्द को (विवक्ति) प्राप्त करता है । इस सूत्र में परमहंस की परमगति का स्पष्ट वर्णन है, ऐसे परम मुक्ति लाभ करने वाले को वेद गोविन्दु, शकुन, श्येन आदि नामों से,

पुकारता है । पौराणिकों ने गरुड़ गोविन्द, समुद्रशायी आदि की कल्पना इन्हीं शब्दों के आधार पर की प्रतीत होती है ।

[११७८] एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन् ।
^{३ १२ २२ ३ २ २ १२ २२ ३ १ २}

वर्धन्तो अस्य धीर्यम् ॥१॥
^{१ २ ३ ३ ३ ३ २}

[११७९] पुनानासश्चमूपदो गच्छन्तो वायुमभिवना ।
^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १ २}

ते नो धत्त सुवीर्यम् ॥२॥
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २}

[११८०] इन्द्रस्य सोम राघले पुनानो हाहो चोदय ।
^{३ २ ३ १ २ ३ १ २}

दवाना योनमासदम् ॥३॥
^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}

[११८१] मजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}

अनु विप्रा अमादिपुः ॥४॥
^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

[११८२] देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेध्यः ।
^{१ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

सं गोभिर्वासयामासि ॥५॥
^{३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २}

[११८३] पुनानः कलशेष्वो वस्त्राण्यारुपो हरि ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

परि गव्यान्वव्यत ॥६॥
^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

[११८४] मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप क्षिप्रः ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

इन्द्रो सखायमाविश ॥७॥
^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

[११८५] नृचक्षुर्ल त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वविदम् ।
^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

मजमिहि प्रजामिपम् ॥८॥
^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

[११८६] वृष्टिं विव पारस्व द्युम्नं पृथिव्या आध ।
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

सहो नः सोम पृत्सु धाः ॥९॥ २॥ ३० ॥ २-६ ॥

११७८—१. 'धत्तसुवीर्यम्', 'धत्तस्य योनि' इति 'नवम्याष्टम्यो ध्वन्ययः', अ० ।

भा०—(१) (एते सोमाः) ये सोम्यगुणसम्पन्न विद्वान्गण (अस्य) इन्द्र के (वीर्य) सामर्थ्य या यश को (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए, फैलाते हुए (इन्द्रस्य) ईश्वर के (प्रियं) उत्तम (कामम्) अभिलाषित धर्म, सृष्टि के उत्पादन, रक्षा और परोपकार आदि को (अचरन्) प्रकाशित करते हैं ।

(२) (चमूषद्) अपने ज्ञान ग्रहण शक्तियों में जितेन्द्रिय होकर विराजमान (पुनानास) पवित्र होते हुए (अधिना) प्राण और अपान दोनों और (वायुम्) सबके प्रेरक आत्मा को (गच्छन्तः) उपलब्ध करते हुए (तेन) उस परमेश्वर या अपने भीतरी इन्द्र स्वरूप आत्मा के बल पर (उ) ही (सुवीर्यम्) उत्तम यश, बल और सामर्थ्य को (धत्त) धारण करने हैं ।

(३) हे (मोम) साधक ! (राधसे) इन्द्रस्वरूप परमात्मा को आराधना के लिये (हार्दि) हृदय में विराजमान (देवाना) देवगण, इन्द्रियों तथा पञ्चभूतों के (आसदं) प्रतिष्ठास्थान और (योनिं) मूलकारण चित्ति शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर ।

(४) हे (सोम) योगिन् (स्वा) तुझको (दश) दश (क्षिपः) यम और नियम, या दश धर्मलक्षणा, या दश प्राण (मृजन्ति) पवित्र, परिशोधन करते हैं और (सप्त) सात (धीतयः) ज्ञानेन्द्रिय या मूर्धों में स्थित सप्त छिदों में प्रवाहित प्राणशक्तियों, या सात स्थानों में ललाई गई ध्यानवृत्तियाँ (हिन्वान्ति) तुझको पूर्ण आनन्दित करती, बढ़ाती हैं । (त्रिप्राः) ज्ञानी पुरुष तुझको लक्ष्य करके, तेरे अनुकूल होकर (अमादिपु) प्रसन्न होते हैं ।

(५) (देवेभ्यः) इन्द्रियगण या विद्वानों को (मदाय कं) आनन्दलाम करने और आनन्दकारी, ज्ञान से तृप्त करने के लिये (मेष्यः) आत्मा में

आनन्दरस वर्णन करने वाली प्राण शक्ति को (अति) पार करके (सृजान्) वर्तमान आत्मानन्दरस को (गोभि०) वेदवाणियों द्वारा (सं वासयामसि) आच्छादित करते हैं । उसका वेदवाणियों द्वारा वर्णन करते हैं ।

(६) (कलशेषु) हृदय प्रदेशों में (पुनानः) पवित्र होता हुआ (अरुषः) कान्तिमान् (हरिः) दुःखहारी, व्यापक आनन्दरस (गव्यानि) वेदवाणियों या प्राणों के वने (वज्राणि) आच्छादनों को (परि अन्यत) धारण करता है, उनसे परे चला जाता है ।

(७) हे (इन्द्रो) आत्मन् ! (मघोनः) सम्पत्तियों से युक्त ज्ञानवान् (नः) हमारे प्रति तू (आपवस्व) प्रकट हो । और (विश्वाः) समस्त (द्विषः) दूसरे के प्रति अप्रेम या द्वेष के भावों को (अप) दूर कर । (सखायम्) परम सखा परमात्मा में (आविश) प्रवेश कर, उसे प्राप्त कर ।

(८) हे (सोम) साधक आत्मन् (स्वर्त्रिदः) मोक्ष सुख को प्राप्त करने और जानने वाले (इन्द्रपीतं) ईश्वर के अनुग्रह से, या आत्मा के अपने ही रस से तृप्त (नृचक्षसम्) समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने वाले (त्वा) तुझको हम (भधीमहि) सेवन करें और (प्रजाम्) उत्तम सन्तान और (इयम्) यज्ञ, अन्न और सत् ज्ञान को भी (भधीमहि) प्राप्त करें ।

(९) हे (सोम) परमात्मन् (दिव०) अपने तेजमय प्रकाश से आकाश से मेघ के समान (पृथिन्याः अधि) पृथिवी के ऊपर (वृष्टिं) सुखों की वर्षा (परिस्रव) बरसा । और (शुम्नं) तेज, यज्ञ या धन और (सह०) सहन शक्ति, या बल को (नः) हमारी (पृत्सु) इन्द्रियों और प्रजाओं में (धा०) धारण करा ।

इति प्रथम खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११८७] सोम पुनानो अर्धति सहस्रधारो अत्यवि ।

३ १ २ २ ३ २
चाथेरिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११८८] पवमानमवस्यवा विप्रमभिप्रगायत ।

३ २ ३ १ २
सुष्वाणं देववीतये ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११८९] पवन्ते वाजसातये सोमा सहस्रपाजसः ।

३ २ ३ १ २
गृणाना देववीतये ॥३॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९०] उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरेष ।

३ १ २ ३ १ २
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥४॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९१] अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये ।

२ ३ १ २ ३ १ २
विचारमव्यमाशवः ॥५॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[११९२] ने न सहस्रिणं रयि पवन्तामा सुवीर्यम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्वाना देवास इन्द्रवः ॥६॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९३] वाथा अर्पतीन्द्रवोऽभि घत्सं न मातरः ।

३ १ २ २
तधन्विरे गभस्त्यो ॥७॥

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[११९४] जुष्ट इन्द्राय मत्सर पवमान कनिकदत् ।

१ ३ २ ३ १ २
विध्वा अप द्विपो जहि ॥८॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९५] अप घ्नन्तो अरात्रा पवमाना स्वर्दशः ।

१ २ ३ १ २
योनावृनस्य सीदत ॥९॥ ३॥ अ० ६ । १३ । १-९ ॥

भा०—(१) (सोमः) आत्मा, (पुनान) पवित्र करने हारा (सहस्रधारः) हजारों, अनेक अगणित शक्तियों से सम्पन्न होकर (वायोः) सर्वव्यापक (इन्द्रस्य) परमात्मा के (निष्कृतं) कर्म-बन्धनों से परे परम पद को (अत्यवि.) प्राण के आवरण को पार करके (अर्पति) प्राप्त होता है ।

(२) हे (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले विद्वान् लोगो ! (पवमानं) सब को पवित्र करने हारे (विप्रम्) विशेष ज्ञान से और आनन्द से सबको पूर्ण करने हारे, (देववीतये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (सुष्वाणं) उत्तम रूप से प्रकट होने हारे उत्तम ज्ञान को या प्रसव या उत्तम प्रेरणा करने हारे उस आत्मा को (अभि प्र गायत) लक्ष्य कर स्तुति करो ।

(३) (सहस्रपाजसः) सहस्रों ज्ञानों से युक्त, सहस्रों आत्मिक बलों से युक्त (सोमा.) शमदम आदि गुण से सम्पन्न विद्वान् गण (देववीतये) परमात्मा को प्राप्त करने के लिये (गृणानाः) उसकी स्तुति करते हुए (पवन्त) अपने आत्मा को पवित्र करत हैं ।

(४) हे (सोम) सबके उत्पादक ! (नः) हमें (वाजसातये) ज्ञान प्राप्त करने के लिये (बृहती. इष.) बड़ी २ प्रेरणायें, दीप्ति, शक्तियाँ (पवस्व) प्रकाशित कर । हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवान् ! हमें (शुमत्) दिव्य गुणों से युक्त (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्य भी दो ।

(५) (वाजसातये) ज्ञान और सुख के लाभ के लिये (हिराना.) प्रयत्न करते हुए (आशव) मोक्ष या ज्ञान मार्ग से भी शीघ्रगति करते हुए विद्वान् लोग (हेतुभि) साधनों से (अव्यं धारं) तामस या प्राकृतिक या प्राणमय आवरण को (वि-अति-असृग्रन्) पार कर जाते हैं ।

(६) (ते) वे (इन्द्रवः) योगीजन (देवायः) विद्वान् पुरुष (स्वानाः) साधना करते हुए (न.) हमारे लिये भी (सुवीर्यम्) उत्तम बलयुक्त, यश उत्पादक (सहस्रिण) हजारों तत्वा के प्रदर्शक (रायेम्) ज्ञान और ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्राप्त करें और प्रकट करें ।

(७) (वाश्वा०) उत्तम उपदेश करनेहार (मातरः) ज्ञान सम्पादन करने हारे (इन्द्रव०) विद्वानगण परमात्मा के प्रति इसी प्रकार (अर्षन्ति) जाते हैं जैसे (मातर० वत्सं न) गौवें अपने बच्चों के प्रति जाती हैं । और वे (गभस्त्यो) उसी प्रकार प्राण अपान दोनों के बल से अपने को (दधन्विरे) धारण करते हैं, स्थिर, दृढ़ बनाये रहते हैं ।

(८) हे (पवमान) परमपावनकारी ! तू (इन्द्राय) परमात्मा के स्त्रिये (जुष्ट०) प्रेम करने हारा साधक (मातरः) अपने ही में सदा सुप्रसन्न आत्मानन्द, स्वतः तृप्त (क्रनिकृद्) सबको समान भाव से उपदेश करके (विश्वाः) ममस्त (द्विष) द्वेष करने हारे प्राणियों को और द्वेष बुद्धियों को (जहि) नाश कर अर्थात् अज्ञात शत्रु हो जा ।

(९) हे (पवमाना) समस्त समार को अपने धर्माचरणों से पवित्र करते हुए, पक्लिपावन (स्वर्श०) मोक्ष सुख का दर्शन करने वाले आप लोग (अराभ्या) दान रहित, कदर्यवृत्तियों को (अप धनन्त) दूर करते हुए (ऋतस्य) सत्यज्ञान क (योनों) परम आश्रय, ब्रह्म में (सीदत) प्राप्त होवो ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:०—

[११६६] सोमा असुप्रमिन्द्रवः सुता ऋतस्य धारया ।

इन्द्राय मधुमत्तया ॥ १ ॥

[११६७] अभि विगा अनूयत गात्रो वत्सं न धेनवः ।

इन्द्रं सोमस्य पौत्रे ॥ २ ॥

[११६८] मदच्युत् पानि सावने सिन्धोरुर्मा त्रिपथित् ।

सोमा गौरी अभिश्रतः ॥ ३ ॥

३ १२ २२ ३ २ ३ १ ३
[११६६] दिवो नामा विचक्षणेऽव्या वारे महीयते ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २
सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥ ४ ॥

१२ २२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२००] यः सोमः कलशेष्वा अन्तः पवित्र आहितः ।

२३ ३ १ २
तमिन्दु परिष्वजे ॥ ५ ॥

२३ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१२०१] प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि ।

२ ३ १ २ ३ १ १
जिन्वन् कोशं मधुश्रुतम् ॥ ६ ॥

१ २ ३ २ ३ १ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२०२] नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सवर्दुधाम् ।

३ १२ २२ ३ २
हिन्वानो मानुषा युजा ॥ ७ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २
[१२०३] आ पवमान धारय रयि सहस्रवर्चसम् ।

३ १ २ ३ १ २
अस्मे इन्द्रो स्वाभुषम् ॥ ८ ॥

३ २ ३ २ ३ २ ३ २३ ३ १२ २२ ३ २
[१२०४] अभि प्रिया दिव कविर्विप्रः स धारया सुतः ।

१ २ ३ १ २
सोमो हिन्वे परावति ॥ ९ ॥ ४ ॥ अ० ६ । १२ । १-६ ॥

भा०—(१) (इन्द्राय) परमेश्वर के निमित्त (मधुमत्तमा.) अमृतमय ज्ञानों से सम्पन्न (अतस्य) सत्य ज्ञान की (धारया) धारा, व्यवस्था, या वाणी से (सुता) प्रेरित हुए (इन्द्रव) ज्ञानैश्वर्यादि से सम्पन्न सब के आह्वानक (सोमाः) शुभ गुणों से युक्त विद्वान् लोग (असृग्मम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (वसं न) जिस प्रकार बछड़े के प्रति (धेनवः) दूधार (गावः) गौएँ हंभारती हैं, प्रेम से उसको अपने प्रति धुलाती हैं उसी प्रकार (सोमस्य पीतये) ज्ञानरस का पान करने के लिये (इन्द्रं)

अपने आत्मा और ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (विप्रा०) मेधावी लोग प्रेम से (अनूपत) स्तुति करते हैं, उसके सत्यगुणों का स्मरण करके उस को पुकारते हैं ।

(३) (विपश्चित्) ज्ञान और कर्म फल का सन्चय करने वाला, (मदच्युत्) हर्ष और आनन्द का जनक, (सोमः) शमादि सम्पन्न, विद्वान् पुरुष, (गौरी) वेदमयी धार्या में (अधिश्रितः) आश्रय पाकर (मदच्युत्) ज्ञानी होकर (सादने) अपने आश्रय देने वाले (ऊर्मौ) ऊर्ध्व गति की तरफ़ लेजाने हारे (सिन्धौ) सिन्धु के समान सब को गति देने, सबको बांधने और अपने में आश्रय देने हारे, प्राणों के प्राण और ज्ञान के समुद्र परमात्मा में (हेति) निवास करता है ।

(४) (विचक्षणः) विशेष तत्त्व का द्रष्टा, (कवि) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (सुक्रतु) उत्तम प्रज्ञावान्, (दिवः) समस्त द्यौलोक को (नामौ) अपनी शक्ति में बांधने वाले (अव्याः चरे) महान् प्रकृति को भी आचरण करने हारे परमात्मा या प्राण के बने अन्तःकरण में (महीयते) महात्मा को प्राप्त करता, बड़ी शक्ति प्राप्त करता है ।

(५) (य०) जो (सोम०) आनन्दमय परमात्मा (कलशेषु) अन्तःप्राप्त देहों में अन्तर्यामी होकर विराजता और (पवित्रे) पवित्र हुए आत्मा के बीच (आहितः) विशेष रूप से प्रकट होता है (तम्) उसको (इन्दु०) ज्ञानी पुरुष, जीव (परि सत्त्वजे) जा चिपटता है, आश्रय कर लेता है, उसमें प्रविष्ट होता है ।

(६) (इन्दुः) ज्ञानी पुरुष (समुद्रस्य) समस्त आनन्द-रसों के सागर परमेश्वर के (अधिविष्टपि) परम तेज या ज्ञानरूप परमपद में विराजमान होकर (मधुरचुतम्) परम आनन्दरस को देने हारे, आनन्दमय (कोश) कोश को (निम्बन्) प्राप्त करता हुआ, मधुमय पुष्प कोशः

को प्राप्त भौरे के समान (वाचं) स्तुतिमय वेदवाणी के उत्तम ज्ञान को (इष्यति) प्राप्त करता है ।

(७) (वनस्पति०) समस्त लोकों का स्वामी (नित्यस्तोत्र०) नित्य-स्तुतिकर्ता ज्ञानी, (युजा) योग सम्पादन करने हारे (मानुषा) मनुष्यों के (अन्तः) भीतर (सवर्द्धुधाम्) सुख, परमानन्द रस का दोहन करने वाली (धेना) सरस्वती या आनन्द पान कराने वाली ज्ञानमयी चित्ति शक्ति को (हिन्वान०) प्रेरण करने और उसके बल को बढ़ाने द्वारा है ।

(८) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! हे (इन्द्रो) तेज-स्वरूप ! (सहस्रवर्चमम्) सहस्रों दीप्तियों से युक्त, (स्वामुधम्) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न, (रथि) ऐश्वर्य और बल को (अस्मे) हमें (धारय) धारण करा ।

(९) (कवि०) क्रान्तदर्शी, (सुतः) ज्ञानसम्पन्न ! विद्वान् (परावति) परम रक्षास्थान, परमात्मा में स्थित होकर (विप्रः) मेधावी (धारया) परमात्मा से प्राप्त अपनी धारणा शक्ति या रसधारा से (सः) वह (दिव) सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल (भिया) अति उत्तम कान्तियुक्त लोकों में (अभि हिन्वे) विहार करता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२०५] उच्चे शुष्मास ईरने सिन्धारुर्नेरिच स्वनः ।
३ १ २ ३ २

वाणम्य चोदया पविम् ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ १
[१२०६] प्रमवे न उदीरने तिस्रो वाचो मखस्युवः ।
२ ३ ३ २ ३ १ २

यदव्य एषि सानवि ॥ २ ॥

^{२ ३ २ ३ १ २ ३ ५ २ २ ३ १ २}
[१२०७] अग्न्या वारैः परि प्रिय हरिं द्विन्वन्त्यादिभिः ।

^{१ २ ३ १ २}
पवमानं मधुश्चुतम् ॥ ३ ॥

^{१ २ ३ ३ २ १ २}
[१२०८] आगवन्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे ।

^{३ २ ३ १ २ ३ १ २}
अर्कस्य यानिमासदम् ॥ ४ ॥

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}
[१२०९] स पवस्व मदिन्तम गोभिरक्षानो अकुभिः ।

^{१ २ ३ १ २}
एन्द्रस्य जठरं विश ॥ ५ ॥ ५ ॥ अ० ६। ५०। १-५ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (सिन्धोः) नदी या समुद्र के (ऊर्मैः) उमड़ने वाले तरङ्ग का (इव) जिस प्रकार (स्वनः) ध्वनि (उत् ईरते) उठता है उसी प्रकार (ते) तेरे (शुष्मामः) बल और शक्तियों के तरङ्ग भी सर्वत्र उठते हैं, प्रकट होते हैं । तू (वायस्य) इस ससार या इस शरीर के (पवि) वाणी या प्रवर्तक शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर ।

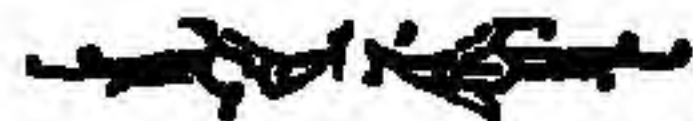
(२) (ते) तेरे (प्रसवे) प्रकट होने पर (मलस्युवः) तेरी अर्चना के इच्छुक भक्तजन की (तिस्र वाचः) तीनों प्रकार की वेदवाणियाँ ज्ञानमय गानमय और कर्ममय, अक्, साम, यजु. स्वरूप उस समय (उत् ईरते) उठती हैं, प्रकट होती हैं । जब तू (अस्ये) चितिशक्ति या प्राण के बने (सानौ) उद्यत मस्तक देश या आनन्द प्रकट करने वाले अन्तःकरण में (एपि) धारणा द्वारा प्रकट होता है ।

(३) विद्वान् लोग (प्रियं) नृसिंहर, उत्कृष्ट, (हरिं) दुःखों को दूर करने वाले, (पवमानं) हृदय को पवित्र करने वाले, (मधुश्चुतम्) अमृतरस को चुआने वाले उस प्रभु को (अदिभिः) योगसाधनों या गुरुओं, ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट साधनों से (अग्न्याः वारैः) चितिशक्ति की वृत्तियों धारणा और निदिध्यासनादि व्यापारों द्वारा (द्विन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, उत्पादन करते हैं ।

(४) हे (मदिन्तम) सबमे अधिक आनन्द प्राप्त करनेहारे आत्मन् !
हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वन् ! (अर्कस्य) प्रकाशमान परमात्मा के
(श्वेति) परम स्थान को (आसद) प्राप्त होने के लिये (धारया)
अपनी धारणा शक्ति या वाणी से (पवित्रं) स्वच्छ, शुद्ध, उस पतितपावन
के प्रति (आपवस्व) गति कर, उसकी तरफ लौट जा उसकी स्तुति कर ।

(५) हे (मदिन्तम) आनन्द प्रदान करने हारे आत्मन् ! (अ-
क्तुभि) ज्ञान-साधनों और (गोभिः) आदित्यरश्मियों, वेदवाणियों द्वारा
(अम्नान्) अभिव्यक्त और भी प्रकाशमान होकर (सः) वह परम
रूप होकर (पवस्व) चरित हो, गति कर, उद्योग कर और (इन्द्रस्य)
ऐश्वर्यशील परमात्मा के (जठरे) भीतर गर्भ में (विश) प्रवेश कर,
उसी में रम ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



उ २ उ १२ २४ उ १ २ उ २ उ २
[१२१०] अया वीती परिस्त्रव यस्त इन्द्रा मदेष्वा ।

उ १ २ उ १२ २
अवाहस्त्रवतीर्नव ॥ १ ॥

१ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[१२११] पुरः सद्य इत्था धिये दिवा दासाय शंवरम् ।

२ उ २ उ २ उ १ २
अथ त्वं तुर्वशं यदुम् ॥ २ ॥

१ २ उ १ २ उ १२ २४ उ १ २
[१२१२] परि नो अश्वमश्वविद्गोमदिन्द्रो हिरण्यवत् ।

१ २ उ २ उ १ २
क्षरा सहस्रिणोरिप ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० । ६ । ६१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६५] पृ० २४६ ।

(२) हे सोम ! (इत्था धिये) सत्य प्रज्ञानों से युक्त और सत्यकर्मा
(दिवोदासाय) सूर्य के समान ज्ञानमय प्रकाश में निवास करनेहारे, जीवन्मुक्त
पुरुष के लिये (शंवरं) सुख, कल्याण के विनाशक उस (तुर्वशं)

हिंसक स्वभाव, क्रोध और (यद्गुं) नियम करने योग्य काम को (अध) भी (अध्व अध्वन्) नाश करता है ।

(३) हे (इन्दो) रसरूप आत्मन् ! (अश्वविद्) इन्द्रिय और मन को उत्तम रूप से लाभ करने हारा, (गोमत्) ज्ञानेन्द्रियों और (हिरण्यवत्) हरणशील प्राणेन्द्रियों से युक्त (अश्वं) मन को वश करके (नः) हमें (सहस्रिणीः) सहस्रों प्रकार से वर्तने वाली या बलवती (ह्यः) कामनाओं को (चर) पूर्ण कर ।

[१२१३] अपघ्नन् पवते मृधोप सोमो अराव्णः ।

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

[१२१४] महो नो राय आभर पवमान जहि मृधः ।

रास्वेन्दो धीरवद्यशः ॥२॥

[१२१५] न त्वा शनं चन हुतो एधो दित्सन्तमामिनन् ।

यत् पुनानो मखस्यसे ॥३॥७॥ अ० ६ । ११ । २५-२७ ॥

भा—(१) (सोम) परमात्मा (इन्द्रस्य निष्कृतं गच्छन्) जीव आत्मा के यन्त्रित अन्तःकरण में प्रकट होना हुआ (अराव्णः मृधः) सुख न देने हार, दुःखदायी कारणों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (पवते) प्रकट होता है ।

(२) हे (पवमान) हे सबको पवित्र करने हारे परमात्मन् ! (नः) हमें (रायः) नाना प्रकार की धन धान्य सम्पदाएं (आभर) प्राप्त करा । (मृधः) हिंसक शत्रुओं को (जहि) नाश कर । हे (इन्दो) ऐश्वर्यशील हमें (धीरवत्) पुत्र पौत्रों से युक्त (यशः) यश और सम्पत्ति का (रास्व) दान कर ।

(३) हे (सोम) परमात्मन् ! या आचार्य ! उपदेशक ! विद्वन् ! (राधः) ज्ञानरूप साधनों का ज्ञानोपदेश (दित्सन्तम्) करने की इच्छा

बाले (स्वा) आपको (शतं चन) सैकड़ों भी (हुनः) कुटिलाचारी हिंसक पुरुष (न अभिनन्) नहीं मार सकते । (यत्) क्योंकि पुनान्) सबको पवित्र करते हुए आप (सखस्यमे) सबको ज्ञान का प्रदान करना चाहते हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २

[१२१६] अया पवस्त्र धारया यया सूर्यमरोचयः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २
दिन्यानां मानुषीरपः ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[१२१७] अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावयि ।

३ १ २ ३ १ २
अन्तरिक्षेण यातवे ॥२॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२१८] उत त्या हरतो रथे सूर्यो अयुक्त यातवे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २

इन्द्रुरिन्द्र इति स्रुवन् ॥३॥ अ० ६ ६३ । ७-६ ।

भा०—(१) क्याख्या देखो अविकल सं० [४६३] पृ० २४६ ।

(२) (पवमानः) आत्मा को पवित्र करने द्वारा (सूरः) सूर्य के समान ज्ञानी (मनौ) मननशील चित्त में (अन्तरिक्षेण) भीतर के हृदयाकाश में, या परमसुख, या मोक्ष मार्ग में (यातवे) जाने के लिये (एतशं) अश्व के समान गमन साधन मन को (अयुक्त) योगसमाधि द्वारा ईश्वर से मिला, उसके प्रति जाँवें ।

(३) (इन्द्रुः) ईश्वर के प्रति द्रुतगति से जाने द्वारा (सूरः) ज्ञानी, योगी (उत) भी (त्या हरितः) उन हरणशील प्राणों को (इन्द्रुः) 'परमेश्वर ही (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् हैं' इति इस प्रकार (स्रुवन्) कहता हुआ (रथे) अपने रमण करने योग्य परब्रह्म में ही आपको (अयुक्त) योगसमाधि से जाड़ दे ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[१२१६] अग्निं चो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

कृणुध्वम् । या मर्त्येषु निधुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः
२ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

पावकः ॥१॥

[१२२०] प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा मद्ः संवरणाद्व्यस्थात् ।
२ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

आदम्य वानो अनुवानि शोचिरथ स्म ते व्रजनं कृष्ण-
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १

मस्ति ॥२॥

[१२२१] उद्यम्य ते नवजानस्य वृ शोऽग्ने चगन्त्यजरा इध्राना ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

अच्छा घामरुषो धूमपवि सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान्
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

॥३॥ ६॥ अ० ७ । ३ । १-३ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् गण ! (व०) आप लोग (अग्निभिः)
सूर्यादि अग्नियों के समान प्रकाश करने हारे विद्वानों के साथ (सजोषाः)
समान रूप से प्रेम करने हारे, निष्पक्षपात, (यजिष्ठ) दानशक्ति पुण्यकर्मा
(अग्निम्) तेजस्वी, अग्निसम, विद्वान को (अध्वरे) हिसारहित धर्म
कार्यों और व्यवहारों में (दूत) दूत के समान अपना संदेशहर (कृणु-
ध्वम्) बनाओ (यः) जो (मर्त्येषु) मनुष्यों में (निधुवि) सूब स्थिर
निश्चय वात्ता, धैर्यवान् (ऋतावा) सत्याचारी, सत्यकर्मा, (तपुः) तपस्या
युक्त सहनशील और राजाओं को तापकारी, (मूर्धा) सब में शिर के
समान मुख्य और (घृतान्न) तेजस्वी, सात्विक भोजन करने हारा
(पावकः) पवित्रकारी है । अध्यात्मपक्ष में-शेष अग्नियों, इन्द्रियादि सात
उच्चात्तार्चियों से युक्त उस अग्नि, ज्ञानवान् आत्मा को अपने जीवन रूप
अध्वर=यज्ञ में दूत, उपदेशक या मार्गदर्शी, प्रेरक बनाओ जो मरणधर्मों
पुरुषों में भी आत्मा रूप से अचक्षु सत्यज्ञानी, तपस्वी, मूर्धन्य, तेजस्वी और

हृदय को पवित्र करने द्वारा है । परमात्म पक्ष में—(अग्निभिः सजोषा)
सूर्यादि समस्त तेजों में भी व्यापक (घृताश्रः) तेजोयुक्त समस्त हिरण्य-
गर्भादि लोकों को प्रलय काल में अपने में लीन करने द्वारा (तपुः) सब
का तापक, (पावकः) सब का शोधक, (निधुविः) नित्य ध्रुव (अतावा)
सत्य स्वरूप, सत्योपदेष्टा है उसको अपने समस्त कार्यों में ज्ञानदाता
'गुरु समझो ।

(२) (प्रोथन्) शब्द करता हुआ (अश्वः न) अश्व जिस प्रकार
(अविप्यन्) भोजन करने की कामना से (यवसे) घास पर जाता है
उसी प्रकार (यदा) जब (मह) महान् श्रेष्ठ (संवरणान्) संवरण
निरोधस्थान या वरण योग्य उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम, या गुरुगृह से अपने यश
और धनादि प्राप्ति और गृस्थादि भोग्य आश्रमों के लिये (वि अस्थात्)
बाहर आता है और (आत्) अनन्तर (अस्य) इसके (शोचिः) तेज
के (अनु) अनुकूल (वातिः) प्राण भी (वाति) गति करता है (अध)
तब ही हे विद्वान् ! (ते) तेरा (व्रजन) मार्ग या गमन करना (कृष्णम्)
समस्त लोकों को अपनी ओर आकर्षण करने वाला (अस्ति) होता है ।
ब्रह्मचर्य करने के बाद गृहस्थ में भी उत्तम सदाचार और स्वस्थता से व्यव-
हार और जीवन यापन करने वाले विद्वानों के जीवनपथ पर दुनिया भी
खिंची चली आती है । मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः । गीता ।

(३) हे अग्ने ! (नवजातस्य) सावित्री के गर्भ से अभी नये ही
बाहर आये नवस्नातक, (वृष्णः) ज्ञानों के वर्पण करने वाले (यस्य ते)
जिस तेरे (अजरा) जरारहित होकर बलवान् प्रखर, (इधाना) तेजः
(उच्चरन्ति) प्रकट होते हैं । और (अरुपः) कान्तिमान् (धूमः) प्रति
पक्षियों में कम्पना उत्पन्न करने द्वारा होकर (धाम्) सूर्य या तेज प्रका-
शक और ज्ञान को (एषि) प्राप्त करता है वह तू हे (अग्ने) ज्ञानवन् !
(देवान्) विद्वानों के प्रति (दून्) ज्ञान संदेश ले जाने के लिये दूत या

गुरु के समान उन तक (ईयसे) पहुँचता है । साधक की आत्मा के भीतर जब नया श्रुतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है उस समय विशोक चितिशक्ति या प्रदीप्त आत्मा की जो दशा होती है उसका भी वर्णन इस तीनों मन्त्रों में साथ ही किया है । तीसरे में—अजरा=प्राणगण । धूम=प्राणों को गति देने हारा आत्मा । दूत=गतिशील, प्रेरक आत्मा । देवान्=इन्द्रियों को । ईयसे=प्राप्त होता है, वश करता है । शेष स्पष्ट है ।

१४ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२२२] तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।

१ २४ ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥

१ ३ १२ २४ ३ १२ २४ ३ १२ २४ ३ २
[१२२३] इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठ स वल हितः

३ २ ३ २४ ३ २
शुम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥

३ २४ २ १२ २४ ३ १ २ ३ १ २
[१२२४] गिरा वज्रो न सम्भूत स वल्लो अनपच्युतः ।

३ २ ३ १२ २४
ववक्ष उग्रा अस्तूनः ॥३॥१०॥ अ० ८ । ६३ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अथिकल सं० [१३६] पृ० ६४

(२) (सः) वह (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर (दामने) समस्त सुख देने में (कृतः) समर्थ, (ओजिष्ठ) सबसे अधिक बलशाली होने के कारण (सः) वह (वल्लः) बल योग्य, संसार के उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि विशाल कार्य में (हित) लगा हुआ है । वही (शुम्नी) यशस्वी, (श्लोकी) वेदमय स्तुतियों से युक्त और (सोम्यः) उत्तम गुणों से सम्पन्न है ।

(३) (सः) वह (वल्लः) बलवान् (अनपच्युतः) कभी अपने कर्त्तव्य जगत् रचनादि कार्यों से न दिगने वाला (उग्रः) दुर्जनों के प्रति

अति उग्रस्वभाव (अस्तृतः) कभी न हिंमित (वज्र. न) विघ्न नाशक
आयुध के समान (गिरा) वेदवाणी द्वारा (सम्भृ-न.) उत्तम रीति से
धारण किया गया (ववत्ते) संसार का धारण करता है ।

इति पष्ठः खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१२२५] अद्यर्यो अट्टिमि सुन सोम पवित्र आनय ।

३ १ २ ३ १ २
पुनाहीन्द्राय पानवे ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ कर १२
[१२२६] तव त्य इन्द्रो अन्यसो देवा मधोऽमृत ।

१ २ ३ १ २
पवमानस्य भूरुतः ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२२७] दिव पीयूषमुत्तम सोमोऽमृताय वज्रिण ।

३ २ ३ १ २
सुतोता मधुमत्तमम् ॥३॥ ११ अ० ६ । ५१ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल म० [४६६] पृ० २४८ ।

(२) हे (इन्द्रो) सोम ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (पवमानस्य) पवित्र
करने द्वारे, या स्वयं पवित्र, (मधो) अमृतारसस्वरूप ते) तेरे (अन्धम.)
जीवन धारण करने की शक्ति या उपभोग्य आनन्दारस का (त्ये) वे (म-
रुत) प्राणस्वरूप (देवा) देव अर्थात् तेजस्वी सूर्य आदि और विद्वान्जन
(वि आगत) विविध प्रकार से उपभाग करते हैं ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आग लाग (दिव पीयूषम्) आकाश को
आनन्द में भर देने वाले, चन्द्रालोक के मनाने अग्नि शब्ददातृजनक, ज्ञान-
स्वरूप प्रकाश के (पीयूषम्) अमृतारपम्बर, (मधुमत्तम्) अग्नि मधुर,
आनन्दकारी, (सोमम्) आनन्दारस को (वज्रिण) ज्ञान और वैराग्य रूप
वज्र के धारण करने द्वारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये । सुतोता, उत्पन्न करे ।

१२२५—१. 'पुनाहीन्द्राय' श्रि. न० ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मानन्द के साधक मुमुक्षो ! हे (पवमान) हृदय को पवित्र करने हारे ! तू (तविष्यमाणः) महान् सामर्थ्यवान् होकर (इन्द्रस्य) परमात्मा के (जठरेषु) बनाये हुए या प्राणियों को उत्पन्न करने हारे लोकों में (ऊर्मिणा) ऊर्ध्वगति द्वारा (आविश) प्रविष्ट हो । (विद्युत् अम्ना इव) जिस प्रकार विद्युत् उत्पन्न होकर मेघों को जल बरसाने के लिये पूर्ण करती है उसी प्रकार तू (रोदसी) प्राण और अपान दोनों को पूर्ण कर और (न) हमारे लिये (शश्वतः) बहुत से (वाजान्) बलों और ज्ञानों को (उप माहि) उत्पन्न कर ।

१ २ ३ २४ ३ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २

[२१३१] यादेन्द्र प्रागपाशुदग्न्यग्वा ह्यसे नृभि ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ ३ १ २

सिमा पुरुनृषूने। अस्यानवसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३२] यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

कण्वालस्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्यागहि

॥२॥१३॥ अ० ८ । ४ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७६] पृ० १३४ ।

(२) हे इन्द्र ! आप (रुमे) रमणीय, (रुशमे) हिंसक (श्यावके) गतिमान और (कृपे) सामर्थ्यवान् पुरुष में (सचा) समान भाव से (मादयसे) आनन्द और हर्ष को प्राप्त कराते हो । (ब्रह्मवाहसः) ज्ञान धारण करने हारे (कण्वासः) मेधावी पुरुष (त्वा) तुमको (स्तोमेभिः) अपनी स्तुतियों द्वारा (यच्छन्ति) बाधते हैं, वश करते या प्राप्त होते हैं । तू (आगहि) आ, दर्शन दे । यहां आत्मा के प्रति सम्बोधन करके कहा गया है । 'रुम,' 'रुशम,' 'श्यावक' और 'कृप' ये चार शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों प्रकार के स्वभावों को दर्शाते हैं । 'जात पात पूछे नहीं कोई हरिको भजे सो हरिको होई ।'

उ १ २ ३ १ २ उ १ २ उ १ ३ १ २ २
 [१२३३] उभयं शृणुवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
 उ १ २ ३ २ ३ १ २ उ १ २ २ ३ १ २
 सत्राज्या मघवान्तसोमपीतयं धियां शविष्ठ आगमत् ॥१॥
 उ ३ १ २ उ १ २ २ ३ १ २ उ १ २
 [१२३४] तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिपये निष्टनक्षतुः ।
 उ १ ३ २ उ १ २ २ ३ १ २ उ १ २ उ १ २
 उनोपमाना प्रथमो निपीदसि सोमकामं हि ते मनः ।
 ॥ २ ॥ १४ ॥ अ० ८ । ६१ । १, २ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो आर्विकल सं० [२६०], पृ० १४८ ।

(२) (हि) क्योंकि (तं) उस (स्वराज) स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वतः सयके प्रकाशक, (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक, परमेश्वर को (धिपये) आकाश और पृथिवी (ओजसा) अपने बल से (निःस्तक्षतुः) धारण करती हैं । हे प्रभो ! तू (उपमाना) ज्ञानयोग्य अथवा अपने बनाये समस्त पदार्थों के भी (प्रथमः) प्रथम ज्ञानोपदेश करने द्वारा या रचने द्वारा होकर उनमें (निपीदसि) गुप्तरूप से व्यापक है । (ते) तेरे (मनः) मन, संकल्प या ज्ञान सामर्थ्य सदा (सोमकामं हि) सबको प्रेरणा करने वाला, सबका उत्पादक, इच्छामय कारणरूप संकल्प मात्र है ।

‘सोऽकामयत बहु स्या प्रजायेय’ इत्यादि प्रकार का सृष्टि रचने का भगवान् का संकल्प समस्त पदार्थों में व्यापक है, जो सर्वत्र अद्भुतरूप से स्थावर, जंगम एवं दिव्य सृष्टियों को बराबर बनाता है और उन सबमें भगवान् स्वतः व्यापक भी है । (तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सर्वं त्यक्त्वाभवत् निरुक्त चानिरुक्त च । इत्यादि (तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द चक्षी २ । अनु० ६ ।) आकाश और पृथिवी परमारमा को अपने भीतर धारण करती हैं । जैसे (सुण्डकोपनि० २ सु० व० १. क० ४) “अग्निमूर्धा, चतुषी चन्द्र-

२२३३—२, ‘तमोजसे’ इति क० ।

सूर्यो दिशः श्रोत्रे, वाग्बिवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्या पृथिवी, शेष सर्वभूतान्तरात्मा" । अथवा छान्दोग्य में, वैश्वानर प्रकरण में-
 "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धेन सुतेजाश्चतुर्भिश्चरूपः प्राणः पृथ-
 ग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो, वस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लो-
 मानि हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वहार्यपचनः आस्थमाहननीयः ।" (छा० उप०
 अ० ५ । सू० १७) अथवा स्वयं वेद श्रुति—'यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतो
 दरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।" (अथर्व० का० १० ।
 सू० ८ । म० १)

इति सप्तमः खण्डः ।

[१२३५] पवस्व देव आयुषाभिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।

वायुमारोह धर्मणा ॥ १ ॥

[१२३६] पवमान नि तोशसे रयि सोम अवाप्यम् ।

इन्द्रो समुद्रमाविश ॥ २ ॥

[१२३७] अपमन् पवने मृधः क्रतुवित्साम मत्सरः ।

नुदस्वा देवयुं जनम् ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ६ । ६३ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविश्ल सं० [४८३] पृ० २४२ ।

(२) हे (पवमान) सोम ! विद्वन् । आप (अवाप्यं) यश और कीर्ति के
 जनक अथवा वेद द्वारा अवण करने योग्य (रयिं नितोशसे) आत्मज्ञान
 रूप ऐश्वर्य का प्रदान करते हो एवं अभ्यास करते हो । अतः हे (इन्द्रो)
 ज्ञान-प्रकाशक ! आप (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर, अगाध, ज्ञानमय
 परमज्ञान में (आविश) प्रवेश करें ।

१२३५—'प्रिय. समुद्र' इति श्रु० ।

(१) जन्माद्य संदिताद्यु 'गतात् पक्षे मृप.०' स्थापदेव ननुक्तोक्त-
 मुपलभ्यते ॥

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६२] पृ० २४५ ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३८] अभी नो वाजसातमं रयिमर्षं शनस्पृहम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्दो सहस्रमर्षं सन्तु विद्युम्नं विभासहम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३९] वयं ते अस्य रावसां वसोर्वसो पुरुस्पृह' ।

१ २ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

नि नेदिष्ठतमा इपः स्याम सुम्ने ते अधिगो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २

[१२४०] परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्यं मद्व्युतः ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ २ ३ २

धारा य ऊर्ध्वो अक्षरे अजा न याति गव्ययुः ॥३॥१६॥

अ० ६। ६८। १, ५, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१४६] पृ० २७५ ।

(२) हे (अधिगो) ध्रुव ! सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! हे (वसो)

सबके अन्तर्यामिन् ! (वय) हम लोग (ते वसो.) सब को वास देने
हारे और सब में बसने हारे तेरे (पुरुस्पृहः) सब को प्रेम करने-हारे
और सब के प्रेमपात्र (अस्य रावसाः) इस आराधनीय (इपः) सब के
प्रेरक, सब के इच्छा के विषय, जीवन और अन्नादिक शक्तिस्वरूप के
(नेदिष्ठतमाः) अति निकटवर्ती होकर हम (ते सुम्ने) तेरे सुखमय स्वरूप
में (नि स्याम) रहें ।

(३) (यः) जो (इन्दुः) सोम अर्थात् वीर्य, (गव्ययुः) गौ-
इन्द्रियों में व्याप्त होने वाला या इन्द्रियों की शक्ति से युक्त (न) जिस-
प्रकार (अजा) अपनी दीप्ति से, (अक्षरे) हिसारहित जीवन या

१२३८—अन्यासु संहितासु प्रतीकमात्रम् अभी नो वाजसातम० ।

१२३९—'वयं ते अस्य पृथङ् नसो वस्वः पुरुस्पृहः'... 'स्याम सुम्नस्याधिगो' ।

१२४०—'परिसुवानो अक्षरः' 'अजानेति' इति श्रु० ।-

प्राणायाम और योगसमाधि रूप यज्ञ में (धारा) धारण सामर्थ्य का निष्ठा या दायीरूप से (कर्त्तव्य) ऊर्ध्व प्रदेशों में (याति) गमन करता है । (स्यः) वही (स्वानः) पुनः सूक्ष्म नाडीजालों में चरित होकर (मदच्युतः) आनन्दरूप अमृत का स्रवण करता हुआ (इन्दुः) कान्तिमान् होकर (अभ्ये) प्राणमय कोश में बल से (अघरद्) चरित होता या प्रकट होता है ।

१२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[१२४१] पवस्व सोम महान्तस्तमुद्रः पिता देवानां विश्वाभिग्राम॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१२४२] शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिव पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१२४३] दिवो धर्त्तासि शुक्र. पांयूष. सत्ये विघ्नर्मन् वाजी पवस्व
॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ६ । १०६ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अधिकृत सं० [४२६] पृ० २१६।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्र) शुद्धस्वरूप, कान्तिमान् (दिवः) आकाश और दिव्य, जाज्वल्यमान सूर्य में तेजःस्वरूप होकर (पृथिव्यै) पृथिवी में जलस्वरूप और अन्नस्वरूप होकर (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं के लिये अन्न, औषधि और धीर्यरूप होकर (शं) कल्याणकारक, शान्तिदायक और आनन्ददायक है ।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्र) तेजःस्वरूप, शुक्ल, कान्तिमान् (दिवः) सूर्य को भी (धर्त्ता) धारण करने द्वारा, (सत्ये) सत्यस्वरूप (विघ्नर्मन्) विश्व को नाना रूप से धारण करने वाले परमेश्वर में- (पांयूषः) समस्त जीवों द्वारा पान करने, उनको तृप्त कर अनुकूल संवेदन करने योग्य, अनन्त आनन्दस्वरूप, (वाजी) बलवान्, ऐश्वर्यवान् होकर (पवस्व) प्रकाशित हो ।

इति अष्टम खण्डः ।

[१२४४] प्रेष्टं चो अनिधिं स्तुपे मित्रमिव प्रियम् ।

अग्रे रथं न नेष्टम् ॥ १ ॥

[१२४५] कविमिव प्रशंस्यं य देवास इति द्विता ।

नि मर्त्येष्वदधुः ॥ २ ॥

[१२४६] त्वं यविष्ठ दाशुषो नृः पाहि शृणुही गिरः ।

रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ३ ॥ १८ ॥ अ० ८ । ८४ । १-३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५] पृ० ३ ।

(२) (देवामः) विद्वान् लोग (प्रशंस्यं) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, (कविम् इव) कान्तदर्शी, मेधावी के समान (इति) इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से (यं) जिसको जानकर (द्विता) दो रूपों में (मर्त्येषु) मनुष्यों में (नि-आदधुः) धारण करते हैं ।

विद्वानों की दृष्टि में आत्मा के दो रूप हैं—एक समस्त संसार में व्यापक सर्वमाही परमेश्वर और दूसरा कर्मकर्ता और फल भोक्ता जीव दोनों का सामान्य नाम 'आत्मा' है ।

(३) हे (यविष्ठ) सब में व्यापक ! सबसे अधिक शक्ति वाले ! (त्वं) तू (दाशुष) दानशील, उदार होकर (नृन्) मनुष्यों को (पाहि) पालन कर । (गिरः) स्तुति वाणियों को (शृणुहि) श्रवण कर । (उत) और (त्मना) स्वयं अपने सामर्थ्य से (तोक) बालक या उसके समान कार्य जगत् की (रक्ष) रक्षा कर ।

[१२४७] एन्द्रो नो गधि प्रिय सन्नाजिदगोह्य ।

गिरिर्न त्रिध्वतः पृथुः पतिर्द्विधः ॥ १ ॥

१२४४—२. 'कविमिव प्रचेतसं', 'अथ द्विता' ३. 'शृणुही गिरः' इति क० ।

३ १२ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२४८] अभि हि सत्य सोमपा उमे वमूथ रोदसी ।

२२ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २ ॥

१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
[१२४९] त्वं द्वि शश्वतीनामिन्द्र दत्ता पुरामसि ।

३ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
हन्ता दस्योर्मनो वृधः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥ १६ ॥

श्रु० ८ । ६८ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६३] पृ० २०२ ।

(२) हे (सत्य) सत्यस्वरूप परमात्मन् ! (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवान् ! आप (सोमपाः) समस्त ससार के पालन करने वाले, प्रलय काल में सब संसार को स्वयं सूक्ष्म कारण रूप में अपने भीतर पान अर्थात् लीन करने हारे हो । आप (उमे) दोनों (रोदसी) लोकों को या उत्पत्ति और विनाशरूप दोनों मर्यादाओं को (वमूथ) वश करने में समर्थ हो । आप (सुन्वत) उत्पन्न होते या अपनी शक्ति से प्रेरणा करते हुए (दिवः) सूर्य या प्रकाश को भी (वृधः) बढ़े मारी, बढ़ानेहारे (पतिः) मालिक हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! आप (शश्वतीनां) अनादिकाल, 'से चले आये' (पुराम्) देहरूप पुरों के (दत्ता) दारण करने हारे, 'सुक्रिदायक (असि) हो । (दस्योः) नाशकारी अज्ञान के (हन्ता) नाश करने वाले और (मनोः) मननशील ज्ञानी आत्मा के (वृधः) बढ़ाने वाले और (दिवः) सूर्य तथा उसके समान देवीप्यमान आदित्य योगी पुरुषों और ज्ञानी और ज्ञान-प्रकाश के भी (पतिः) स्वामी हो ।

१२४७—३. धर्त्ता पुराम् इति पाठः सायणसम्मतः । परमार्थतस्तु सायणोऽपि

‘दारयिता इत्येव’ पर्यायमुल्लिखति । मुम्बई, अजमेरादिमुद्रितो ‘धर्त्ता’

इति पाठस्तु भाष्यकृद्भिरनादृतः । ‘पुराम्भिन्दुरित्वादिभ्यस्तन्तरनिरोधाय ।

[१२५०] पुरां भिन्दुर्युक्ता कणिरामनौजा अजायत ।

इन्द्रा विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता यज्ञी पुरुषदुतः ॥ १ ॥

[१२५१] त्वं बलस्य गोमतो पावगद्विषो विलम् ।

त्वां देवा अपिभ्युषन्तुज्यमानास आविषुः ॥ २ ॥

[१२५२] इन्द्रमीशानमोजसामिस्तेभिरनूषत ।

सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयधीः ॥ ३ ॥ २० ॥

श्रु० १। ११। ४, ५, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३५६] पृ० १८६ ।

(२) हे (अद्रिच) दीर्घ या विनाश न होने वाले अविनाशी स्वरूप वाले आत्मन् । (त्वं) तू (गोमत) इन्द्रियों से युक्त (बलस्य) प्राण के (विलम्) प्रवेशस्थान शरीर बन्धन को (अप अव०) खोल देता है, (देव) समस्त अग्नि आदि देव (अपिभ्युष०) तेरी रक्षा में मय न करते हुए (तुज्यमानास०) पीड़ित होकर अथवा तुझ से ही शक्ति प्राप्त करते हुए । (त्वा) तेरे पास (आ अविषुः) शरण में प्राप्त होते हैं ।

जैसा ऐतरेयोपनिषद् में—“ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्पर्यवे प्रापतन्” “ता एनमब्रुवन् आयतनं न प्रजानीहि” “ताम्यः पुरुषमानयत् । ता अब्रुवन् सुकृतं वतेति पुरुषो वाच सुकृतम् । ताः अब्रवीद् यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्रविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशद् ।” इत्यादि समस्त देवताओं को पुरुष शरीर में प्रविष्ट कराकर आत्मा इन्द्रस्वरूप स्वयं नानूय द्वार से प्रविष्ट होगया । “स एतमेव सीमानं विदार्थ एतया द्वारा प्रापयत् । सैषा विनृतिर्नाम द्वास्तदेतज्जानन्दनम् ।” इत्यादि प्रकरण में इस मन्त्र का रहस्य खोजा गया है । (ऐतरेय उप० अ० १। ख० २। ३)

१२५०—२. 'गोगतोऽपाव', ३. 'अभिस्तोमा' इति श्रु० ।

(३) हे विद्वानो ! (ओजसा) अपने ओज बल और वीर्य से (ईशानं समस्त संपार को वश करने हारे मालिक (इन्द्र) परम आत्मा की (स्तोमै.) वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूपत) स्तुति करो । (यस्य) जिसके (रातय.) दिये हुए दान हज़ारों और (उत) और भी (भूयसी.) बहुत अधिक (सन्ति) हैं ।

इति नवमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य (द्वितीयाऽर्धः) प्रपाठकः ।

अपि — १ पराशरः । २ शुनःशेषः । ३ असित काश्यपो देवलो वा । ४, ७ राहूगणः । ५, ६ नृमेधः प्रिमेधश्च । ८ पवित्रो वसिष्ठो वोभौ वा । ९ वसिष्ठः । १० वत्सः काण्वः । ११ शत वेखानमाः । १२ सप्तर्षयः । १३ वसुमर्त्तदाजः । १४ नृमेधः । १५ भर्गः प्रागाथः । १६ भरद्वाजः । १७ मनुराप्सवः । १८ अम्बरीषः । १९ अमर्षो धिष्ण्याः ऐश्वराः । २० अमर्षीयुः । २१ त्रिशोकः काण्वः । २२ गोतमो राहूगणः । २३ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—१—७, ११—१३, १६—२० पवमान सोमः । ८ पावमान्यभ्येतृस्तुतिः । ९ अग्निः । १०, १४, १५, २१—२३ इन्द्रः ॥ छन्दः—१, ६ त्रिष्टुप् । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ गायत्री । ८, १८, २३ अनुष्टुप् । १३ जगती । १४ निचृष्टहती । १५ प्रागाथः । १७, २२ उज्जिक् । १२, १६ द्विपदा पक्तिः ॥ स्वरः—१, ६ धैवतः । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ पङ्क्तः । ८, १८, २३ गान्धारः । १३ निषादः । १४, १५ मध्यमः । १२, १६ पञ्चमः । १७, २२ ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१२५३] अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मान् जनयन् प्रजा भुवनस्य

३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
गोपाः । वृषा पवित्र अवि सानो अन्ये बृहत्सामो वावुवे
३ १ २ २

स्वानो अद्रिः ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२५४] मत्सि वायुमिष्ट्य रात्रसे नो मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि द्यावापृथिवी

२
देव सोम ॥ २ ॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १
[१२५५] महत्तत्सोमो महिषश्चकारापा यदुगर्भोऽनृणीन देवान् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अदधादिन्द्र पवमान आजोऽजगत्सूर्योज्यातिरिन्दुः

॥ ३ ॥ १ ॥

अ० १। ६७। ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५२६] पृ० २३६ ।

(२) हे आत्मन् ! तू (वायुम्) वायु और प्राण को (मत्सि) प्रसन्न और चेतन करता है, (इष्ट्ये) अभीष्ट प्राप्ति और (रात्रसे) आराधना के कारण (नः) हमको (मत्सि) आनन्दित करता है । (पूयमानः) सर्वत्र प्रकाशित होकर (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण सूर्य और मेघ और प्राण और अपान दोनों को (मत्सि) हर्षित करता है, गति देता है । (शर्धः) यत्नस्वरूप होकर (मारुत) प्राण और प्रवक्त वायु को भी (मत्सि) हर्षित करता, मानों आनन्द में नचाता है । (मत्सि देवान्) समस्त सूर्य चन्द्रादि देवों एवं इन्द्रियों को (मत्सि) आनन्दित करता, उनको नियम, से गति देता है, और हे (देव सोम) सबके आकाशक और उत्पादक प्रेरक आत्मन् ! (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज्ञानी और अज्ञानी नर और नारी दोनों को (मत्सि) हर्षित करता, एवं वृष करता है ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [५४२] पृ० २७१ ।

भा०—(१) (देवः) प्रकाशमान, (अमर्त्यः) मरणरहित, अमृत-स्वरूप जीव (द्रोणकलशानि) द्रोण कलशों, अर्थात् दशों के (अभि) प्रति (आसदम्) प्रवृत्त होकर उनमें विराजने के लिये (पर्यावी. इव) पक्षी या किरणों से युक्त सूर्य के समान या पत्तों से युक्त वृक्ष के समान (दीयते) प्राप्त होता या उनमें विराजता है ।

द्रोण अर्थात् गति करने का स्थान और कलश अर्थात् कला या खण्ड २ संचय करके बना हुआ । फलतः यह शरीर द्रोणकलश है । इनमें शुक्रस्वरूप दीप्तिगय चेतनावान् आत्मा 'सोम' है । वह इन शरीरों में निवास करने के लिये पिन्जरे में पक्षी के समान आता है । इस आत्मा के साम और इन्द्र विषयक अलंकार का स्पष्टीकरण देखो (पञ्चवेद अ० २० । मं० ८६-१५) यथा—“आन्त्राणि स्थातीर्मधु पिन्विमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धनुः । श्येनस्य पत्रं न ग्रीहा शचीमिरासन्दी नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥ इत्यादि ।

(२) (एषः) वह आत्मा (विप्रैः) मेधावी, ज्ञानी पुरुषों, द्वारा (अभिस्तुतः) ठीक २ प्रकार से साक्षात् करके वर्णित किया हुआ (देवः) प्रकाशस्वरूप (अपः) समस्त प्रजानों, कर्मों और लोकों को (नि ग्राहते) अमण करता है । और (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हारे साधक के (रत्नानि) नाना रमण योग्य सुखों, पदार्थों, या देहों को (दधत्) पुष्ट करता या धारण करता, या देता है ।

(३) (एषः) वह (पवमानः) समस्त शरीर में व्यापक और गतिमान् या उसको पवित्र करता हुआ, या उसमें स्वतः पवित्र होता हुआ, (सत्त्वभिः) अपने सात्विक बलों से (शूर इव यन्) घोर योद्धा के समान गति करता हुआ (विश्वानि) समस्त (वार्याणि) वरण करने योग्य आनन्दों, सुखों का (सिपासति) सेवन करता है ।

(४) (एषः) वह (देवः) प्रकाशमान, (पवमानः) समस्त शरीर और हृदय को पवित्र करता हुआ (रथयति) रथ के समान शरीर में रहता है और (दिशस्यति) उपदेश प्रदान करता और (वयं सुम्) ज्ञानवाणी या स्तुति को (आवि. कृणोति) प्रकट करता है ।

(५) (एषः) वह (हरिः) दुःख हरण करने द्वारा । देवः) देव (पवमानः) व्यापक आत्मा (विपन्युभिः) विद्वान्, सत्य अर्थों के प्रकाशक (ऋतायुभिः) सत्य कामना वाले विद्वानों द्वारा (वाजाय) बल की प्राप्ति के लिये (मृज्यते) और भी पवित्र किया जाता है ।

(६) (एष देवः) वह सुखों का दाता सर्वप्रकाशक आत्मा (पवमानः) पवित्र किया हुआ (विषा) विशेष पालना करने वाली शक्ति से (कृतः) सम्पन्न होकर (अदाभ्यः) विना किसी रुकावट के, अदम्य या अविनाशी, अमृत होकर (हिरासि) समस्त कुटिल विचारों, या पापसकल्पों, या बंधनों को (अति धावति) पार कर जाता है ।

(७) (एषः) वह (पवमानः) शुद्ध, पवित्र होकर (रजासि) समस्त रजोगुण के कर्मों और लोकों को (धारया) अपनी धारणा शक्ति द्वारा (अति) अतिक्रमण करके (कनिक्रदत्) अनाहत नाद या परमेश्वर की स्तुति करता हुआ (दिवः) ज्ञानमय, प्रकाशमय मोक्ष को (विधावति) प्राप्त कर, विचरण करता है ।

(८) (एषः पवमानः) वह मुक्तात्मा सोम (अस्तृतः) वासनाओं से बाधित न होकर (सु-अध्वरः) सुकृत कर्म करके वभी माश को न प्राप्त होने वाला, होकर (रजासि) रजोमय विघ्नों को (तिरः) एक तरफ़ हटाकर (दिवः) प्रकाशमान मोक्षलोक को (वि आसरत्) विशेष रूप से प्राप्त होजाता है ।

(९) (एषः) वह (देवः) प्रकाशमान (सुतः) सम्यक् मार्ग में निष्ठ होकर (हरिः) सब दुःखों, या बन्धनों का काटने वाला, आत्मा

(देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषों के हितार्थ (प्रत्नेन) पुराने परिपक्व (जन्मना) उपार्जित उत्तम जन्म द्वारा (पवित्रे) परम पावन, परमात्मा में (अर्धति) जा लगता है ।

(१०) (एषः उ स्य.) और वही यह (पुरुषतः) नाना सत्कर्म अनुष्ठान करने द्वारा (जज्ञानः) शरीर में आकर (इष.) नाना कर्मों, कर्मफलों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (सुतः) गुरुओं से उपदेशों द्वारा उत्तम मार्गों में प्रेरित और ज्ञान सम्पन्न होकर (धारया) अपनी धारणा शक्ति या वाणी, स्तुति द्वारा (पवते) उत्तम मार्ग में गति करता है :

इति प्रथम खण्डः ।

—:०.—

उ २ उ ७ उ २ उ २ उ १ २ उ १ २

[१२६६] एष धियायात्यगव्या शूरो रथेभिराशुभिः ।

२ उ १ २ उ २

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १ ॥

उ ७ उ २ २ उ २ उ १ २

[१२६७] एष पुरु धियायते बृहते देवतातये ।

२ उ १ २ उ १ २

यत्रामृतास आशत ॥ २ ॥

उ १ ७ उ ७ उ २ उ १ २ उ १ २

[१२६८] एतं मृजन्ति मर्ज्यमुपद्राणेन्वायवः ।

उ २ उ १ २

प्र चक्राण महीरिप ॥ ३ ॥

उ ७ उ १ २ उ ७ उ ७ उ १ २ उ १ २

[१२६९] एष हिना विनीयनेऽन्तः शुभ्यावता पथा ।

१ २ उ ७ उ १ २

यदी तुजन्ति भूर्यय ॥ ४ ॥

उ ७ उ १ २ उ २ उ १ २ उ १ २

[१२७०] एष रुक्ममिरीयने वाजी शुभ्रैमिरंशुभिः ।

२ उ १ ७ उ १ २

पतिः सिन्धूना भवन् ॥ ५ ॥

[१२७१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो ३ वृषा ।

^{३ १ २ ३ १ २} नृन्णा दधान आजसा ॥ ६ ॥

[१२७२] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} एष वसुनि पिबन्, पुरुषा ययिर्वा अति ।

^{२ ३ १ २} अव शोदेषु गच्छति ॥ ७ ॥

[१२७३] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} एतमु त्व दश क्षिपे हरि हिन्वन्ति यातवे ।

^{३ ३ ३ १ २} स्वायुधं मदिन्तमम् ॥ ८ ॥ ३ ॥

श्रु० ६ । १५ । १, २, ७, ३, ५, ४, ६, ८ ॥

भा०—(१) (रथेभिः) रथों द्वारा जिस प्रकार (शूरः) शूरवीर योद्धा सेनापति के पद पर अभिषिक्त होकर जाता है उसी प्रकार दूर तक व्यापन करने हारे सात्विक साधनों से युक्त होकर (एषः) यह शमादि-गुणसम्पन्न योगी (आशुभिः) शीघ्रगामी, दूरतक शीघ्र फैलने वाले (अग्न्या) सूक्ष्म (धिया) प्रज्ञा, निदिध्यासन, उपासना कर्म या, साधना द्वारा (इन्द्रस्य) आत्मा और प्रभु परमात्मा के (निष्कृतम्) परम दिव्य धाम को (गच्छन्) जाता हुआ (याति) परम सुख को प्राप्त करता है ।

(२) (एषः) वह आत्मा योगी उस (वृहते) बड़े भारी (देवतातमे) दिव्यगुण सम्पन्न प्रभु को साक्षात् करने के लिये (पुरु) नाना प्रकार के सत्कर्मों द्वारा (धियायते) ध्यान करता और योग-समाधि का अनुष्ठान करता है । अथवा (धिया अयते) ध्यान, ज्ञान और कर्म द्वारा मनसा, वाचा कर्मणा प्राप्त होता है । (यत्र) जहाँ जिसमें वे (अमृतासः) अन्य सुक्तात्मागण अमृत स्वरूप होकर (आशत) मोक्षसुख का भोग करते हैं ।

(३) (आयधः) दीर्घ आयु की कामना करने हारे, या ज्ञानी मनुष्य (एतं) इस (सोमम्) शमदमादि-सोम्यगुणों से सम्पन्न, (मज्यं) प्रयत्न से शोधने योग्य, या सोजने योग्य (महीः) बड़ी (इषः), इच्छाओं को

या बल साधनाओं को (प्र चक्रायाम्) उत्तमरूप से करते हुए आत्मा को (मोक्षेषु) द्रुतगति वाले अति वेगयुक्त मानसव्यापारों या कोशों में (मृजन्ति) अत्यन्त परिष्कृत करते हैं ।

(४) (यद् ई) जय (भूर्ययः) भरणशील प्राण और अपान को यथास्थान, यथामार्ग में प्राणायाम द्वारा लेजाने वाले ज्ञानी पुरुष (तुज्जन्ति) प्राण और अपान की आहुतिया प्रदान करते हैं तब (एषः) यह सोम (अन्तः) भीतर (हितः) गुप्तरूप से विद्यमान (शुन्ध्यावता) शुद्धियुक्त (पथा) मार्ग से (विनीयते) प्राप्त कराया जाता है ।

(५) (एषः) यह सोम (रुक्मिभिः) उत्तम कान्ति से सम्पन्न, देदीप्यमान तेज वाले, (शुभ्रेभिः) श्वेत शुद्ध (अंशुभिः) किरणों से युक्त (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान्, (सिन्धूनां) गतिशील प्रवृत्तियों, प्राणों और प्रनादियों का (पतिः) पालक (भवन्) होता हुआ (ईयते) जाना जाता है ।

(६) जिस प्रकार (यूयं वृषा) गोयूथ में विचरण करने वाले महावृषभ (शृङ्गाणि दोधुवन्) अपने सींग दिखाता हुआ (शिशीते) समीप के पदार्थों को भी कंपाता है उसी प्रकार (एषः) यह विद्वान् अपने (शृङ्गाणि) किरणों को या प्रेरक बलों को (दोधुवन्) प्रेरित करता हुआ (ओतसा) अपने बल से (मृगा) प्राणों को (दधानः) धारण करता हुआ (शिशीते) सब प्राणों को भी, कम्पित करता उनको संचालित करता है ।

(७) (एषः) यह ज्ञानी (वसूनि) वास करने वाले प्राणों को (पिबन्) पीड़ित या प्रेरित करता हुआ (परुषा) प्रत्येक पर्व या मन्त्रिक को (अति यविवान्) पार करता हुआ (शोदेषु) कठिन तपस्याओं या मूमियों में (अव गच्छति) प्रवेश करता है ।

(८) (हरिः) दुःखों के हरने वाले मनेहर, सबके प्रेरक, सबके धारक, (त्यंपतं) उस इस (सु-आयुधम्) उत्तम साधनाओं से सम्पन्न, (मदिन्त-मं) अति आनन्द और हर्षयुक्त सोमरूप साधक आत्मा को (दश विप) दशों प्राणगण (पातवे) प्राप्त करने या आनन्दरस पान कराने के लिये (द्विन्वन्ति) प्रेरित करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

१. ३ २ ३ २४ ३ २४ ३ १ २
[१२७४] एष उ स्य वृषा रथोऽन्या वारोभिरव्यत ।
२ ३२ १ २ ३ १ २
गच्छन् वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७५] एतं त्रितस्य योषणो हरिं द्विन्वन्त्यद्रिभिः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २ ॥
३ २ २४ ३ २ ३ २४ ३ १ २
[१२७६] एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विजु लीदति ।
१ २ ३ २४ ३ १ २
गच्छञ्चारो न योषितम् ॥ ३ ॥
३२४ २ १ २४ ३ १२ २४
[१२७७] एष स्य मद्यो रसोऽवचष्टे दिवः शिशुः ।
२४ ३ २ ३ १ २
य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४ ॥
३२४ ३ १ २ ३ १२ २४ ३ २
[१२७८] एष स्य पीतये सुनो हाररर्षति धर्षसिः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
क्रन्दन्योनिमभि प्रियम् ॥ ५ ॥
३२४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७९] एतं त्य हरितो दश मर्मज्यन्ते अपस्युवः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
याभिर्मदाय शुम्भते ॥ ६ ॥ ४ ॥

भा०—(१) (स्य० एषः) वह यह सोम अर्थात् शम आदि पट्क-सम्पत्ति से युक्त सुमुहु जन (वृषा) सुखों का हृदयभूमि में वर्षण करने हारा, (रथः) गतिशील, रमणस्वभाव, सर्वत्र प्रसन्न होकर विचरने हारा, (सहस्रिणम्) बल से युक्त या नाना प्रकार के सुखों के देने वाले (वाजं) ज्ञान ऐश्वर्य को (गच्छन्) प्राप्त होता है और वह (अन्या) चित्तिशक्ति या मुख्य प्राण के (वारः) वरण योग्य साधनों से (अभ्यत) सुक्षिप्तार्ग पर गमन करता है ।

(२) (एतं) इम (हरिम्) दुःखों के हरने वाले, सबके नेता, सुमुहु आत्मा को (त्रितस्य) तीनों प्रकार के दुःखों से परे और मानस, वाचिक, कायिक तीनों बलों से युक्त मुख्य प्राण के साथ (घोषणाः) भ्रम करने हारी, उसका सेवन करने हारी, इन्द्रिय-वृत्तियाँ (इन्द्राय) परम आत्मा के (प्रीतये) आनन्दरस प्राप्त करने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करतीं या उस के बल की वृद्धि करती हैं ।

(३) (एष स्यः) यह वह योगी (मानुषीषु) मनुष्य (विष्णु) प्रजाओं में (श्येन न) पक्षियों में वेगवान् गरुड के समान अधिक बल, सामर्थ्य और ज्ञान से सम्पन्न होकर और (योषितम्) स्त्री के प्रति (गच्छन्) गमन करते हुए (जारः न) उसके प्रिय पुरुष के समान गुप्तरूप से परमसुख का अभिलाषी होकर (सीदति) तन्मय भाव से विराजता है ।

(४) (यः) जो (इन्द्र) परम ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा (वारम्) वरण करने योग्य मोक्षमार्ग में (आविशत्) प्रवेश करता है (एष स्यः) वह यह (मधु) अतिहर्षयुक्त (रसः) आनन्दमय, रमण्य होकर (दिवः) प्रकाशमान उस परम आत्मा की गोद में, माता की गोद में (शिशुः) बालक के समान, या मध्य आकाश में सूर्य के समान रहकर (सर्वचष्टे) समस्त भुवनों को देखता है ।

(५) (पृथः स्यः) यह वह सोम सुमुक्षु आत्मा (पीतये) आनन्द-
रम पान करने के लिये (सुत) तैयार, निष्पन्न होकर (मन्दत्) शब्द
करता हुआ, स्तुति करता हुआ, (हरिः) सब इन्द्रियों का नेता, (धर्मसिः)
सब प्राणों को धारण करने द्वारा होकर (प्रिय) अपने प्रिय, उत्तम
(योनिम्) आश्रयरूप शरण परमेश्वर के (अभि-अर्पति) प्रति गमन
करता है ।

(६) (एवं एनं) उस इमको (अपस्युयः) कर्म करने की इच्छा
करने वाली चेष्टावान् (दश) दस (हरितः) हरणशील इन्द्रियां, या
प्राणवृत्तियां निरुद्ध होकर (मर्मज्यन्ते) और अधिक उज्ज्वल होती हैं
(याभिः) जिनसे वह सुमुक्षु (इन्द्रस्य) अपने भीतर विराजमान ऐश्वर्य-
शील आत्मा क (मदाय) परम आनन्द प्राप्त करने के लिये (शुम्भते)
स्वयं प्रकाशित, या सुशोभित, या तैयार होता है ।

इति तृतीय खण्डः ।



उ २ उ २ उ १२ २२ उ १२ २२ उ १ २
[१२८०] एष वाजी नितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः ।

२ उ १ उ १ २
अव्य वार विधावति ॥ १ ॥

उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ उ १ २
[१२८१] एष पयिन्ने अक्षरत्नोमो देवभ्य सुतः ।

३ उ १ २ उ २
विश्वा धामान्या विशन् ॥ २ ॥

उ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २
[१२८२] एष देव शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः ।

उ १ १ २ उ १ २
वृषद्वा देववीतमः ॥ ३ ॥

१२८०—१. 'अव्यो वार', ६ "संवसानं विवस्वतः पति वाचो अदायम्"

इति च अ० ।

[१२८३] एष वृषा कनिक्कदहशभिर्जामिभिर्यतः ।

अभि द्राणानि धावति ॥ ४ ॥

[१२८४] एष सूर्यमरोचयत्पत्रमानो अधि द्यवि ।

पवित्रे मत्सरो मद ॥ ५ ॥

[१२८५] एष सूर्येण हामन्त संवसानो विवस्वता ।

पतिर्वाचो अदाभ्य ॥ ६ ॥ ५ ॥

“एष वाजी” इत्यारभ्य “एष सूर्यमरोचय” इत्यन्तं, अ० ६ । २८ । १-४ ॥ पञ्चम्याश्च-प्रथम पाद. ‘पत्रमान’ इत्यारभ्य “हामन्त” इत्यन्तं पादद्वयं च, अ० २७ । ६ । २५ ॥ “संवसान” इत्यारभ्य “अदाभ्य” इत्यन्त अ० ६ । २६ । ४ ॥

भा०—(१) (एष.) यह सोम, आत्मा (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, सबको कपाने द्वारा (विश्ववित्) समस्त ससार के सब पदार्थों की व्यवस्था को जानने द्वारा, सर्वज्ञ (मनसस्पति.) सबके मनों और समस्त ज्ञानों का स्वामी, परमात्मा और देह में आत्मा (नृभि.) सब मनुष्यों और देह में प्राणों द्वारा (हित) धारण किया हुआ है । वही अर्घ्य आत्मा या प्राण के (वार) वरण करने योग्य सीमा को भी, (वि धावति) पार कर जाता है, उनसे पर है ।

(२) (एष) यह (सोमः) सौम्यगुणों से युक्त, सब का प्रेरक, परमात्मा (देवभ्य.) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों के और समस्त दिव्यगुणयुक्त पदार्थों के निमित्त (सुत) सूक्ष्मरूप से सब में प्रकट हुआ (पवित्रे) शुद्ध कान्तिमय रूपों में (अक्षरत्) प्रकट होता है और (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों या तेजों में (आविशान्) व्यापक है ।

(३) (एष. देव.) वही प्रकाशमान देव (असर्त्य.) अमरणधर्मी, अविनाशी, (वृत्रहा) सब आवरणकारी अन्धकारों का नाशक, (देववीतम)

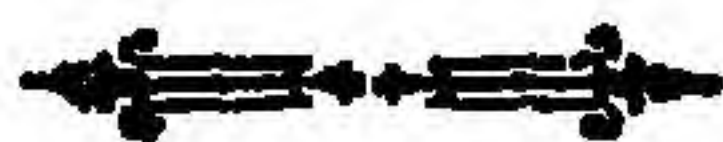
सब दिव्य पदार्थों को अपने भीतर रख लेने में सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, सब में व्यापक, सबका प्रकाशक (योनौ अधि) मूलकारण रूप प्रकृति में (शुभायते) भासमान है ।

(४) (वृषा) समस्त काम्य सुखों का वर्णन करने द्वारा, (एषः) यह आत्मा (दशभिः) दश (जामिभिः) भगिनीस्वरूप दश दिशाओं से (यतः) घारण किया गया (द्रोणानि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापक हो रहा है । आत्मपक्ष में— (दश जामिभिः) वह आत्मा ज्ञान उत्पन्न करने वाली दश इन्द्रियों सहित (द्रोणानि धावति) देहरूप कलशों में व्यापक है ।

(५) (एषः) वह परमात्मा (पवमानः) सर्वत्र व्यापक (अधि-
द्यवि) आकाश में सूर्य के समान ज्ञान प्रकाश में स्पर्ध (मद्ः) आनन्द स्वरूप (पवित्रे) पवित्र करने वाले आत्मा में (मत्सरः) आनन्दरस का लवण करने द्वारा हांकर (सूर्य) सूर्य के समान प्राण को भी (अरोचयद्) प्रकाशित करता है ।

(६) (एषः) यह सोम सर्वव्यापक, शक्तिमान् परमात्मा (विश्वस्वता) दीप्तिमान् (सूर्येण) सबके प्रेरक सूर्य के साथ (संवसानः) समस्त संसार को आवृत्त करता हुआ (वाचः) समस्त वेदवाणी का (अदाभ्य) अद्वितीय (पतिः) स्वामी होकर (आसते ह) निश्चय से विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



[१२८६] एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोषते ।

उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ १ २
उ २ उ २ उ १ २
पुनाना वनस्पद्विषः ॥ १ ॥

[१२८७] एष इन्द्राय वायवे स्वर्जितपरिषिच्यते ।

पवित्रे दक्षसाधनः ॥ २ ॥

[१२८८] एष नृभिर्विनीयते दिवो मूर्धा वृषा सुत ।

सोमो वनेषु विश्ववित् ॥ ३ ॥

[१२८९] एष गव्युग्निक्रदत्पत्रमानो हिरण्ययुः ।

इन्द्रः सत्राजदस्तुनः ॥ ४ ॥

[१२९०] एष शुष्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः ।

पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥ ५ ॥

[१२९१] एष शुष्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति ।

देवाधीरघशंसहा ॥ ६ ॥ ६ ॥

अ० ६ । २७ । १-४, ६ ॥ ६ । २८ । ६ ॥

भा०—(१) (एषः) यह (कवि) क्रान्तदर्शी, ज्ञानी, सर्वज्ञ परमात्मा, (द्विषः) द्वेष करने वाले दुष्ट पुरुषों को (अपन्नम्) दूर ही विनाश करता हुआ (पुनानः) सबको पवित्र करने द्वारा, पतितपावन (अभिस्तुत) उत्तम रीति से प्रार्थना और स्तुति किया गया (पवित्रे) शुद्ध, पवित्र हृदय-देश में (अधि तोशते) विराजता है ।

(२) (एषः) यह सोम, सब का प्रेरक (दक्षसाधनः) समस्त वृत्तों का साधक, उत्पादक, (स्वर्जित्) समस्त उत्तम लोक और आनन्द, मोक्षसुखों का विजय करने द्वारा, (वायवे) प्राणस्वरूप (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदय-देश में (परि-सिच्यते) सब प्रकार से ध्यानवृत्तियों द्वारा प्रवाहित, आप्लावित अर्थात् मनन किया जाता है ।

(३) (एषः) यह (दिवः सूर्यो) महान आकाश या प्रकाश का सूर्योत्स्वरूप, मुख्य केन्द्र, सब का प्रेरक, (वृषा) सब सुखों का वर्णक, (सोमः) सोम (विश्ववित्) सर्वज्ञ, (नृभिः) विद्वान् नेता लोगों द्वारा (वनेषु) सेवन करने, योग्य कार्यों, देवों और लोकों में (विनीयते) भाना प्रकार से प्राप्त किया जाता, एवं स्मरण किया जाता है ।

(४) (एषः) यह (पवमानः) सर्वव्यापक, सब को पवित्र करने हारा, (हिरण्ययु)-समस्त प्रकाशमान लोकों में व्यापक, (इन्द्रुः) ऐश्वर्य-शील, (सत्राजित्) समस्त संसार पर विजय करने हारा, (अस्तृतः) किसी से भी स्वयं हिसित या विनाश न होने हारा अद्वितीय, (गम्युः) समस्त गतिमान् पितृओं में भी व्यापक, सबका हितकारी, (अचिक्रदत्) वेद द्वारा उपदेश करता है ।

(५) (एषः) यह सोम (हरिः) सबका नेता, सब दुःखों का हर्ता (वृषा) सब सुखों का वर्णक, (शुष्मी) सर्वशक्तिमान् (इन्द्रुः) सर्वैश्वर्य-वान्, (इन्द्रं) भीतरी अन्तर आत्मा को (पुनानः) पवित्र करता हुआ (अन्तरिक्षे) हृदयदेश में (असिष्यदत्) प्रवाहित होता है ।

(६) (एषः) यह (अदाभ्यः) अमर, हिसित न होने वाला, स्वतः पीडारहित (देवावीः) सब इन्द्रियों, देवों, पञ्चभूतों और दिव्य लोकों में भी व्यापक और उनका, रक्षक (अधशंसहा) पापवार्ता कहने हारे का विनाशक, (सोमः) सोम परमेश्वर (पुनानः) सब को पवित्र और प्रकाशित करता हुआ (अर्पति) सर्वत्र व्यापक है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

—॥७॥—

[१२६२] स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्पति ।

अभिषिक्तोऽसि धेनुयुः ॥ १ ॥

[१२६३] स पवित्रे विचक्षणो हरिर्घनि घर्षसिः ।

अभि योनिं कनिकदत् ॥ २ ॥

[१२६४] स वाजी रोचनं दिनः पवमानो विधावति ।

रक्षोहा वारमव्ययम् ॥ ३ ॥

[१२६५] स त्रितस्याधिसाननि पवमानो अरोचयत् ।

जामिभि सूर्ये सह ॥ ४ ॥

[१२६६] स वृषहा वृषा सुतो वरिवो विददाभ्यः ।

सोमो वाजमिवासरत् ॥ ५ ॥

[१२६७] स देव कविर्नेषिर्नेषिर्भद्रोणानि धावति ।

इन्दुरिन्द्राय महयन् ॥ ६ ॥ ७ ॥ अ० ९ । ३७ । १-६ ॥

भा०—(१) (सः) वह (वृषा) मेघ के समान आनन्द-रसों और सुखों का वर्णक (सोम) वसस्वरूप, सबका उत्पादक (देवयु) विद्वानों और प्राणों की अमिताया पूर्ण करने हारा, (पीतये) आनन्द पान कराने के निमित्त (सुतः) निष्पन्न होकर (पवित्रे) पवित्र अन्तःकरण, और अन्तरिक्ष में (अर्पति) व्याप्त होता है ।

(२) (स) वह (हरिः) शक्तिमान्, सब दुःखों का हर्ता, (विचक्षणा) सब का दष्टा, (घर्षसिः) समस्त जगत् का घर्त्ता, (कनिकदत्) ज्ञानोपदेष्टा आत्मा (पवित्र) पवित्र, अन्तःकरण में (अर्पति) प्रकट होता है ।

(३) (स) वह आत्मा (वाजी) बलवान्, ज्ञानवान् (दिवः) सूर्य और प्राण का भी (रोचनं) प्रकाशक (पवमानः) सब को पवित्र करने हारा, (रक्षोहा) दुष्टों, दुष्ट भावों और विघ्नों का विनाशक, (अव्ययम्)

अधि अर्थात् प्राणों के बने (वारं) स्थूल आवरण को (विधावति) विशेष रूप से पारकर, रसरूप से प्रकट होता है ।

(४) (स.) वह (त्रितस्य) प्राण के (अभिसानवि) विशेष-स्थान, त्रिपुटि में (पचमान.) परिशुद्ध होकर (जामिभि) अन्य ज्ञानोत्पादक इन्द्रिय वृत्तियों के (सह) साथ मिलकर (सूर्य) सूर्य के समान सब के प्रेरक मुख्य, प्राण को (अरोचयत्) और अधिक दीप्त, प्रकाशित करता है ।

(५) (सः) वह (वृषहा) सब विघ्नों का विनाशक (सुतः) निष्पन्न (सोमः) सब इन्द्रियों और प्रजाओं का प्रेरक आत्मा (अदाभ्यः) किसी से हिसित या पराजित न होकर (वरिवेविद्) सबसे उत्तम आत्मरूप या आत्मानन्द कोश=खजाने को लाभ कराने द्वारा (वाजम् इव) युद्ध में शूरवीर के समान परम ज्ञानमय ब्रह्म की और (असरत्) गति करता है ।

(६) (सः) वह (देवः) देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप (कविना) क्रान्तदर्शी मेधावी सबके गुरु आत्मा या परमात्मा द्वारा (ईपितः) प्रेरित होकर उसका प्रेमपात्र होकर (इन्द्रु.) भीतर ही द्रवित होता हुआ (इन्द्रा-य) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा को (मंहयत्) आनन्द प्रदान करता हुआ (द्योयानि) समस्त ज्ञान कलाशों, कोष्ठों, देहों और लोकों में (अभिधावति) विचरण करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।



१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२६८] यः पावमानीरभ्येत्यृषिभिः संभृत रसम् ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिभुवना ॥ १ ॥

उ ७ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[१२६६] पावमानीः योऽध्ययन्योपमि. संभृतं रत्नम् ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
तस्मै सरस्वती दुहं क्षीरं सपिर्मधूदकम् ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३००] पावमानीः स्वस्त्ययनी. सुदृघा हि घृतश्रुतः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अभिभिः सम्भृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हिनम् ॥३॥

३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
[१३०१] पावमानीदधन्तु न इमं लाकमथां अमुम् ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
कामान्समर्द्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥४॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३०२] येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनरे सदा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥६॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३०३] पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
पुण्याश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥६॥

आषे द्वे अ० ९ । ६७ । ३१, ३२॥ शेषा अग्वेद नोपलभ्यन्ते ।

भा०—(१) जो (अभिभिः) मन्त्र का साक्षात् दर्शन करने वाले
अपियो द्वारा (सम्भृतम्) अच्छी प्रकार धारित, और प्राप्त एवं साक्षात्
किये और अन्यो को उपदेश किये हुए (रसं) आत्म-ज्ञानस्वरूप मधु
विद्यामय, रसरूप (पावमानी) सोम, पवमान सम्बन्धी अचाशों को
(अध्ययति), अध्ययन करता है, उनके तत्त्वार्थ ज्ञान का लाभ करता है
(स) वह (सर्व) सब (मातरिश्वना) अन्तरिक्ष में व्यापक परब्रह्म
या प्राणस्वरूप जीवनशक्ति द्वारा या (मातरि ज्ञानसाधने इन्द्रिये आत्मनि
वा श्रयति गच्छति इति मातरिश्वा मनः) ज्ञानसाधन इन्द्रियगणों या
आत्मा में निरन्तर गति करने हारे मन द्वारा (स्वदितं) आस्वादन करने
योग्य (पूनं) पवित्र ज्ञान का (अश्नाति) लाभ करता है और उप-
योग करता है । 'मन पून समाचरेत्' इति मनुः ।

(२) (य०) जो (ऋषिभिः 'संभृतं रस') मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषियों द्वारा प्राप्त अर्थात् मात्तात् 'किमे' गये ज्ञान रसस्वरूप (पावमानीः) पवमान सोम सम्बन्धी वेद की ऋचाओं का (अध्येति) अध्ययन करता है (तस्मै) उसके लिये (सरस्वती) वेदवाणी (वीरं) शुद्ध दुग्ध के समान आत्मज्ञान (सर्पिः) घृत के समान स्नेहपूर्ण, उज्ज्वल, ज्योतिःस्वरूप आत्मदर्शन और (मधु) मधु के समान आनन्ददायक मधुर ब्रह्मा, स्वाद और (उदक) जल के समान शीतल, शान्तिरस को (दुहे) दोहन करती है ।

(३) (याः पावमान्यः ऋचः) जो पवमान 'सोमसम्बन्धी ऋचाएँ' हैं वे (स्वस्त्ययनी०) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने वाली, (सु-दुधाः) सुखसे ही परमानन्द रस को देने वाली, (घृतश्चुतः) ज्ञान और सात्विक प्रकाश के उत्पन्न करने वाली हैं । वे तो साक्षात् (ऋषिभिः) ऋषियों द्वारा (संभृत) प्राप्त ' (रस०) परम रसस्वरूप ' ब्राह्मणेषु ' वेद के विद्वानों के भीतर (हितम्) स्थापित (अमृत) कभी न नारा होने वाली अमृत, अध्यात्म ब्रह्मज्ञान के समान हैं ।

१ (४) (पावमानीः) पवमान 'सोम सम्बन्धी ऋचाएँ' ही (य०) हमें (इमं) इस (लोक) लोक (अथो) और (अमुं लोकं) परलोक को (दधन्तु) धारण करावें । और वे (देवीः) दिव्यगुणप्रकाशक होकर (देवैः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा (समाहृताः) उपदेशों और व्याख्यानो द्वारा सर्वत्र प्रकाशित होकर (न०) हमारे (कामान्) शुभसंकल्पों को (समर्धयन्तु) पूर्ण करें ।

(५) (देवाः) विद्वान् योगी जन (येन) जिस (पवित्रेण) समस्त संसार को पवित्र करने वाले उपाय से (यदा) नित्य अपने (आत्मानं) आत्मा को (पुनत) पवित्र करते हैं (तेन) उस (यदस्त्रधारणा) सदस्यों

१. विषयो विरजोऽविचित्रासौ कादृशो भवति । [गृ० ३५० अ० ५ ।

धारणा शक्तियों से सम्पन्न, योगसाधन या पतितपावन ईश्वर प्रणिधान से ही यह (पावमानीः) पावमान सौम-सम्बन्धी अचापं भी (न) हमें (पुनन्तु) पवित्र करें ।

(६) (स्वस्त्ययगी) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने हारी, (पावमानीः) पावमान सन्ध्याधी अचापं ही हैं । (तामिः) उनसे आत्मा या साक्षात् (नान्दनं) परमानन्द अवस्था, मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है और (पुण्यान् च) पुण्य, (भक्षान्) सेवन करने योग्य सुख भोगों को (भक्षयति) उपभोग करता है और (अमृतत्वं च) अमृतस्वरूप परमपद को भी (गच्छति) प्राप्त करता है ।

'स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दन तस्य त्रय आवसथाः । त्रय स्वप्ना. । अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति । स जातो भूतान्यभिष्येत्तत् किमिहान्यं चावदिपद् इति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तत्तमपर्यत् इदमदर्शमिति तस्मादिदं नो नाम इन्द्र इत्या चक्षते यत्रोद्भूतम् । इत्यादि । एतरेय० उप० ४ । ४ ।

'इति सप्तमं खण्डम् ।



१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१३०४] अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्व
दुर्गेण । चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुर्न विश्वतः

प्रत्यञ्चम् ॥१॥

[१३०५] स महा विश्वा दुर्गितानि साह्यान्निष्टवे दम आ जात-
वेदा । स नौरजिषद् दुर्गितादवद्यादस्मान् गृणाति उत नो
सर्वाणि ॥ २ ॥

१ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २, १
 [१३०६] त्वं वरुण उत मित्रो अग्न त्वा वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
 १२ २४ ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
 त्वं वक्षु सुषण्णानि सन्तु यूयं पात स्वास्तभिः सदा
 नः ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ७ । १२।१-३॥

भा०—(१) । य०) जो (स्वे) अपने (-दुरोणे) इस ब्रह्माण्ड
 रूप अनन्त संसार में (समिद्ध०) प्रकाशमान होकर (दीदाय) चमकता
 है । उय (विश्वत०) सर्वत्र (प्रत्यञ्च) व्यापक, (उर्वी) महान् (रोदसी),
 धी और पृथिवी लोकों के (अन्तः) बीच (स्वाहुतं) स्वयं सब को
 बश करने हारे, सबके आश्रयरूप (यन्निष्ठं) सबसे अधिक बलवान्, सब
 में व्यापक, (धित्रभानुं) पूजनीय, कातिमय परमेश्वर को (महानमसा)
 बड़ी विनय से (अगन्म) हम प्राप्त हों ।

यद्वर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यद्विमल्लोका निहिता लोकिनश्च, (सुण्डक०
 २ । २ । २)

(२) (स०) वह (महा) अपनी महिमा से (विश्वाःदुरितानि)
 समस्त पापों को (साह्वान्) दूर करने द्वारा, (अग्निः) अग्निस्वरूप
 परमात्मा (जातवेदा०) समस्त पदार्थों का जानने द्वारा (दमे) हमारे
 हृदयरूप या ब्रह्माण्डरूप गृह में या यज्ञस्थल में (आ स्तवे) सर्व प्रकार
 से स्तुति किया जाता है । (सः) वह (नः) हमें (अधयात्) निन्द-
 नीय (दुरितात्) पापाचरण से (रक्षिषत्) रक्षा करे । और (गृणतः)
 स्तुति करने हारे (अस्मान्) हम लोगों को बचावें । (उत) और (मघोनः) ज्ञान
 धन-सम्पन्न (न०) हमें पापाचरण से बचावें ।

(३) हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप (त्वं) तू (वरुण, उत मित्रः)
 सब पापों से निवारण करने और सर्वश्रेष्ठ होने से 'वरुण' और सबको
 स्नेह करने द्वारा और मृत्यु से बचाने वाला होने से 'मित्र' है । (वसिष्ठाः)
 ऋषयः २ वश में स्थित अथवा परमपद में वास करने हारे ज्ञानी अथवा

अपने स्वरूप में स्थित सुमुक्त लोग या प्राणगण (मतिभिः) मननशक्ति-
यों द्वारा (त्वा) तुम्हें या तेरी महिमा को ही (वर्द्धन्ति) बढ़ाते हैं । (त्वे)
तुम्हें, तेरी साक्षिता में (वमूनि) समस्त ज्ञान, धन, (सुषणानि)
उत्तम २ सुख प्रदान करने वाले अथवा सुख से दान करने योग्य (सन्तु)
हों । हे विद्वान् लोगो ! (यूय) आप लोग भी (न.) हमें (सदा)
निश्चय (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी कार्यों, उत्तम उपायों और आशीर्वादों से
(.पात) रक्षा करो ।

^{३ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१३०७] महा इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिर्मा इव ।

^{१ २ ३ १ २}
स्तोमैर्वत्सस्य चावृधे ॥ १ ॥

^{२ ३ २ २ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २}
[१३०८] कएवा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।

^{३ १ २ ३ १ २}
जामि घृवत आयुधा ॥ २ ॥

^{३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
[१३०९] प्रजामृतस्य पिप्रत प्रयद्गन्त वक्ष्यः ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २}
विप्रा क्रतस्य वाहसा ॥३॥१०॥ अ० ८ । ६ । १, २, २ ॥

भा०—(१) (वृष्टिमान्) वृष्टि करने वाला (पर्जन्यः इव) मेघ
जिम प्रकार अपने सामर्थ्य से सर्वत्र फैल कर स्वयं वृष्टि करता है उसी
प्रकार (य.) जो (इन्द्र.) इन्द्र (ओजसा) अपने बल से (महान्)
बड़ा होकर (वत्सस्य) वत्स के समान अपने आश्रय पर रहने वाले
समस्त संसार की (स्तोमै.) स्तुतियों द्वारा (चावृधे) बढ़ा कीर्तिमान्,
प्रसिद्ध होता है ।

(२) (कएवाः) ज्ञानी स्तोतागण (स्तोमैः) अपने स्तोत्रों द्वारा
(यद्) जब (इन्द्रं) इन्द्र अर्थात् आत्मा ही को (यज्ञस्य) जीवनरूप
यज्ञ का (साधनं) साधन (अक्रत) बना लेते हैं तब विद्वान् लोग

(आयुधा) अन्य प्राणादि इन्द्रिय-साधनों को या यज्ञ के पात्रादि को (जामि) प्रयोजनरहित ही (ब्रुवते) कहते हैं । साधक लोग जब अभ्यास यज्ञ करते हैं तब द्रव्ययज्ञ व्यर्थ जान पड़ता है ।

(३) (यद्) जघ (पिप्रतः) पूर्ण करने हारे (वह्नयः) अग्नि के समान दीप्तिमान् ज्ञान को धारण न करने हारे (विप्राः) मेधावी, ज्ञानी लोग (ऋतस्य) सत्यज्ञान रूप-आत्मा की (प्रजा) उत्तम रीति से प्रादुर्भाव होने वाली आत्मशक्ति और सत्यज्ञान या प्रजा शिष्य आदि को (प्र भरन्त) उत्तम रीति से धारण करते हैं तभी वे (ऋतस्य) ज्ञान और सत्य के, (वाहसा) प्रापक बल से ही उसे धारण करते हैं ।

इति. अष्टमः खण्डः ।

—0—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५
[१३१०] पवमानस्य जिघ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत ।

३ १ २ ३ १ २
जीरा अजिरगोचिप. ॥ १ ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५
[१३११] पवमानो रथीनम. शुभ्रभि. शुभ्रस्तमः ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५
हारश्चन्द्रा मरुद्गण ॥ २ ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५
[१३१२] पवमान द्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसानम ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५
दधरन्तोत्र सुधीयम् ॥३॥६॥ अ० ६ । ६६ । २४-२७ ॥

भा०—(१) (पवमानस्य) पवित्र शुद्ध रूप में प्रकट होन हुआ, (हरेः) समस्त दुःखों का हरण करने हारे और (निशान) समस्त अज्ञान पटलों का वार २ नाश करने हुए सोम अर्धास आत्मा की (चन्द्रा) आह्लादकारिणी (जीरा) और दुःखनाशिनी (अजिरगोचिप) अग्नि नाशनील कान्तिया (असृक्षत) उत्पन्न होती है ।

१३१०—१. 'जानो' इति प्र० ।

(२) वह (पवमान) परमपावन आत्मा (रथीतमः) इस देहरूप रथ-परागति करने हारा, सब से उत्तम रथी, (चन्द्रः) आह्लादक, (हरिः) दुःखनाशक (मरुद्गणः) प्राणगण के साथ वर्तमान (शुभ्रेभिः) शुभ्र-तेजों से, (शुभ्रशस्तम) अति शुभ्रस्वरूप, कान्तिमान्, निर्मल है ।

(३) हे (पवमान) सब को पवित्र करने हारे ! स्वयं पवित्ररूप में, प्रकट होता हुआ तू (स्तोत्रे) विद्वान् पुरुष में (सुवीर्यं) यश, बल और पुत्रादि धन को (दधत्) धारण पोषण करता हुआ (हरिमभिः) अपने किरणों से (वाजसातमः) ज्ञान और बल का प्रदान करने हारा होकर (व्यश्नुहि) विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कर ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१३१३] परीतो पिञ्चता सुनं सोमो य उत्तमं हविः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

दधन्वा यो नर्यो अस्वादेऽन्तरा सुषाव सौममद्रिमिः ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३१४] नूनं पुनानोऽत्रिमिः परिस्रवाद्व्यः सुरभिन्तरः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सुते चित्राप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गाभिरुत्तरम् ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३१५] परि स्वानश्चक्ष देवमादन क्रतुर्गिन्दुर्विचक्षण ॥३॥१२॥

अ० ६ । २०७ । १-३ ॥

भा०—(१) (य सोम) जो सोम, शरीर में वीर्य, ब्रह्माण्ड में धारक तेज या सूर्यबल, देवों अर्थात् इन्द्रियों में आत्मा और पृथिवी आदि पिण्डों आकाश का रूप (उत्तम) उत्तम, श्रेष्ठ (हवि) उपादान करने योग्य अन्न और खाद्य और जीवनप्रद आश्रय होता है और (य) जो (नर्य) नेता, इन्द्रियगण और सूर्यादि लोकों के लिये हितकारी और (अ-सु) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और देह के जलीय रुधिरादि अशों और लोकों के भीतर विद्यमान रहना हुआ उनको (दधन्वान्) स्वतः धारण कर रहा है, उस (सोम)

सोम अर्थात् वीर्य को (अविभि०) न दीर्य होने हारे अस्त्रण्ड, ब्रह्मचर्यादि साधनों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों से । आ सुषाव) उत्पन्न किया जाता है । अतः उस (सुतं) उत्पन्न वीर्य और तेज को हे विद्वान् लोगो! (इतः) इस मूल स्थान से ऊपर (परिपिचत) शिर आदि प्रदेशों की ओर द्रवित करो अर्थात् ऊर्ध्वरेता बनो । व्याख्या देखो [५१२] पृ० ।

(२) हे सोम ! तू (अदब्ध०) किसी से दिसित न होने वाला, सब से अधिक बलशाली (सुरभितर०) सब प्राणों से अधिक उत्तम गंध और बल वाला, (नून) निश्चय से (अविभि) प्राणों द्वारा (पुनान०) अति पवित्र होता हुआ (परि स्रव) समस्त शरीर में गति कर । और (सुतेचित्) शरीर में उत्पन्न होने पर (अन्धसा) प्राण जीवन देने वाले अन्न और (गोभिः), इन्द्रियों के पुष्टिकारक दुग्धादि रसों द्वारा (श्रीणन्तः) तुझे परिपक्व करते हुए (अप्सु) शारीरिक कर्मों और मानसिक विचार क्रियाओं में हम (मदाम) आनन्द-लाभ करते हैं ।

(३) (इन्द्रुः) परमैश्वर्यवान् उक्त सोम रूप शुक्र का पाजन करने हारा ब्रह्मचारी, (विचक्ष्य०) माना प्रकार के विज्ञानों का द्रष्टा, (क्रतु) कर्म करने हारा, (देवमादन) अपनी इन्द्रियों और दिव्यगुण युक्त विद्वान् पुरुषों को हृष्ट पुष्ट करने और आनन्द देने हारा, (स्वान०) स्वयं निष्पन्न होता हुआ (परिचक्षसे) सब के देखने योग्य होजाता है ।

१ २ ३ १ २ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२
[१३१६] असावि सोमो अरुपा वृषा हरी राजेव दसो अभि ना
२१ २ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
अन्दिक्कत् । पुनानो वारमत्यप्यव्ययं श्येनो न यानि
३ १ २ ३ १ २
वृत्तवन्तमासदत् ॥ १ ॥

उ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
[१३१७] पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नामा पृथिव्या गिरिषु

१ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ २ २ २
क्षयं दधे । स्वसार आपो अभि गा उदासगत्सङ्गावाभि-

३ १ २ ३ २
वसते धीतं अचरे ॥ २ ॥

उ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[१३१८] कविर्वेधस्यापर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि वाजम

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २ ३
र्षसि । अपसेधन् दुरिता सोम ना मृड घृता वसानः

१ २ ३ १ २
परियासि निर्णिजम् ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ६ । ८२ । १-३ ॥

भा०—(१) (अरुप०) दीप्तिमान्, (वृषा) सुखों का वर्षक, श्रेष्ठ (हरी) सब दु खों का हर्ता, सबका नेता (सोमः) सोम, तेजस्वी विद्वान् पुरुष (असावि) उत्पन्न होता है । वह (राजा इव) राजा के समान (दस्म०) दुष्टभावों का नाशक एवं दर्शनीय होकर (गा०) जैसे प्रजाओं के प्रति राजा अपनी घोषणाएं करता है उसी प्रकार आत्मरूप सोम इन्द्रियों के प्रति और आचार्य विद्वान्, प्रजारूप शिष्यों के प्रति (अचिक्रदन्) वेद का उपदेश करता है । (पुनान) स्वयं पवित्र और देदीप्यमान होता-हुआ, (अभ्ययं) प्राणमय (वारं) आवरण को (अत्येपि) पार करके (श्येन० न) जिस प्रकार बाज़ पक्षी उड़कर अपने निवास घोंसले की तरफ चला जाता है उसी प्रकार वेगवान् होकर वह भी (घृतवन्तं) प्रकाशस्वरूप (योनिं) मूलस्वरूप आश्रय को (आसदन्) प्राप्त होता है । यहां प्राणमय कोश से विज्ञानमय कोश पर वश करने हारे योगाभ्यासी का वर्णन है । व्याख्या देखो अविकल संख्या [५६२] पृ० २८३ ।

(२) (पर्णिनः) ज्ञानसम्पन्न, (महिषस्य) महान्, बलवान् सोम-रूप आत्मा का (पिता) पालक (पर्जन्य०) मेघ के समान आनन्दरसों का दाता प्रजापति परमात्मा ही है । वह (पृथिव्या०) मूलोक के (नामां)

(२) हे मनुष्य ! तू (अलर्षि रार्ति) निष्पाप सात्विक, ज्ञानशील, (व-
सुदाम्) वास योग्य पदार्थ प्राण आदि का दान करने हारे परमेश्वर की
(उप स्तुहि) स्तुति कर । क्योंकि (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्यशील परमात्मा
के (रातय) सब दान (भद्रा) कल्याणकारी हैं । (य०) जो स्वामी
के समान (मनः) अपने मन अर्थात् ज्ञान को (दानाय) दान करने
के लिये (चोदयन्) प्रेरित करता हुआ (अस्य विधत्) हम अपने
भक्त, सेवा करने हारे स्तोता की (कामं) इच्छा को (न) नहीं (रोपति)
नाश करता ।

[१३२१] यत् इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।

मघवन्नग्निं तव तन्न ऊनये विद्विषां वि मृधो जदि ॥१॥

[१३२२] त्वं हि राघसस्पते राघसो मह जयम्यासि विधत्ता ।

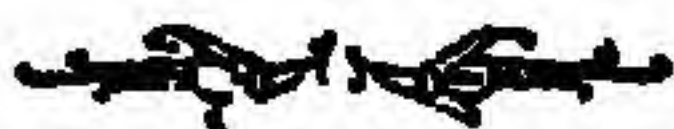
त त्वाचयं मघरन्निन्द्र गिर्वण सुतावन्तो हवामहे ॥२॥ १५॥

अ० ८ । ६१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [२७४] पृ० १४० ।

(२) हे (राघस पते) हे सकल धनों और ऐश्वर्य के स्वामिन् !
(त्वं) तू (हि) निश्चय से (मह०) बड़े भारी (जयस्य) निवासस्थान और
(राघस) बड़े भारी धन का (विधत्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा
स्वामी (असि) है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (इन्द्र) विघ्नों के नाशक !
हे (गिर्वण) वाणियों के एकमात्र विषय ! (सुतावन्तः) उत्पन्न समस्त
पदार्थों, ज्ञानों और ऐश्वर्यों के स्वामी होकर हम ज्ञानी पुरुष (त्वां) तुम्ह
को ही (हवामहे) आह्वान करते हैं, तेरा स्मरण करते हैं ।

इति दशमः खण्डः ।



१३२२—'त्वं हि राघसस्पते', 'विधत्ता' इति अ० ।

[१३२३] त्वं^{१ २} सौमासि^{३ २ ३} धारयुर्मन्द्र^{१ २ २ २} ओजिष्ठो^{३ २} अभ्वर^{३ २} ।

पवस्व^{१ २} मंहयद्रयि^{३ १ २} ॥१॥

[१३२४] त्वं^{१ २} सुतो^{३ १ २} मदिन्तमो^{३ १ २ ३ १ २} दधन्वान्मत्सरिन्तमः^{३ १ २ ३ १ २} ।

इन्दुः^{१ २} सत्राजिदस्तुत^{२ १ २ २ २} ॥२॥

[१३२५] त्वं^{१ २} सुष्वाणा^{३ १ २ २ २} आद्रिभिरभ्यर्ष^{३ १ २ ३ १ २} कनिक्रदत्^{३ १ २} ।

शुमन्तं^{३ २ ३ १ ३ १ २} शुष्ममामर ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ६ । ६७ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (सोम) परमेश्वर ! (त्वं) तू (धारयुः) धार-
यायुक्त अथवा धारा या वेदवाणी का स्वामी, (मन्द्र) अति आनन्दपूर्ण
(ओजिष्ठः) अति बलवान्, (मंहयद् रयिः) ऐश्वर्य का प्रापक होकर
(अभ्वरे) उपासनामय यज्ञ में (पवस्व) प्रकाशित हो ।

(२) (त्वं) तू (सुतः) निष्पन्न होकर (मदिन्तमः) अति हर्ष-
जनक, (मत्सरिन्तमः) अन्य समस्त इन्द्रियों एवं प्रजाजनों और देहों में
हर्ष का प्रसारक (इन्दुः) कान्तिसम्पन्न (अस्तुतः) किसी से भी पराजित
न होकर (सत्राजिद्) सब से अधिक उत्कृष्ट, सब पर विजयशील होकर
सबको (दधन्वान्) धारण करता है ।

(३) (त्वं) तू (आद्रिभिः) विदीर्ण न होने वाले, अभेद्य, दृढ़,
तर्पण या अखण्ड तपस्वियों द्वारा (सुष्वाणः) निष्पादित किया हुआ
परिपक्व या अभ्यास किया हुआ (कनिक्रदत्) उत्तम ज्ञान का उपदेश देने
द्वारा होकर (अभि अर्ष) प्रकट हो हमें प्राप्त हो । और (शुमन्तं) यशोजनक
('शुष्मं') बल को (आ भर) प्राप्त करा ।

[१३२६] पवस्व^{१ २} देव^{३ १ २} वीतय^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्दो^{३ १ २ ३ १ २} धाराभिरोजसा^{३ १ २} ।

आ कलशं^{२ ३ २ १ २} मधुमान्तसोम नः^{२ ३ २ १ २} सदः ॥ १ ॥

१३२४—'एव सुतो नृमादन', 'इन्द्राय सृरिन्तसा' । १३२५—'शुष्ममुत्तमसु' इति ऋ० ।

[१३२७] तव द्रप्सा उदग्रन इन्द्रमदाय वावृधुः ।

त्वा देवासो अमृताय कं पपुः ॥ २ ॥

[१३२८] आ नः सुतास इन्द्रवः पुनाना धावना रयिम् ।

वृष्टिधावो रीत्याप स्वर्विदः ॥ ३ ॥ १७। अ० १०। ख० ११-१॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१७१] पृ०

(२) हे (सोम) सबके उत्पादक ! आनन्दरसस्वरूप ! (तव) तेरे (उदग्रतः) रस को प्रवाहित करने हारे (द्रप्साः) हुतमनि से बहने वाले आनन्दरस (इन्द्र) आत्मा को (मदाय) अति आनन्द प्राप्त कराके निमित्त (वावृधुः) बढ़ाते हैं, उसे और अधिक शक्तिशाली बनाते हैं । (देवासः) विद्वान् योगीजन (क) आनन्दस्वरूप (त्वा) तुम्हको (अमृताय) अमृत-स्वरूप परम आनन्द-प्राप्ति के लिये (पपुः) पान करते हैं ।

(३) हे (इन्द्रवः) आत्मा के भीतर प्रवाहित होने हारे, कान्ति-युक्त ! (सुतासः) ज्ञानानन्द रसो ! या ज्ञात्री पुरुषो ! तुम निष्पन्न होकर (पुनाना.) स्वतः पवित्र (रीत्यापः) सब रसों के पापक (वृष्टिधावः) ज्ञान कान्ति के वर्षक, (स्वर्विदः) सुखों के प्राप्त कराने हारे, आप (रयिम्) अति रमणीयरूप आत्मा के प्रति (आ धावत) गति करो और आत्मा को सुख शान्ति प्राप्त कराओ ।

[१३२९] परि त्यं हर्यतं हरिं यभ्रु पुनन्ति वारेण ।

यो देवान्निश्वान् इत्यग्निं मदेन सह गच्छति ॥ १ ॥

[१३३०] द्विर्न पक्ष स्वयशसं सखायो अद्रिसंहनम् ।

प्रियमिन्द्रस्य कार्म्यं प्रस्तापयन्त उर्मयः ॥ २ ॥

१३३०—'स्वयशस स्वमार,' 'प्रस्तापयन्त्युर्मिणम्' ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१३३१] इन्द्राय सोमपातये वृत्रघ्ने परिशिष्यसे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नरे च दक्षिणावते वीराय सद्नासदे ॥ ३ ॥ १८ ॥

श्र० ९ । ६८ । ७, ६, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५२] पृ० २७७ ।

(२) (य) जिम मुख्य प्राणरूप, सबके प्रेरक, सोम को (द्वि पंच च) दोगुना पाच अर्थात् दश । सखाय) समान नाम वाले इन्द्रिय नामक प्राण (ऊर्मयः । ऊर्ध्वगति होकर (स्वयशसं) अपने कीर्तिस्वरूप (अद्रिसंहतम्) पर्वत के समान अभेद्य बल से युक्त (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा के अति कामना योग्य, (प्रियम्) अपने प्यारे को (प्रज्ञापयन्त) उत्तम रीति से ज्ञान कराते हैं सुखरूप जलों से मानो उमका अभिषेक करते हैं उसका साक्षात् ज्ञान करो ।

(३) हे (सोम) सबके प्रेरक बल ! आनन्दमय ! (पातये) तेरा पान या पावन करने हारे, (वृत्रघ्ने) अज्ञान रूप वित्त के विनाशक (दक्षिणावते) क्रिया शक्ति से सम्पन्न (सद्नासदे) प्रत्येक आश्रयम्यान, जीवनरूप यज्ञ के गृह अर्थात् शरीर में स्थिर रूप से वर्तमान (वीराय) शक्तिशाली (नरे), सबके नेता, प्रवर्त्तक, (इन्द्राय) आत्मा के निमित्त वृ (परि-शिष्यसे) प्रवाहित किया जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१३३२] एवस्व सोम महे दक्षायाश्वा न निक्ता वाजी धनाय ॥१॥

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३३३] प्र ते सांतारो रसं मदाय पुनन्ति सोम महे धुम्नाय ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३३४] शिशुं जज्ञानं हरिम्मृजन्ति पाणिभे सोमं दवेभ्य इन्द्रम् ॥ ३ ॥ १६ ॥

श्र० ६ । १०६ । १०-११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अयिकल सं० [४३०] पृ० २१६ ।

१३३१—'दवाय सद्नामहे' इति च श्र० ।

(२) (ते) वे (सोतारः) निष्पादक साधक योगीजन (रस) रसस्वरूप उस (सोमं) सबके प्रेरक आनन्दरस सोम को (महे) वड़े भारी (शुभ्राय) यश और ज्ञान और (सदाय) आनन्द प्राप्ति के लिये (प्र पुनन्ति) उत्तम रीति से परिशोधित करते हैं ।

(३) (शिशु) इस शरीर में शयन करने द्वारे (हरिं) दुःखों के हर्ता और इन्द्रियों के नेता रूप में (जज्ञान) प्रादुर्भाव होने द्वारे मुख्य प्राणरूप (इन्द्रुम्) देदीप्यमान (सोमं, सोमरूप आनन्दरस को (देवेभ्यः) देवों, इन्द्रियों और विद्वानों के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदय या परमपावन ईश्वर के ध्यान में (सृजन्ति) परिशुद्ध करते हैं उसका साक्षात् करते हैं ।

[१३३५] उपो^{२ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३} पु^{१ २ ३ १ २} जानमसुरं गोभभगं परिष्कृतम् ।

इन्द्रुं देवा अयासिपुः ॥ १ ॥

[१३३६] न^{१ २ ३ १ २} मिद्वर्धन्तु नो गिरो^{३ १ २ ३ २ ३ १ २} वत्सं सं शिश्वरीरिव ।

य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ २ ॥

[१३३७] अर्षो^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नः सोम श गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम् ।

वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ २० ॥ अ० ६ । ६१ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(२) (शिश्वरी) माताएं जिस प्रकार (वत्सं इव) बालक को अपने दुग्धरसों से बढ़ाती हैं उसी प्रकार (न) हमारी (गिर) ज्ञान-कथाएं (तमिद्) उस आत्मा के आनन्द को ही (वर्धन्तु) वृद्धि करें । उसके बल को बढ़ावें (य) जो (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा रूप इन्द्र के (हृदसनिः) हृदय में स्थापक रहता है ।

(३) हे 'सोम' तु (नः) हमारे (गवे) गोरूप घाणी के लिये (शं) शान्तिदायक कल्याणकारी सुख को (अर्प) प्रेरित कर और

(पिप्युषी) निरन्तर सामर्थ्य बढ़ाने वाली (इषं) इच्छा शक्ति और शब्द के
समान पोषक बल को (धुधस्व) प्राप्त करा और हे (उक्थ्य) प्रशंसनीय !
(समुद्रं) रसों के सागर रूप आत्मा को (वर्धं) बढ़ा ।

इति पञ्चादशः खण्डः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३३८] आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति वर्धिरानुषक् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
[१३३९] बृहन्निदिधम एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वरुः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४०] आयुद्ध इद्युधा वृते शूर आजति सत्त्वभिः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥२१॥ अ० ७ । २५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आविकृत सं० [१३३] पृ० ७२ ।

(२) (युवा) बलवान् (इन्द्रः) परमेश्वर या आत्मा (येषां)
जिनका (सखा) मित्र है (एषा) इनका (इधमः) तेज (बृहत् इत्)
बहुत ही बढ़ा है और (शस्त्रं) उनकी स्तुति, महिमा गान करने वाली
वाणी भी (भूरि) बहुत है और (स्वरुः) उनका स्वर या प्राण बल या
तेज भी (पृथुः) बढ़ा है ।

(३) (येषाम् इन्द्रः युवा सखा) बलवान् परमात्मा जिनका मित्र
है उनमें से (आयुद्ध इत्) युद्ध न करने वाला भी भकेला (शूर) शूर
वीर के समान (युधावृत्तः) बोधागस्त्य में विरे प्रतिपक्षी शत्रु पर (गत्वभिः)
अपने बलों द्वारा (आजति) चढ़ाई करता है, और हमें उन्माद फैलता है ।

२३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४१] य एक इद्विदयते वसु मर्त्तय वाशुषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

इशानो अप्रतिष्कृत इन्द्रो अङ्ग ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४२] यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावो आविवासति ।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥२॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[१३४३] कदा मर्त्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

कदा न शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ३ ॥ २२ ॥

अ० १ । म० ४ । ७, ६, म० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८६] पृ० २०० ।

(२) (बहुभ्यः) बहुत से पुरुषों में से (यः चित् दि) जो कोई भी (सुतावान्) ज्ञान योग से प्राप्त ब्रह्मानन्द रस के निष्पादक इस परमात्मा का स्वरूप (आविवासति) साक्षात् देख लेता है (अङ्ग) हे नर ! (इन्द्रः) परमेश्वर उसको शीघ्र ही (तत्) वह (उग्रं शवः) उग्र, वीर्य सम्पन्न बल (पत्यते) प्रदान करता है ।

(३) (अङ्ग) हे पुरुषो ! (इन्द्र) वह परमेश्वर तो (नः गिरः) हमारी बाणियों को (कदा) जब कभी भी (शुश्रवद्) सुन लेता है और (मराधसं) आराधना न करने हारे, तुच्छ नास्तिक को (पदा) चरण स्थिति मात्र से नष्ट होजाने वाले (क्षुम्पम् इव) साँप की छतरी, खुम्ब या पद्मबेहरे के नन्हे पौदे के समान (पदा) अपने सामर्थ्य से (कदा) कभी भी (स्फुरत्) विनाश कर देता है ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

[१३४४] गायन्ति त्वा गायत्रिणो र्वन्त्यकर्मकिण् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उदशमिव येमिरे ॥१॥

२४ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
[१३४५] यत्सानोः सान्वाकहो भूर्यस्पष्ट कर्त्तव्यम् ।

२४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तादिन्द्रो अर्थं चेतनि यूथेन वृष्णिरेजति ।

२ २४ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१३४६] युंक्त्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ॥२॥

१ २ ३ १२ २२
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिश्चर ॥ ३ ॥ २३ ॥

श्र० १ । १० । १ ३७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [३४२] पृ० १७७ ।

(२) (यत्) जब (सानोः सानु) ऊँची से ऊँची चित्तमूर्ति में साधक (आरुहः) चढ़ जाता है और (भूरि) बहुत कुछ मन संकल्प (कर्त्तव्यं) पूर्ण करने के लिये (अस्पष्ट) साधन करता है । (तद्) तब (इन्द्रः) परमेश्वर (अर्थं) उसके इष्ट प्रयोजन को (चेतति) जान लेता है और तब (वृष्णिः) सुखों की वर्षा करने द्वारा यह आत्मा (पृजति) सेनापति के समान आगे बढ़ता है ।

(३) हे (सोमपाः) सोमरूप आनन्दरस का पान करने वाले (इन्द्र) आत्मन् ! (अथा) अब (नः) हमारे (गिराम्) घायियों की (उपश्रुतिम्) ध्वनि को (चर) श्रवण कर । और (केशिना) ज्ञान, साधना से सम्पन्न (वृषणा) सुखों के वर्षक (कक्ष्यप्रा) कक्षा यातों को पूर्ण करने वाले प्राण और अपान दोनों को (युंक्त्वा हि) साधना में नियुक्त कर ।

इति द्वादशः गणः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः पञ्चमश्च प्रपाठकः समाप्तः ।

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अथ षष्ठः प्रपाठकः (प्रथमोऽध्यायः)

ऋषि — १, ६ मेषातिथि काण्वः । १० वसिष्ठः । ३ प्रगाथः काण्व ।
४ परागर । ५ प्रगाथो घोर काण्वो वा । ७ त्र्यम्बकसुदम्बू । ८ अग्नयो धिष्ण्या
ऐश्वरा । ९ हिरण्यम्तूष । ११ सार्पराक्षी ॥ देवता—१ इधमः समिद्धो वाग्निः
तनूनपात नराशंसः इन्द्रश्च क्रमेण । २ आदिन्याः । ३, ५, ६ इन्द्र । ४, ७-९
पवमान मोमः । १० अग्निः । ११ सार्पराक्षी ॥ छन्द — ४-३, ११ गायत्री ।
४ त्रिष्टुप् । ५ वृहती । ६ प्रगाथ । ७ अनुष्टुप् । ८ द्विष्टुप् पक्तिः । ९ जगती ।
१० विराट् जगती ॥ स्वर—१-३, ११ षड्ज । ४ धैवत । ५, ६ मध्यमः ।

६ गान्धारः । ७ पञ्चम । ८-६, १० निषाद ॥

[१३४७] सु षभिद्धो न आब्रह्म देवो अग्ने हविष्मते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

होताः प्रावक यक्षि च ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २

[१३४८] मधुमन्तं तनूनपादु यज्ञं देवेषु न कवे ।

३ १ २ ३ १ २

अद्या कृणु हातये ॥२॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[१३४९] नराशंसमिह प्रियमास्मन्मन्यज्ञ उपह्वय ।

१ २ ३ १ २

मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥३॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[१३५०] अग्ने सुखतमे रथे देवो इन्दिर आब्रह्म ।

१ २ ३ १ २

आस हाना मनुर्हिनः ॥४॥१॥ अ० १ । १४ । १-४ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने !) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (सुसमिद्ध)

उत्तम रूप से हमारे हृदय में प्रकाशित होकर आप (न.) हमें (देवान्)

१३४८—कृणुहि वीनये' इति अ० ।

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को (आवह) प्राप्त कराइये । हे (होतः) सब पदार्थों के दाता ! हे (पावक) सब के अन्तःकरणों के पवित्र करने हारे ! आप (इविष्मते) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करने हारे ज्ञानी पुरुष को (च) भी (यधि) आप प्रेम करते और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थों को देते हैं ।

(२) (कवे) मेधाविन् ! हे (तनूनपाद्) शरीर के छोटे स छोटे भागों की रक्षा करने हारे ! या देह को न गिरने देने वाले प्राणस्वरूप ! (यः) हमारे (यज्ञं) जीवनमय राष्ट्रमय और दान आदि सत्कर्मरूप यज्ञ को (अथ) आज के समान सदा, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त (देवेषु) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों में (कृणुहि) सम्पादित करें ।

(३) (नराशंसं) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, (प्रियम्) उत्कृष्ट, अत्यधिक प्रिय (मधुजिह्व) मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करने और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने, हारे । इविष्कृतं) ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करने हारे अन्तरात्मा और उस प्रभु को भी इस (इह अस्मिन् यज्ञे) यहा इस उपासना कार्य में या संसार में (उपह्वये) ध्यान करु ।

(४) हे (अरने !) प्रकाशस्वरूप ! (सुखतमे) अति अधिक सुख कारक (रथे) रमण करने के साधन इस देह में (हंसितः) समाधि द्वारा अर्चित और परिशोधित होकर (देवान्) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को (आवह) प्राप्त करा । तू ही (मनुः हितः) इस हृदयगुहा में मनन-शील होकर या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही (होता) इन प्राणों को अपने भीतर आदान करने और सुखों के देने हारा (अति) है ।

(१३५१) यदद्य मूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।

सुवाने सविता भग॥१॥

[१३५२] सु^{३२}प्रा^१वी^२र^३म्तु^{२४} स^३क्षय^३ प्र^३नु^३यामन्त^३सु^३दान^{२१}वः ।

य^२ नो^३ अ^१हो^२ऽनि^३पि^३प्रति ॥२॥

[१३५३] उ^३त्त^२स्व^३राजो^३ अ^१दिति^२रद^३ब्ध^३स्य^३ व्र^३त^३स्य^३ ये ।

म^३हो^२ राजा^२न ई^२शने ॥३॥ २४ ऋ० १ । ६३ । ४-६ ॥

भा०—(१) (यद्) जो (अथ) इस समय आज या इस कल्प में (भगः) सेवन करने योग्य है, (सूर) सूर्य प्राणात्मा के (उदिते) उदित हो जाने पर (अनागाः) सब अपराधों और दोषों से विमुक्त, पाप रहित, (मित्रः) सब का स्नेही, (अर्थमा) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का नियन्ता, (सविता) सब ससार का उत्पादक परमात्मा (सुवाति) हमें सुख प्रदान करें ।

(२) (यः) जो (अहः) पाप को (अति पिप्रति) पार कर लेते हैं वे (यामनि) प्रति दिन (सुदानवः प्र) उत्तम कल्याणकारी उपदेश और उत्तम ऐश्वर्य दान करने वाले हों । और (सक्षय) निवास सहित हमारा (सुप्रावी) उत्तम रक्षा का प्रबन्ध भी (अस्तु) हो ।

(३) (उत्) और (यः) जो (अदितिः) अविनाशित चरित्र वाले (अदब्धस्य) अविनाशी, सुसम्पादित (व्रतस्य) व्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण (स्वराज) स्वतः अपने अन्तरात्मा के बल से प्रकाशित होने वाले हैं । वे ही (महः राजानः) बड़े ऐश्वर्यशील होकर (ईशते) सब पर शासन करते हैं ।

व्रत का पालक सदाचारी दृढ़ पुरुष ही महान् बली हो जाता है ।

[१३५४] उ^१ त्वा^२ मदन्तु^३ सोमा^१ कृ^३णु^३ष्व^३ राधो^३ अ^३द्रिव^{२१} ।

अ^१व^२ ब्रह्मा^३द्वि^३षो^३ जहि ॥१॥

[१३५५] प^३दा^२ प^३णी^३नरा^३धसो^३ नि^३ या^३धस्व^३ म^३हो^३ अ^३सि ।

न^३ हि^३ त्वा^३ क^३श्चन^३ प्रति ॥२॥

[१३५६] त्वमशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।

त्व राजा जनानाम् ॥३॥३॥ अ० ८ । ६४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१६४] पृ० १०३ ।

(२) हे (इन्द्र) ज्ञानवन् ! (पणीन्) केवल अदले बदले के व्यवहार को करने हारे, धन लोभी (अराधसः) यज्ञादि द्वारा आराधना न करने हारे मूर्ख पुरुषों को अपने (पदा) ज्ञान से (नि बाधस्व) पूर्ण रूप से पीड़ित कर अर्थात् उनकी लोभवृत्ति को नाश करदे । तू (महान्) सबसे बड़ा (असि) है । (त्वा प्रति) तेरे मुकाबले में (क. चन) कोई भी (नहि) नहीं है ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (११) आप (सुताना) उत्पन्न, शिक्षित और (असुतानां) अनुत्पन्न और अशिक्षित, जो कालान्तर में उत्पन्न या शिक्षित होंगे उन सब पर (अशिषे) सामर्थ्यवान् है क्योंकि (त्वं) तू (जनाना) सब मनुष्यों, और उत्पन्न होने हारे प्राणिनों का (राजा) अधिपति, राजा है ।

इन्द्र=परमात्मा, आचार्य और राजा हैं । वे क्रम से पाँगी और शिष्यों को और प्रजाओं को निरन्तर शिक्षा में और उनकी व्यवस्था करें ।

इति प्रथम रागः ।

— ० —

[१३५७] आ जागृनिर्धिम क्रतु मनीना सोम पुनानां अमरमू-

पु । सपन्ति यं मिथुसागो निद्रासा अमरयं रनिरा

स. मुहम्ना ॥ १ ॥

१३५७—१. 'सना मनीना' । २. 'एव मनीना', 'निर मर', 'मर' ।

३. 'सदिहम्ना' इति दृ० ।

१ २ ३२४ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२
 [१३५८] स पुनान उपसूर दधान आभ अप्रा रोदसी वी प
 २२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २२ १२ ३ ३
 आव । प्रियाचिद्यस्य प्रियसास ऊता सतो धनं कारिणे
 १२ २२

न प्रयसत् ॥ २ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
 [१३५९] स वद्धिता वद्धनः पूयमानः सोमा मीढ्वां अभि नो
 १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 ज्योतिषा वीत् । यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वविदो
 ३ १२ १२ ३ २
 अभिगा अद्रिमिण्णन् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ९ । ६७ । ३७-३६ ॥

भा०—(१) (जागृवि.) जागरणशील, कभी आलस्य न करने
 हारा, सर्वदा सचेत, (मतीना) मनन करनेहारी बुद्धियों या मनन करने
 योग्य वेदवाणियों के (अत) सारभूत सत्यज्ञान को (पुनान) प्रकाशित
 करता हुआ (विप्र) मेधाबुद्धि से सम्पन्न विद्वान् (सोमः) शम, दम
 आदि साधनों से सम्पन्न होकर (चमूषु) प्रजाओं में (असदन्) विरा-
 जता है । (यं) जिसके पास (निकामः) नाना प्रकार की कामनाओं
 से युक्त (मिथुनासः) गृहस्थ नर नारी (अध्वर्यवः) अपने यज्ञादि
 कर्मकाण्ड में लगे हुए विद्वान् (रथिरासः) देहधारी, (सुहस्ता) उत्तम
 कर्म करने में कुशल पुरुष भी (सपन्ति) ज्ञान और सरसग प्राप्त करने
 के लिये आते हैं ।

(२) (स) वह विद्वान् (पुनान) अपने स्वरूप में स्वतः और
 अधिक शुद्ध पवित्र होता हुआ अपने को (सूर) सबके उत्पादक और
 प्रेरक परमेश्वर में (उपदधान) ईश्वर प्राणिधान द्वारा लगाता हुआ
 (उभे) दोनों (रोदमी) प्राण और अपान या इहलोक और परलोक, सूर्य
 और पृथिवी के समान ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों को ज्ञान तेज से (अप्रा)
 पूर्ण करता है, (सः) और वह (वि आवः) विविध प्रकार का
 ज्ञान प्रकट करता है । और (सतः) अपने उद्देश्य तक पहुँचे हुए (यस्य)

त्रिमकी (त्रिषा) धेनु, और (त्रिषमास) कृषाणदाविनी कामनायें (उगी) रक्ष्य करने, भयों और विघ्नों से बचाने के लिये होनी हैं । वह (मः) हमें (धर्म) आत्मज्ञान रूप उत्तम धन को (कारिणे न) अपने धाकर के समान समझ कर (म यमात्) प्रदान करे ।

(३) (म) वह (परिता) मर की मृत्ति करने द्वारा और (यधनः) स्वयं भी आगे बढाने द्वारा, या स्वयं के संग्रहों को काटने द्वारा और बन्धनों का भी मूलोत्प्रेक्ष करने द्वारा (पूयमान.) श्रद्धा पवित्र ज्ञानवान् होकर । (मोम) शमश्रुमादि पदक सम्पत्ति से युक्त विद्वान् (मोद्वान्) आनन्द और सुखों का स्वर्ण, धर्मसेव समाधि से भिन्न, (ज्योतिषा) आत्मज्ञानमय ज्योति से (न.) हमें (अभि आवात्) उस म्यान पर ले जावे (यत्र) जहा (न.) हमारे (पद्गाः) परम पद, प्राप्त मन्त्र के ज्ञाता (स्वर्षिदः) मुक्ति मुक्त का लाभ करने द्वारे (गा) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात् करके (पूर्व पितर.) पूर्व पिता पितामह गुरु आदि पुरुषा एवं आचार्य लोग (भदिम्) उस असंख्य मन्त्र को (हव्यान्) प्राप्त होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ ३

[१३६०] मा त्वदन्त्याष्ठशंसत सखायो मा रिपण्यत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रमित्स्नाता वृषण सचा सुन मुहुकथथा च शंसत ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३६१] अवक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां न चर्पणीसहम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विष्टेपणं संवननमुभयङ्कर मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥ ५ ॥

अ० ६ । १ । १-२ ॥

भा०—(१) हे (सखायः) मित्रो ! समान रूप से प्रवचन करने द्वारे विद्वान् लोगो ! (अन्यद्) ईश्वर की स्तुति से अतिरिक्त व्यर्थवाद

१३६०—२, 'वृषभ यथा जुव', 'सवननोभयकर' इति अ० ।

(मा चित्) कभी मत (वि शंसत) उच्चारण किया करो । आप कभी (मा विपश्यत) बलेश को प्राप्त न होओ । (च) और (सुते) शान उत्पन्न होजाने पर (मचा) एकत्र होकर एक साथ (वृषणं) आनन्द-सुखों की वर्षा करनेहारे (इन्द्रम्, इत्) परमेश्वर को ही लक्ष्य करके (उपया) वेद-मन्त्रों को (मुहु) बार २ (शसत) उच्चारण और उनका उपदेश किया करो ।

(२) और हे विद्वानो ! आप लोग (जुव) वेगवान्, शक्तिशाली, (अक्रधिय) सबको अपने ही ओर खींचने हारे (वृषभ) बलवान् श्रेष्ठ (गां न) बैल के समान बलवान्, (वृषभं) समस्त सुखों के वर्षक (चर्पणीसहम्) समस्त संसार के मानवों के अपराधों को सहन करने हारे, उन पर क्षमा-शील, उनके व्यवस्थापक, (विद्वेषणं) दुष्टों को दण्ड देने के कारण उनकी अश्रीति का पात्र और (सवनन) श्रेष्ठ पुरुषों के शरण करने योग्य (उभयकरं) धनुप्रह और दण्ड पालन और सहार दोनों के करने हारे अतएव (महिष्ठ) सबसे बड़े दाता, (उभयाविनं) सज्जन और दुर्जन, ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों के जीवनो की समान भाव से रक्षा करने हारे (इन्द्रम् इन् स्तोत) उम परमेश्वर की ही स्तुति करो ।

इन्द्रियों को आत्मा और विद्वानों को परमात्मा के प्रति इस भाव से रहना चाहिये । इन्द्रियों के पक्षमें—आत्मा (विद्वेषण सवननं) द्वेष और राग से युक्त, ईप्सा और जिहासा या पाने और त्यागने की इच्छा द्वारा दोनों कार्यों को करनेहारा और सुखकर और दुःखकर दोनों प्रकारोंके मार्गों पर जानेहारा है ।

[१३६२] उदु त्य मधुमत्तमा गिर. स्तोमास ईरते ।

सत्राजितो धनसा अजितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

[१३६३] कएवा इव भृगव. सूर्या इव विश्वमिन्द्रातमाशत ।

इन्द्रं स्तोममिर्महयन्त आयवः प्रियमधासो अस्वरन्
॥ २ ॥ ६ ॥

अ० ८ । ३ । १५, १६ ॥

१३६३—'विश्वमिन्द्रातमाशत' इति अ० ।

भा०—(१) (रथा इव) रथसाधन, रथ जिस प्रकार (वाजयन्तः) संग्राम में गमन करते हुए (अचितोतयः) अपने रथा के साधनों को निरन्तर स्थिर रखने हारे (सत्रावित०) समस्त शत्रुओं का विजय करके (धनसा) धन, लक्ष्मी को प्राप्ति कराते हैं और राजा के प्रति ही आते, उसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्वे) वे (मधुमत्तमाः) अति ज्ञान, और आनन्दरूप मधु से पूर्ण (गिरः) वेदवाणीस्वरूप (स्तोमासः) वेद के स्तुति सूक्त, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उव ईरते) भक्तजनों और विद्वानों के हृदयों और कण्ठों से तुम्हें परमेश्वर के प्रति उठते हैं ।

(२) (मृगव०) पाप को भून डालने हारे, तपस्वी, (कण्वा०) विद्वान् पुरुष (सूर्या इव) सूर्य की किरणों के समान (विश्वम् इव) इस समस्त संसार को (धीतम्) ज्ञान योग और ध्यान योग से प्राप्त कर के (आशत) भोग करते हैं । और वे (प्रियमेधास०) सूक्ष्म तत्त्वदर्शिनी, धारणावती बुद्धियों और ज्ञानधाराओं के प्रेमी (आयवः) मनुष्य (स्तोमेभिः) नाना प्रकार के स्तुति-वचनों से (इन्द्रं) परमेश्वर्यवान् परमेश्वर की (महयन्तः) अर्चना करते हुए (अस्वरन्) वेद की स्तुतियों का गान करते हैं ।

[१३६४] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} पर्युषु प्रधन्व वाजसातय परि धृत्राणि सज्जणि० ।

^{३ २ ३ १ २ ३ १ २} द्विषस्तरण्या ऋण्या न ईरसे ॥ १ ॥

[१३६५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अजीजना हि पचमान सूर्य विधारे शक्मना पय० ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} गोजीरया रहमाणः पुरन्ध्या ॥ २ ॥

[१३६६] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अनु हि त्वा सुत सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} वाजा अभि पचमान प्रगाहसे ॥ ३ ॥ ७ ॥ क्र० ९।११०।१, ६, २॥

१३६६—तृतीयस्था अचः प्रायः सामसहितासु 'मदामसीत्यन्तं' प्रतीकमुपलभ्यते ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२८] पृ० २१८ ।

(०) हे (पवमान) सब के प्रकाशक प्रेरक और उत्पादक । आप (गोजरया) गति के वेग से युक्त (पुरन्ध्या) ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली शक्ति से (रहमाण०) सबको गति देनेहारे होकर अपने ही (शक्तिमता) शक्ति से (पय०) सबके पुष्टिकारक जल को (विधारे) विशेष रूप से ऊपर किरणों द्वारा धारण कर लेने के लिये (सूर्य) सूर्य को (अजीजनः) उत्पन्न करते हैं । अथवा—(पय सूर्य विधारे अजीजन०) सबके पोषक सूर्य को भी निरालम्ब आकाश में उत्पन्न करते हैं ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३२] पृ० २२० ।

२ ३ १ ३

[१३६७] परिप्रथन्व० ॥१॥

३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २

[१३६८] एवामृताय महं क्षयाय स शुक्रो अर्प दिव्य पीयूष० ॥२॥

२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१३६९] इन्द्रस्ते सोमसुनस्य पेयात् ऋत्वे क्षयाय विश्वे च देवा

॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० ६ । १०६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२७] पृ० २१८ ।

(२) हे प्रभो ! तू (दिव्यः) दिव्य (पीयूष०) सबको पुष्ट करने वाला, पान करने योग्य आनन्दस्वरूप, (अमृताय) अमृत, परम ब्रह्मसुख या मुक्ति प्रदान करने के लिये और (महं) बड़े भारी (क्षयाय) शरण प्राप्त कराने के लिये (एव) ही है । हे सबके उत्पादक (स) वह आप (शुक्र०) शुद्ध कान्तिस्वरूप होकर हम पर (अर्प) अपनी ज्ञान और

१३६७—३ 'पेयाः' इति अ० । एव एव 'स्टीवन्सनसम्पादिते' लन्दनमुद्रिते

ग्रन्थे आद्ये द्वे अचावेकीकृत्य मुद्रिते 'परिप्रथन्वा एवामृतायेत्यादि, नच

प्रागादिगम् । अजमेरमुद्रिते तु पूर्णो मन्त्रपाठः ।

आनन्द धारा को प्रेरित करो और हमारे हृदय में प्रकाशित होओ । तं
विद्यात् शुक्रममृतम् । कठ० उप० ।

(३) हे (सोम) सद्यके उत्पादक परमात्मन् ^१ (सुतस्य) हृदय में
प्रकट हुए (ते) आनन्दस्वरूप आपके रस का (इन्द्रः) यह आत्मा (च)
और (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुणवान् यह इन्द्रियगण, अथवा विद्वान्
गण भी (ऋत्वे) ज्ञानप्राप्ति और (दद्याय) वस्तु प्राप्ति के लिये (पे
यात्) पान करें ।

श्रुति द्वितीयः खण्डः ।

—:०.—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३७०] सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्त्वो मत्सरास्य प्रसृतं साक-
२ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
मरिते । तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादते पत्रते
२ ३ २ २ ३
धाम किञ्चन ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३७१] उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधुमन्दाजनी चादते अन्त-
३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
रासनि । पत्रमानः सन्तनिः सन्वतामिव मधुर्मा व्रप्स-
३ १ २
परिवारमर्षनि ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३७२] उक्षा मिमेति प्रतियन्ति धेनवो देवस्य देवीरुपयन्ति
३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
निष्कृतम् । अत्यक्रमदिर्जुनवारमव्ययमत्क न नित्तं परि
१, २,
सामो अव्ययत ॥३॥ ६॥ श्र० ६ । ६१ । ४, २, ४ ॥

भा०—(१) (सूर्यस्य) सद्यके प्रेरक प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रश्म
य, इव) किरणों के समान (द्रावयित्त्व) द्रुतगति से जाने लगे (म

१३७०—१. 'प्रसृतः' २. 'सन्तति' ३. 'उक्ष । मिमाति' ४. 'म' प्र० ।

सुत) उत्तम रीति से उत्पन्न, प्रकट या प्रेरित होकर (मत्सरासः) निर-
पेक्ष गति करते हुए स्वयं प्रेरित, (आशवः) शीघ्रगामी (सर्गोत्सः) सगुण
लोक (ततं) विस्तृत विशाल (तन्तुं) सर्ग, स्थिति, प्रलय के अनादि
तन्तु ब्रह्म को आश्रयण करके (साक) एक ही काल में (परि ईरते)
अग्नीः कक्षा में परिक्रमा करते हैं, वास्तव में (किञ्चन) कुछ भी
(धाम) शक्ति और तेज (इन्द्राद् कृते) बिना उस परमेश्वर के कहीं से
भी (न) नहीं (पवते) प्रकट होता । यहा तेजस्वी लोकों को 'सोमा,'
' मत्सरासः ' शब्दों से कहा गया है । अन्यात्मपक्ष में ये प्राण हैं और
इन्द्र=आत्मा ।

(२) (मति) मननशक्ति बुद्धि उस परमेश्वर इन्द्र में समाधि द्वारा (उप-
पृच्यते) लग जाती है तब (मधु) आनन्द-रस (सिच्यते) अन्त करण
में प्रवाहित होने लगता है । (मन्दाजनी) अति आनन्ददायक रसधारा
(आसनि) मुख के भीतर या मुखस्थान शिरोभाग में (अन्त) भीतर
(चोदते) प्रेरित होती है । (सन्तनि) सर्वत्र समान भाव से विस्तृत
हाने हारा (पवमानः) प्रकट होता हुआ, कान्तिस्वरूप (द्रप्स) वीर्य
और रसस्वरूप आनन्दरस (मधुमान्) ज्ञान और आनन्ददायक होकर
(वारम्) मृकटियों के मध्यभाग त्रिपुटीस्थल में या चरणीय प्रदेश में
(परि अर्पति) प्रकट होता है ।

इसमें ब्रह्माण्डगत सोम के अतिरिक्त शरीरगत सोम का स्वरूप भी
दर्शाया गया है ।

(३) जैसे (उच्चा) वीर्य मेचन में समर्थ साह (मिमेति) शब्द
करता है और (धेनवः) गौण (त) उमकी तरफ (प्रति यन्ति) चलती हैं ।
इसी प्रकार (देवी) दिव्यगुण वाली शक्तियां या बुद्धिया (देवस्य) दिव्यगुण
शुद्ध अन्तरात्मा के (निष्कृत) गुप्त स्थान या विशुद्ध स्वरूप को भी (उ-

पयन्ति) पहुँचती हैं । (सोमः) शुक्रस्वरूप सर्वप्रेरक शक्ति (अर्जुनम्)
शुभ्र या देह के उपचय अपचय करने में समर्थ (अव्ययम्) प्राणमय
(वारम्) आवरणकारी कोष को (अति अक्रमीत्) अतिक्रमण करता
है और (निक्रम्) शुद्ध (अत्कं) कवच के समान रक्षण करने हारे शरण
योग्य पद को (अव्यत) प्राप्त होता है ।

३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१३७३] अग्नि नरो दीप्रितिभिररयार्हस्तच्युनं जनयत प्रशस्तम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥१॥

२ ३ २४ ३ १ २ ३ २ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७४] तमग्निमस्मे वसवो न्यएवन्तसुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् ।

३ २ ३ २४ ३ २ ३ १ २
दक्षाय्या यो दम आस नित्यः ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७५] प्रेक्षां अभ्ने दीदिदि पुगे नोऽजस्रया सूर्या यचिष्ट ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वा शुश्वन्त उपयन्ति वाजाः ॥ ३ ॥ १० ॥

अ० ७ । १ । १-२ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७२] पृ० ३७ ।

(२) (सुप्रतिचक्षं) उत्तम रूप से दर्शन करने योग्य, (तम्)
उस वरण करने योग्य (अभिम्) आभिरूप ज्ञानवान् तेजस्वी आत्मा को
(वसवः) आवास के साधन या देह में वास करने हारे देव, इन्द्रियगण
या विद्वान् लोग (कुतश्चित्) सब ओर से (अवसे) रक्षा प्राप्त करने के

१ अज गतिम्यानोपार्जनेषु । अजी मृजी भर्जने । अर्ज वर्ज भर्जने, इति
म्वादयः । अर्ज प्रसिधत्ने इति चुरादिः । ऋग्यो यद्रुग्ण ।
अर्जुन = गतिगान्, स्तिरः, उपार्जनशीलः, भर्जनशीलः, प्रतिपत्न-
वान् इत्यर्थः ।

लिये (अस्ते) अपने गृह, देह, या हृदयगुहा में (निऋयन्) योग समाधि द्वारा खोजते हैं जो (दहायः) बल को प्राप्त कराने में चतुर (नित्य.) अग्नय अविनाशी, (दमे) दमन करने योग्य शरीररूप गृह में (आस) विद्यमान रहता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशक आत्मन् ! (यचिष्ठ) हे बलशालिन् ! अति शुचतम ! अजर, अमर ! (प्रेक्ष.) योग-साधनों से प्रदीप्त, प्रज्वालित होकर (अजस्रया) निरन्तर प्रकाशमान (सूर्या) ज्वाला, ज्ञानमय व्योति से (दीदिहि) प्रकाशित हो । (शश्वन्त.) अनादिकाल से धरे तपस्वी (वाजाः) ज्ञानी पुरुष (स्वा) तुम्हको (उपयन्ति) प्राप्त होते हैं ।

^{२४ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २}
[१३७६] आयं गौः पृश्निरक्रमादसदन्मातरं पुरः ।

^{३ १ २ ३ १ २}
पितरं च प्रयन्तस्वः ॥१॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २}
[१३७७] अन्तश्चरन्ति रोचनास्य प्राणादपानर्ता ।

^{१२ २२ ३ १ २ २२}
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१३७८] त्रिशङ्खाम विराजन्ति वाक्पतङ्गाय धीयते ।

^{२ ३ २ ३ २ ३ १ २}
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥ ११॥ अ० १० । १८९ । १-३॥

मा०—(१) (२) (३) व्याख्या देखो अधिकृत सं० क्रम से [६३०, ६३१ और ६३२] पृ० ३१८, ३१९ ।

इति तृतीयः खण्डः ।

इति षष्ठस्य प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः
इत्येकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥



अथ द्वादशोऽध्यायः

—७१—

अथ षष्ठप्रपाठकस्यः द्वितीयोऽर्थः ।

अपिः—१ गोतमो राहूगणः, वसिष्ठस्वृतीयस्या । २, ७ वीतहव्यो भरद्वाजो वा बार्हस्पत्यः । ३ प्रजापतिः । ४, १३ सोमरिः काण्वः । ५ मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ । ६ अजिष्मोर्ध्वसबा च क्रमेण । ८, ११ वसिष्ठः । ९ तिरश्चीः । १० सुतमर आत्रेयः । १२, १६ नृमेधपुरुमेधौ । १४ शुन रोप आजीर्गर्गः । १५ नोधाः । १६ मेध्यातिथिमेधातिथिर्वा काण्वः । १७ रेणुर्वैश्वामित्रः । १८ कुत्स । २० आगस्त्यः ॥ देवता—१, २, ८, १०, १३, १४ अग्निः । ३, ६, ८, ११, १५, १७, १८ पवमानः सोमः । ४, ५, ६, १२, १६, १६, २० इन्द्रः ॥ छन्दः—१, २, ७, १०, १४ गायत्री । ३, ६ अनुष्टुप् । ४, १२, १६, १६ प्रागाथ । ५ बृहती । ६ ककुप् सतोबृहती च क्रमेण । ८, ११, १५, १० त्रिष्टुप् । १७ जगती । १६ अनुष्टुप् बृहती च क्रमेण । २६ बृहती अनुष्टुप् क्रमेण ॥ स्वरः—१, २, ७, १०, १४ पङ्क्तः । ३, ६, १० गान्धारः । ४-६, १२, १३, १६, २० मध्यमः । ८, ११, १५, १८ धैवतः । १७ निषादः ।

[१३७६] उपप्रयन्तो अक्षर मन्त्रं वोचमानये ।

आरे अस्म च ऋणवते ॥ १ ॥

[१३८०] यः स्त्रीद्वितीयं पूज्यं सञ्जग्मानास्तु कृष्टिषु ।

अरक्षदाशुषं गयम् ॥ २ ॥

[१३८१] स नो चैदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः ।

उनास्मान्पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१३८१—'अग्नी रक्षतु विषतः' इति श्रु० ।

उत्त द्रुवन्तु जन्तव उदश्विर्वृत्रहाजनि ।

धनजयो रणे रणे ॥ ४ ॥ १ ॥

[१, २, ४] अ० १ । ७४ । १-३ [३] अ० ७ । १५ । ३ ।

भा०—(१) (अध्वरं) हिंसा आदि रहित पर-उपकार आदि पवित्र कर्मों को (उप प्रयन्त.) अनुष्ठान करते हुए हम लोग (आरे) दूर देश में (च) भी (अस्मे) हमारी स्तुति को (शृण्वते) सुनने वाले (अग्नये) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के दाता परमात्मा की स्तुति के लिये (मन्त्रं) मनन करने योग्य वेदमन्त्र का (वोचम) उच्चारण करें ।

(२) (यः) जो (संजग्मानासु) समान भाव से संग करने हारी और (जीहि।तिषु) परस्पर खेद करने हारी, या परस्पर लड़ने हारी (कृष्टिषु) प्रजाओं में (पूर्व्यः) सब से प्रथम विद्यमान, या मुख्य पद पर विराजमान, आदरणीय, पूर्ण स्वभाव, निरपेक्ष, निष्पक्ष, न्यायशील ज्ञानी पुरुष है वही (दाशुषे) दान करने हारे त्यागी पुरुषों के (गये) प्राण और धन की (अरक्षत्) रक्षा करे ।

(३) (सः) वह (शंतमः) अत्यन्त भ्रान्तिदायक, भ्रम आदि युक्त, निष्ठ, निष्पक्षपात, ज्ञानी पुरुष, (नः) हमारे (अमात्यं) सहायक-पुत्र आदि और (वेदः) ज्ञान और धन की (रक्षतु) रक्षा करे । (उत्त) और (अस्मान्) हमको (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे ।

(४) और इसी प्रकार (जन्तवः) सब लोग (द्रुवन्तु) उसका वर्णन करें और जानें कि (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान और अधकार का नाश करने हारा (अग्नि) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, पथ-दर्शक और प्रकाशस्वरूप आचार्य और राजा (रणे रणे) रमणीय २ प्रवेशों और सग्राओं में (धनजयः) ज्ञान और धन का विजय करने हारा हो ।

^{१ २ ३ १२} [१३८३] अग्ने युंक्ष्व हि ये तवाश्वासो देव साधवः । ^{२२ ३ १ २}

^{२ ३ १ २ ३ १ २} अरं वहन्त्याशवः ॥ १ ॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ २ २} [१३८४] अच्छा नो याह्यावहाभिप्रयासि वीतये ।

^{२ ३ १२ २२} आ देवान्त्सोमपीतये ॥ २ ॥

^{१ २ ३ १२ २२ ३ १ २} [१३८५] उदग्ने भारत द्युमदजक्षण दविद्युतत् ।

शोचा विभाह्यजर ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । १६ । ४३-४५ ॥

भा०—(१) हे (देव) प्रकाशमान आत्मन् ! (ये) जो (साधवः) ज्ञानसाधन और कर्मसाधन में कुशल (तव) तेरे (आशवः) शीघ्रगामी (अश्वास) विषय ग्रहण करने हारे, (अरं) पर्याप्त ज्ञान और फलराशि को (वहन्ति) प्राप्त करते हैं उन इन्द्रिय आदि साधनों और विद्वानों को (युंक्ष्व हि) निश्चय पूर्वक कार्य में नियुक्त कर । व्याख्या देखिये अविकल सं० [२५] पृ० ११ ।

(२) हे (अग्ने) परमपुरुष परमेश्वर ! (न०) हमारे (अच्छा) सन्मुख (याहि) प्राप्त हो, हमें दर्शन दो और (वीतये) तब साक्षात्कार करने और (सोमपीतये) पेश्वर्य, आनन्दरस को पान करने के लिये (देवान्) इन्द्रियगणों या विद्वान्जनों को निश्चय (प्रयासि) ज्ञान (अभि आ-वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (भारत) समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे ! हे (अजर) जलामरणरहित ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परम आत्मन् ! (दधि द्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ तू (अजस्रं) निरन्तर वर्तमान, (द्युमद) प्रकाशमान तेज से (शोच) स्वयं प्रकाशित हो और (दवि-भाहि) उत्तम रीति से समस्त जगत् को भी प्रकाशित कर ।

[१३८६] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२} प्रसुन्वानागान्धसो मर्तो न घट् तद्वच ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२} अप श्वानमरावसं हता मखन्न भृगव ॥ १ ॥

[१३८७] ^{२ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ २२} आ जामिरत्क अव्यत भुजे न पुत्र ओण्यो ।

^{१ २ ३ १२ २२ ३ १२ १२ ३ १२} सरज्जारा न याषणां वरा न योनिमासदम् ॥ २ ॥

[१३८८] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२} स वरा दक्षसाधना वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २} हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥ ३ ॥ ३ ॥

श्रु० ६ । १०१ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५३ तथा ७७४]
पृ० २६८ और ५५३ ।

(२) (जामिः) आनन्द को उत्पन्न करने द्वारा, निर्दोष, शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक सोम (अत्के) अपने आच्छादक, आनन्दमय कोष में (ओण्योः) मां घाप के (भुजे) गोद में (पुत्रः न) पुत्र के समान और (योषणा) कामिनी स्त्री के प्रति (जारः न) उस में आसक्त पुरुष के समान और (योनिं) कन्यागृह के प्रति (वरः न) वरण करने योग्य पुरुष के समान (सरद्) गमन करता हुआ (योनिं) अपने आश्रय आत्मा में (आसदं) स्थिर, आनन्दरूप स्थिति प्राप्त करने के लिये (अव्यत) पहुँच जाता है ।

(३) (दक्षसाधनः) अपने बल्लोपार्जन का साधक (यः) जो (रोदसी) प्राण और अपान के वेगों को (तस्तम्भ) रोक लेता या चश कर लेता है (सः) वह (हरिः) इन्द्रियों का विजय करने द्वारा (वेधाः) ज्ञानी गृहस्थ (योनिं न , जैसे अपने घर में आता है उसी प्रकार वह भी (वेधाः) मेधावी, ज्ञानवान् साधक (योनिम्) आश्रयस्थान, परम

१३८६—१. 'प्रसुन्वानस्यान्धसो', 'मर्तो न घट्' इति अ० ।

शरणरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (पवित्रे) परम पावन परमात्मा में
(अव्यक्त) विचरता है ।

इतिः प्रथमः खण्डः ।

— ० —

उ २ ३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २
[१३८६] अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुपा सनादांस ।

३ १ २ ३ १ २

युधेदापित्वमिच्छस ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २२

[१३८७] नकी रेवन्तं सख्याय त्रिन्दसं पीयन्ति ते सुराश्वः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३ १ ३ १ २

यदा कृणोपि नदनुं समूहस्याटित्पितेव हूयसे ॥ २ ॥ ४ ॥

श्र० ८ । २१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [३६६] पृ० २०४ ।

(२) हे प्रभो ! आप (रेवन्त) केवल धनसम्पन्न, धनाभिमानों
पुरुष को (सख्याय) अपनी मित्रता के लिये (नकि.) कभी नहीं
(विन्दसे) प्राप्त करते । क्योंकि (सुराश्व.^१) शराव पीकर, या राज्य लक्ष्मी के
मद से फूले हुए (ते) वे लोग हितैषियों तक को (पीयन्ति) मारते हैं ।
और जब (नदनु) सत्य गुणों का उपदेश करने हारे पुरुष को आप अपना
मित्र । कृणोपि) बना लेते हो और (समूहसि) उसका उत्तम रीति
से उन्नति के मार्ग पर लेजाते हो । (आत् इत्) तब ही हे परमेश्वर !
आप (पिता इव) पिता के समान (हूयसे) याद किये जाते हो ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २२ ३ १ २

[१३८९] आ न्वा सहस्रमाशनं युक्ता रथे हिरगयये ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २

ब्रह्मयुजां हरय इन्द्रं केजिनो बहन्तु सामगीनये ॥ १ ॥

१३८९—१. 'दुर्भास्वि गतिगुदयोः' [श्वारि]

१. सुरपा राजा. इति सुराश्वः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
[१३६२] आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेष्या ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणास्य पीतय ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६३] पिवा त्वाऽस्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यने ॥३॥५॥

अ० ८। १। २४-२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४५] पृ० १२५।

(२) हे इन्द्र ! (हिरण्यये) हरणशील (रथे) रमण-साधन, भोगायतन इस देह में (मयूरशेष्या) मयूर के पंखों के समान वर्ण वाले, (शितिपृष्ठा) श्वेत या नील कान्ति को स्पर्श करने हारे, (हरी) दुःसहारी या हरणशील, अश्वरूप प्राण और अपान (त्वा) तुझ आत्मा के (विव-क्षणास्य) अत्यन्त प्रशंसनीय या प्राप्त करने योग्य, महान्, (मध्वः) मधुर अमृतरस रूप (अन्धः) जीवनशक्तिमय सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (वहता) प्राप्त करावें । विशुद्ध चितिशक्ति के योगसिद्ध अनुभवों को लक्ष्य करके प्राणापान के साधकों के निमित्त प्राण और अपान दोनों का वयान सी इसी प्रकार कहा गया है । जैसे—

“ काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी ले जायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥मुण्डक॥

जो इन मन्त्रों को सूर्यपरक लगाया जाता है वह आदित्य भी साधक द्वारा अन्तर्दृष्ट आदित्य प्रभु का एक दृष्टान्तमात्र है ।

(३) हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (अस्य) इस (सुतस्य) समाधि द्वारा निष्पादित मोम को (तु) शीघ्र ही (पूर्वपा इव) प्राण वायु के समान (पिबु) पान कर । क्योंकि (परिष्कृतस्य) योग-साधन पूर्व प्राणायाम आदि संमों द्वारा परिशोधित (रसिनः)

ब्रह्मास्वाद रस की (रमम्) यह (आसुतिः) निष्कर्ष या प्राप्ति (मदाय) परम हर्ष के प्राप्त करने के लिये (चारु.) सर्वोत्तम (पत्यते) जानी और प्राप्त की जाती है ।

[१३६४] आसोता परिपिचताश्व न स्तोमममुर रजस्तुरम् ।

वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ १ ॥

[१३६५] सहस्रधारं वृषमं पयोदुह प्रिय देवाय जन्मने ।

ऋतेन य ऋतजातो वि वावृध राजा देव ऋतं बृहत्
॥ २ ॥ ६ ॥

अ० ६ । १०८ । ७, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५८०] पृ० २६२ ।

(२) (सहस्रधार) सहस्रों धारणकारिणी शक्तियों या आनन्द धाराओं, या नाना स्तुति वाणियों स शुक्र (वृषमं) सुखों के वर्णक (पयो-दुह) शुष्टिकारक आनन्द का दोहन करने हारे (प्रिय) आत्मा के समान सब से अधिक प्राप्ति के विषय (देवाय) परम इष्टदेव के (जन्मने) अन्तरात्मा में प्रादुर्भाव करने के निमित्त साक्षात्कार करो । जो आत्मारूप सोम (राजा) ज्ञान से प्रकाशित, इस देहोन्द्रिय सघात का प्रकाशक राजा (ऋतजातः) तप से परिष्कृत होकर (ऋतेन) सत्य ज्ञान से (वि वावृध) अधिक शक्तिशाली होता है और जो स्वयं (देव) दिव्यगुण हाकर (ऋतं) सत्य स्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा, या सबका वर्धक है ।

इति द्वितीय खण्डः ।

[१३६६] अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद द्रविणस्युर्विपन्यया ।

समिद्धं शुक्र आहुन ॥ १ ॥

१३६५—२. 'वृषम पयोवृध' इति अ० ।

^{१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}
[१३६७] गर्भे मातुः पितुः पिता विदिद्युतानो अक्षरः ।

^{१ २ ३ २ ३ २ ३ २}
आसीदन्नस्य योनिमा ॥ २ ॥

^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१३६८] ब्रह्म प्रजावदाभर जातवेदो विचर्षणे ।

^{२ ३ २ ३ १ २ ३ २}
अग्रे यद्दीदयदिवि ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० ६ । १६ । ३४, - ३६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४] पृ० ३ ।

(२) (पितुः पिता) सब पालकों का पालक, पिता का भी पिता, (अग्निः) ज्ञानवान् परमात्मा (अक्षरे) अविच्युत, स्थिर (मातुः) प्रमाता आत्मा के (गर्भे) अन्तःकरण में (विदिद्युतान) प्रकाश करता हुआ (अन्नस्य) सत्य ज्ञान के (योनि) मूल आश्रय ईश्वरीय ज्ञान, वेद को (आसीदन्) स्थापना करता हुआ समस्त आवरणरूप अज्ञानान्धकारों का नाश करता है । अथवा सूर्य आदि पालकों का उत्पादक ज्ञानी एवं सबका अग्रणी, अनादि सिद्ध परमेश्वर (मातुः गर्भे) जगत् को रचाने वाली प्रकृति के गर्भ में, उसके बीच (विदिद्युतानः) अपने प्रकाश को स्थापित करता हुआ (अन्नस्य योनिम्) अव्यक्त जगत् के मूल कारण रूप तत्त्व को (आसीदन्) अपने वश करता है ।

(३) हे (जातवेदः) समस्त संसार के उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे ! (विचर्षणे) सबके द्रष्टा ! आप हमें (प्रजावद्) पुत्र आदि सहित (ब्रह्म) ऐसे अन्न और ज्ञान को (आभर) प्राप्त कराइये (यत्) जो (दिवि) दिव्यगुण से युक्त ज्ञानमय उत्कृष्ट लोक में भी (दीदयत्) प्रकाशित रहे । अर्थात् ऐसा अन्न और ज्ञान प्राप्त कराओ जिसका परलोक और विद्वानों में भी आदर हो ।

^{३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१३६९] अस्य प्रेया हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम् ।

^{३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}
सुतः पवित्रं पयसि रेसन् मितेव सन्न पशुमन्ति होता ॥ १ ॥

३ १ २२ ३ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३
 [१४००] भद्रा वस्त्रा समन्याऽऽवसानो महान् कविर्विचचनानि
 १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
 शंसन् । आवच्यस्व चम्बोः पूयमानो विचक्षणो जागृवि-
 ३ १ २
 देवधीतौ ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 [१४०१] समु प्रियो मृज्यन्त सानो अग्नये यशस्त्रो यशसा चैतो
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३
 अस्मे । अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूय पात स्वास्तिभिः
 १ २
 सदा नः ॥ ३ ॥ ८ ॥

अ० ६ । ६७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५२६] पृ० २६१ ।

(२) हे सोम ! महायोगिन् विद्वन् ! (भद्रा) कल्याणकारी
 (समन्या) परस्पर प्रेम पूर्वक सम्मिलन करने योग्य, या सग्राम योग्य,
 केसरिया, तेजस्वी या कापाय (वस्त्रा) वस्त्र (वसानः) धारण कर्ता
 हुआ (महान्) बड़ा (कवि) मेधावी पुरुष होकर (विचचनानि) निरन्तर
 उपदेश करने योग्य वचनों को (शंसन्) उपदेश करता हुआ (विचक्षणः)
 भले बुरे, सत् असत् का विवेक करता हुआ (देवधीतौ) परमेश्वर के प्राप्ति
 के मार्ग में (पूयमानः) अपने अन्तःकरण से पवित्र होकर (चम्बोः)
 द्यौलोक और पृथिवी ज्ञानवान् और अज्ञानी दोनों प्रकार के जनों में
 (आवच्यस्व) विचरण कर ।

(३) (यशसां) यशस्वियों के बीच, (यशस्त्रः) अति अधिक
 यशस्वी, (चैतः) इस पृथिवी में उत्पन्न होकर (उ) भी (अग्नये) प्राणा-
 याम और (सानां) उच्चतम अध्यात्म तपः—कोटि में स्थित एवं (प्रियः)
 अतिप्रिय होकर (अस्मे) हमारे लिये विद्या आदि सद्गुणों से (सम
 मृज्यते) उत्तम रीति से परिष्कार को प्राप्त होता, या मूषित होता है ।
 सतः (पूयमानः) पवित्र होकर (धन्वा) गमनशील, परिव्राट् होकर

(अभि स्वर) उत्तम २ उपदेश कर । अध्यात्मपक्ष में—आनन्द भूमि को प्राप्त साधक अपने आत्मा से कह रहा है । हे इसी प्रकार के विद्वान् पुरुषो ! (यूय) आप लोग भी (न.) हमारी (स्वास्तिभिः) कल्याणकारी उपदेशों और उपायों में (पात) रक्षा करो ।

१ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २
[१४०२] एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २
शुद्धैरुक्थंर्वावृध्वासं शुद्धैरार्शीर्वान्ममत्तु ॥ १ ॥

१ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१४०३] इन्द्रं शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरुतिभिः ।

३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
शुद्धो रयिभिधारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥ २ ॥

१ १ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१४०४] इन्द्रं शुद्धो हि नो रयि शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ २ २
शुद्धो वृत्राणि जिघ्रसे शुद्धां वाजं सिपाससि ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० ८ . ६५ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [३५०] पृ० १८१ ।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न') हमें (आगहि) सन्मुख साक्षात् दर्शन दें । और (शुद्धाभि) शुद्ध पवित्र (ऊतिभि) मरुत् रूप या प्राणात्मक शक्तियों सहित आप (शुद्धः) शुद्धस्वरूप ही हैं । अतः (शुद्धः) शुद्धरूप ही आप (रयि) धारण करने योग्य ऐश्वर्य को (नि धारय) पूर्णरूप से धारण करें और हे (सोम्य) परमानन्द के पात्र शक्तिमय ! आप (शुद्धः) शुद्ध रूप ही (ममद्धि) नित्य आनन्द प्राप्त करावें ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न') हमें (रयि) समस्त ऐश्वर्य, जीवन, प्राण और जगत् के समस्त पदार्थ (सिपाससि) प्रदान करते हैं । क्योंकि (दाशुषे) दाता आत्म समर्पक को आप

(शुद्ध.) निरपेक्ष शुद्धभाव से ही (रत्नानि) समस्त सुखकारी पदार्थ देते हो । (शुद्धः) स्वयं शुद्ध होकर ही (वृत्राणि) आवरक अन्धकारों और विघ्नों एवं दुष्ट पुरुषों का विनाश करते हो । और (शुद्धः) शुद्धस्वरूप होकर ही आप समस्त संसार को (वाजं) ज्ञान, धन और बल (सि- वासति) प्रदान करते हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१४०५] अग्ने स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य दिविस्पृशः ।

देवस्य द्रविणस्य वः ॥१॥

[१४०६] अग्निर्जुपत नो गिरो होता या मानुषेष्वा ।

स यत्तदु दैव्यं जनम् ॥२॥

[१४०७] त्वमग्ने सप्रथा अस्मि जुष्टा होता वरयस्य ।

त्वया यक्ष वितन्वते ॥३॥ १०॥ अ० ५ । १२ । ६४ ॥

भा०—(१) (द्रविणस्यवः) धन और द्रुत गति से प्राप्त करने योग्य द्रष्टव्य को प्राप्त करने की कामना वाले या ऐश्वर्यवान् होकर हम (अद्य) आज, अद्य (देवस्य) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) सचके अप्रणीत ज्ञानदाता, नायक परमेश्वर के (सिद्धम्) निश्चय (स्तोमं) स्मृति, सम्यगुक्त वर्णन रूप वेद का (मनामहे) मनन करते हैं ।

(२) (यः) जो (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (होता) समस्त संसार का आवान और विसर्ग, प्रलय और सर्ग करने तारा (मानुषेष्वा) समस्त मननशील पुरुषों के हृदयों में (आ) साक्षात् रूप से विद्यमान

१४०५—१ 'अग्ने' स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य' इति सू० ।

'सिद्धमिति पाठो जीयानन्दोदः', सिद्धमिति सप्तम्यन्ता ।

होकर (नः) हमारी (गिरः) समस्त वाणियों को (जुषते) अर्चना करता है (सः) वही (दैव्यम्) दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानप्रकाश वाले (जनं) दिव्य पदार्थ और मोक्षस्थ आत्मा को (यक्षत्) आनन्द सुख प्रदान करता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप ही (वरेण्यः) सबके वरदा करने योग्य, (होता) सब संसार के दाता, प्रतिगृहीता, समस्त पशुओं के कर्त्ता, (जुष्ट) सबके प्रेमपात्र, सबके सेवन योग्य और (सप्रथाः) सब से महान् (असि) हो । (त्वया) आप ही के निमित्त से सब लोग अपने (यज्ञं) इष्ट साधन रूप धर्म कार्यों और पूजा आदि का (वितन्वते) सम्पादन करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४०८] अग्निं त्रिपुष्टं वृषणं वयोधामहोपिणमवावशन्त वाणीः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वायाणि ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४०९] शूराग्राम सर्ववीरः सहावाञ्जिता पवस्व सनिता धनानि ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३
तिग्मायुधः तिप्रधन्वा समस्त्रपाढ साहान् पृतनासु
१ २
शत्रून् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २
[१४१०] वरुणज्युतिरभयानि कृण्वन्तसमीचीन आपवस्वा पुरन्धी ।
३ १ २ २ ३ १ २ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २
अप सिषासन्नुपसः स्वाऽऽर्गाः संचिक्रदो महो अस्मभ्यं
१ २
वाजान् ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ६ । ६० । २-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२८] पृ० २५२ ।

१४०८—१. 'अङ्गुष्ठाणामवावशन्त' 'वरुणो न सिन्धुर्वि' इति ऋ० । 'वायाणि.' इति पाठस्तु अजमेरुमुद्रितः प्रामादिकः ।

(२) हे (सोम) प्राणरूप आत्मन् ! तू (शूरग्रामः) गति में
 वेगवान् इन्द्रियसंघ का स्वामी, (सर्व्वार) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्,
 (सहायान्) सहनशील, गर्मी सर्दी और सुख दुःख आदि द्वन्द्वों का
 सहन करने हारा, (जेता) सबको पराजय करने हारा या (जेता) काम
 क्रोध आदि और इन्द्रिय के वेगों पर विजयशील, (घनानि) समस्त रम-
 णीय विषय भोगों को (सनिता) प्रति इन्द्रिय विभाग करने द्वारा (ति-
 ग्मायुधः) तीक्ष्ण साधना रूप आयुधों में सम्पन्न, (विप्रधन्वा) अति,
 शीघ्र गति देने हारा, या स्वयं, सबसे अधिक वेगवान् (समत्सु) परस्पर
 द्वन्द्वों के स्थलों में (अपाढः) किसी से न दबने हारा (पृतनासु)
 प्रजारूप इन्द्रिय वृत्तियों में (साह्वान्) सबको अपने वश करने द्वारा
 होकर (आपवस्व) प्रकट हो । और हमारे शरीर और अन्तःकरण को
 भी पवित्र कर ।

(३) (सोम) हे आत्मन् ! हे विद्वन् ! (उरु गव्यूति) स्वयं समस्त
 गौ अर्थात् वाणियों और इन्द्रियों के लिये रक्षा या शरण हाकर सर्वत्र
 (अभयाभि) अभय (कृणवत्) करते हुए (पुरन्धी) हम दुरूप पुर
 को धारण करने, हारे प्राण और अपान दोनों को (सर्माचोने) समुचित
 प्रकार से (आपवस्व) गति दो और पवित्र करो । और (अप.) समस्त
 कर्मों और प्रज्ञाओं को (सिपासन्) यथाकाल और यथास्थान विभाग
 करते हुए (स्व.) सुख, आनन्ददायक (गाः) वेदवाणियों को (अ-
 सम्ययम्) हम लोगों को (मध्व) श्रेष्ठ २ (वाजान्) ज्ञानतरंगों के देने के
 लिये (सचिक्रदन्) उपधारण करो, उपदेश करो ।

१ ० ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ०

[१४११] त्वमिन्द्रं यशा अस्य जीर्णी शर्वसस्पतिः ।

८ २ ३ १ ० ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २

त्व वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्व्वनुत्तमार्थशीघ्रिनि ॥१॥

१९११—'शर्वसस्पति' 'हंस्यप्रतीन्येक इदनुता कर्पणीध्वे' ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४१२] तमु त्वा नूनमसुरप्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नुवन्
॥२॥१२॥ अ० ६ । ६० । ५, ६ ॥

मा०—(१) हे इन्द्र ! (त्वं) तू (यथा) यथास्वी (शवस-
स्पतिः) शक्ति और वल का मालिक, (अजीषो) सब को अंजु, सरल,
उत्तम धर्ममार्ग में प्रेरणा करने हारा (पुरु-अनुत्तं) बहुतों से भी प्रेरित
या संचालित न होकर, स्वतन्त्र ही (चर्पणीधृतिः) साक्षिरूप से दृष्टा
होकर सबको धारण करने हारा है । (एव) व (अप्रतीनि) जिनका
सुकावला न किया जा सके ऐसे दुर्घट (वृत्राणि) विघ्न और दुःसाध्य
अमर, अधर्मी पुरुषों को (एक इव) अकेला ही (हसि) विनाश करता
है । अवि० सं० [२४८]

(२) हे (असुर) प्राणों में रमण करने वाले आत्मन् ! हे
(इन्द्र) ऐश्वर्यवान् (तं) पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त पूर्वप्रसिद्ध (प्रचेतसं)
प्रकृत उत्तम ज्ञानवान् (त्वा उ) तुरू से ही हम (राध) आराधना
करने योग्य ज्ञान को (भागम् इव) अन्न के समान (इमहे) याचना
करते हैं । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (कृत्तिः) कीर्ति ही (मही)
बड़ी भारी (शरणा इव) शरण रक्षा के समान है (ते) तेरे से (सु-
म्नानि) प्राप्त होने योग्य समस्त सुखसाधन (नः) हमें (अश्नु-
वन्) प्राप्त हों ।

१४१२—“सुम्नानो अश्नुवन्” इति च अ० । ‘पूर्वनुत्त’ इति अजमेरमुद्रिनः

प्रामादिकः पाठः ।

[१४१३] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवता होतारममर्त्यम् ।
 अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ॥१॥

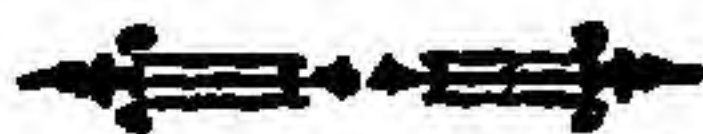
[१४१४] अपानपातं सुभग सुदीतिमग्निमु श्रेष्ठशोचिपम् । स नो
 मित्रस्य वरुणस्य सा अपामा सुम्न यक्षते दिवि
 ॥२॥१३॥ अ० ८ । १६ । ३, ४ ॥

भा०—(१) (देवता) विद्वान् पुरुषों के भी (देवं) उपासनीय
 देव, (होतारं) सब यज्ञों के सम्पादक (अमर्त्यम्) मरणरहित, अमृत-
 स्वरूप (अस्य) इस (यज्ञस्य) समस्त विश्वका संचालन, उत्पादन और
 प्रलय रूप यज्ञ के (सुकृतम्) उत्तम रूप से रचने हारे अतएव (यजिष्ठं)
 सब यज्ञ कर्त्ताओं में श्रेष्ठ (त्वा) आपको (ववृमहे) धरण करते हैं ।
 व्याख्या देखो [११२]

(२) (अपां नपातं) लोकों, कर्मों और प्रजाओं के पतन, विनाश
 या लोप न होने देने हारे, (सुभग) पुंश्वयंसपन्न, (सुदीति) उत्तमकान्ति
 से युक्त (श्रेष्ठशोचिपम्) सबसे श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तेज से सम्पन्न (अग्निम्)
 अग्नि स्वरूप, सर्वप्रकाशक आत्मा को धरण करो क्योंकि (स.) वह जीवरूप
 अग्नि (मित्रस्य) समस्त जीव को स्नेह से देखने हारे और (वरुणस्य)
 सब दुःखों का धरण करने हारे परमेश्वर के (अपां) समस्त प्रजाओं,
 कर्मों और समस्त लोकों के (सुम्न) सुप्त को (दिवि) ज्ञान प्रकाशमान
 मुक्तदशा में भी (नः) हमें (यक्षते) प्राप्त कराता है ।

अग्नि का आत्मस्वरूप देखो नासिकेतोपायान काटक उपनिषद् और
 सुपटक उपनिषद् में ।

इति चतुर्थः पाठः ।



[१४१५] ^{१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २} यमग्नं पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यज्जुनाः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} स यन्ता शश्वतीरिषः ॥ १ ॥

[१४१६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।

^{१ २ ३ १ २} वाजो अस्ति अवाय्यः ॥ २ ॥

[१४१७] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} स वाजं विश्वचर्षणिरवद्विरस्तु तरुता ।

^{१ २ ३ १ २} विप्रैभिरस्तु सनिता ॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० १ । २७ । ७-३ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (यं) जिस (मर्त्य) मरण-धर्मो पुरुष को आप (अवा.) मृत्यु से बचा लेते हैं और (यं) जिसको (वाजेषु) ज्ञान और श्रेष्ठ कर्मों में (जुनाः) प्रेरित करते, चला देते हो (सः) वह आपकी (शश्वतीः) नित्य अनादि काल से चली आई (इय-) प्रेरणाओं और अनादि शक्तियों को (यन्ता) बसा कर लेता है ।

(२) हे (सहन्त्य) सब विघ्नों के विनाशक ! (अस्य) इस आपके (कयस्य चित्) किसी भी उपासक साधक को (पर्येता) कष्ट देने हारा या उस पर आक्रमण करने हारा (नकिः) कोई भी नहीं । प्रत्युत उसके पास (अवाय्य-) अवश्य करने योग्य उत्तम (वाजः) ज्ञान या बल (अन्ति) प्राप्त होता है ।

(३) (य.) वह (विश्वचर्षणिः) समस्त मनुष्यों का स्वामी (अर्धाक्ष-) ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियगणों से ही (वाजं) ज्ञान को, बल का, या जीवन संग्राम को (तरुता) पार करने हारा (अस्तु) हो और वही अग्नि (विप्रैभिः) विद्वान् मेधावी पुरुषों द्वारा (सनिता) इष्टफल का दाता (अस्तु) हो ।

[१४१८] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} साकमुक्षो मर्ज्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} धनुर्ग्रीः । हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणजनक्ष अत्यो न
वाजी ॥ १ ॥

[१४१६] सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारा
 अद्भिः । मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन् संगच्छते कलश
 उक्षियाभिः ॥२॥

[१४२०] उत प्रपिप्य ऊधरज्याया इन्दुर्धाराभिः सचते
 सुमेधा । मूर्धन गावः पयसा चमूष्वभिधीणन्ति
 घसुभिर्न निक्षैः ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ६ । ६३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३८] पृ० २६८ ।

(२) जिस प्रकार (मातृभिः न) माताओं द्वारा (शिशु.) उनकी, गोद में सोने हारा बालक शिशु (दधन्वे) पालित पोषित होता है उसी, प्रकार (अद्भिः) विषयों तक प्राप्त होने वाली (मातृभिः) ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों द्वारा बालक के समान उनकी गोद में या भीतर प्रसृत रूप से शिशु के समान सोने हारा और उनका (वावशान.) निरन्तर चाहने हारा (सोमः) शुक्रस्वरूप, या आनन्दमय अक्षरस (दधन्वे) पालित पोषित होता या धारण किया जाता है । और जिस प्रकार (मर्यो) पुरुष (योषा न) स्त्री के पास, अपने गृह में जाता और उससे आनन्द लाभ करता है उसी प्रकार वह सोम आत्मा (निष्कृतम् अभि) अपने मूल आश्रय सस्तकदेह में (यन्) जाता हुआ (कलश) नाना कलारूप धिति शक्ति की नाना वृत्तियों से युक्त सहस्रदल कमल, मूर्ध्ना भाग या वेद में (उक्षियाभिः) ऊर्ध्वसर्पण करने वाली इन्द्रिय शक्तियों से (मगच्छते) मिलकर एक हो जाता है ।

(३) (उत) और जब वह सोम, शुक्रस्वरूप योगी के तानुभाग में लगी इन्द्रियों से टपकने हारा रस (ऊधरज्यायाः) कभी न बिटुस

होने हारे सदा चेतन चितिशक्तिरूप गौ के (ऊधः) रस के भण्डार रूप ऊर्ध्वस्थान मस्तक भाग को (प्र पिप्ये) भर देता है, पूर्ण कर देता है जब (सुमेधाः) उत्तम ज्ञानधारण में समर्थ धारणावती मधा बुद्धि से युक्त, (इन्द्रुः) ज्ञान और तप में प्रकाशमान योगी (धाराभिः) अपने धारणा के अभ्यासों या स्तुति वाणियों से (सचते) सोम का रस प्राप्त करने एवं आत्मा के स्वरूप तक पहुँचने में समर्थ होता है तब ही (गावः) गन्तव्यार्थ सूचक इन्द्रियों की संवित् शक्तिया या वाणिया (चमूषु) अपने २ स्थानों में स्थित होकर (पयसा) अपने २ विषयग्रहण के रस से (मूर्धानं) मूर्धास्थल अर्थात् शिरोदेश के सहजदल कमल में स्थित सोम आत्मानन्द को (अभिः श्रीयन्ति) ऐसे घेर लेती हैं, आच्छादित कर लेती हैं जैसे (निक्लिः) स्वच्छ सुन्दर (वसुभिः) वस्त्रों से मातार्य अपने बालकों को या शुद्ध २ (वसुभिः) ज्ञानरूप उपहार धनों से प्रजाए अपने राजा को आच्छादित कर देती और भर देती हैं ।

यहा सम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है, ऊर्ध्वरेता योगी के ध्यान करने और ब्रह्मरसास्वादन करने के रहस्य को खोला गया है ।

१ २ ३ ४ २ ३ २ ३ १ २ ३ ६ २ -

[१४२१] पिब्रा सुनस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमनः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २

आपिर्नो योधि सध्रमायं वृधेऽऽस्मां अवन्तु ते धियः ॥१॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २

[१४२२] भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नस्तरमिमातये ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अस्मां चित्राभिरवतादमिष्टिभिरा न सुसंपु यामय ॥२॥ १६॥

अ० ८। ३। १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२३६] पृ० १२२ ।

(२) (वयं) हम (ते) तेरी (सुमतौ) उत्तम मति, प्रज्ञा चैतन्य रूप ज्ञान के अधीन रहकर (वाजिनः) ज्ञानवान् पुरुष ('स्याम) होंगे ।

(अभिमातये^१) अभित.=चारों ओर से नाना प्रकार के माति अर्थात् हिंसाकारी विषयभोग रूप शत्रु की बढ़ती के लिये (न.) हमें (मा स्त^२) मत ठक, अर्थात् उसमें मत फँसा । (चित्राभिः) ज्ञानमय, नाना प्रकार की संग्रह करने योग्य (अभिष्टिभिः) अपनी प्रेरणाओं से (अस्मान्) हमें (अवतात्) रक्षा कर । और (न.) हमें (सुप्तेषु) सुखमार्गों में (आ यामय) व्यवस्थित रख, चला ।

[१४२३] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुहिरे सत्यामाशिरं परम व्यो-
मनि । चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारुणि चक्रे यद्

तैरनर्द्धत ॥ १ ॥

[१४२४] स भक्षमाणो अमृतस्य चारुण उमे द्यावा काव्येना
विशथथे । तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य
अनसा सदो विदु ॥ २ ॥

[१४२५] ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽष्टाभ्यासो जनुपी उमे
अनु । येमिर्नृम्या च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना

अगृम्यात ॥ ३ ॥ १७ ॥

श्र० ६ । ७० । १-३ ॥

१ स्तृब् आच्छादने क्रयादिः । हिंसार्थस्य स्तृणातेरिति सायण ।

२ अभिमन्यते इति अभिमातिः शत्रुरिति सायण । रोग इति माधवः ।

१४२३—१ 'दुदुहे' 'पुव्ये व्योमनि', ३. 'स भिक्षमाणो' इति श्र० ।

'भिक्षमाण', 'मक्षमाण' इति पाठौ सायणसम्मतौ, जीवानन्दीये 'मक्ष-

माण' इति च सर्वे प्रामादिकाः पाठः निर्णयसागरीये श्रवमायणभाष्ये,

अन्यासु सामसहितासु छन्दन-कालिकातामुद्रितासु च तथाऽनुपलम्भात् ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [१६०] पृ० २८२ ।

(२) (यदि) जिस दशा में विद्वान् लोग (देवस्य) उस उपास्य-
देव के (सदः) आश्रयस्थान हृदय देश को (श्रवसा) गुरुपदेश द्वारा
(विदुः) ज्ञान कर लेते हैं तब (सः) वह पवमान सोमसाधक (चारुणः)
अति उत्तमरूप, उपभोग करने योग्य (अमृतस्य) अमृत या अमरत्व
का (भक्षमाणाः) सेवन करता हुआ (कान्येन) अपने ज्ञान-सामर्थ्य
से (उभे यावा) दिव्यगुणयुक्त आत्मा और परमात्मा दोनों को (विश-
श्रये^१) प्राप्त करता है और (मंहना) अपने तपोमहत्त्व से (तेजिष्ठाः)
अति तेज से सम्पन्न (अपः) लोकों या प्राणों में (परि व्यत) विचरता है ।
अग्वेद में 'भिक्षमाणाः' पाठ है । इसलिये उस पक्ष में (सः) वह साधक
(चारुणः, अमृतस्य) उत्तम अमरत्व की (भिक्षमाणाः) याचना करता
हुआ (उभे यावा विशश्रये) दोनों तेजोमय आत्माओं को प्राप्त करता है,
हृत्पादि पूर्ववत् । अथवा (उभे यावा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान
दोनों को (विशश्रये) शिथिल या वश कर लेता है । दोनों के बन्धनों को
ढीला कर देता है । दोनों को वश करके विदेह-मुक्त होजाता है ।

(३) (अस्य) इस सोमरूप योगी आत्मा के (उभे जनुषी अनु)
दोनों जन्म अर्थात् इह और पर दोनों लोकों में (अमृत्यवः) अमर,
अविनाशी, (अदाभ्यामः) अस्त्रादिदत्त, अमिट (ते) वह २ (केतवः)
ज्ञान और रश्मियाँ, विभूतियाँ (सन्तु) उत्पन्न हो जाती हैं (याभिः)
जिन के बल से वह (नृमणा) मनुष्यों के अभिलाषा योग्य और (देव्या)

१. यावापृथिव्यौ प्राणापानौ, (शत०)

२. 'अथ हिंसार्थ' कथादिः, अथ प्रयत्ने प्रस्थाने च, चुरादिः,
अथ मोक्षणे, चुरादिः, अथ दौर्बल्ये, चुरादिः, अथ शैथिल्ये,
म्बादिः, अन्ध विमोचनप्रतिद्वयोः, कथादि० ।

देवों, विद्वानों के प्राप्त करने योग्य लोक लोकान्तरों को भी (पुनर्ते) प्राप्त करता है । (आत् इत्) और उस विभूति क प्राप्त कर लेने के अनन्तर (राजानम्) सर्वतः प्रकाशमान्, सर्वतो वशी राजास्वरूप उस आत्मा को, (मनना.) मनन करने से प्राप्त मानसिक सकल्प ही (अगृभ्यन्त) धारण, किये रहते हैं, अर्थात् उस दशा में उसके समस्त संकल्प ही उस आत्मा को लोक लोकान्तरों तक पहुँचाते हैं ।

इति पञ्चम खण्डः ।



उ २ ५ २ उह १२ उ २ २ उ १२ २२ उ १ २
[१४२६] अभि वायु वीत्यर्षा गुणानोऽभि मित्रावरुणा पूयमानः ।

उ १२ २२ उ १ २ उ २ उ १ उ १ २ उ १ २

अभी नरं धीजिवनं रथेष्टामभीन्द्र वृषण वज्रबाहुम् ॥ १ ॥

उ १ २२ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २

[१४२७] अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभिधेनू सुदुधा पूयमानः ।

उ २ उ १२ २२ उ १ २ उ १ २ उ १ २

अभि चन्द्रा भक्तये ना हिरण्याभ्यश्वात्रधिना देवसोम ॥ २ ॥

उ १ २ उ १२ २२ उ १ २ उ १ २ उ १ २

[१४२८] अभी नो अर्षा दय्या वसून्त्यभि विश्वा मार्थिवा पूयमानः ।

उ २२ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २

अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्पेय जमदग्निवत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

भू० ९ । ६७ । ४९-५१ ॥

भा०—(१) हे (सोम) विद्वन् ! (वायु) कोष्टगत वायुरूप प्राण को (वीति) सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये (अभि अर्पे) प्रेरित कर । और (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों को (पूयमानः) पावन करता हुआ, उत्तम रूप स गति देता हुआ (अभि) उनको भी प्रेरित कर । (रथेष्टाम्) इस देहरूप रथ पर मारयि घन्कर स्थित (धीजिवन) ध्यान, सकल्पमात्र के वेग से जाने वाले, (नर) इन्द्रियगणों के नेता

मन को (अभि) उत्तम रीति ने प्रेरित कर, और इन प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम ! विद्वन् ! तब (वज्रबाहुम्) अज्ञान का नाश करने हारे ज्ञानरूप वज्र को हाथ में लिये अतम्भरावस्था में प्रज्ञाऽऽलोक के खुल जाने पर (वृषणं) सब सुप्तों के वर्णक (इन्द्रं) उस आत्मा को (अभि-अर्प) मात्तात् कर ।

(२) हे सोम ! विद्वन् ! (पूयमान) पवित्र होकर या निरन्तर उन्नति की साधना करता हुआ तू (सुवसनानि) उत्तम रूप से आच्छादन करने हारे (वस्त्रा) चमचमाते विभूति, मिद्विगौ अर्थात् सात्विक आचरणां या पंचकोषों को (अभि-अर्प) वश कर । और (सुदुघा.) उत्तम रूप से ज्ञानरम या आनन्दरम का दोहन करने हारे (धेनू.) भीतरी व आनन्दवाहिनी सुषुम्णा आदि नाटियों पर, या इन्द्रिय-शक्तियों पर (अभि) वश कर और (नः) हमें (चन्द्रा) आह्लादकारी (हिरण्या) ज्ञानरूप ऐश्वर्य (भर्तृत्वे) भरण, पोषण करने या आत्मतृप्ति करने के लिये (अभि-अर्प) प्रदान कर । हे (देव) ज्ञानद्रष्टा ! शमादिमाधनों से युक्त योगिन् ! (रथिन) देहरूप रथों के स्वामी, जितेन्द्रिय (अश्वान्) ज्ञानी पुरुषों को (अभि-अर्प) हमें प्राप्त करा ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! आप हमें (दिव्या वसुनि) दिव्यगुण युक्त जीवन के वायु-हेतु पदार्थों का प्रदान करें और (पूयमानः), सर्वत्र प्रकाशमान, शुद्ध पवित्र चित्त हांकर (विधा पार्थिवा) समस्त पृथिवी पर होने वाले ऐहिक पदार्थों का (अभि) उपदेश करें । और आप हमें ऐसे (अभि) सामर्थ्य दें कि (येन) जिससे हम (दक्षिणम्) ज्ञान, धन और अन्नादि पदार्थों को (अक्षवान) प्राप्त करें और उपभोग भी करें । और हे सोम ! आप (नः) हमें (जमदग्निवत्) समस्त अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों को दमन करने हारे परमात्मा के समान (आप्येय) अधियों द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदज्ञान का (अभि) उपदेश करें ।

- १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
 [१४२९] यज्जायथा अपूर्व्यं मघवन् वृषहत्याय ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
 तत्पृथिवीमप्रथयस्तदभ्ना उतां दिवम् ॥१॥
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२
 [१४३०] तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः ।
 १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २२ ३ १ २
 तद्विष्वमभिभूरासि यज्जात यच्च जन्त्वम् ॥२॥-
 ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २
 [१४३१] आमासु पक्वमैरय आ सूर्य रोहयो दिवि ।
 ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 घर्म न सामन्तपता सुवृत्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ॥३॥१६।
 ऋ० ऋ० ८६ ५-७ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! समस्त ससार को यज्ञरूप में सम्पादन करने हारे, समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (अपूर्व्य) सबसे पूर्व होने हारे । अद्वितीय मूलकारण परमेश्वर । (यत्) जब (वृष-हत्याय) आवरणकारी ' वृषज्व ' रूप प्रकृति के रजः पटल को गति देने और उस में विशेष उत्पन्न करने के लिये (जायथा०) उस में शक्तिरूप से प्रकट होना है (तत्) तब (पृथिवी) अति विस्तृत व्यापक पृथिवी, मूलकारण प्रकृति को या जीवों के निवास के लिये इस पृथिवी को (अ-प्रथय०) वही विस्तृत करता है और (दिवं) इस समस्त आकाश स्थित लोकसमूह को भी (अस्तभ्ना०) अपने २ स्थान पर स्तम्भित, स्था-पित करता है ।

(२) (तत्) और तब ही (ते) तेरी शक्ति से सम्पादित (यज्ञ०) समस्त वायु, तेज, पृथिवी, आकाश, काल, दिग्, आत्मा, मन इत्यादि देवगणों का उचित रूप से संघटित यज्ञ भी (अजायत) सुसम्पन्न होता है (तद्) और तब ही (अर्क०) यह प्रकाशमान तेजस्वी सूर्य भी प्रकट होता है (उत) और साथ ही (हस्कृति०) दिन की रचना होती है ।

(तत्) उस समय ही तू हे परमात्मन् ! (विश्वम्) यह समस्त जगत् (यत् जातं) जो कुछ उत्पन्न हुआ (यत् च) और जो (जन्वन्) आगे उत्पन्न होता उस सब में (आभिभूः) सब ओर और सब प्रकारों से व्याप्त होकर सबका मूल उत्पत्ति कारण तू ही (असि) है ।

(३) हे परमेश्वर ! तू ही (आमासु) न पके, अपक, कच्चे, स्थावर और जंगम पदार्थों में (पक्वं) परिपक्व भाव को (ऐरय) प्राप्त करता है । और इस निमित्त तू ही (सूर्य) सबके प्रेरक सूर्य को (दिवि) इस महान् आकाश में (आरोहयः) इतनी उच्चता पर स्थापित करता है । हे विद्वान् लोगो ! (सामन्) सामवेद द्वारा (धर्मं न) जिस प्रकार आप धर्मयोग या प्रवर्गेष्टि को (तपत्) प्रत्स करते हो उसी प्रकार आप लोग (सुवृत्तिभिः) उत्तम ज्ञानस्तुतियों या ज्ञान चर्चाओं द्वारा (निर्वणसे) समस्त वेदवाणियों के एकमात्र वर्णनीय उस इन्द्र के विषय में (जुष्ट) अतिप्रिय, रुचिकर (वृहत्) महान् या बृहत् साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करो ।

मत्यमिति सत्यवचा रथतिर । तप इति तपो निम्न, पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको भौद्गल्य । तद्धि स्तपस्ताद्धि तपः । (तैत्ति० उप० शिक्षावल्ली अनु० ६) अर्थात् ज्ञानप्राप्ति ही तप है । प्रवर्गेष्टि में संसार की रचना का ज्ञान दर्शाया जाता है । (देखो शतपथ में प्रवर्गेष्टि प्रकरण)

१२ २५ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[१४३२] मत्स्यपायि ते मक्षः पात्रस्येव हृदि मत्सरो मदः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसानमः ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३३] आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सहावाँ इन्द्र सानसि, पृतनापादमर्त्यः ॥२॥

२४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३४] त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहावान्दस्युमवतमोषः पात्रं न शोधिषा ॥३॥२०॥

अ० १ १७५ । १-३॥

भा०—(१) (पात्रस्य इव मद) जिस प्रकार पात्र में रक्सा वृत्ति-
कारी, हर्षजनक जल और दुग्धादिरस (आपयि) पान कर लिया जाता
है उसी प्रकार है (हरिवः) हरणशील शक्तियों, अन्धकार और अज्ञान के
हरने वाले किरणों से युक्त परमेश्वर । (मत्सरः) आनन्दरूप में सर्वत्र
प्रसरणशील (मद) आनन्दप्रद तेजोरूप, सर्वत्रैक उत्पादकशक्ति रूप से
(ते) संसार में व्यापक तेरा महान् सामर्थ्य (आपयि) पान किया जाता है
अर्थात् विद्वान्जन उसको अपने भीतर धारण करते हैं अथवा आप ही
उस महान् शक्ति के धारण करने हारे हो । (वृष्ण) समस्त सुखों और
शक्तियों के वर्पक (ते) तेरा (इन्दुः) ऐश्वर्य, विभूति और सामर्थ्य
(घाजी) बलवान् (सहस्रसातम) सहस्रों पदार्थों को देने हारा, (वृषा)
सब सुखों का वर्पक है ।

अध्यात्म पक्ष में—इन्दु=आत्मा, मत्सरः=आनन्दरस, इन्दुः=विभूति
सिद्धयोगी, घाजी=ज्ञानवान् । वृषा=ज्ञानवर्पक, सहस्रसातम—सहस्रों
उपदेशों का दाता, अथवा सहस्रों को सन्तोष, आशीर्वाद, एवं सुखसाधनों
का प्रदाता, इत्यादि ।

(२) हे (इन्द) परमेश्वर (ते) तेरा (मत्सरः) हर्षप्रद ज्ञान
और आनन्दरस (न) हमें (आगन्तु) प्राप्त हो । तू ही (वृषा) सुखों
का वर्पक, (मद) आनन्द और वृत्तिकारक (घरेण्य) एकमात्र धरण
करने योग्य, प्रिय, (सहावान्) सब कष्टों का सहन करने हारा, बलवान्
या सहायसम्पन्न, (सानसि) सेवन करने योग्य, (वृत्तनापाद्) समस्त
प्रज्ञाओं का शासक और (अमर्त्यः) अविनाशी है ।

यहां योगी का साधक आत्मा के प्रति, भक्त का ईश्वर के प्रति, प्रजा-
गण का राजा के प्रति समानरूप से वचन है ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (एवं) आप ही (शूरः) सबमें गति
देने हारे, (सनिता) समस्त पदार्थों के दाता होकर (मनुष्यः) मननशील
जीव के (रथं) इस रमण स्थान देइ या समस्त विश्व को (चोदयः)
प्रेरित कर रहे हो । आप (दस्युम्) नाश करने हारे, दुष्ट (अघ्नतम्)
नियम रहित, निकम्मे, नियम को न पालने हारे पुरुष को (सहावान्)
शक्तिशाली या सहायसम्पन्न होकर (शोचिषा) अपने तेज से (ओष.)
ऐसे ही तपाते हो जैसे (शोचिषा) आग्नि के ताप से हम लोग (पात्रं न)
हडिया को तपाया करते हैं ।

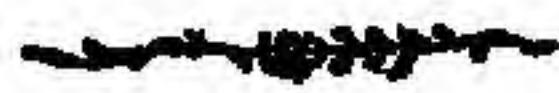
इति षष्ठः खण्डः ।

इति षष्ठस्य द्वितीयोऽर्धः प्रपाठक । इति द्वादशोऽध्यायः ।



अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।



अपि—१ कविर्मर्गिवः । २, ३, १६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ३ असितः
काश्यपो देवलो वा । ४ सुक्लः । ५ विभ्राट् सौर्यः । ६, ८ वसिष्ठः । ७ भर्गः
प्रागाथः १०, १७ विश्वामित्रः । ११ मेधातिथिः काण्वः । १२ शत वैश्वानसाः ।
१३ यजन आत्रेयः ॥ १४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । १५ उशना । १८ हर्यतः
प्रागाथः । १९ बृहद्वि आथर्वणः । २० गृत्समदः ॥ देवता—१, ३, १५ पवमानः
सोमः । २, ४, ६, ७, १४, १६, २० इन्द्रः । ५ सूर्यः । ८ सरस्वान् सरस्वती ।
१० सविता । ११ ब्रह्मणस्पतिः । १२, १६, १७ अग्निः । १३ मित्रावरुणौ ।
१८ अग्निर्हवींषि वा ॥ छन्दः—१, ३, ४, ८, १०—१४, १७, १८
गायत्री । २० बृहती चरमस्य, अनुष्टुप् शेषः । ५ जगती । ६, ७ प्रागाथम् । १५,

१६ त्रिष्टुप् । १६ वर्धमाना पूर्वस्य, गायत्री उत्तमयोः । १० अष्टि. पूर्वस्य, अष्टि-
शक्ती उत्तरयोः ॥ स्वर.—१, २, ४, ८, ६, १०—१४, १६—१८
यङ्जः । २ मध्यमः, चरमस्य गान्धार. । ५ निषाद. । ६, ७ मध्यम. । ११,
१६ धैवतः । २० मध्यम. पूर्वस्य, पञ्चम उत्तरयो. ॥

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३
[१४३५] पवस्व घृष्टिमा सु नोऽगामूर्मि दिवस्परे ।

३ १ २ ३ १ २ २ २
अयदमा बृहर्तारिप ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
[१४३६] तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् ।

१ २ ३ १ २ ३ २
जन्या स उप ना गृहम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३७] घृतस्पवस्व धारया यक्षेपु देवधीतमः ।

३ १ २ ३ १ २ २ २
अस्मभ्यं घृष्टिमापत्र ॥ ३ ॥

१ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३८] स न ऊर्जेज्याऽश्व्यय पविश्रं धाव धारया ।

३ १ २ ३ १ ३ १ २
देवास. शृण्वन् हि कम् ॥ ४ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३९] पवमानो असिष्यद्रक्षाभ्यपजङ्घनत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रानयद्राच्यष्ट्य. ॥ ५ ॥ २ ॥ ५० ० । ४० । १-५ ॥

भा०—(१) हे पवमान सोम, सर्वश्रेष्ठ, सूर्य । (न.) हमारे
प्रति (सु) सुष्ठु, उत्तम रीति से (घृष्टि) सुगों और जलों की घृष्टि की
(धारयस्व) नय और से वर्षा करो । और (दिव) द्यौलोक और मृगशंखा
से (अया) यज्ञों, प्रजाओं और कैमों को (ऊर्मिम्) तरङ्ग या ऊपर उठने
वाली परम्परा को (परिपवस्व) सय और से घेरने कर । और (घृष्टिमा)
घृष्टिकारक, ननि अधिक (अयदमा) यदम अर्थात् निषट जानेदार मृक्ष रंग
कीटों में रहित (इय) ऊँछों और दृष्टदेय और विद्वानों की, ज्ञान सत्य
के ज्ञातक दुर्बिचारा में रहित मन की सत्कामनाओं को भरित करो ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर वा योगिन् ! (तया) उस (धारया) धारा से या धारणा शक्ति से (पवस्व) प्रेरित कर (यया) जिससे (गाव) दीप्त-रश्मियाँ, कान्तियाँ एवं ज्ञानवाणियाँ (इह) इस हमारे अन्तःकरण, एवं गृह में (आगमन्) प्राप्त हों । और (नन्यास.) जन, मनुष्य एवं प्राणियों के हितकारक पदार्थ भी (न.) हमारे (गृहम्) देह और गेह को (उप) प्राप्त हों ।

(३) अपनी (धारया) धारणा, पालन पोषण करने वाली शक्ति से (यज्ञेषु) नाना प्रकार के यज्ञों में (देववीतये) दिव्य गुणयुक्त पदार्थों को प्राप्त होकर (अस्मभ्य) हमको (घृतं) कान्तिस्वरूप प्रदीप्त, प्रकाशयुक्त, ज्ञान, कर्मोपदेश को (पवस्व) प्राप्त करा । और (अस्मभ्यं) हमें (वृष्टि) अन्तः आनन्द-सुखों की वृष्टि को भी (आपव) प्रदान कर ।

(४) हे सोम ! (सः) वह तू (न.) हमारे (ऊर्जे) बल सम्पादन के निमित्त (धारया) अपनी धारण पोषण करने वाली शक्ति से (अव्ययं) सूर्य, प्राण, आत्मारूप (पवित्रं) पवन करने वाले वायु, अन्तःकरण या धारणा देश के प्रति (विधाव) विशेष रूप से गति कर । (देवास') समस्त विद्वान् और दिव्य जल, अग्नि आदि तत्त्व पदार्थ और इन्द्रिया (कम्) आनन्दकारी तेरी ध्वनि को (शृण्वत्) श्रवण करते हैं ।

(५) (पयमान.) अति शुद्धकान्तिरूप से देदीप्यमान सोमरूप अन्तरात्मा का ब्रह्मानन्द रस (असिष्यदद्) जब द्रवित होता है तब (प्रत्नवत्) पूर्व के अपने पुरातन (रुच) कान्तियों को (रोचयन्) चमकाता हुआ (रक्षसि) समस्त पाप, कुवासना, दुःसंकल्पों को अनायास (अप जघनत्) दूर मार भगाता है ।

इस सूक्त में सूर्य, आत्मा, राजा, प्राण, शुक्र आदि समस्त प्रेरक शक्तियों को सोमधारा के दृष्टान्त से वर्णित किया गया है । मधु, घृत आदि

शब्द वेद में ज्ञान के वाचक भी हैं । जैसे शतपथ में पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में—पय आहुति=ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वाध्याय, अग्न्याहुति=यजुर्वेद का स्वाध्याय, सोमाहुति=सामवेद का स्वाध्याय, मंदाहुति=अथर्ववेद के मन्त्रों का स्वाध्याय और मधु आहुति=अन्य शेष विद्या जैसे वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नारायणी इत्यादि का स्वाध्याय कहा जाता है । (शत० का० १२ । ५ । ६ । ३ । ८)

इत्यादि रूप से यह सोम का सवन ज्ञानपरक समझना चाहिये । इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वाध्याय प्रशंसा प्रकरण में 'मधु ह वा ऋचः । घृत ह सामानि 'अमृत यजूषि' यद् ह वा अयं वाकोवाक्यमधीनो वीरोदत-मासोदनौ भवतः । (शत० का० ११ । ५ । ७ । ५)

[१४४०] प्रत्यस्मै पिपीपने विश्वानि विद्रुपे भग ।

अरङ्गमाय जामयऽपश्चादध्वने नरः ॥ १ ॥

[१४४१] एमन्तं प्रत्येतन सामेभिः सामपातमम् ।

अपत्रेभिर्ऋजीपिणमिन्द्र सुनेभिरिन्दुभिः ॥ २ ॥

[१४४२] यवी सुतेभिरिन्दुभिः सामेभिः प्रांतभूपथ ।

घेदा विश्वस्य मेधिरा धूपत्त तामदपते ॥ ३ ॥

[१४४३] अस्मा अस्मा दृढन्ध्रमोऽध्वर्यो प्रभग सुनम ।

कुर्वीतसमस्य जैन्यस्य शद्धताऽभगन्नेरवम्वरन् ॥ ४ ॥

श० ६ । ४२ । १-४ ॥

भा०—(१) स्वात्मा देवो अवि० सं० [३५०] पृ० १८० ।

(२) हे विद्वान् पुण्यो ! (एन) इम (सामपातम) सामरम का पान करने द्वारा मैं मे मयमे श्रेष्ठ, ज्ञान के परम सागर, परमेश्वर का

१४४३—'इमिशन्नेरवम्वरन्' शनि 'इ० ।

(सोमेभि) ज्ञानों और ज्ञानियों द्वारा (आ प्रति एतन्) प्राप्त या साक्षात् करने का प्रयत्न करो । (अमग्नेभिः) धारण करने वाले धारणा बुद्धि के संकल्पों द्वारा (ऋजीपिणं) ऋजु मार्गों पर प्रेरणा करने हारे, सन्मार्गदर्शी, सत्सगतिकारी परमेश्वर को (सुतेभि) सुप्रसिद्ध, सम्यक् रूप से प्रेरित (इन्दुभिः) आह्लादकारी विद्वानों द्वारा उनके उपदेश पाकर (प्रत्येतन्) उसका सत्यज्ञान प्राप्त करो, उसको पहिचानो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! (यदि) जब (सुतेभिः) सिद्ध, निष्पन्न (इन्दुभिः) प्रकाशमान, ज्ञानज्योतियों से युक्त (सोमेभिः) पूर्वोक्त सोमों द्वारा (इन्द्रं) अपने आत्मा या अपने उपास्य इष्टदेव को (प्रतिभूपय) अलंकृत करो तो वह (मेधिरः) मेधाबुद्धि से युक्त (धृपन्) सब पर वश करने हारा ईश्वर (विश्वस्य) सब कुछ (वेद) जान लेता है और (तं त) उस २ सकल्प को भी (एपते) पूर्ण करता है ।

(४) हे (अध्वर्यो) यज्ञ करनेहारे विद्वन् ! (अस्मै अस्मै इत्) इस ही इन्द्र के लिये (अन्धसः) जीवन धारण करने हारे मृतत्व के (सुतम्) निष्पादित आनन्द रस को (प्रभर) समर्पित कर । क्योंकि (ममस्य) समस्त (जेन्यस्य) वश करने योग्य (शर्धतः) ऊपर उठते हुए (अभिशस्तेः) अभिमानी, घातक काम क्रोधादि शत्रुरूप से (कुवित्) बहुत बार (अवस्वरत्) बचा लेता है ।

इति प्रथम खण्डः ।

—०:—

उ २ उ १२ २२ उ १ २ उ १ २
[१४४४] वभ्रवे नु स्वतवसे रुणाय दिविस्पृशे ।

१ २ उ १ २
सोमाय गायमर्चन ॥ १ ॥

[१४४५] ^{१ १ ३ १ २ ३ १ २ २} हस्तच्युनेभिरद्रिभिः सुन सोम पुनीतन ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} मघागघावना मधु ॥ २ ॥

[१४४६] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नमस्ते दुपसीदत दध्ने दभिर्थाणीतन ।

^{२ २ १ २} इन्दुमिन्द्रं दधातन ॥ ३ ॥

[१४४७] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अमित्रहा विचर्षणि पवस्व सोम शं गर्वे ।

^{३ १ २ ३ १} देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥ ४ ॥

[१४४८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राय त्वोम पातवे मदाय परिपिच्यसे ।

^{३ १ २ ३ १} मनश्चिन्मनसरूपभिः ॥ ५ ॥

[१४४९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १} पवमान सुधीर्य रयि सोम रिरिहि श ।

^{१ २ १ २ ३ २} इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥ ६ ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ११ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (वभ्रवे) सब का भरण पोषण करने हारे (स्वतवसे) दूसरे की बिना अपेक्षा किये, स्वयं बलशाली, (दिविस्पृशे) इस देह में मूर्धास्थान और ग्रहाण्ड में, महान् आकाश में भी व्याप्त एवं समस्त कान्तिमान् सात्विक दिव्यगुण वाले लोकों और पदार्थों के भीतर विद्यमान, (सोमाय) प्रेरकस्वरूप, शक्ति, प्राणात्मा, परमात्मा एवं राजा आदि की (गाधम्) वास्तविक सत्य गुण कथा का (अर्चत) वर्णन करो ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (हस्तच्युतेभिः) हाथों के समान प्रेरक साधनों से प्रेरित, (अद्रिभिः) पर्वत एवं शिलाओं के समान स्थिर, सदा-चारी, विद्वानों द्वारा निष्पादित तैयार किये गये (सोमं) ज्ञानराशि को (पुनीतन) बराबर उन्नत करो, उसका सम्पादन करो और यदाओ और उसको नि संशय करके पवित्र बनाओ । और (मधो) अत्यन्त आनन्द करने हारे अमृतस्वरूप अपने आत्मा में उस (मधु) परम-आत्मज्ञानरूप अमृत को (आधावत) प्राप्त करो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग उस सोम, सबके प्रेरक अन्त-
र्धामी, शक्तिमान् परमेश्वर एवं इस शरीर के स्वामी प्राणात्मा के (नमसा
इन्) नमस्कार, श्रद्धा, भक्ति द्वारा (उप सीदत) समीप पहुँचो, उसकी
उपासना करो । (दध्ना) ध्यान और धारणा-बल से (अभि धीर्धीतन)
साक्षात् उसको अपने भीतर परिपक्व करो । और उस (इन्द्रुम्) ऐश्वर्य-
सम्पन्न सोमरूप जीव को (इन्द्रे) परमेश्वर में (दधातन) स्थापित करो ।
अथवा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपने आत्मा में धारण करो ।

(४) हे (सोम) स्रवोत्पादक परमेश्वर ! (अमित्रहा) द्वेष करने तथा
क्षौह न करने हारे दुर्वासनायुक्त पुरुषों का नाश करने द्वारा, (विचर्योणिः)
विविध पदार्थों का विशेष रूप से द्रष्टा होकर, (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-युक्त
पदार्थों, विद्वानों एवं इन्द्रिय शक्तियों के (अनुकामकृत्) कामनानुकूल कार्य
करने द्वारा होकर (गवे) ज्ञानशील आत्मा के लिये (श) कल्याण-सुख
को (पवस्व) प्रवाहित कर ।

(५) हे (सोम) सबके प्रेरक ! ज्ञान-आनन्द रस स्वरूप !
(इन्द्राय) अन्तरात्मा के (पातवे) पान करने और (मदाय) हर्षोत्पादन
के लिये (परिपिच्यसे) तू ही सब प्रकार से हृदय में और सर्वत्र आनन्द-
प्राप्त स्थलों में विचारधारा से प्रवाहित किया जाता है, क्योंकि तू ही
(मन. चित्) मननशील मन को भी जानने द्वारा एवं (मनसस्पतिः)
मन-स्वरूप आत्मा का परियाजक है ।

(६) हे पवमान ! सर्वत्र प्रकाशमान, सर्वव्यापक, सबके प्रेरक
सबके प्रकाशक ! सोम ! तू (नः) हमें (सुधीर्य) उत्तम सामर्थ्य युक्त
(रथि) प्राणबल (रिरीहि) प्रदान कर । और हे (इन्द्रो) योगीन् !
गुरो ! (इन्द्रेण) परमात्मा या आत्मारूप (युजा) सहायक से (नः
रिरीहि) हमें वह बल प्राप्त करा ।

[१४५०] उद्धेदभिश्चुतामघ वृषभन्नर्यापसम् ।

अस्तारमेभि सूर्य ॥ १ ॥

[१४५१] नव यां नवति पुरो विभेद बाहोजसा ।

अहि च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥

[१४५२] स न इन्द्र शिवः सखाश्वावद्रोमघवमत् ।

उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६३ । १-१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१२५] पृ० ६० ।

(२-३) (य०) जो इन्द्र (बाहोजसा) बाहुओं, विघ्नकारी बाधाओं को दूर करने हारे साधनों के सामर्थ्य या बल से (नव नवति) ६६ निन्यानवे (पुरः) पुरों, देहों या देह पर गुजरने हारे उसके परिपोषक एवं तर्पक वर्षों को (विभेद) तोड़ डालता है विनाश करता है और (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान-अन्धकार को नाश करने हारा वह आत्मा (अहि) सर्प के समान हृदय-मन्दिर में आ घुसने वाले अज्ञान और उससे पैदा होने वाले काम आदि विकार, आत्मा के प्रकाश के ऊपर आजाने वाले आवरण को (अवधीत्) विनाश करता है (सः) वह (इन्द्रः) वशी आत्मा या ऐश्वर्यवान् परमात्मा (शिवः) कल्याणमय, (सखा) सब का मित्ररूप हमारे लिये (उरुधारा इव) दूध की बड़ी धार वहाने वाली कामधेनु के समान, (अश्वावत्) इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न बल और (गोमत्) वेदवाणियों से युक्त ज्ञान और (यवमत्) जव आदि धान्यों से युक्त उत्तम पुष्टिकारक अन्न को एवं समष्टि रूप से अश्वों, गौओं आदि सस्यादियुक्त ऐश्वर्यों को (दोहते) प्रदान करता है ।

प्रति द्वितीयः खण्डः ।

[१४५३] विभ्राड् वृहत्पिवतु सोम्य मध्वायुर्दधत्तपतावविहृतम् ।
 वातजूनां यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपत्ति बहुधा
 विराजति ॥ १ ॥

[१४५४] विभ्राड् वृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मं दिवो धरुणे सत्य-
 मपितम् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जक्षे
 असुरहा सपत्नहा ॥ २ ॥

[१४५५] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिह्वनजिह्वयते
 वृहत् । विश्वभ्राड् आजो महि सूर्यो दश उरु पमथे सह
 आजो अच्युतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १० । १७० । १-३ ॥

भा०—(१) सूर्य के दृष्टान्त से ईश्वर, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी और उत्तम राजा का वर्णन किया है । (विभ्राड्) विशेष रूप से चमकने वाला, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी (यज्ञपतौ) समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पन्न और प्रलयरूप दान-आदानमय यज्ञ के स्वामी परमात्मा और प्राणापानाहुतिसमय यज्ञ के स्वामी आत्मा में (अविहृतम्) सरल, शुद्ध एवं नित्य जागृत, नित्य चेतन, अमर (आयुः) जीवन को (दधत्) धारण करता हुआ (वृहत्) बड़े भारी (सोम्यं) सोम स्वरूप, प्रेरक व शासन शक्ति के साक्षात् करण से प्राप्त (मधु) अमृत ब्रह्मामन्द रस का (पिवतु) पान करे । (य०) जो (वातजूतः) प्राणवायु द्वारा प्रेरित प्रथम (त्मना) स्वयं अपने आप को (अभिरक्षति) रक्षा करता और 'निरपेक्ष' होकर (प्रजा) अपनी इन्द्रियों और प्रजाओं को भी पालन पोषण करता है और (विराजति) विशिष्ट रूप से प्रकाशित होता है ।

(२) (विश्राद्) विशेष रूप से तेज से प्रकाशमान (बृहत्) विशाल, बड़ा भारी (सुभृतं) उत्तम रूप से (पालित) पोषित एवं धारित, (वाजसातमं) ज्ञान और बल प्रदान करने हारों में उत्तम है, (धर्म) धारण करने हारा साक्षान् आनन्द का प्रवर्पक आत्मरूप (दिव) समस्त सूर्य एवं द्यौलोक और विद्वानों के (धरुणे) आश्रय स्वरूप धारण करने हारे परम आश्रय परब्रह्म में (अर्पितम्) प्रतिष्ठापित, (सत्यं) सत्य-स्वरूप, (अमिन्नहा) विपरीत जाने हारे शत्रुरूप काम क्रोधादि अन्तःशत्रु और बहिःशत्रुओं का भी नाश करने हारा, (वृत्रहा) आत्मा के आवरक अज्ञान और योगसमाधि के विघातक आभ्यन्तर और बाह्य विघातक व्युत्थान वृत्तियों का नाशक, (हस्त्युहन्तमं) शरीर आत्मा के उत्तम सम्पदार्थों के विनाशक कार्यों का नाश करने हारा, (असुरहा) प्राणों में रमण करने वाले आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों को वश करने हारा (सपत्नहा) प्रतिस्पर्द्धियों का विनाशक (ज्योतिः) तेज-स्वरूप अर्थात् तेज को धारण करने हारा आदित्य के समान सूर्यव्रतचारी आदित्य योगी (जज्ञे) उत्पन्न होता है ।

(३) वह आदित्ययोगी (इद) यह (श्रेष्ठं) सर्वोत्कृष्ट (ज्योतिः) तेज (ज्योतिषा) समस्त प्रकाशमान पदार्थों में (उत्तम) उत्कृष्ट कोटि का, (विश्वजित्) सब के विजेता, और (धनजित्) सब विभूतियों से भी उत्तम (बृहत्) विशाल (उच्यते) कहा जाता है । वह (विश्वश्राद्) समस्त संसार का प्रकाशक (आजः) सब पापों और पापी पुरुषों का सताप देने हारा, स्वयम्प्रकाश, (महि) बड़ा भारी (सूर्य) सूर्य के समान सब का प्रेरक सब को प्रकाश देने हारा होकर (अच्युत) अधिनाशी (सह) सहनशील, सब के अभिभावक तेज, (ओजः) और बल को (उरु) बहुत अधिक (पप्रथे) विस्तीर्ण होता है, फैलाता है ।

[१४५६] इन्द्र क्रतुश्च अ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।

शिक्षा णो अस्मिन् पुरुषेण यामनि जाया ज्योतिरशीमदि॥

२ ३ १ २ ३ १ १ ३ २ १ २ ३ १ २
[१४५७] मा नो अज्ञाना वृजना दुराध्यो मा शिवासोऽवक्रमु- ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वया वय प्रवत शश्वतीरगार्जत शूर तरामसि ॥२॥६॥

अ० ७ । ३२ । २६-२७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्ररूप योगिन्, आद्रित्य ! अथवा परमेश्वर (यथा) जिस प्रकार (पुत्रेभ्यः) अपने पुत्रों के लिये (पिता) उनका पालक समस्त आवश्यक भोजन वस्त्रादि पदार्थ लाता और उनको शिक्षा देता है उसी प्रकार आप भी (नः) हमें (श्रुतुं) ज्ञान, बल और कर्म को (आ हर) उपदेश करके प्राप्त कराइये और (अस्मिन्) इस जीवनमय श्रुतरूप यज्ञ में हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से याद किये गये सर्व स्मरणीय, परमात्मन् । (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगण (यामनि) तेरी सिखाई ज्ञान प्रकाशमय व्यवस्था में रह कर (ज्योतिः) जीवन प्राण और ज्ञानमय ज्योति का (अशीमहि) भाग करें देखो अविकल सं० [२५६] भी ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे गुरो ! (अज्ञानाः) बिना जाने पहिचाने, लुके छिपे चोर (वृजनाः) पापी, (दुराध्य) दुष्ट, कूट, पट्ट-यन्त्र करने हारे, कुटिलाचारी (अशिवासः) अमङ्गलकारक, नीच पुरुष और दुष्ट भाव (नः) हमें (मा अवक्रमु) कभी न दबा सकें । हे (शूर) शूरवीर ! शत्रुओं को दमन करने में बड़े बलवन् प्रभो ! (त्वया) तुम्हें सहायक को पाकर (वयं) हमें (प्रवतः) अति विनयशील होकर भी (शश्वतीः) बहुत से (अपः) काँपों को (अतितरामसि) निर्विघ्न समाप्त करें ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४५८] अद्याद्या श्वः श्व इन्द्र त्रास्व पर च नः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

विश्वं च नो जरितुन्तसत्पत अहा दिवा नक्त च राक्षिषः ॥१॥

उभांतं बाहू वृषणा शतक्रतां नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥२॥७॥
श्र० द। ६१। १७, १८ ॥

(९) (मघवा) समस्त यज्ञों का मालिक (तुष्ठीमघः) ऐश्वर्यवान् (समिश्र-) सब को मिला देने हारा, सबमें समान भावसे स्थापक, (प्रभगी) नड़े वेग से शत्रुओं और दुष्ट विचारों को तोड़ फोड़ देने हारा, शूर, पर-
मेश्वर विक्रमशील होने से ही (वीर्योद्य कम्) यत्न वर्धन करने के लिये
समर्थ होता है । हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त (तं) तेरी
(उभा वाहू) वीर पुरुषों की दोनों बाहुओं के समान धियों का बधाने
वाली ज्ञान और कर्म दोनों शक्तिया (वृत्रणा) नाना सुखों को परागने वाली
है (या) जाँ (वज्रं) वज्र का (मिमिक्षतु) धारण करती है ।

परमात्मा के पक्ष में बाहू=ज्ञान और कर्मे, यज्ञ=कर्म, यधन को काटो
हारी विद्यारूप असि । जीव के पक्ष में-बाहू=राज्य और अध्वान । यज्ञ=ज्ञा
नासि या चित्तिगक्ति या वैराग्य । राजा के पक्ष में यज्ञ=नमस्कार, शस्त्रास्त्र ।

इति लूनीगः खण्डः ।

[१४६०] ज^३नीयन्तोन्व^२प्रचः पु^३त्रीयन्त^३ सु^३दानचः ।

१२
सरस्यन्तं ह्यामहे ॥ १ ॥ ८ ॥

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

भा०—(१) (जनीयन्त) पुत्रोत्पादन के निमित्त मायाओं की कामना करते हुए और (पुत्रीयन्तः) उनमें पुत्रों की कामना करने हारे होकर भी (अग्रव.) उन्नतिशील और (सुदानव.) उत्तम दानी होकर हम लोग (सरस्वन्तं) समस्त आनन्दरस के सागररूप तुम्ह परमात्मा को (हवामहे) नित्य स्मरण करते हैं ।

[१४६१] उत न० प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा ।

सरस्वती स्तोम्याभूत् ॥ ६ ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६१ । १० ॥

भा०—(१) (उत) और (न० प्रियासु) हमारी प्रेमपात्री, प्यारियों के बीच में (प्रिया) सबसे अधिक प्रिय (सरस्वती) स्वतः सरण करने वाली अथवा ब्रह्मानन्द रस से भरी पूरी (सप्त-स्वसा) २ आँख, २ नाक, २ कान, १ रसना, इन सात रक्त. सरण करने वाली सात ज्ञान-धाराओं के बीच एकमात्र आठवीं भगिनी के समान बहने वाली वाणीरूप सरस्वती (न०) हमारी (स्तोम्या) स्तुति करने योग्य (अभूत्) है । अथवा (सप्तस्वसा=सप्त छन्दासि) सात छन्दों वाली वेदवाणी स्तुति करने वाली है ।

[१४६२] तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥ अ० ३ । ६२ । १० ॥

[१४६३] सोमानां स्वर्णं कुरुहि ॥ २ ॥ अ० १ । १८ । १ ॥

[१४६४] अग्न आयूपि पवसे ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ६ । ६६ । १६ ॥

भा०—यही मन्त्र ब्रह्मगायत्री, गुरुमन्त्र, वेदमाता सावित्री आदि नामों से कहा जाता है । (तत्) उस (सविनुः) सर्व जगत् के प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) स्वतः प्रकाशमान, सब के प्रकाशक सवसुरों के दाता परमेश्वर के

१४६३—कचिच्च पुस्तकेषु द्वितीयतृतीययोः पूर्ण पाठो दृश्यते । वहीषु सहितासु प्रतीकमाश्रमुपलभ्यते इति तदेवात्राप्युद्ध्रियते शिष्टाचारात् ।

(वरेण्य) सर्वोत्कृष्ट, वरण करने योग्य अनुपम, (भर्ग) अधिष्ठा, अज्ञान, काम, क्रोध लोभ, मोह आदि अज्ञान से पैदा होने वाले तामस अङ्गुओं को अग्नि और सूर्य के प्रखर तेज के समान भस्म कर डालने वाले तेज का हम (धीमहि^१) ध्यान करें, धारण करें (यः) जो परमेश्वर (न) हमारी (धिया) बुद्धियों और कर्मवृत्तियों को (प्रचोदयात्) उत्तम सन्मार्ग में प्रेरित करता है ।

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र एक मनन करने योग्य व्याख्या इस प्रकार की है ।

“वेदाश्छन्दासि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽस्यमाहु ।

कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता याभिरेति ॥”

उस उत्पादक परमात्म देव का परम वरेणीय भर्गरूप तेज ‘वेद’ ‘छन्द’ है जिसको कवि विद्वान् लोग ‘अस्य’ कहते हैं । और ‘धिय’ का तात्पर्य ‘कर्म’ है, हे शिष्य ! यही मैं, तुम्हको उपदेश करता हूँ कि उन कर्मों द्वारा ही परमात्मा सबको प्रेरित करता है । #

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३६] पृ० ७६ ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [६२७] पृ० ३१६ ।

१ धीमहि ध्यायाम. धारयेम इति सायणः । आद्य रूप ध्यायते: परच
टिवाडेधीह आधार इत्यस्य ज्ञेयम् ।

२ हम गायत्री मन्त्र का का प० डब्ल्यू० जोन्स का किया निम्नलिखित अनुवाद बड़े गहरव का है—

“हम (तत्) हम (देवस्य सवितुः) देव सविता परमात्मा के (भर्ग) उत्तम तेज की (धीमहि) उपामना करते हैं जो (यः) सब को प्रकाशित करता है, जो (सविता) सब को उत्पन्न करता है और जिससे सब उत्पन्न होते हैं, और जिसमें (भर्ग.) सब लीन होजाते हैं, उन्ही को हम (न. धियः) अपनी बुद्धियों को (वरेण्य) परमपद के प्राप्त करने के लिये (प्रचोदयात्) प्रेरणा करने की प्रार्थना करते हैं ।

१ २ ३ १ २
[१४६५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य० ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१४६६] ऋतमृतेन सपन्तेपिरन्दक्षमाशाते ।

३ १ २ ३ १ २
अद्भुतां देवौ वर्द्धते ॥ २ ॥

३ १ २ २ २ २ ३ २ ३ १ २
[१४६७] वृष्टिधावा रीत्यापयस्पती दानुमत्याः ।

१ २ ३ १ २
वृहन्तं गर्तमाशाते ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ५ । ६८ । ३-५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११४३] पृ० ५६७ ।

(२) राजा मन्त्री, जीवात्मा मन, परमात्मा जीवात्मा, प्राणापान, सूर्यवायु, यजमान, अश्वर्य, सूर्य, पृथिवी, गुरु शिष्य आदि का वर्णन है । वे दोनों मित्र और वरुण (अद्भुत) परस्पर मोह न करते हुए (देवौ) प्रकाशमान ज्ञान से स्नय प्रकाशित होने, एवं दूसरे को भी प्रकाशित करने हारें, या परस्पर एक दूसरे के आकाशी (ऋतं) सत्यज्ञान को (ऋतेन) वेद ज्ञान से (सपन्ता) प्राप्त करते हुए (इषिरं) सबके प्रेरक (दक्षं) बल को (आशाते) प्राप्त कर लेते हैं । अध्यात्म पक्ष में—
“ (ऋतं) सत्य ज्ञान को (ऋतेन) ग्रहण से... ” प्राणापान पक्ष में—
(ऋतं) आत्मा को (ऋतेन) तप से इत्यादि पूर्ववत् ।

(३) वे मित्र और वरुण (वृष्टिधावा) वर्णन और प्रकाश से युक्त (रीत्यापा) गति या ज्ञान द्वारा ही इष्ट को प्राप्त करने हारे अथवा जलों के समान कर्म और ज्ञानों को बहाने हारे (दानुमत्याः) दान देने योग्य (इष.) चेतनादायक अज्ञ के (पती) स्वामी होकर (वृहन्तं) विशाल (गर्तम्) उत्तम देहरूप या ग्रहणरूप रथ में (आशाते) व्याप्त रहते हैं । राजा, मन्त्री पक्ष में (गर्तं) उत्तम राष्ट्र या विजयरथ ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४६८] युञ्जन्ति ब्रह्मरूपं चरन्तं परितस्थुषः ।

१ २ ३ २ ३ २
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४६९] युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।

१ २ ३ २ ३ १ २
शोणा धृष्ण नृवाहसा ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७०] केतुं कृयवक्षकतवे पेशो मर्या अपेशसे ।

२ ३ १ २

समुषद्भिरजायथाः ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० २ । ६ । १-२ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् साधक योगी लोग (तस्थुषः) स्थिर आसन होकर (परिचरन्तं) समस्त देह में गति करने हारे, (अरुपं) सब ममस्थानों में विराजमान, उनका नाश न करने हारे (ब्रह्मं) विशाल, सब इन्द्रियगण को अपने बल से बाधने और उनको चलावे हारे मुख्य प्राण को (युञ्जन्ति) योगाभ्यास द्वारा प्राप्त करते हैं वे (रोचना.) कान्तिसम्पन्न होकर (दिवि) सात्विक ऊर्ध्व स्थान, ज्ञान-प्रकाशमय मोक्ष में (रोचन्ते) विराजने और शोभा पाते हैं या (दिवि) सूर्यास्थान में विशेष तेज से प्रकाशमान होते हैं । अथवा—जो विद्वान् योगी (तस्थुषः, परिचरन्तं) समस्त स्थावर और जंगम पदार्थों में व्यापक (अरुपं) सब के प्रति जेहवान् (ब्रह्मं) सर्वाश्रय, सबसे महान्, ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर को (युञ्जन्ति) योग समाधि द्वारा प्राप्त करते हैं वे (दिवि) प्रकाशमान मोक्ष स्थान में (रोचना) तेजोमय होकर (रोचन्ते) विराजमान होते हैं ।

अथवा, जो शिल्पाविद्या की सिद्धि के लिये (ब्रह्मं) सूर्य को, (अरुपं) अग्नि को, (चरन्तं) वायु को सम्यक् रीति से कार्य में नियुक्त करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और आनन्द लाभ करते हैं ।

महर्षि दयानन्द प्रदर्शित, दिशा से ये तीनों अर्थ स्पष्ट हैं ।

(२) (अस्य) जिसको पूर्ण मन्त्र में 'ग्रध्न' कहा है जो सूर्य आदि शब्दों से भी सम्बोधित होता है उस मुख्य प्राणात्मा-रूप इन्द्र के (रथे^१) रमण करने के साधक इस देह रूप रथ में (काम्या) कान्तिसम्पादक व कमनीय, रुचिकर, प्रिय, (हरी) हरणशील (विपक्षसा^२) नाना प्रकार से शरीर को धारण करने हारे अथवा विविध पार्श्वों में गति करने हारे (शोण्या) स्वतः गतिशील, (दृष्ट्या) शरीर को धारण करने हारे, वृद्ध, (नृबाहसा) नेतास्वरूप आत्मा के वाहनरूप प्राण और अपान दोनों को जो योगाभ्यास द्वारा (युञ्जन्ति) लगाते-हैं, वश कर लेते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं । सूर्यपक्ष में—(हरी) हरणशील आकर्षण और वेगगुण । राजा पक्ष में—(रथे) युद्धोपकरण रथ । परमात्मापक्ष में—(हरी) सूर्य और वायु । सभी सम्प्रदायवादियों ने अपने सर्वव्यापक इष्टदेव के प्रधान-यहमय विशाल रथ की कल्पना की है । जिसमें जगन्नाथ का रथ और विष्णु का रथ दर्शनीय हैं ।

(३) हे (मर्याः) मनुष्य लोगो ! मरणाशील मनुष्यो ! या जन्तुगण ! जिस प्रकार (उपज्जिः) अपनी दाहक शक्तियों से (अकृतचे) निद्रा में अचेत प्राणी के लिये (केतुं) प्रातः चेतना करता हुआ और (अपेशसे) अरूप अर्थात् प्रकाश के अभाव में अदृश्य पदार्थों को (पेशः) रूपवान् अर्थात् दृश्यमान करता हुआ उदित होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी (अकृतचे) ज्ञान रहित इस देहादि संघात के निमित्त (केतुं) ज्ञान, चेतना प्रकट करता हुआ और (अपेशसे) रूप रहित अपने लिये (पेश)

१. रथो रहतेर्वागति कर्मणः, स्थितेर्वा, स्थादिप्रीतस्य, रममाणोऽस्मि-

स्तिष्ठति इति रथतेर्वा रततेर्वा । (निरु० ६ । ११)

२. विपक्षसा—पक्ष परिग्रहे (स्वादिः)

इस देह को रूपवान् (कृयावन्) करता हुआ (समुपनि.) संताप देने
हारे कर्म विपाकों द्वारा पुनः (अजायथा) उत्पन्न होता है । अथवा—हे
जीवो ! आत्मा अचेतन देह को चेतन और अरूप अपने आपको सरूप करता
हुआ कर्मफलों से पुनः उत्पन्न होता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

उ० १२ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७१] अयं सोम इन्द्रं तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।
२ ३ १ २ ३ १ २ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्व हयं चकृषे त्व ववृष इन्द्रं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७२] स ई रथा न मुंरिषादयोजि महः पुरुणि सातये वसूनि ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आदी विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्वाता वन ऊर्वा नवन्तर ॥
३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१४७३] शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्थानभिस्तदिव्या यथा
२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
त्रिद् । आपो न मक्षु सुमतिर्भवा नः सडसाप्सा पृतना-
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
पाङ् न यक्ष ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ६। ८८। १, २, ७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (अयं सोम.) यह
सोम, शमादि सम्पन्न योगी (तुभ्य) तेरे लिये (सुन्वे) साधना करके
निष्पन्न होता है । (तुभ्य पवते) तेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है ।
(यं) जिसका (त्वं) तू (चकृषे) बनाता है और (त्व ववृषे) तू ही
सामर्थ्य देता है या वरण करता है उस (इन्द्रम्) पुण्य और तप से युक्त
(सोमम्) शमदमादि साधन सम्पत्ति से युक्त पुरुष को (मदाय) आ-
नन्दप्राप्ति, मोक्षलाभ और (युज्याय) अपने लग रखने अर्थात् मदासाधा-
त्कार के लिये (त्वं) तू (अस्व पाहि) उसको विघ्नों से बचाता है ।

१४७२—पृतनापाणन यक्ष इति अ० ।

नायमात्मा प्रवचनेन क्षम्यो न भेद्यो न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैव वृणुते तेन क्षम्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

(कठोपनि० १ । १२ । २२)

(२) (स.) वह सोमरूप योगी (वसूनि) इस में वास करने हारे (पुरुषि) इन्द्रियों को (रथ, न) स्थिर, स्थायु के समान (भूरिपाद्) अति अधिक सहनशील होकर (महः सातये) तेज को प्राप्त करने के लिये (अयोजि) योग साधन में लग जाता है । (आत् ईम्) और अनन्तर (वने) अभिलाषा के योग्य (स्वर्पातौ) इस परम सुख की प्राप्ति के कार्य में (नहुष्याणि) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य (विश्वा) समस्त (ऊर्ध्वा) उत्कृष्ट (जाता) पदार्थ आपसे आप उसको (नवन्त) प्राप्त हो जाते हैं । यद्वा- (स भूरिपाद् मह पुरुषि वसूनि सातये रथ इव अयोजि) जब वह अति सहनशील विशाल आत्मा वाला योगी बहुत विभूति, शक्ति, सिद्धि की प्राप्ति के लिये सग्रामरथ के समान योगसमाधि में लग जाता है । (आत् ई विश्वा नहुष्याणि ऊर्ध्वा जाता नवन्त) तब ही समस्त मानुष उत्कृष्ट भोग्य ऐश्वर्य स्वतः उसके आगे आ सकते हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो । (छान्दोग्य उप० अ० ८ । ख० १३)

(३) हे सोम ! आत्मन् ! आत्मयोगिन् ! आप (मरुतं) प्राणों के (शर्धे न) प्राणयत्न के समान (पवस्व) इस देह को गति देते और (यथा) जिस प्रकार (दिव्या) दिव्यगुण युक्त (विद्) प्रजारूप प्राणोन्द्रिय गण (अनभिशास्ता) अनिन्दित और अखण्डित है उसी प्रकार आप भी अखण्डित और अनिन्दित हैं । आप (आपः न) जलों के समान (मरू) शीघ्रगामी, मनोवेग से इन्द्रिय प्रणालिकाओं में बहते हो, अतः आप (सहस्राप्साः) अनेकों रूप होकर (पृतनापाद् न) युद्ध

विजयी सेनापति के समान इस देहरूप वेदी में होने वाले यज्ञ में यजमानस्वरूप (यज्ञ) आत्मा होकर आप (नः) हमारे किये (सुमतिः) शुभ संकल्प युक्त (भव) रहो ।

[१४७४] त्वमग्ने यज्ञानां दाता विश्वेषां हितः ।

देवभिर्मनुष्यैर्जने ॥ १ ॥

[१४७५] स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः ।

आ देवान्वेक्षि यक्षि च ॥ २ ॥

[१४७६] त्वेथा हि वेधा अध्वनः पथश्च देना जसा ।

अग्ने यक्षेपु सुकनो ॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२] पृ० २ ।

(२) हे परमेश्वर ! आत्मन् ! (सः) वह आप (मन्द्राभि.) स्तुति के योग्य, हर्षजनक, उपादेय, प्रशंसनीय (जिह्वाभि.) जिह्वाओं, शक्तियों से या आदान-प्रतिदान करनेहारी इन्द्रियों एवं पञ्चभूतमय शक्तियों में (मह) महान् होकर (अध्वरे) हिसारहित व्यवहार एवं एक दूसरे की सत्तानाश न करनेहारी व्यवस्था में (यज) इस मन्त्रायत के समस्त पदार्थों को सगत करते और परस्पर मिलाते हो । और (देवान्) पञ्चभूतों विद्वानों और इन्द्रियगण को (व्याप्ति) आप अपनी गरण में लेकर देखते

२. यज्ञ इति आत्मना गृह्णो भूतनामपेक्षेण परिर्वाहः. 'यज्ञ आत्मा यज्ञे' इति सूत्रेण

यज्ञे नन्वेति (नि० परि० म० २ । ११)

१४७६—१ जिह्वाभिर्वाणाभिरिति सप्तमः । वाण्यानिगिरादि कर्त्तृत्वमिति ।

यत्नी कर्माणि न मनोज्ञा च सुप्रेक्षिता वा च सुधर्माणि । सुप्रेक्ष्यते

विश्वरूपेण यजमानः । यज्ञेकानि यज्ञे प्रसज्यते । यज्ञे यज्ञे इति सूत्रेण ।

साक्षाद्वाग्निं विप्रैः । यज्ञे यज्ञे इत्येवोक्तं यज्ञे यज्ञे ।

के मार्ग में लेजाते और (यत्ति च) संगत करते तथा उनको उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हैं ।

(३) हे (अग्ने) विद्वन् ! और परमात्मन् ! हे (सुक्रतो) शुभज्ञान और जगत्-रचन आदि नाना कर्मों से सम्पन्न ! हे (देव) प्रकाशक ! हे (वेध-) समस्त संसार के विधाता ! आप (यज्ञेषु) समस्त प्रकार के यज्ञों और आत्माओं में (अघ्नतः) समस्त बड़े मार्गों और (पथ-) जघु मार्गों को भी (अवजसा), उत्तम रीति से (वेत्स्य) जानने हारे हो, हमें भी उनका ज्ञान कराओ ।

^{१ २ ३ १४ २४ ३१ २ ३ १ २}
[१४७७] होना देवा अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया ।

^{३ १ २ ३ १ २}
विदधानि प्रचोदयन् ॥ १ ॥

^{३ १४ २४ ३२ ३ १ २}
[१४७८] वाजी वाजेषु धीयते ऽवरेषु प्रणायते ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २}
विप्रा यज्ञस्य साधन ॥ २ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २}
[१४७९] त्रिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमादधे ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २}

दक्षस्य पितरं तना ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ३। २७। ७-९ ॥

भा०—(१) (अमर्त्यः) मरणरहित, अमर (देव.) सत्रका प्रकाशक परमात्मा (विदधानि) ज्ञान करने योग्य उत्तम कर्मों और आत्म-तत्त्वों को (प्रचोदयन्) हृदय में प्रेरित करता हुआ (मायया) विशेष ज्ञानशक्ति या बुद्धि से (पुरस्तात्) साक्षात् (एति) प्रत्यक्ष होता है ।

(२) (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान् पुरुष (वाजेषु) बल के कार्यों में (धीयते) नियुक्त किया जाता है और उसी प्रकार का ज्ञानवान्

१. विदधानि वेदितव्यानि-इति सायणः ।

२. मायया, कर्मविषयानिहातत इति सायणः ।

बलशाली पुरुष (अघ्वरेषु) परस्पर की हिंसादि से रहित व्यवस्थापन आदि कार्यों में (प्रणीयते) विशेष रूप में नियुक्त किया जाता है, क्योंकि (यज्ञस्य) दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय एवं संगतिकरण आदि संस्कारों को (साधन.) साधन करने द्वारा (विप्र.) ज्ञानवान् विपश्चित् पुरुष होता है ।

(३) पूर्व मन्त्र में विप्र, वाजी आदि शब्द से कहा गया विद्वान् ही (धिया) अपने धारण ज्ञानशक्ति और कर्म सामर्थ्य के कारण (धरेण्य.) सबसे धरण करने योग्य, सबसे श्रेष्ठ होकर (चक्रे) काम कर । वही (भूताना) सब पदार्थों और प्राणियों को (गर्भ) अपने वश में (आदध.) धारण करता है । और उसको (दक्षस्य) सर्वशक्तिमान् परमात्मा की (तना) उत्पादित प्रजा, उस (पितर) अपने पालक को पिता के समान (आदधे) धारण करती जानती और मानती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४८०] आ सुते लिञ्चन श्रियं रोदस्योरभिध्रियम् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इसा दधात वृषभम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४८१] ने जानत स्वमोक्याऽऽसं वत्सासो न मातृभिः ।

३ १ २ ३ १ २
मिथो न सन्त जामिभिः ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४८२] उप अकेषु वप्सनः कृण्वते धरुणं दिधि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रे अग्ना नमः स्व ॥ ३ ॥ १८ ॥ अ० ८ ॥ ७० । १३-१५ ॥

भा०—(१) (सुते) उत्पन्न, या उत्पादित अर्थात् माता पिता और आचार्य से शिक्षित पुत्र में अभिषेक योग्य राजा के समान (रोदस्यो.)

मा बाप के (अभि) आश्रित (श्रियं) सम्पत् साधनों को (आसिञ्चत) प्राप्त कराओ और (रसा) रसमय सारिष्ठ पदार्थों में जिस प्रकार अग्नि को नीचे रखकर उनको परिपक्व किया जाता है उसी प्रकार सारयुक्त स्थलों में उस (वृषभं) सुखों के वर्णक बलवान् पुरुष को आश्रयरूप से ही (आदधीत) नियुक्त करो । अध्यात्म पक्ष में—(रोदस्योरभिश्रिय सुते आसिञ्चत) प्राण और अपान में आश्रित बल को साधित चित्त में धारण करो और (वृषभं रसा आदधीत) अग्निस्वरूप आत्मा को आनन्द रस में प्राप्त कराओ ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है (सुत श्रियं आसिञ्चत) गौ के दुग्ध में वह बकरी का गरम दूध डालो जो (रोदस्योरभिश्रियम्) खूब उफान सारहा हो और फिर मिले दूध में आच दौ । आश्रये ।

(२) (वत्सामः) जिस प्रकार बछड़े (जामिभिः) अपनी २ पैदा करने वाली (मातृभिः) माताओं से (मिथः) परस्पर (नसन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार वे पुत्रादि भी अपने बन्धुओं से संहवश मिले रहते हैं और (एवं) अपने (ओक्व) एक ही प्रदेश में रहने वाले बन्धुवर्ग को (सं जानते) भली प्रकार जान लेते हैं और उनके साथ ही मिल जाते हैं । अध्यात्म में—(ते) वे प्राण प्रमातृरूप इन्द्रियों से इसी प्रकार मिल कर रहते हैं जैसे बछड़े अपनी उत्पादक माताओं से । और उन इन्द्रियों को वे दशों प्राण अपने स्थान के नित्यवासी जान कर उनसे एक हो रहते हैं ।

(३) (त्रकेषु) सर्जन स्थानों में या इन्द्रिय प्रदेशों में या काली आदि ज्वालाओं में (वप्सतः) भक्ष्य करते हुए ग्रहण या प्रलय करते हुए उस अग्निरूप महान् आत्मा को विद्वान् पुरुष (दिविः) ज्ञान-प्रकाश से सूर्य के समान (धरुण) उसको धारक बल या आश्रय रूप से (उप कृण्वते) स्वीकार करते हैं । उस (अग्निं) अग्निस्वरूप, पाप दहन करने

हारे, ज्ञानवान् परमेश्वर को (इन्द्रे) इन्द्ररूप आत्मा में भी (नम) बल और (स्व) सुख और आनन्दरूप से (उप कृण्वते) उपासना करते हैं।

सामाजिक पक्ष में—(सक्तेषु) आमोद प्रमोद स्थलों में विहार करते हुए उस नवयुवक रूप अग्नि को विद्वान् उच्च प्रतिष्ठा देते हैं और तभी वह पातन पोषण के भार को अपने में धारण करके बल और पारिवारिक सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिवार का उत्तम वर्णन किया गया है।

[१४८३] नदिदास भुवनेषु ज्येष्ठ यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्या ।
 सद्य जज्ञानो निरिणाति शत्रून् यं विश्वे मदन्त्युमा ॥ १ ॥
 [१४८४] वायुधानः शवसा भूर्योजाः शशुर्दासाय मियस दधाति ।
 अव्यनश्च व्यनश्च सल्लि स ते नवन्त प्रभुना मदेपु ॥ २ ॥
 [१४८५] त्वे कनुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्देते त्रिर्मवन्त्युमाः ।
 स्वादाः स्वादीयः स्वादुना सृजा समद सुमधु मधुना
 भियोधीः ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० १० । १२ । ४, २ ॥

भा०—(१) (तत्) वह परम आत्मा (इत्) ही (भुवनेषु) इन समस्त लोकों में (ज्येष्ठ) सब से अधिक प्रशस्त, उग्रकृष्ट, वर्णनीय (आस) है, (यतः) जिससे (त्वेषनृम्या) कान्ति दीप्ति से युक्त बलशाली (उग्रः) तेजस्वी, विशाल शक्तिशाली सूर्य और उसके समान तेजस्वी पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न होता है। (सद्य जज्ञानः) उत्पन्न होकर ही वह (शत्रून्) शत्रुओं और पापों को (निरिणाति) दूर करता है (यं यन्तु) जिसको देखकर (विश्वे) समस्त (कमा) जीव प्राणाय (मदन्ति) हर्षित होते हैं।

(२) वह परमात्मा (शवसा) अपने महान् सामर्थ्य, बल से विक्रमशील, प्रतापी होकर (शत्रु) विघ्नों का शासन करनेहारा (दासीय) विनाश करनेहारे पापी जन के लिये (भियसं) भीति, डर (दधाति) उत्पन्न करता है और (अन्यनत्) स्थावर पदार्थ जो विशेष रूप से प्राण नहीं लेते और (न्यनत् च) चेतन प्राणी जो नाना प्रकार से प्राण लेते हैं उन को (सन्ति) पवित्र करता है, निहत्ताता है अर्थात् उनमें भी स्वतः नाना गुणों द्वारा व्यापक होता और उनको पवित्र करता है । हे इन्द्र ! (ते) ये सब (प्रभृताः) उत्तम रूप से तेरे द्वारा धारण, पालन पोषण किये गये स्थावर और जंगम सब पदार्थ (मदंष्टु) हृष्य में मग्न होकर (ते) तेरे आगे (नवन्त) झुकते और तेरी महिमा गाते हैं ।

(३) (त्वे) तुझमें (अपि) ही (विश्वे एते ऊमाः) समस्त ये भूत, प्राणीगण (यद्) जब (द्विः) एक से दो और (त्रिः) दो से तीस होजाते हैं तब भी वे (ऋतुं) अपने उत्तम प्रज्ञान को (घृञ्जन्ति) तुझ पर ही व्यय कर देते हैं अर्थात् समस्त पृथिव्यादि भूत और सब प्राणियों के चित्त और सब यज्ञ ऋतु तुझ पर ही समाप्त होजाते हैं । हे इन्द्र ! (स्वादो.) आनन्द देने वाले प्रिय धनादि से भी (स्वादीयः) बहुत अधिक आनन्ददायक, प्रिय पदार्थ, पुत्र आदि को (स्वादुना) आनन्ददायी पति के प्रति पत्नी और पत्नी के प्रति पति के द्वारा (सज्ज, उत्पन्न कर । और (अद.) उस (मधु) अति आनन्ददायी सन्तान को भी (सुसुधुना) उत्तम प्रिय पदार्थ पुत्रवधू एवं पौत्र आदि से (अभियोधीः) आनन्द प्रसन्न कर । जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है “स्वयि इमानि सर्वाणि भूतानि मनासि ऋत-
घोऽपि घृञ्जन्ति ।” तुझ में ही समस्त भूत, सब मन और सब यज्ञ आदि समाप्त होजाते हैं । पुरुष ही स्त्रीरूप से भी रहता है क्योंकि विवाह के पश्चात् स्त्री भी उसका आधा भङ्ग होजाती है । श्रुति भी है “अधो वा एष यत् पत्नीति” (शत०) और पुत्र भी वन पुरुष का ही तीसरा रूप

है जैसे वेद में—“आत्मा वै पुत्रनामासि” (शत०) दो से तीन होजाने हैं जैसे—“द्वौ द्वौ सन्तौ मिथुनौ प्रजायेते प्रजापत्या” । “पुत्रो ह स्वादु” पत्नी के प्रति पति और पति के प्रति पत्नी ही स्वादु है जैसे—“मिथुन वै स्वादु, प्रजा. स्वादु” इत्यादि (शत०) । अध्यात्म पक्ष में—स्वादु=देहादि संघात से प्राप्तव्य सुखोपभोग । उससे भी अति आनन्ददायक स्वादीयः=ब्रह्मानन्दरस को स्वादुना=प्रिय रूप आत्मा से (सं सृज) सगत कर । (अद० सुमधु) अति मधुर इस अमृत आत्मा को (मधुना) उस परम अमृत, आत्मा या परमेश्वरदर्शन या मोक्ष से मिला, आनन्दित कर ।

[१४८६] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ २२ ३} त्रिकटुकेषु महिषा यवाशिरं तुविशुष्मरतृपत्साममपिव-

^{१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २} णिष्णुना सुनं यथावशम् । स ई ममाढ महिकर्म कर्त्तव्ये

^{३ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २} महामुरु सैनं सश्वदेवो देवं सत्य इन्दु सत्यमिन्द्रम् ॥ १ ॥

[१४८७] ^{३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ २ ३ २} साक जातः क्रतुना साकमाजसा घवाक्षिथ साकं वृद्धा

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वायः सासहिमृधा विचर्षणि । दाता राधः स्तुवन् काम्य

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वसु प्रचेतन सैनं सश्वदेवा देवं सत्य इन्दुः सत्य-

^{२ २} मिन्द्रम् ॥ २ ॥

[१४८८] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अध त्विषीमाँ अभ्योजमा कृवि युधाभवदा रोदसी अ-

^{३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} पृणदस्य मज्मना प्रवावृधे । अधत्तान्य जठर प्रमरि

^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २} ज्यत प्रचेतय सैनं सश्वदेवा देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्

॥ ३ ॥ २० ॥ अ० २ । २२ । १, २, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४५७] पृ० २२८।

२४८७—‘यथावशम्’ इति अ० ।

२४८८—कृवि इति । तिसृषु ऋक्षु “सत्यमिन्द्र सत्यमिन्दुः” इति विपर्यस्तः अ० ।

(२) हे इन्द्र ! हे (प्रचेतन) प्रकृष्ट ज्ञानवान् ! (क्रतुना) वेदमय ज्ञान के (साकं) साथ (जातः) वर्तमान रह कर आप (ओजसा) अपने बल से (ववाक्षिथ) इस प्रह्लाण्डमय जगत् का वहन करते हो, इसको धारण करते हो । अत एव (वीर्यैः) नाना प्रकार की शक्तियों के (साक) साथ (बुद्धः) समस्त संसार में व्यापक, महान् (मृधः) सब शत्रुओं को (सामहिः) वश करने हारे, (विचर्षणिः) सब संसार के द्रष्टा (स्तुवते) स्तुति करने हारे भक्तजन के कामना करने योग्य (वसु) धन के (दाता) देने हारे हैं । (सः) वह (देवः) प्रकाशरूप (सत्यः) सत्यस्वरूप (इन्द्रुः) जीवात्मा, योगी, (सत्यं) सत्यस्वरूप (देवं) सर्वप्रकाशक (पुनं) इस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशील परमात्मा को (सश्वत्) प्राप्त करे ।

(३) (अध) इस प्रकार के ब्रह्मदर्शन के अनन्तर (क्षिपीमान्) कान्तिमान् इन्द्र (ओजसा) बल से, (क्रिविम्) जीव के बन्धनरूप पाचों अक्षमय आदि कोशों को (युधा) विघ्न नाशक प्रयत्न से (अभि अभवत्) ताड़ देता है । (रोदसी) घौ और पृथिवी और प्राण और अपान दोनों को (अपृणद्) व्याप्त करता है । तब (अस्य मज्जना) इसके ही बल से (प्रवावृधे) वह जीव भी शक्तिशाली, और महान् हो जाता है । वह प्रभु (अन्य) जीव को अपने (जठरे) गर्भ में, शरण में (अधत्त) धर लेता है (ईम्) और इसको (प्र अरिच्यत) विशेष रूप से शक्तिशाली बनाता है और (प्रचेतय) प्रकृष्ट रूप से ज्ञानवान् कर देता है । (सः) वह (देव) दिव्य ज्ञानवान् (इन्द्रुः) योगी जीव (सत्यः) सत्य सकल्प, सत्यरूप होकर (पुनं) उस (देवं) देव (सत्यं) सत्यस्वरूप (इन्द्रं) परमेश्वर को (सश्वत्) प्राप्त होता है ।

इति पष्ठः खण्डः ।

इति पष्ठस्य तृतीयोऽर्धः । पष्ठश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ सप्तमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अपिः—१ १, ६ प्रियमेधः । २ नृमेधपुरुमेधौ । ३, ७ अयस्यासदम्बु । ४
 श्रुतशेष आजीगर्ति । ५ वत्सः काण्वः । ६ अग्निस्तापसः । ८ विश्वमना
 वैद्यः । १० वसिष्ठः । सोमरि काण्वः । १२ शत वैखानसाः । १३
 यक्ष्यव आत्रेयाः । १४ गोतमो राहूगणः । १५ केतुराग्नेयः । १६ विला
 आगिरस ॥ देवता—१, २, ५, ८ इन्द्रः । ३, ७ पवमानः सोमः । ४, १०—
 १६ अग्निः । ६ विश्वेदेवा । ९ सामेति ॥ छन्दः—१, ४, ५, १२—१६
 गायत्री । २, १० प्रागाथ । ३, ७, ११ बृहती । ६ अनुष्टुप् ८ उष्णिक् ।
 ९ त्रिविदुष्णिक् ॥ स्वरः—१, ४, ५, १२—१६ पङ्क्तः । २, ३, ७, १०,
 ११ सध्यमः । ६ गान्धारः । ८, ९ अपम ॥

उ १२ २२ उ १ २ ३ १ २ ३ २
 [१४८६] ओमे प्र गोपनि गिरन्द्रमर्च यथा विधे ।

उ २ उ ७ उ १ २
 स्रुतं सत्यस्य सन्पतिम् ॥ १ ॥

१२ २२ उ १ १ ३ १ २ उ २ २
 [१४८७] आ हरयः ससृजिरऽरुपीरधि चार्द्धपि ।

२ उ ७ उ १ २
 यन्नामि संनचामहे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ उ ३ २ उ २ उ २ उ १ २
 [१४८८] इन्द्राय गाव आशिरं दुदुहे वज्रिण मधु ।

१ २ उ २ उ २
 यत्सामुपहरे विदत् ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ८ । ६६ । ४, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० मं०, [१४८८] १० ।

(२) (वज्रिणि) धान्य या कुशा घाम या दर्भ के समान उपज
 हांका पुनः ज्ञानाग्नि या योग समाधि द्वारा काटने योग्य निरन्तर वृद्धिराज

इस देहवन्धन में (हरयः) गतिशील (अस्वीः) रक्त धारों की धारायें हम भूलोक में जल धाराओं के समान (सस्रजिरे) नदियों के समान गति कर रही हैं और उस पर (अधि) अधिकार कर रही हैं (यत्र) जिस देह में रह कर हम इन्द्रियगण तथा विद्वान्जन (अभिसन्वामहे) इस आत्मरूप इन्द्र की साक्षात् महिमा का अनुभव करते और गान करते हैं अर्थात् जिस देह में हम उस इन्द्र के साक्षान् अधीन रहते हैं ।

ईश्वर पक्ष में—यदि=यह संसार, अरुणी=कान्तिमान्, हरयः=सूर्यसदृश गतिमान् पियूष ।

(३) (गावः) ये सब गतिमान् रक्तधारायें तथा इन्द्रियगण (इन्द्राय) इस इन्द्ररूप आत्मा के लिये (आशिरम्) उसके अधिन के आश्रयरूप (मधु) हर्ष कर उस शुक या ज्ञान को (दुबुद्धे) उत्पन्न करती हैं, (यत्) जिसको वह इन्द्र (उपह्वरे) भीतरी हृदय कोश में (सीम्) सब ओर से (विदत्) प्राप्त करता है ।

ईश्वर पक्ष में—ये गतिमान् तेजस्वी पियूष (आशिरं) समस्त ब्रह्माण्ड के आश्रयरूप (मधु) शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसको वह इस ब्रह्माण्ड में धारण किये हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४६२] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूषतः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋत्रपिम ॥१॥

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१४६३] त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यासि सत्य ईशानकृत् ।

तुविशुम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥२

अ० ६। ६०। १-२

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (हव्यं) स्मरण करते स्तुति करने, और पुकारने, आश्रय करने योग्य (इन्द्रम्)। उस परमेश्वर

भा०—(१) विद्वान् लोग (यत्) जब (प्रत्नं) सनातन अति उत्तम (पूष्यं) पूर्व पुरुषाओं से सेवित, अति पुरातन (उक्था) अति प्रशंसनीय (पीयूष) अमृतस्वरूप अह्वानन्द रस को (महतः) बड़े (गाहात्) अति गम्भीर (दिवः) द्यौलोक, मूर्ध्ना स्थल या सहस्रदलकमल से (आ निरधुषत) साक्षात्कार द्वारा प्राप्त करते हैं तब वे (जायमानं) प्रकट होते हुए, साक्षात् ज्ञान का विषय होते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा की (समू अस्वरन्) उत्तम रीति से स्तुति करते हैं ।

(२) जब (दिवः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के (चारं) आवरण को (सविता न) सूर्य के समान समस्त जगत् का प्रेरक परमात्मा (वि ऊ-
रुते) खोजता या हटा देता है (आत्) तब ही (केचित् दिव्या) प्रकाश में वर्तमान होकर भी कुछ एक (वसुरुचः) आत्मा के साधक या इन्द्रियादि उपकरणों के चमत्कारों को प्रेम करने वाले साधक (आप्यं) अपने प्राप्त करने योग्य बन्धुरूप (ईम्) इस प्रभु को या समाधि से उत्पन्न आनन्द को ही (पश्यमानामः) देखते हुए उसकी (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं ।

(३) (यूथेन) जिस प्रकार गौओं के गोल में (वृषमः) सांड खड़ा रहता और शोभा देता है उसी प्रकार (यद्) जब आप डे (पच-
मान) सबके प्रेरक ! प्रभो ! (इमे) इन (रोदसी) द्यौ और पृथिवी प्राण और अपान दोनों को और (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों या इन्द्रियमय शेष प्राणों के (मज्जना) बलपूर्वक (नि स्थ) भीतर व्याप्त होते हो तब (वि-राजति) आप विशेष रूप से शोभा को प्राप्त होते हो ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४६७] इममूधुत्वमस्माकं सनिं गात्रं नव्यासम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २

अग्ने देवेषु प्र धाव ॥१॥

३ ४ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४६८] विभक्तासि चित्रमानो लिन्धोरुर्मो उपाक आ ।

३ २ ३ १ २
(सप्तो दाशुषे चरसि ॥२॥

१ ३ १५ २२ ३ १ ७
[१४६९] आ नो भज परमेश्वर वाजेषु मध्यमेषु ।

२ ३ २ ३ १ २
शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥३॥४॥ ऋ० ११ २७ । ऋ, व, ५४

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८] पृ० १२ ।

(२) हे (चित्रमानो) उपास्य ! कान्तिसम्पन्न ! विचित्र हरिमर्मा से युक्त ! नाना प्रकार के सूर्यों के स्वामिन् ! प्रभो ! जिस प्रकार (लिन्धोः) विशाख नदी के (उपाके) समीप से (कर्मा) छोटी २ नहरें काटती जाती हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाल विभूतिप्रवाह में से (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करने वाले भक्त के प्रति (विभक्तासि) विविध प्रकार से नाना विभूतियां बांट देते हैं और (सप्तः) शीघ्र ही (चरसि) अभिमत आनन्दरस बहा देते हैं ।

(३) हे अग्ने ! (परमेषु) उत्कृष्ट (वाजेषु) ज्ञान और बलयुक्त पदार्थों में से (नः आ भज) हमें प्राप्त करा और (मध्यमेषु) मध्य कोटि के पदार्थों में से भी हमें प्राप्त करा और (अन्तमस्य) समीपतम (वस्व) वास योग्य पदार्थों को भी (शिक्ष) प्रदान कर ।

३ २ ८ ३ १५ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५००] अहमिद्धि पितु परि मे प्रामृतस्य जग्रह ।

३ १५ २२
अहं सूर्य इवाजनि ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५०१] अह प्रत्नेन जन्मना गिर शुभामि कएचयत् ।

२४ ३ २ ३ २ ३ ७
येनेन्द्रः शुष्ममिद्धे ॥ २ ॥

१५०१—'अग्रम' । १५०२—प्रत्नेन प्रज्जना इति ऋ० ।

[१५०२] यं त्वामिन्द्र न तुष्टुहुःपयो ये च तुष्टुहुः ।

ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ८ । ६ । २०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१५२] पृ० ८५ ।

(२) अपि का आत्मरूप से दर्शन है । मैं जीव (कणवत्) मेधावी विद्वान् पुरुष के समान (प्रत्नेन) अपने पूर्व के, सनातन (जन्मना) जन्म अर्थात् अपने स्थायीरूप से ही (गिर) माना वेदस्तुति वाणियों को (शुम्भामि) प्रकट करता हूँ । (येन) जिसमें (इन्द्रः) मेरा आत्मा (शुभ्रं) आगमिक वल का (इत्) ही (दधे) धारण करता है ।

(३) हे आत्मन् ! (ये) जो अज्ञानी लोग (त्वां) तुझको (न) नहीं (तुष्टुहु) स्तुति करते और (ये च) जो (ऋपयः) आत्मसाक्षात्कार करने वाले मन्त्रदत्ता, ऋषिगण तथा गुरुशिष्य तथा ज्ञानी, जिज्ञासु जन (त्वा तुष्टुहु) तेरा यथार्थ वर्णन करते हैं उनसे (सु-स्तुत) उत्तम रूप से स्तुतियों द्वारा अलंकृत होकर (मम इत्) मेरी ही स्तुतियों द्वारा मुझे (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त करा ।

अर्थात् प्रत्येक जीव अपनी ही की हुई उपामना और प्रार्थना से बलवान् होता है । हमारे की की, प्रार्थनोपासना उसके लिये निष्फल है ।

श्रुति प्रथम. खण्डः ।

—:०:—

[१५०३] अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्रकृत ।

ये देवग्रा य आयुपुतेभिर्नो महया गिरः ॥ १ ॥ अग्नेवे नास्ति ।

१५०३—अग्नेवे (३ । २४ । ४) समानाक्षरसन्निवेशवतीयम् । उपलभ्यते ।

“ अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः । येषु ये व चायवः ॥ ”

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
 [१५०४] प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः ।

१ २ ३ २ ३ २४ ३ २४ ३ १ २
 तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥ २ ॥ अग्नेरे नास्ति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निमिर्वह्य यज्ञं च वर्धय ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२
 त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० १० । २४१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवान् ! तेजस्विन् ! परमात्मन् ! तू (विश्वेभिः) अन्य समस्त (अग्निभिः) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोपि) सब को सेवन कराता है । इसलिये हे देव ! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवत्रा) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (ये आयुष्य) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभिः) उन द्वारा (नः) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (मह्य) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिनः) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (स अग्निः) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजैः) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और पेश्वों से (परीवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों से भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभिः) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (नः) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञं च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन की (वर्धय) वृद्धि कर और

(न०) हमें (देवतातये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन, -ऐश्वर्य आदि पदार्थ दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तवर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः ।

स त्वं ना धीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥

[१५०७] अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चित्जनपानमक्षि-

तम् । शर्याभिर्न भरमाणो गमस्यो ॥ २ ॥

[१५०८] अजीजनो अमृतमर्त्याय कमृतस्य धर्मज्ञमृतस्य चारुणः ।

सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

श्रु० ६ । ११० । ७, ६, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृक्तवर्हिष) देहबन्धन को काटने हारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (श्रवसे) यशस्वरूप महा-महिम तुम्हें प्राप्त करने के लिये (धिय) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधु) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (स० त्वं) वह तू (न) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह को (भरमाणः) न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गमस्यो) बाहुओं की (शर्याभिः) अंगुलियों से (दास न) जल के निरन्तर निकलते स्रोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (श्रवसा) ज्ञान बल से

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१५०४] प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्नि स यस्य वाजिनः ।

१ २ ३ २ ३ २४ ३ २४ ३ १ २

तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥ २ ॥ अग्नेदेनास्ति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ग्रहा यज्ञं च वर्धय ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२

त्वं नो देवतातये रायो दाज्ञाय चोदय ॥ ३ ॥ ॥ ६ ॥

अ० १० । १४१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्रकृत) ब्रह्मपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवान् ! तेजस्विन् ! परमात्मन् ! तू (विश्वेभिः) अन्य समस्त (अग्निभिः) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोषि) सब को सेवन कराता है । इस-लिये हे देव ! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवता) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (ये आयुषु) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभिः) उन द्वारा (न) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (महय) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिनः) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (स-अग्नि) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजैः) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और ऐश्वर्यों में (परीवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों में भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभिः) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (नः) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञं च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन की (वर्धय) वृद्धि कर और

(नः) हमें (देवतास्ये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,—ऐश्वर्य आदि पदार्थ-दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृकवर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः ।

स त्वं ना चीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥

[१५०७] अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दितोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षि-

तम् । शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्यो ॥ २ ॥

[१५०८] अजीजनो अमृतमर्त्याय कमृतस्य धर्मममृतस्य चारुणः ।

सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

श्र० ६ । ११० । ७, १, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृकवर्हिषः) देहबन्धन को काटने द्वारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (श्रवसे) यशस्वरूप महा-महिम तुझे प्राप्त करने के लिये (धियं) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधुः) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (चीर) सर्वशक्तिमन् ! (सः त्वं) वह तू (नः) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह को (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गभस्त्यो) बाहुओं को (शर्याभिः) अंगुलियों से (ततर्दितं न) जल के निरन्तर निकलते झोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (श्रवसा) ज्ञान बल से

अक्षय (जलपानं) समस्तजनों को जलमयझार के समान आनन्दरस—सागर को (भरमाणाः) पूर्ण करते हुए, मेघ को वायु के समान (उत्सं) मूल निकाम रूप ब्रह्म तत्व को (अवसा) गुरुपदेश, ज्ञान, योग्याभ्यास से (ततार्थि) उद्भेद कर देते हों, तब उन्में अध्यात्म रस प्राप्त होने लगता है ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! (मर्त्याय) मरणाधर्मा इस जीव के लिये आप (अमृतं) भोग्यस्वरूप, अधिनाशी (कम्) सुख को (अजीजनः) उत्पन्न करते हो और (अनृतस्य) अधिनाशी (चारुणः) प्राप्त करने योग्य, उन्नम (अतस्य) सत्यज्ञानरूप वेद के उपदेश किये हुए (धर्मम्) धर्ममार्ग में (वाज) ज्ञान आर यज्ञ को (सनिष्यदत्) प्रदान करते हुए (सदा) नित्य (अच्छ) भली प्रकार (सरः) प्रकट होते हो ।

[१५०६] ए० दु० मिन्द्राय लिञ्चत विनाति सौम्य मधु ।

प्र रायासि चोदयने सहित्वना ॥१॥

[१५१०] उपो हरीणां पतिं राधः पृञ्चन्तमव्रवम् ।

सूतं श्रुधि स्तुवतो अश्वस्य ॥ २ ॥

[१५११] न ह्याऽऽङ्ग पुरा ध्व न जज्ञ वीरितरस्त्वत् ।

न की राया नैवथा न भन्दना ॥ ३ ॥ ८ ॥

श्र० ८ । २४ । ११-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [३८६] पृ० ।

(२) (राध) आराधना योग्य ज्ञान या अभिलाषित ऐश्वर्य को (पृञ्चन्त) प्रदान करते हुए, उद्देश्य तक प्राप्त कराते हुए (हरीणां पतिम्) हरणशील इन्द्रिय आदि सूर्यों और विद्वानों के पात्रक परम आत्मा के

प्रति (उप अवधम्-उ) अति समीप होकर मैं यह कह रहा हूँ कि (स्तु-
वतः) तेरा यथार्थस्वरूप वर्णन करने हारे (अवस्थ) गतिशील,
कर्मफल के भोक्ता जीव आत्मा की प्रार्थना को (नून)-निश्चय से (श्रुधि)
श्रवण कर ।

(३) (अहम्) हे परमेश्वर ! (त्वत्) तुझ से अधिक (वीरतर)
सामर्थ्यवान् शक्तिमान् कोई (नहिं) नहीं है । (न च) और न (पुरा)
पूर्व कल्पों में भी (जज्ञे) उत्पन्न हुआ । और (नकिः) न कोई (राया)
ऐश्वर्य विभूति में तुझ से अधिक है और न हुआ, न होगा, और (न पृथगा)
न तुझ से अधिक सर्वव्यापक सर्वरक्षक दूसरा है, न हुआ और न होगा,
(न भन्दना) न तुझ से अधिक कोई कल्याणकारी प्रशंसा और स्तुति का
पात्र ही है, और न हुआ है, न होगा ।

उ ३ उ १ २ उ १२ २२
[१५१२] नदं व ओदतीनां नद योयुवतीनाम् ।

१ २ उ १ २ उ १ २
पतिं वो अक्ष्यानां धेनूनामिपुष्यसि ॥ १.॥ ६ ॥

अ० ८ । ६९ । २

भा०—(१) (वः) आप लोगों (योयुवतीनां) कर्म का आदेश
करने हारी ऋचाओं के (नदं) उपदेश करने हारे और (ओदतीना)
अध्यात्म ज्ञान का उपदेश करने हारे वेद वाणियों के, (नद) उपदेश
और (अक्ष्यानां) कभी घात न होने हारी अविनाशी, नित्य (धेनूना)
ज्ञानरस के पिजाने हारी वेदवाणियों के (पतिं) पातक प्रभु को
(इपुष्यसि) आश्रय करो और उसी से इष्ट फल प्राप्त कराने की
याचना करो ।

पतिं द्वितीयः खण्डः । . . .

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
[१५१३] देवा वो द्रविणोदाः पूर्णां विनष्ट्वा सिचम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उद्धा सिञ्चन्वमुप वा पृणन्वमादिष्ठो देव ओहते ॥१॥

= २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१४] त होनारमध्वरस्य प्रचेतसे वह्निं देवा अकृणवत् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
दधानि रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुपे ॥२॥१०॥

श्रु० ७ । १६ । ११-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१५] पृ० २६ ।

(२) जो (अग्नि०) ज्ञानवान् आचार्य, परमेश्वर (दाशुपे) दानशील, आत्मसमर्पक (विधते) पारिचर्या करते हुए, शिष्य के समान उपासक को (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्ययुक्त (रत्नं) रमणीय, ज्ञान और ऐश्वर्य को (दधानि) धारण कराता है (तं) उस (प्रचेतसे) उत्तम ज्ञानवान् परम पुरुष को (देवा) विद्वान् पुरुष (अध्वरस्य) हिसारहित ज्ञानयज्ञ का (होतारं) सम्पादक और (वह्निम्) कार्यनिर्वाहक (अकृणवत्) नियत करते जानते, और मानते हैं ।

१ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१५] अदर्शि गातुविनमो यस्मिन् ब्रतान्यादधुः ।

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
उपो पु जातमार्यस्य धर्धनमग्निन्नक्षन्तु नो गिर ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५१६] यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृणवत् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहस्रसां मंधसानार्चव त्मनाग्निं धीभिर्नमस्यत ॥२॥

१ २ २ २ ३ २
[१५१७] प्र दैवादासा अग्नि० ॥३॥११॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल स० [४७] पृ० ।

(२) (चक्रंत्यानि) समस्त जगत् के कर्तव्य कर्म (कृण्वतः) कराने हारे (यस्मात्) जिससे (कृष्ट्य०) मनुष्य (रेजन्त) कांपते हैं, भय अनुभव करते हैं (सहस्रसां) सहस्रों का दान देने हारे उस (अग्निम्) परमेश्वर को (मेधसातौ) ज्ञानवान् और मेधा को प्राप्त करने के लिये (धीभिः) अपनी ध्यानधारणावाली बुद्धियों और कर्मों से (त्मना) अपने आत्मा द्वारा (नमस्यत) उपासना करो ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [११] पृ० २३ ।

[१५१८] अग्न आयूषि पवसे० ॥१॥

[१५१९] अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।

तमीमहे महागयम् ॥२॥

[१५२०] अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुर्वार्यम् ।

दधत्र्यि मयि पोषम् ॥३॥१२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [६८७] पृ० ३१६ ।

(२) (अग्निः) ज्ञानवान्, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (ऋषिः) स्वतः सब मन्त्रों का दृष्टा, प्रकाशक, सर्वव्यापक और समस्त संसार का दृष्टा है, वही (पवमानः) सबका पवित्रकारक ज्योतिष्मान् और सबका प्रेरक होने से (पाञ्चजन्यः) पाँचों जन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, या देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प और पितर या ५ इन्द्रियों को समानरूप से हितकारी (पुरोहितः) समस्त कार्यों के पूर्व, हृदय में और समस्त विश्व सृष्टि के पूर्व, जगत् में साक्षी रूप से स्थित है, (तं) उस (महागय) महान् प्राणों के प्राण, अथवा बड़े २ देवादि से भी स्तुति किये गये महान्, ज्ञानवान्, परम उपदेष्टा, विशाल कीर्ति वाले परमात्मा से हम (ईमहे) याचना करें ।

(३) हे अग्ने ! (स्वपा.) शोभन प्रज्ञा और कर्म से सम्पन्न
रमात्मन् । आप (अस्मे) हमें (वर्च) तेज (पवस्व) प्राप्त कराओ
और (मयि) मुझ में (रयिम्) प्राण, बल और (पोष) पुष्टि (दधत्)
धारण कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२१] अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।

२ ३ १ २ ३ १ २
आ देवान्वाक्षि यक्षि च ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२२] तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम् ।

३ २ ६ ३ १ २
देवा आ वीतये वह ॥२॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२३] वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि ।

१ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥३॥ १३॥ अ० ५ । २६ । १-३॥

भा०—(१) हे अग्ने ! (पावक) सबको पवित्र करने द्वारे । हे
(देव) सब के प्रकाशक ! और स्वयंप्रकाश, देव ! परमेश्वर ! (रोचिषा)
अपनी दीप्तिस्वरूप (मन्द्रया) आनन्ददायक (जिह्वया) दान प्रतिदान
करने की शक्ति से (देवान्) दिव्य पदार्थ, जल आदि पचभूतों को और
ज्ञानमय दीप्ति से विद्वानों को और आकर्षण से समस्त ब्रह्माण्ड के सूर्यादि
लोकों को (आवाक्षि) आवाहन करते, उनका धारण करते (यक्षि च)
संगत करते, और व्यवस्थित रखते हो ।

(२) हे (चित्रभानो) नाना विध कान्तियुक्त परमात्मन् ! हे (घृतस्नो)
समस्त प्रकाशमान पदार्थों के प्रेरक ! (तं) उस महान् आत्मा (स्वर्दृशं) सबके
दृष्टा, या स्व अर्थात् प्रकाशमय और सुखकारक चक्षु से सम्पन्न, या
मोक्षमार्ग को दर्शाने द्वारे आपको (ईमहे) प्रार्थना करते हैं कि (देवान्)
हमारे दिव्य गुणयुक्त इन्द्रियों को और उसी प्रकार ज्ञान काने द्वारे विद्वान्

पुरुषों और उपकारक दिव्य पदार्थों को (चीतये) उत्तम ज्ञान, तेज, और सुखें प्राप्ति के लिये (आ वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (कवे) समस्त संसार के पदार्थों के मर्म तक को देखने हारे अन्तर्यामिन् ! हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (चीतिहोत्रं) यज्ञों में व्यापक (शुमन्त) प्रकाशमान (बृहन्तं त्वा) सब से महान् आपको ही हम (अश्वरे) हिंसा रहित ज्ञान और कर्ममय यज्ञ में (समिधीमहि) प्रदीप्त करते हैं ।

इति तृतीय खण्डः ।

— 0 —

[१५२४] अवा नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि ।

विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥

[१५२५] आ नो अग्ने रयि भर सत्रासाहं वरेण्यम् ।

विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥२॥

[१५२६] आ नो अग्ने सुचेतुना रयि विश्वायुपोषसम् ।

माडीकं धेहि जीवसे ॥३॥ १४॥ ऋ० १ । ७६ । ७-३॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमात्मन् ! हे (वन्द्य) वन्दना करने योग्य परमात्मन् ! आप (गायत्रस्य) प्राणों के प्राण करने के साधन शरीर में, (प्रभर्मणि) उत्तम रीति से भरण पोषण करने के कार्य में (ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (नः), हमारी (विश्वासु) समस्त (धीषु) कार्यों से (अव) रक्षा करें ।

१५२५—पृत्सुनाशब्दस्य पृदादेशः । पृत्सुनो० इति [पा० ६ । १ । ६३]

सुत्रे मास पृत्सुनानामुपसत्यानमिति वार्तिकम् । पृत्सुनेति मनुष्यनाम [नि० २ । ३] मंग्रामनाम च [नि० २ । १७]

(२) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमारे लिये (वरेण्यं) सब से श्रेष्ठ (सन्नासाहं) सब विपत्तियों को दूर करने हारे (रयिं) बल और अन्न (आभर) प्राप्त करावें जो (विश्वासु) सब (पृथु) मनुष्यों में या संग्रामों में (दुस्तरं) दुस्तर अर्थात् जिसका कोई मुकाबला न कर सके और न समाप्त कर सके ऐसे हों ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमें (जीवसे) जीवन के निमित्त (विश्वायुपोषसं) समस्त मनुष्यों के पालन पोषण में समर्थ (मार्दिकं) सुख, आरोग्य करने हारे (सुचेतुना) उत्तम ज्ञान सहित (रयिं) अन्न और प्राणबल (धेहि) दें ।

[१५२७] अग्निं हिन्वन्तु ना धियः सतिमाशुभिन्नाजिषु ।
तेन जप्स धनं धनम् ॥ १ ॥

[१५२८] यया गा आकरामहे सनयाग्नं तवात्या ।

तां ना हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

[१५२९] आग्ने स्थूरं रयि भर पृथु गोमन्तमश्विनम् ।

अङ्गाधि ख वर्त्तया पविम् ॥ ३ ॥

[१५३०] अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्य रोहयो दिवि ।

दधज्ज्योतिर्जनभ्यः ॥ ४ ॥

[१५३१] अग्ने कंतुविशामसि प्रेषुः श्रेष्ठ उपस्थसत् ।

घाघा स्तोत्रे वयो दधत् ॥५॥१५॥ अ० १०।१५६। १-२

१५२९—स वर्त्तया पविम् इति अ० । 'सर्वर्त्तया' इति अजमेरुद्वितः
ग्रामादिक पाठः ।

भा०—(१) (न०) हमारी (धिय०) बुद्धियों, कर्मों और स्तुतियाँ (अग्नि) ज्ञानवान् पुरुष, या आत्मा या परमात्मा को (वाजिभु) संग्रामों में (आशुं ससिम् इव) शीघ्रगामी, अश्व के समान (हिन्वन्तु) प्रेरणा करें (तेन) उससे हम (धनं धनं) बहुत सा धन (जेषम) विजय करें, प्राप्त करें ।

(२) हे (अग्ने) प्रभो ! (यया) जिस (तव) तेरी (उत्था) रक्षा ज्ञान और (सेवया) सेवा से (गा०) वाणियों, रश्मियों और गौओं को (आकरामहे) साक्षात् प्राप्त करें (ता) उस अपनी शक्ति को (नः) हमें (मघत्तये) धन ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (हिन्व) प्रेरित कर ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! तू हमारे पास (पृथु) खूब विस्तृत (गोमन्तं) गौओं और (अधिन) अधों से युक्त तथा ज्ञान और कर्मेन्द्रिय से सम्पन्न (द्युरं) स्थिर (रयि) प्राण और धन को (आभर) प्राप्त करा । (ख१) सुख को (अग्निध) हमारे लिये प्रकाशित कर और (पविम्) पापनाशक पावकरूप यज्ञ ज्ञानवज्र या ज्ञानप्रवर्तक वाणी को (वर्त्तय) उपदेश कर, उसका प्रयोग कर ।

' खं '—यदेव खं तदेव कं यदेव कं तदेव खम्, छान्दोग्य उप० पवि-
रिति वाग्वज्रयज्ञादिनामसु पठितः

(४) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (नक्षत्रम्) सदा गतिशील, या कभी अपने मार्ग से द्युत न होने वाले, नक्षत्रस्वरूप (सूर्य) सूर्य को (दिवि) द्यौलोक में (आ रोहयः) स्थापित करते हैं कि वह (जनेभ्यः) सब उत्पन्न होने वाले लोकों और प्राणियों को (ज्योतिः) प्रकाश (दधत्) प्रदान करे ।

(५) (अग्ने) परमात्मन् (विश) समस्त प्राणियों को आप (केतुः) ज्ञान देने वाले, (प्रेष्ठ०) सब से अधिक प्रिय, और सब से (श्रेष्ठ) उत्तम होकर (उपस्थसत्) सब के समीपतम हृदयदेश में विराजमान हो ।

[१५३२] अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पानिः पृथिव्या अयम् ।

[१५३३] ईशिषे वायस्य हि दात्रस्याग्ने स्व.पतिः ।

[१५३४] उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।

तव ज्यातोप्यर्चयः ॥३॥१६॥ अ० ८ । ५५ । १६, १८, २७ ॥

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (स्व पतिः) समस्त मोक्ष के
पालक हैं । आप ही (दात्रस्य) दान देने योग्य और (वायस्य) वरण
करन योग्य विभूति के भी (दक्षिणे) प्रभु हैं, अतः (तव) तेरी
(शर्मणि) शरण में रहकर मैं (तव) तेरे (स्तोता) साथ गुणों का
वर्णन करने द्वारा (स्याम्) रहूँ ।

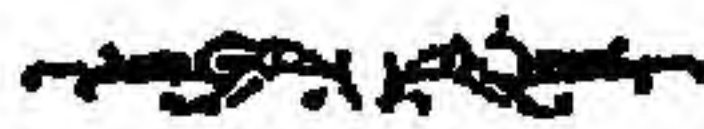
(३) हे भगने ! (ते) तेरी (शुद्धाः) कान्तिमान् (शुचयः) दीक्षिये (भ्रातृन्तः) सब को प्रकाशित करवा दुई स्वयं (दम्भरते) बड़

रही हैं और (अर्घ्यः) ये सब कान्तियां भी (तव) तेरी ही (ज्योतीषि) जगाई ज्योतियां हैं ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोर्ध्वः समाप्तः ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥



अथ पंचदशोऽध्यायः ।



अथ सप्तम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्ध्वः ।

अपि.—१, ११ गोनमो राहूगणः । २, ६ विश्वामित्रः । ३ विरूप आंगिरसः । ४, ६ मगः प्रागायः । ५ त्रिनः । ६ उजना काव्यः । ८ सुदीतिपुरुमीकृष्टौ तयोर्वान्यतर । १० मोमरि काव्यः । १२ गोपवन आत्रेयः । १३ भरद्वाजो वार्हस्पत्यो धीतहृदयो वा । १४ प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको वार्हस्पत्यः, अथर्गानी गृहपति धविष्ठौ ससुतौ तयोर्वान्यतरः ॥ अग्निर्देवता । छन्द — १—काकुभम् । १२ सजिक् । १२ अनुष्टुप् प्रथमस्य, गायत्री चरमयोः । १३ जगती ॥ स्वरः—१—३, ६, ६, १५ पङ्क्तः । ४, ७, ८, १० मध्यमः । ५ धैवतः । ११ ऋषभः । १२ गान्धरः प्रथमस्य, पङ्क्तश्चरमयोः । १३ निपातः श्व ॥

[१५३५] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २} कस्त जाभिजनानामग्ने का दाश्वद्वर ।

^{२ ३ १ २ ३ २} को ह कस्मिन्नासि श्रिन ॥१॥

[१५३६] ^{२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} त्वं जाभिजनानामग्ने मित्रा असि प्रियः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} सखा सतिभ्य ईड्य ॥२॥

[१५३७] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २} यजा नो मित्रावरुणौ यजा देवां क्रतुं बृहत् ।

^{२ ३ २ ३ १२ २२} अग्ने यज्ञि स्व दमम् ॥३॥१॥ अ० १ । ७५ । १२-३ ॥

। मा०—(१) हे अग्ने ! (जनाना) मनुष्यों में से (तं) तेरा (कः) कौन (जामि.) बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं । तेरे लिये (कः) कौन (दाशवध्वरः) दानशील, अहिंसा रहित यज्ञ करता है ? (क ह) हे हे अग्ने ! तुम कौन हो, (कास्मिन्) और तुम किस में (श्रित) आश्रय किये (असि) हो ? अर्थात् तुम्हारा सब कुछ अज्ञेय है ।

(२) (त्व) आप (जनाना) सब उत्पन्न होने वाले प्राणियों के (जामि.) उत्पादक और बन्धु हो और (प्रिय.) प्रिय (मित्र) ऐसी सुहृद् (असि) हो । (सखिभ्यः) समान आश्रयान अर्थात् नाम वाले भक्त प्रेमी, जीवगण के लिये (सखा) उनके सुहृद् होकर भी उनके लिये (ईडय) उपासना और स्तुति करने योग्य हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रभो ! तू (नः) हमारे (मित्रावरुणौ) जैसे मित्र जन और पापनिवारक गुरु उपदेष्टा तथा प्राण और अपान दोनों को (यज) बल और ज्ञान प्रदान कर । और हमारे (देवान्) इन्द्रियों और विद्वानों को (बृहत्) बड़ा भारी (अतं) सत्य ज्ञान (यज) प्रदान कर । और हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप (स्व) अपने (दम) दमन करने योग्य समस्त संसाररूप गृह को अथवा (दम=मदं) अपना परम आनन्द और (धत्ति) देता है ।

[१५३८] ^{३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २} ईडेन्यो नमस्यस्निरस्तमासि दशतः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} समग्निरिध्यते वृषा ॥१॥

[१५३९] ^{१ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २} वृषा अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देवशाहनः ।

^{१ ३ १ २ ३ १ २} त हाविष्मन्त ईडते ॥२॥

[१५४०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वृषणं त्वा वय वृषन् वृषणः समिधामहि ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} अग्ने दधितं बृहत् ॥३॥२॥ अ० ३ । २७ । १३-१५ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार लौकिक अग्नि अन्धकारों को दूर हटा कर स्वयं दिखलाई देता है और अन्धकार में राहगीर उसी की ओर भुके चले आते हैं एवं अन्धेरे में भटकते लोग उसी को सराहते हैं उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाश और ज्ञान से युक्त (तमासि) समस्त अज्ञानरूप अन्धकारों को (तिरः) दूर करने द्वारा परमात्मा और आचार्य (दर्शतः) अवश्य नित्य दर्शन करने योग्य, और सब मार्गों का दर्शाने वाला (ईडेभ्यः) स्तुति उपासना करने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है । (अग्निः) वंही ज्ञानस्वरूप (वृषा) सब सुखों का वर्षक, परमात्मा तथा आचार्य श्रेष्ठ होने के कारण (इध्यते) हृदय में ज्ञानरूप से प्रकाशित होता है ।

(२) (वृष.) सब सुखों के देने वाला, आत्मरूप (अग्नि.) अग्नि, (देववाहन.) इन्द्रियों को वहन करने द्वारा (अग्नी. न) अश्व अर्थात् भोक्ता स्वामी के समान जाना जाकर (समिध्यते) युद्धमें विजिगीषु के अश्व के समान योगाङ्गों द्वारा और भी तेजस्वी, तथा प्रज्वलित किया जाता है । (हविष्मन्त.) स्तुति उपासना करने वाले अथवा चरु आदि से युक्त याज्ञिक लोग भी (तं) उसकी ही (ईडते) स्तुति करते हैं ।

(३) हे (वृषन्) सब सुखों और ज्ञानों के वर्षक (त्वा) तुम्ह (वृषथ) सब से बलवान् (दीधत) चेतनारूप से और तेज स्वरूप सकल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने वाले (वृहत्) महान् आत्मा परमेश्वर को (वय) हम (समिधमिहि) अपने हृदय में उच्चम रीति से प्रज्वलित करें ।

[१५४१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} उत्ते घृहन्ता ^{३ १ २} अर्चय. समिधानस्य दीदिवः ।

^{१ २ ३ १ २} अग्ने शुक्ल ईरते ॥२॥

[१५४२] ^{१ २ ३ १ २} उप त्वा जुह्वाऽरे मम घृताचर्यन्तु हर्षत ।

^{१ २ ३ १ २} अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥ २ ॥

[१५४३] मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम् ।

अग्निमीडि स उ अयत् ॥३॥३॥ अ० ७ । ४४ । ४-६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (समिधानस्य) उत्तम रीति से प्रज्वालित, प्रदीप्त (ते) तेरी (शुक्रासः) कान्तिमान् तेजोमय, (बृहन्तः) बड़ी २ (अग्नेयः) सूर्य आदि ज्वालाएं (उद् ईरते) उठ रही हैं ऊर्ध्व आकाश में गति कर रही हैं ।

(२) हे (हर्यत) सब को अपने में ही आहरण कर लेने वाले सबके प्रलयकारक परमेश्वर ! (मम) मेरी (घृतार्घा) घृत, अर्थात् कान्ति या तेज को धारण करने वाली (जुह) दान प्रतिदान करने वाली धमसरूप इन्द्रिया (त्वा) तेरे प्रति ही (उप यन्तु) गति करें । हे (अग्ने) प्रकाशक (नः) हमारे (हव्या) स्तुतियों और प्रदान करने योग्य समस्त स्वरूप पदार्थों को आप ही (जुपस्व) स्वीकार करो ।

(३) मैं (मन्द्रं) आनन्दस्वरूप (होतार) समस्त ब्रह्माण्ड यज्ञ के होता सम्पादक (अमृत्विजम्) अमृतियों, प्राणों तथा सत्य ज्ञानियों द्वारा उपामना करने योग्य (चित्रभानुम्) नाना प्रकार के चित्र विचित्र कान्तिमान् सूर्यों से अलंकृत, (विभावसुम्) कान्तिरूप धन से सम्पन्न, विशेष दीप्ति मे समस्त जीवों और लोकों का धास देने वाले उस परमेश्वर रूप (अग्निम्) ज्ञान प्रकाशक की (ईडे) स्तुति करता हूँ । (स उ) बड़ी सब स्तुतियों को (अयत्) श्रवण करना है ।

[१५४४] पाहि नो अग्न पक्ष्या पाहूऽऽन द्वितीयया ।

पाहि गीर्भस्मिन्सुभक्तुर्जीम्यते पाह न्नर्युभिर्दसो ॥१॥

[१५४५] पाह विश्वस्माद्वत्सो अरावणः प्र मम वाजेषु नोऽय ।

त्वामिधि नोऽपि दवतातय आरि नन्नामहं पृथे ॥२॥२॥

अ० ८ । ६० । ६-१० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६] पृ० १५ ।

(२) हे (अग्ने) तेजस्विन् ! आप (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (अराध्याः) जीवन, धन, स्वत्व, अधिकार और सुख आदि न देने हारे कंजूस, पर-स्वत्वापहारी (रक्षसः) दुष्ट स्वभाव, राक्षस पुरुष से (पाहि) रक्षा कर । और (न०) हमारी (वाजेषु) संग्रामों में भी (प्र अव स्म) उत्तम रीति से रक्षा कर : (हि) क्योंकि (त्वाम् इत्) तुम्हको ही (देवतातये) विद्वानों की और अपनी (वृधे) वृद्धि के लिये (नेदिष्ठं) सबसे समीपतम (आग्निम्) अपना बन्धु जानकर (नक्षामहे) तेरे शरण आते हैं, तुम्हें प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:0:—

उ १ २ उ १२ २२ उ २ उ १ २ उ १ २
[१५४६] इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुपुमौ अदर्शि ।
उ १२ २२ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
चिकिद्भिमातिभासा बृहन् । सिक्तीमेति रुशतीमपाजन् ॥१॥
उ १२ २२ उ १२ २२ उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ २
[१५४७] कृष्णा यदेनीमगिर्वर्षसाभूजजनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ।
उ २ उ १२ २१ उ २ २ १२ २२ उ १२ २२
ऊर्ध्वम्भानुं सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररनिर्विभाति २॥
उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ २ उ २ उ २ उ २
[१५४८] भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जागो अभ्येति
१ २ उ १२ २२ उ २ उ २ उ ११ २ उ १ २ उ २ उ १
पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्धिर्वर्णैर्भिराम
अस्थात् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १०। ३। १-३ ॥

भा०—(१) हे (राजन्) सुप्रकाशमान परमात्मन् ! आप (इन.) सब के स्वामी (अरतिः) सब के भीतर व्यापक हैं । आप ही (समिद्ध) खूब प्रकाशमान होकर (रौद्रः) दुष्टों को रुझाने हारे, पापों के भयंकर दण्डविधाता होकर भी (दक्षाय) जीव के लिये (सुपुमान्) उत्तम

१५४६—१. सुष्टु सूते इति सुपुः सोमस्तद्वान् । ओषध्यात्मना स्थितोऽश्रुतिं सायण. ।

आनन्द रस के उत्पादक और उत्तम जन्म देने हारे, सौम्य (अदृशि) दिखाई देते हैं । वह आप परमेश्वर (चिकिद्) सर्वज्ञ होकर (बृहता) बड़े भारी (भासा) ज्ञानमय प्रकाश और भौतिक तेजसे सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहे हैं । वही आप (रुशतीम्) रुधिर कान्तिवाली उपारूप कान्ति को (अपभजन्) दूर कर पुनः (असिक्री३) कृष्णवर्णा रात्रि को (एति) प्राप्त कराते हैं । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि की शिखा दिन को छोड़ कर रात्रि में प्रकाश काती है उसी प्रकार आप भी ज्ञानमय स्थानों के अतिरिक्त अज्ञानमय दशा में भी प्रकाश करते हैं और या (रुशती) कान्तिमय ससार की जाग्रत अवस्था को दूर कर (असिक्रीम्) रात्रिरूप प्रलय दशा में बदल देते हैं । और इसी प्रकार रात्रि या प्रलय दशा को आप ही पुनः उपा अर्थात् सर्गदशा में बदलते हैं ।

(२) पूर्वोक्त मन्त्र में कहा वह अग्निस्वरूप परमेश्वर (अरति०) सर्वथा एक (यद्) जब (कृष्णां) कृष्णवर्ण या सब को कर्पण करने हारी, प्रलय करने हारी (पुनी३) गमनशीला कालगतिको (चर्पसा) अपने रूप से (अभिभूत्) बसा कर लेता है, व्याप लेता है और (बृहत्०) बड़े भारी (पितु) पालन करने हारे, पिता परमात्मा की (जा) प्रजननशील (योषा) कुटुम्ब बसानेहारी स्त्री के समान समस्त पञ्चभूतों का परिपाक करके नाना प्रकार से उनको मिलाने हारी, सर्गकारिणी शक्ति को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, अथवा (योषा४) हिंसाकारक प्रलय

२. असिक्री अशुडा असिना (नि० ६ । २६) । रात्रिनाम च (निघ०)

३. एनीरति नदीनाम् । इण् गती (अशदि०) इत्य अौणादिको नि. (उ० ४ ४८) । नदीवचनोऽन्तोदात्तोऽन्यत्राधुनात्त इति मायव । अत्र आधुनात्त एवेति नात्र नदीग्रहणम् ।

४. योषा—यूप हिंसागाम् जूप च (स्वादि) । यौतेषां मिश्रणमिश्रणार्थस्य । अपि वा सामान्या योषा स्त्री, जुगुप्साभिम्य यावयने (चुरा०) ।

कारिणी शक्ति को भी (पितुः जां जनयन्) पालक की उत्पादिका शक्ति में बदलता हुआ, (दिवः) इस धौलोक ब्रह्माण्ड के (वसुभिः) बास देने वाले लोकों के सहित (सूर्यस्य) सब के प्रत्येक सूर्य के (भानु) दीप्तिमय पिंड को (ऊर्ध्वम्) ऊपर आकाश में (स्तभायन्) स्थापित करता हुआ (वि भाति) आप सब से अधिक प्रकाशमान होता है ।

(३) जिस प्रकार रात्रि और उषा के दृष्टान्त से प्रलय और सर्ग का वर्णन किया है उसी प्रकार इस मन्त्र से सूर्य और उषा के दृष्टान्त से पुनः सर्गशक्ति और परमात्मा के सम्बन्ध को दर्शाते हैं । (भद्रः) कल्याण और सुख का देनेहारा सब के भजन करने योग्य परमात्मा (भद्रया) समस्त संसार को मोच और भोग द्वारा सुख के सम्पादन करनेहारी प्रकृति से (सचमानः) युक्त होकर (आगात्) प्रकट हुआ । जिस प्रकार (जारः) समस्त संसार को जरा करने हारा, ब्रह्मा की समस्त आयु को नाश करने हारा, रुद्ररूप वही परमात्मा (पश्चात्) पुनः (स्वसारं) स्वयं सरण करने हारी, स्वतः सृष्टिरूप में विकार को प्राप्त होने हारी प्रकृति को (अभि एति) पूर्णरूप से व्याप लेता है, वह (अग्नि) प्रकाशमान, देदीप्यमान परमात्मा (सुप्रकेतैः) उत्तम विज्ञान-मय (द्युभिः) नियमों से (वितिष्ठन्) नाना रूप से व्याप्त होकर (उशस्वि) मनोहर (वर्यैः) रूपों से (रामं) रमण करने योग्य इस जगन् को (अभि अस्थात्) प्रकट करता है, चलाता है, व्यवस्थित करता है ।

[१५४६] ^{१ २} कया ते ^{३ १ २} अग्ने अङ्गिर ऊर्जो ^{३ १ २} नपादुपस्तुतिम् ।

^{१ २} वराय देव मन्यवे ॥ १ ॥

[१५५०] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०} दाशम कस्य मनसा यक्षस्य सहस्रो यहो ।

^{३ १ २ ३ १ २} कदुवाच इदं नमः ॥ २ ॥

[१५५१] अ॒ध्रा त्वं^{१ ३} हि^{२ ४} न॒स्करा^{३ ५} वि॒श्वा अ॒स्मभ्यं^{४ ६} सु॒क्षितीः^{५ ७} ।

वा॒ज॒द्र॒वि॒ण॒सो गिर॑ ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । ८४ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (अगिर^१) सर्वव्यापक ! सर्वप्रकाशक, तेजस्विन् सब में बल, प्राण और रसरूप में विद्यमान ! (अस्मे) ज्ञान और प्रकाशमान ! हे (कर्जोनपात्) बल के भयद्वार ! हे देव ! (वराय) सबसे श्रेष्ठ एवं वरण करने योग्य (मन्यवे) ज्ञानस्वरूप एवं मन्युस्वरूप, सब के मनन करने योग्य (तं , तेरी (कया) किस वाणी से हम उपस्तुति दाशेम) स्तुति करें ।

(२) हे (सहस्र यदो^२) बल और सहनशीलता से प्राप्त करने और स्मरण करने योग्य परमात्मन् ! (कस्य) किम (यशस्य) आत्मा को (मनसा) मन या अन्त करण से (दाशेम) आपके समर्पण करें । (इदं) यह (नम) नमस्कार (कत्) किस विध या किस २ समय (बोच) उच्चारण करें, अर्थात् मन से इस आत्मा को तो दे ही रक्खा है और क्या २ दें । और सदा ही तो आपका स्मरण करते हैं, और हम कय २ करें ।

(३) (अध) और हे परमात्मन् ! (हि) निश्चय से (नः) हमारे लिये (त्व) आपने (न) हमारी (सुक्षितीः) उत्तम २ निवासभूमियों और (वाजद्रविणस-) ज्ञान को बढ़ाने वाली, ज्ञानमम्पन्न (गिर) इन वेदमयी वाणियों का (अस्मभ्यं हि) हमारे ही लिये (कर-) बनाते, प्रकट करते, उपदेश करते हो ।

१५४८ १ अगिराः—अगारेष्वगिराः (अगारा अंकना अञ्चनाः) । (नि० ३ ।

३ । ५) अगाना क्षेप रम्, इति भाषणम् ।

२ यदुरित्यपत्यनामसु पठितः । यदुर्यातेर्हव्यतेश्चौरादिकात्कुप्रयये गृह्यादिरगान्निपातनम् । यातश्चाहृतश्चेति माधवः ।

- २ ३ १ २ ३ ७ ३ १ २
 [१५५२] अग्ने आयाह्मग्निमिहोतारं त्वा वृणीमहे ।
 ५२ ५२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मतां यजिष्ठं बर्हिषासदे ॥१॥
 २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 [१५५३] अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अग्निरः सुचश्चरन्त्यध्वरे ।
 ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यंक्षु पुर्व्यम् ॥२॥ ७ ॥

अ० ८। ५८। १, २ ॥

भा० —(१) हे अग्ने ! परमात्मन् ! और हे आत्मन् ! तू (अग्निभि.) प्रकाशक विद्वानों और प्राणों के साथ (आयाहि) प्राप्त हो। इस ब्रह्माण्ड और पिण्ड में अपनी शक्ति का दान—आदान करने हारे (त्वां) तुझ को हम (होतारं) अग्ना होतृस्वरूप शक्ति और सुख का दाता (वृणीमहे) चरण करते हैं। (यजिष्ठं) सबसे श्रेष्ठ यज्ञ और दान करने हारे (त्वा) तुझ को व्योतिष्मती प्रज्ञा से (बर्हिषि) इस हृदयकाश में (आसदे) प्राप्त करके (अनक्तु^१) ज्ञान करें तुझे पहिचानें और अधिक प्रदीप्त हों या तुझ में व्याप्त हो जायें।

(२) हे (सहसः सूनो) बल, तपस्वा द्वारा अभिसन्धन, निर्णयार्थ उपासना और ज्ञान करने योग्य! हे (अग्निरः) सबके प्रकाशक और स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! अथवा अंगों २ में रसस्वरूप होकर विराजमान आत्मन् ! (त्वां) तुझको (अच्छा) प्राप्त करने के लिये (हि) ही (अध्वरे) यज्ञ में जिस प्रकार (सुचः) यज्ञ के समयाकार पात्र अग्नि के प्रति जात हैं उसी प्रकार (अध्वरे) हिंसा रहित जीवनयज्ञ सर्ग-प्रतिसर्ग स्वरूप ब्रह्माण्ड में (सुचः^२) सवण अर्थात् गति करने हारे पञ्चभूत और देह

१५५२—१. अनक्तु, अञ्जन्त्यनिप्रक्षणकान्तिगतिषु [रुधादिः]

२. सुचः क., चिरुच । सुचः सक्त इत्येते सुधातो रूपे । सुगतौ म्वादिः।

में प्राण और इन्द्रियगण (चरन्ति) विचरण करते हैं (यज्ञेषु) सब दान परोपकार और यज्ञ आदि श्रेष्ठ कार्यों में या सब आत्माओं में (पूर्णम्) सबसे श्रेष्ठ, सबसे पूर्व विद्यमान एवं पूर्णस्वरूप (ऊर्जं नपात) रस या बल से आत्मा को पालन करने हारे (धृतकेशं) दीप्तिरूप किरणों से युक्त आप (अग्निम्) ज्ञानरूप परमेश्वर को (ईमहे) हम याचना करते और आपकी शरण आते हैं ।

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २
[१५५४] अच्छा नः शीरशोचिषं गिरं यन्तु दर्शनम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अच्छा यज्ञासा तमसा पुरुवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५५५] अग्निं भूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम् ।

३ २ ३ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २ ३ २
द्विता यो भूदमृतो मर्त्येष्व होता मन्द्रतमो निशि ॥ २ ॥ ८ ॥

ऋ० ७ । ७२ । १०, ११ ॥

भा०—(१) (न०) हमारी (गिर०) उच्चारण की हुई वेदवाणिया स्तुतिया (दर्शनम्) ज्ञानदृष्टि से दर्शनीय (शीरशोचिष) अग्नि के समान वेदीप्यमान कान्तियुक्त (पुरुवसु) समस्त प्रजाओं और इन्द्रियों को वास देने हारे, उनमें बसे या बहुत ऐश्वर्यों के स्वामी (पुरुप्रशस्तं) सबसे श्रेष्ठ या प्रजाओं द्वारा कीर्तित उस उत्तमश्लोक परमात्मास्वरूप अग्नि को (कतये) अपनी रक्षा के लिये (यन्तु) प्राप्त हों । (यज्ञासः) हमारे आत्मा भी (नमसा) आदर और श्रद्धा सहित उसको ही (अच्छ) भली प्रकार प्राप्त हों ।

(२) (सहसः स्रुं) बल, द्वारा ज्ञान करने और प्राप्त करने योग्य और समस्त बलों के प्रेरक (जातवेदमम्) व्यापक, सर्वज्ञ सर्वैश्वर्यवान् उस (अग्निं) तेजोमय आत्मा को (वार्याणाम्) वरण करने योग्य पदार्थों के (दानाय) प्राप्त करने के लिये (अच्छ) प्राप्त होओ । (य) जो (अमृत०)

अमृतस्वरूप होकर भी (द्विता) दो स्वरूपों में विद्यमान है । एक तो (मर्त्येषु) समस्त मरणधर्मा प्राणियों में (आ होता) भोक्तारूप जीव अथवा सब प्राणियों को सुखों और जीवनों का दाता और (विशि) समस्त प्रजाओं में (मन्दतम) परम आनन्ददाता ईश्वर है ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २२
[१५५६] अदाभ्यः पुर एता विशामभिर्मानुषीणाम् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

तूर्णिरथ सदा नवः ॥१॥

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५५७] अभि प्रयासि वाहसा दाश्वान् अश्नोति मर्त्यः ।

१ २ ३ १ २

क्षयं पावकशोचिपं ॥२॥

३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५५८] साह्वान्विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानामसृक्तः ।

३ २ ३ १ २

अग्निस्तुविश्रवस्तमः ॥३॥६॥ अ० ३ । ११ । ५, ७, ६ ॥

भा०—(१) (मानुषीणा) मननशील (विशां) प्रजाओं का (तूर्णी) अति शीघ्रगामी (रथः) रथ के समान देहोर्न्दियसंघात या कर्मवासनाओं को साथ ही लेकर चलने हारा या रमणशील (सदा) निरन्तर (नवः) नूतन, अजर (अभिः) आत्मरूप यह अभि (अदाभ्यः) देह के नाश हो जाने पर भी न मरने हारा, (पुरः एता) प्राप्य या पालन करने योग्य देहों में प्राप्त हो जाता है ।

(२) (दाश्वान्) दानशील अपने को उस आत्मा के प्रति समर्पित करने हारा सावक (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (वर्हिषा) शरीर को रथ के समान धारण करने हारे उस आत्मरूप अभि से ही (प्रयासि) समस्त सुख और भोग्य पदार्थ (अभि अश्नोति) भोग करता है और अपने आप

को (पावकशोचिप) पावन करने होर तेज के (क्षयं) निवास स्थान परमेश्वर को भी प्राप्त करता है । अर्थात् आत्मा से ही आत्मज्ञान और मोक्ष का भी लाभ करता है ।

(३) वह अग्नि (सुविश्रवस्तमः) बहुत अज्ञादि भोग्य साधनों से सम्पन्न, (विश्वाः) समस्त (अभियुज) आक्रमण करने हारों को (साह्वान्) वश करने द्वारा, (देवाना) विद्वानों का एकमात्र (क्रतुः) कार्यसम्पादक, साक्षात् कर्त्ता, अथवा (देवाना) इन्द्रियों के ज्ञान और कर्म का (क्रतुः) कर्त्ता (असृक्तः) अविनाशी और अजन्मा है ।

उ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[१५५६] भद्रो ना अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वर ।
० २ ३ १२ २२

भद्रा उत प्रशस्तय ॥ १ ॥

उ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५६०] भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येन समत्सु सामहि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २

अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्द्धतां वनेमात अभिष्टये ॥ २ ॥ १० ॥

ऋ० ऋ० १२६ । १२६, २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१११] पृ० ५६ ।

(२) हे' अग्ने परमात्मन् ! (वृत्रतूर्ये) विघ्नकारी अज्ञानों और शत्रुओं को नाश करने के कार्य में (येन) जिस संकल्पशक्ति से आप (समत्सु) संग्रामों में (सामहिः) विघ्नों का नाश करते हैं उस (मनः) हमारे मन को भी (भद्रं) कल्याणकारी (कृणुष्व) कर । (शर्द्धतां) प्रवृत्त होने द्वारे शत्रुओं के (स्थिराणि) बलों को (अव तनुहि) नीचे दबा दे । हम (अभिष्टये) अभीष्ट प्राप्ति के लिये (ते) तेरी शरण को (वनेम) प्राप्त होते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६१] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यदो ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २

अस्मे देहि जातवेदो मद्विश्रवः ॥ १ ॥

[१५६२] स इधानो वसुः कविरग्निरीडेन्यो गिरा ।

रैवदस्मभ्यं पुत्रणीक दीदिहि ॥ २ ॥

[१५६३] क्षपो राजन्नुत तमनाग्ने वस्तोरुतोपसः ।

स त्रिभजस्म रक्षसो दह प्रति ॥ ३ ॥ ११ ॥

अ० १। ७६। ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [६६] पृ० ५३ ।

(२) (सः) वह (वसुः) सबको वास देने और सबमें बसने द्वारा (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (गिरा) वाणी द्वारा (ईडेन्यः) सबके स्तुति करने योग्य है । हे (पुरु अनीक) पुरु=बहुत भारी, अनीक अर्थात् शक्ति से सम्पन्न या अनन्त सुख, आनन्द से परिपूर्ण परमात्मन् ! तू (अस्मभ्य) हमारे (रैवत्) प्राणवान् आत्मा के भीतर (दीदिहि) प्रकाशमान् हो ।

(३) (उत) और हे (राजन्) समस्त प्रजा का अनुरंजन करने वाले प्रकाशमान परमात्मन् ! (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप आप (तमना) स्वयं आत्मा के बल से वीर तेजस्वी राजा के समान (रक्षसः) राक्षसों, दुष्टभावों और पुरुषों को (वस्तोः) दिन (उत) और (उपसः) रात्रि के समाप्तिकाल उपाधों अर्थात् नित्य ज्ञानोदय कालों में (क्षप) दूर भगा दो । हे (त्रिभजम्भ) तीक्ष्णमुख ! अग्नि के समान तेज से अन्धकारों को नाश करने हार ! आप राक्षसी भावों या राक्षसों को (प्रति दह) भस्म करो, निर्मूलक करो । जिससे वे निर्धौज होकर पुनः जन्म मरण के बंधन का कारण न हों ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१५६४] विशो विशो वो अतिथि वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।

अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुपे शूषस्य मन्मभिः ॥ १ ॥

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
[१५६५] यज्ञनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम् ।

२ ३ २ ३ १ २

प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५६६] पन्यांसज्ञानवेदस यो देवतात्युद्यता ।

३ १२ २२ ३ २

हव्यान्पेरयद्वि ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ७४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [८७] पृ० ४६ ।

(२) (हविष्मन्तः) ज्ञानवान् (जनासः) पुरुष (य) जिस (सर्पिः-आसुतिं) सर्पणशील हृन्द्मि और मन को प्रेरणा करने हारे, अथवा तेज को देने हारे, अथवा घृत की आहुति के समान सर्पणशील प्राणरूप हृन्द्मि और मन को अपने भीतर आहुत अर्थात् लीन करने हारे अग्नि को (मित्रं न) मित्र के समान (प्रशस्तिभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (प्र शंसन्ति) वर्णन करते हैं ।

(३) (पन्यासं) अति स्तुति करने योग्य, या व्यवहार में अति कुशल समस्त जगत्-व्यवहार को चलाने हारे (जातवेदस) सर्वज्ञ, सर्वेश्वर्यवान्, सब पदार्थों के ज्ञाता उस प्रभु की स्तुति करो (यः) जो (देवताति) देवों के हितकारी यज्ञस्थान में (उद्यता) उद्यत, प्रस्तुत (हव्यानि) हव्य आदि उत्तम अन्नमय पदार्थों को जिस प्रकार अग्नि अपने तेज से आकाश में फैला देता है उसी प्रकार जो प्रभु समस्त पदार्थों को (दिवि) सूर्य के प्रकाश और ज्ञान के आश्रय पर (पेरयद्) प्रेरित करता है । अथवा (यः) जो (देवताति) इस महान् देवगण पृथिवी, जल आदि के हितकर (दिवि) आकाश में (उद्यता हव्यानि) ऊर्ध्व दिशा में नियम से बद्ध सूर्यादि लोकों को (पेरयत्) प्रेरित करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 [१५६७] समिद्धमग्निं समिधा गिरागृणे शुचिं पात्रकं पुरो अध्वरे
 ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 ध्रुवम् । विप्रं होतारं पुरुवारमद्रहम् कविं सुमनैरीमहे
 ३ १ २
 जातवेदसम् ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ २
 [१५६८] त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे हव्यावाहं दधिरे पायुमीड्यम्
 ३ १ १ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 देवासश्च मर्तासश्च जागृर्वि विभुं विश्वं नमसा निषेदिरे
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५६९] विभुषन्नग्न उभयौ अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीपसे ।
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
 यच्च धीति सुमतिमावृणीमहेऽध स्या नस्त्रिवरूथः शिवा
 २

भय ॥ ३ ॥ १३ ॥

अ० ६। १५। ७-६ ॥

भा०—(१) (समिद्ध) उत्तम रीति से सर्वत्र प्रकाशमय, (शुचिं) शुद्ध कान्तिमय, (पात्रकं) सब को पवित्र करने हारे (अध्वरे) हिंसारहित, अविनाशी, ज्विनप्रद, ससार रूप यज्ञ में (पुरः) सब से पूर्व (ध्रुवम्) (आग्निं) तेज स्वरूप परमेश्वर को (समिधा) ज्ञानमयी (गिरा) वाणी से (गृणे) वर्णन करता हू । उसी (विप्रं) ज्ञानवान् मेधावी (होतारं) सर्वप्रद, (पुरुवारं) प्रजाओं के रक्षक, (अद्रुहं) सब से प्रेम करने हारे एवं द्वेषरहित, सब के प्रिय (कविं) अन्तर्यामी, आन्तन्दशी (जातवेदस) सर्वज्ञ उस परमात्मा की (सुमनैः) उत्तम मनन निदिध्यासनों द्वारा या सुखकारी स्तौत्रों द्वारा (ईमहे) प्रार्थना उपासना करें ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (अमृतं) अमृतस्वरूप, (हव्यावाहं) सब स्तुतियों को स्वीकार करने हारे, (पायुं) जगत के पालक, (ईड्यम्) सब को वन्दनीय, (त्वा) तुमको (युगे-युगे) प्रत्येक युग में विद्वान्

लोगों ने अपना (दूत^१) सदा उपास्य, भजन सेवन करने योग्य एवं ज्ञानों का प्रकाशक (दधिरे) स्वीकार किया, धारण किया । और (देवास.) दिव्य ज्ञानवान् और (भर्त्यास०) भरणधर्मी कर्मबद्ध सामान्य जीव दोनों तुम्हको ही (जागृविं) सदा जागरणशील (विभुं) सर्वव्यापक और विशेष रूप से सब का उत्पादक (विश्वर्ति) समस्त प्रजाओं का पालन करने हारा जानकर (नमसा) भक्ति योग से विनय पूर्वक (नि षेदिरे) तेरे ही चरणों में आ बैठते हैं और तेरे गुरु चरणों में बैठ कर उपनिषदों द्वारा ज्ञान लाभ करते और उपासना करते हैं ।

(३) हे (अग्ने) प्रभो ! (उभयान्) बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों को (विभूयन्) अपनी विभूतियों से सुशोभित करता हुआ तू (अनु व्रता) समस्त यज्ञों में (देवाना) देवगण, दिव्य पदार्थों, एवं मुक्त जीवों को (दूत०) साक्षात् प्राप्त और उन के प्रति नाना ज्ञानप्रकाशक हांकर (रजसी) समस्त द्यौ और पृथिवी लोकों में (समीपसे) व्यापक रहता है । (यत्) क्योंकि हम (ते) तेरी ही (सुमतिं) उत्तम स्तुति और (धीतिं) ध्यान (आवृणीमहे) करते हैं (अध) और तू (त्रिवरुधः) उत्पादक, पालक और संहारक तीन रूप का हो कर (शिवः) हमारा कल्याणकारी (भव स्म) हो ।

[१५७०] उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीहंविष्कृतं ।

घायोरनीके अस्थिरन् ॥ १ ॥

[१५७१] यम्य त्रिधात्ववृतम्बहिस्तस्थावसान्दनम् ।

आपश्चिन्नदधा गदम् ॥ २ ॥

[१५७२] पद देनम्य मीढुषो नाघृष्टाभिरुतिभि ।

भद्रा स्य हवोपदक् ॥३॥१४॥ अ० ६ । ६१ । १३, १५ ॥

१. दु द्र गतौ (भ्वादिः) ।

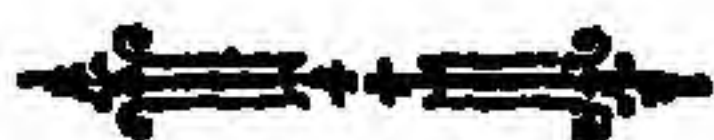
भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३] पृ० ६ ।

(२) (यस्य) जिस आत्मा का (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धारणसमर्थ धातुओं का बना (अवृत) अनावृत, नाशयुक्त अथवा मांसादि धृणाजनक पदार्थों का बना होने से न वरण करने योग्य (असान्दिनम्) अवद्ध अर्थात् आत्मा से सर्वथा पृथक् और कभी स्थिर स्थिति न प्राप्त करने हारा, (बहिः) वृद्धिशील और बन्धन होने से ज्ञानरूप शस्त्र से काटने योग्य देहबन्धन (तस्यै) स्थिर है उस अग्निरूप आत्मा में (आपः) समस्त कर्म और प्राणगण (पद) स्थान (निदधा) प्राप्त करते हैं अथवा सब (आप) प्राण और ज्ञानवृत्तियां (पदं) अपना आश्रय (निदधा) धारण कराती हैं ।

परमात्मा पक्ष में—(त्रिधातु) सत्त्व, रजस्, तमस् से बना (अवृतं) प्रायश्च रूप (बहिः) महान् ब्रह्माण्ड रूप देह (असन्दिनं) गतिमान् (तस्यै) स्थिर है । जिसमें (आपः) समस्त लोक (पदं निदधा) स्थान पाते हैं ।

(३) (मीदुषः) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारे (देवस्य) प्रकाशमान देव का (पद) परम पद, परम रूप (अनाधृष्टाभिः) अद्वितीय, अबाधित, (ऊतिभिः) सुखों से युक्त है । और उसका (उपदृक्) साक्षाद् दर्शन (सूर्यः इव) सूर्य के समान सदा (भद्रः) कल्याणकारी है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



इति सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।



अपि—१, ८, १८ मेध्यातिथिः काण्वः । २ विश्वामित्रः । ३, ४ भर्गः प्रागाथः । ५ सोमरिः काण्वः । ६, १५ शुनःशेष आजीगर्तिः । ७ सुमन्त्र । ८ विश्वकर्मा भौवनः । १० अनानतः । पारुच्छेपिः । ११ भरद्वाजो बार्हस्पत्य १२ गोतमो राहूगण । १३ अजिथा । १४ वामदेवः । १६, १७ हर्यनः प्रागाथः देवातिथिः काण्वः । १६ पुष्टिगुः काण्वः । २० परितनारदौ । २१ अत्रिः ॥
देवता—१, ३, ४, ७, ८, १५—१९ इन्द्र । २ इन्द्राग्नी । ५ अग्निः । ६ वरुणः । ६ निर्वकर्म । १०, २०, २१ परमानः सोमः । ११ पूषा । १२ मरुतः । १३ विश्वेदेवाः । १४ आनापृथिव्यौ ॥ छन्दः—१, ३, ४, ८, १७-१८ प्रागाथम् । २, ६, ७, ११, -१६ गायत्री । ५ गृह्णी । ६ त्रिष्टुप् । १० अथ्यष्टिः । २० उज्जिक् । २१ जगती ॥ स्वरः—१, ३, ४, ५, ८, १७-१९ मध्यमः । २, ६, ७, ११-१६ पङ्क्तः । ६ धेवनः । २० गान्धारः । २० अरभः । २१ निषादः ॥

उ १ २ ३ १ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ ७
[१५७३] अभि त्वा पूर्वपीतगे इन्द्रम्नामेभिरायय ।
उ १ ७ ३ ७ ३ १ ७ ३ १ ७ ३ २
समीचीनाम् ऋभय समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूज्यम् ॥१॥
उ १ २ २ ३ २ ३ ७ ३ १ ७ ३ ७ ३ १
[१५७४] अस्म्येतिन्द्रो वाचुवे वृष्यं शवो मदे सुनम्य विण्णवि ।
उ १ २ २ ३ १ ७ ३ १ २ २ ३ १ ७
अथ तमस्य मदिमानमायवाऽनुष्टुबन्ति पूज्यथा ॥२॥१॥
॥० ८ । १ । ७, ८ ॥

भा०—(२) व्याख्या देखो अपिकल स० [२५६] पृ० ।

(२) (इन्द्रः) इन्द्र (अस्य इत्) इस ही (सुतस्य) उत्पादित
सोमरूप आत्मानन्द के (विष्णवि) व्यापक (मदे) आनन्द, हर्ष में
(वृण्य) सुखों के वर्धक (शवः) बल को (आवृधे) बढ़ा लेता है ।
(आयवः) मनुष्य आयु में बद्ध जीवगण और ज्ञानवान् पुरुष (पूर्वथा) पूर्व
के समान (अद्य) आज भी (अस्य) इस आत्मा के (तं) उस (महि-
मान) महान् सामर्थ्य को (अनुष्टुबन्ति) वर्णन करते हैं ।

[१५७५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राग्नी इष आवृणे ॥ १ ॥

[१५७६] ^{१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २} इन्द्राग्नी नवातम्पुरा दासपत्नीरधूनुतम् ।

^{३ १ २ १ २ ३ १ २} साकमर्केन कर्मणा ॥ २ ॥

[१५७७] ^{१ २ ३ १ २ २ २ ३ ० २ ३ १ २} इन्द्राग्नी अपसरार्युपयन्ति धीतयः ।

^{१ २ ३ ३ २ १ २} ऋतस्य पथ्याऽऽनु ॥ ३ ॥

[१५७८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राग्नी तन्निपाणि वां सधस्थानि प्रयासि च ।

^{३ २ ३ १ २ ३ २} युवारप्सूश्च हितम् ॥ ४ ॥ २ ॥ अ० ३ । १२ । ५-८ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! परमेश्वर और अग्निरूप जीव !
(वाम्) आप दोनों को (नीथाविदः) सामगान या ब्रह्ममार्ग के जानने
होरे (जरितार) स्तुतिकर्त्ता विद्वान् पुरुष और (उक्थिनः) वेदज्ञानी
विद्वान् (प्र अर्चन्ति) उत्तम रूप से उपासना करते हैं । मैं भी (इषे)
बल प्राप्त करने के लिये उन दोनों (इन्द्राग्नी) आत्मा और परमात्मा को
(आवृणे) वर्णन करता हूँ उपासना करता हूँ ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ब्रह्म और जीव ! जो दोनों आप (दासपत्नीः) विना
शक भावों से परिपालित (नवातिम्) नव्वे (पुरः) कामनाओं को (एकेन क-
र्मणा) एक कर्म अर्थात् योग से ही (साकं) एक साथ (अधूनुतम्) कंपा

देते हो उन आप दोनों को हम स्मरण करते हैं । इन्द्रिय भेद से १०, सत्त्व रजस् तमस् भेद से ३० प्रकार हुए, अन्नमय, प्राणमय और मनोमय भेद से तीनों कोशों में ६० पुर होते हैं । एकादश इन्द्रिया मान कर ६६ पुर भी कहे जाते हैं ।

(३) हे (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्ने ! (धीतयः) ध्यान करने हारे विद्वान्जन (ऋतस्य) ब्रह्मज्ञान के (पथ्या) मार्गों को (अनु) अनुगमन करते हुए (अपसः) कर्मों को (परि ऽप प्रयान्ति) पार कर के आपके समीप तक पहुँच जाते हैं ।

(३) हे (इन्द्राग्नी) जीव और ब्रह्म (वा) आपके (तविषाणि) बल और (प्रयासि) ज्ञान (सधस्थानि) साथ ही रहते हैं और (युवा) आप दोनों में (अन्तूरैः) कर्मों और लोकों प्राणों तथा प्राणमय सूक्ष्म और स्थूल शरीरों को प्रोत्ति करने वाला बल भी समानभाव से (हितम्) स्थापित है ।

३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
 [१५७६] शग्ध्यूऽऽपू शचीपत इन्द्र विश्वाभिरुतिभिः ।
 २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 भगं नहि न्वा यशस वसुविदमनु शूर चरामासि ॥१॥
 ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
 [१५८०] पारो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युन्सो देव हिरण्ययः ।
 २ ३ १२ २२ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २२
 नकिर्हि दानं परि मर्द्धिपत्ते यद्यद्यामि तदाभर ॥२॥ ३ ॥
 ऋ० ८ । ६१ । ६, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२५३] पृ० १२६ ।

(२) हे देव ! परमात्मन् ! आप (अश्वस्य पारः) भोक्ता जीव के पूर्ण एवं पालन करने हारे और (गवा) इन्द्रियों के भी (पुरुकृत्) पूर्ण करने हारे हैं । अर्थात् आपने भोक्ता जीवको भोग साधन देकर पूर्ण किया है और इन्द्रियों को रूपआदि भोग्य विषय देकर पूर्ण किया है और (हिरण्ययः)

मन हरण करने हारे सुवर्ण के समान तेजों से बने हितकारी और रमणीक (उत्सव) कृप के समान सब आनन्दरसों के आश्रय अथवा तेजोमय पदार्थों का उत्पादन करने हारे उनके कारणरूप हैं । आपके लिये आत्मा और इन्द्रियों के भोग्य सुखजनक पदार्थ उत्पन्न करना क्या बड़ी बात है । हे परमात्मन् ! (ते) आपके दिये (दानं) दान को (नकिः परिमार्धिषन्) कोई भी नाश नहीं कर सकता । आपसे मैं (यद् यद्) जो २ (यामि) याचना करता हूँ वह २ (आभर) प्राप्त कराइये ।

२४ ३ १ २ ३ २४ ३ १ २
[१५८१] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्धावृषस्व मघवन् गविष्टये उदन्द्राश्वमिष्टये ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५८२] त्वम्पुरु सहस्राणि शतानि च यूथा पानाय मंहसे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ पुरन्दरं चक्रम विप्रवचस इन्द्राज्ञायन्तोऽवसे ॥२॥४॥

अ० ८ । ६१ । ७ । ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [२४०] पृ० १२२ ।

(२) हे इन्द्र (त्वं) आप (पुरु) बहुतसे (सहस्राणि) हजारों और (शतानि च) सैकड़ों (यूथा) यूथ (पानाय) दानशालि पुरुष को (मंहसे) देते हैं । हम (विप्रवचसः) मेधावी ज्ञानी, पुरुषों के समान वचन बोलने हारे और विविध विद्याओं का प्रवचन करने हारे विद्वान् होकर । अवसे) ज्ञान और रक्षा की प्राप्ति के लिये (गायन्तः) स्तुति करते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा को ही (पुरन्दरं) इस देहरूप पुर को तोड़ने द्वारा (आचक्रम्) स्वीकार करते हैं । अथवा—हे आत्मन् ! तू सैकड़ों हजारों (पुरु) पालन एवं तृप्त करने हारे पदार्थ केवल (पानाय) दान या त्याग करने के लिये ही हमें प्रदान करता है अतः उनको वैराग्य द्वारा त्याग कर विद्वान् ज्ञानी होकर इस देह का अन्त कर, मुक्ति देने हारे इन्द्र,

ईश्वर की स्तुति करते हुए, हम (अवसे) अपनी रक्षा और ज्ञान के लिये (चक्रम) साधना करें ।

२४ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ २२
[१५८३] यो विश्वा दयते वसु हांता मन्द्रो जनानाम् ।

२ ३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २
मन्त्रोर्न पात्रा प्रथमा न्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वरनये ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८४] अश्वं न गीर्मी रथ्यं सुदानवा मर्मज्यन्ते देवयवः ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उम तोके तनय दस्मै विशपते पर्षि राधो मघोनाम् ॥२॥५

श्रु० २०३ । ६, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४४] पृ० १६ ।

(२) हे (दस्म) दर्शनीय, कमनीयरूप ! हे (विशपते) समस्त प्रजा के पालक ! (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (देवयव) देव परमात्मा की चाह करने वाले (सुदानव) अपने को उत्तम रूप से समर्पण करने हारे, भक्त (गीर्मि.) अपनी वाणियों और आपकी स्तुतियों से भी (रथ्यं) इस वेहरूप रथ के योग्य (अश्वं न) अश्व के समान भोक्ता आत्मा को ही (मर्मज्यन्ते) शोधन किया करते हैं । उसको बराबर तपस्याओं से शुद्ध पवित्र किया करते हैं आप ही (मघोनाम्) मघ=मर्ख=ज्ञान के धनी पुरुषों के (तोके) पुत्र और (तनये) पौत्र (उमे) दोनों में (राध) आरावनीय विवरु का (पर्षि) दान करते हैं ।

नास्य अन्नदावित् कुले भवति (बृहदारण्यकोपनिषद्)

इति प्रथम खण्डः ।



३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८५] इमम्मे वरुण शुधि हवमद्या च मुडय ।

१ २ १ २ २२
त्वामवस्युराचके ॥१॥६॥ श्रु० १ । २५ । ३६॥

भा०—(१) हे (वरुण) सबसे श्रेष्ठ, वरण करने योग्य एवं सब पापों के निवारक परमेश्वर ! (मे) मेरे (इमे) इस (इवम्) पुंकार को (अधि) श्रवण कर । (अद्य च) और वर्तमान में हमें (मृडय) सुखी कर । मैं (अवस्युः) अपनी रक्षा तथा आपकी शरण और ज्ञान चाहता हुआ (त्वा) आपसे (आचके) प्रार्थना करता हूँ ।

२ ३ १ २ ३ १२ २२
[१५८६] कया त्वं न ऊत्याभिप्रमन्दसे वृपन् ।
१ २ ३ २ ३ १ २

कया स्तोतृभ्य आभर ॥१॥७॥ अ० ८ । २३ । १९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे (वृपन्) सुखों के वर्षाने वाले श्रेष्ठ परमात्मन् ! (कया ऊ या) किस अद्भुत रक्षा और ज्ञान से (त्व) आप (नः) हमें (प्रमन्दसे) खूब आनन्दित, सुखी, प्रसन्न करते हैं और (कया) किस उत्तमता से (स्तोतृभ्यः) विद्वान् पुरुषों को (आभर) सय पदार्थ प्राप्त कराते हैं ?

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५८७] इन्द्रमिहैवतातय इन्द्र प्रयत्यध्वरे ।

१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥१॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५८८] इन्द्रो मद्वा रोदसी पप्रथच्छ्रव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
१ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्रह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्द्रव २।८

अ० ८ । ४ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [२४६] पृ० १२७ ।

(२) (इन्द्र) परमेश्वर (शवः) अपने बलकी (मद्वा) महिमा से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों लोकों को (पप्रथत्) विस्तृत करता है, बनाता है । (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमात्मा (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) प्रकाशित करता है । (इन्द्रः) परमेश्वर (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (येमिरे) व्यापस्थित करता है । (इन्द्रे)

(छान्दोग्य उप०) इसी प्रकार आत्मा देह में पचमूर्तों के पाँचों शब्दादि विषयों को ग्रहण करता और उनसे ज्ञान सम्पादन करता, पुनः स्वप्न और ममाधि दशा में अपने में भी मग्न रहता है ।

अव्यात्मपक्ष में—हे विश्वकर्मन् ! सर्व कर्मों के कर्त्ता जीवात्मन् ! (हविषा) ज्ञान से (वायुधान) बढ़ता हुआ (स्वाहिते) अपने ही कर्मों से प्राप्त इस (तन्वा) देह में तू (स्वयं यजस्व) अपने आप प्राणों द्वारा यज्ञ कर रहा है । और (अन्ये जना मुह्यन्ति) दूसरें, मूर्ख, अनात्मज्ञ ज्ञान मोह को प्राप्त हो जाते हैं और (मघवा) परमात्मा या आत्मज्ञानी आचार्य ही इस आभ्यन्तर योगयज्ञ के सम्पादन में (अस्माकं सूरिः अस्तु) हमारा ज्ञानोपदेष्टा हो ।

१-तन् = अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

परमात्मा का स्वयं यज्ञ का रूप—तस्माद्भिः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात् पञ्चन्या ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषिताया
वह्नीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसृताः ॥ मुण्डक २ । १ । ५ ॥

गीता के यज्ञचक्र और छान्दोग्य उप० में पञ्चाहुतिप्रकरण भी देखने योग्य हैं ।

३ २ ३ १४ २४ ३ २४ ३ १ २ ३ १
[१५६०] अथा रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांनि तरानि सयु-
२ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
ग्भिः सूरौ न सयुग्भिः । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनानो
२ ३ १४ २४ २ ३ २ ३ १ २ ३ १४ २४ ३ १ २ ३
अरुणो हरिः विश्वा यद्रूपा परियास्युकभिः सप्तास्येभि
१ २
ऋकभिः ॥ १ ॥

[१५६२] त्व ह त्यत्पणीता विदो वसु सम्मातृभिर्मर्जयाले स्व
आ दम अनस्य धीतिभिर्दमे । पशवतो न साम तद्यत्रा-
रणन्ति धीतयः त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो
वयो दधे ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ९ । १११ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) (पृष्ठस्य) सबके साथ स्पर्श करने द्वारे, सबके पोषक प्राण की (धारा) धारण शक्ति, या वाणी द्वारा वह सोमस्वरूप, आनन्दस्वरूप योगी आत्मा (पुनान.) और भी पवित्र, शुद्धरूप होकर (यत्) जब (विश्वा) समस्त (रूपा) पदार्थों को (सप्तास्यै) सर्पणशील आस्य अर्थात् इन्द्रियों में विराजमान (अक्रामि.) गतिशील, प्राप्यग्राही, (अक्रामिः) उत्तम, प्राणरूप इन्द्रियों से (परिधासि) प्राप्त करता है तब (सयुग्वभिः) अपने सहयोगी किरणों द्वारा (सूर न) जिस प्रकार प्रेरक सूर्य या राजा (द्वेषासि तरति) अपने शत्रुओं को पार कर लेता या पराजित कर देता है उसी प्रकार (अरुपः) कान्तिमान् तेजस्वी (हरिः) हरणशील या ईश्वर के प्रति गमन करने द्वारा योगी (अथा) इस तरह (हरिया) दुःखों को मिटाने और ज्ञान को प्राप्त करने वाली (रुचा) विशेष दीप्ति से (पुनान) प्रकाशमान होकर (सयुग्वभिः) अपने योगबल द्वारा बशीकृत अष्टागों या इन्द्रियों और मन के द्वारा (विश्वा) समस्त (द्वेषासि) द्वेष करने द्वारे प्राणियों और योग के शत्रुरूप अन्तर्विघ्न काम, क्रोध आदि रिपुओं को (तरति) पार कर जाता है, उन पर वश कर लेता है ।

(२) (यद्) जब जीव और परमात्मा (समत्सु) एकत्र आनन्द प्राप्त करके समाधि के अवसरों पर (अनपच्युता) अविचलित राजा और मन्त्री के समान (अनपच्युता) काम क्रोधादि शत्रुओं से कभी विचलित नहीं होते हैं तब (चेकितत्) ज्ञानवान् योगी (प्राचीं) प्रकृष्ट, उत्तमरूप से उपासना करने योग्य, सुप्राप्य, (प्रदिशं) उत्तमरूप से जानने योग्य दिशा-मार्ग के प्रकाश को (याति) प्राप्त कर लेता है और (दर्शतः) दर्शनीय (रथः) सूर्य के समान योगी का वह (दर्शतः) दर्शनीय (रथः) रमण करने हारा आत्मा (ररिमभिः) ईश्वरप्रदत्त ज्ञानरश्मियों से और भी (यतते) आगे की ओर मुक्तिमार्ग पर बढ़ता है । तब ही (जैत्राय) अपनी इस मुक्ति मार्ग की विजय के लिये (इन्द्रं) आत्मा को (हर्षयन्) धन्यवाद और साधुवाद देता हुआ, उसे और अधिक हर्षित और प्रवृत्त करता हुआ (पौंस्य) बलशाली या बलप्रद (उक्थानि) स्तुतियों का (अगमन्) उच्चारण करता है और सब विघ्नों के नाशक (वज्रं च) अपवर्ग रूप वज्र को भी प्राप्त करता है ।

(३) हे सोम ! योगिन् ! (त्व) तू (पणीनां) व्यवहार में गति करने द्वारे या स्तुति करने द्वारे विद्वानों के (त्यत्) उस (वसु) जीवन या वास कराने द्वारे आत्मधन को (विदः) जानता है और उसको (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (धीतिमिः) धारण करने द्वारी (मातृभिः) प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव के साधक ऋतंभरा प्रज्ञाओं द्वारा (दमे) इन्द्रियों और मन को दमन करने वाले (स्वे) अपने (दमे) आश्रयरूप आत्मा में (संमजयसि) खोजता या परिशोध लगाता है, और भी परिष्कृत करता है । (तत्) वह परम आश्रयरूप आत्मा (परावतः) दूर देश से सुनाई देने द्वारे (साम न) गान के समान मनोहर है । (यत्र) जिसमें (धीतयः) ध्यान करने द्वारे योगी आश्रय लेकर (रयान्ति) रमण करते हैं । वह आत्मज्ञानी योगी (त्रिधातुभिः) तीन प्रकार की धारणा करने वाली इन्द्रियों से सम्पन्न (अरुषीभिः) कान्तियों या दीप्तियों या किरणों से ही (वयः) जीवन और

प्राण को (दधे) धारण करता है और फिर (रोचमान०) सूर्य के समान प्रकाशमान होकर (वय दधे) चिरस्थायी जीवन और बल को धारण कर लेता है ।

त्रिधातु=मन, वाक्, काय । अथवा शरीर के धारक धातु, वायु, अग्नि और जल के सारभूत, वात, पित्त और कफ ।

इति द्वितीय खण्डः ।



उत्त नो गोपणि धियमश्वसा वाजसामुन ।

उत्त नो गोपणि धियमश्वसा वाजसामुन ।

नृचत्कृणुह्युतये ॥ ११ ॥ अ० ६ । ५३ । १० ॥

भा०—(१) हे परमात्मान् ! आप (न) हमें (गोपणि) ज्ञानेन्द्रियों के प्रेरक, (अश्वसां) प्राणोन्द्रियों के प्रेरक (वाजसा) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने हारी (उत्त) और (नृचत्) नेतास्वरूप आत्मा को अपनाने हारे (धियम्) धारणावती बुद्धि और क्रिया शक्ति को (उत्तये) रक्षा के लिये (कृणुहि) प्रदान करो ।

शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः ।

शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः ।

विदा कामस्य वेनतः ॥ १२ ॥ अ० १ । ८६ । ८ ॥

भा०—(१) हे (सत्यशवसः) विद्यमान रह कर सबके प्रेरक सत्य-वज्र से सम्पन्न (नरः) शरीर और इन्द्रियों को बहन करने हारे नेतास्वरूप विद्वानो ! और प्राणो ! (शशमानस्य) शमादि गुणों का अभ्यास करने वाले (स्वेदस्य) प्राणायाम के अवसर पर समस्त गात्र में स्वेद धारण करने वाले, उद्योगी (वेनतः) विद्वान् योगी के (कामस्य) मनःसकल्य को प्राप्त कराओ ।

[१५६५] उप नः सुनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।

सुमृडीका भवन्तु नः ॥ १३ ॥ अ० ६ । ५२ । ६ ॥

भा०—(१) (ये) जो (नः) हमारे (सुनवः) ज्ञान के उपदेश करने हारे विद्वान् या पुत्र हैं वे (अमृतस्य) मरणरहित, अजन्मा परमेश्वर के विषय में (गिरः) वाणियों को (उप शृण्वन्तु) प्रेन से श्रवण करें, करावें और (नः) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम रूप से सुखकारी आनन्दप्रद हों । अथवा—वे विद्वान् गण (नः गिरः, उपशृण्वन्तु) हमें अपनी शुभ वेदोपदेशमय वाणियां श्रवण करावें ।

[१५६६] प्र वाम्महि धवी अभ्युपस्तुतिम्भरामहे ।

शुची उपप्रशस्तये ॥ १ ॥

[१५६७] पुनाने तन्वा मिथ स्वेन दक्षेण राजथ ।

उह्याथे सनादृतम् ॥२॥

[१५६८] मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती आनम् ।

परि यज्ञन्निषेदथुः ॥३॥ १४॥ अ० ४१ । ५६ । ५-७ ॥

भा०—(१) हे (धवी) प्रकाशमान् सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (अभि) साक्षात् करके आपके (महि) बड़ी (उपस्तुति) गुणवर्णन (प्रभरामहे) करते हैं । आप दोनों (उपप्रशस्तये) उत्तम कीर्ति के कारण (शुची) शुद्ध स्वरूप हैं । अथवा धौ और पृथिवी के समान हे गुरु और शिष्य या परमात्मन् और मुक्तजीव ! आप दोनों (महि धवी उपप्रशस्तये शुची) स्तुति करने के लिये आप प्रकाशमान् और शुद्धरूप हो, आपका (अभि) साक्षात् कर हम (स्तुति उप प्र भरामहे) आपके गुणों का सर्वत्र वर्णन करते हैं ।

(२) हे जीव और परमात्मन् ! या शिष्य और गुरो ! (स्वेन) अपने (तन्वा) शरीर अर्थात् स्वरूप और (दक्षेण) ज्ञान बल, और कर्म सामर्थ्य से (मिथः) परस्पर (पुनाने) एक दूसरे को पवित्र करते हुए (राजयः) प्रकाशित होते हो और (सनाद्) सदा काल से (ऋत) सत्य ज्ञान को (उद्गाथे) धारण करते हो ।

(३) सूर्य और पृथिवी जिस प्रकार परस्पर एक दूसरे को जल और प्रकाशक का वितरण करते हैं और परस्पर पूर्ण करते हैं उसी प्रकार हे गुरु और शिष्य ! आप दोनों (मही) बड़ी महिमा वाले (ऋतं) सत्यज्ञान को (तरन्ती) वितरण करते हुए और सत्य धर्म को (पिप्रती) पूर्णरूप से पालन करते हुए (मित्रस्य) मित्रस्वरूप परमात्मा की (साधयः) साधना करते हो और (यज्ञ) यज्ञ, परस्पर विद्या-स्वाध्यायरूप यज्ञ के लिये (परिनिषेदधुः) यज्ञ कार्यों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठते हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५६६] अयमु ते समतसि कपोन इव गर्भधिम् ।

१ २ १ २
वचस्तस्मिन् ओहसे ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६००] स्तोत्रं राधाना पते गिर्वाहां वीर यस्य ते ।

१ २ ३ १ २
विभूतिरस्तु सूनृना ॥२॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[१६०१] ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयस्मिन्वाजे शतक्रतो ।

२ ३ १ २
समन्येषु ब्रवावहे ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० १ । ३० । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [१८३] पृ० ।

(२) हे (राधाना पते) समस्त आराधनाओं और ज्ञानों के एकमात्र स्वामिन् ! और समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! हे (गिर्वाहः) वाणियों द्वारा उपदेश करने वाले प्रभो गुरो ! (यस्य) जिसके

(स्तोत्रं) समस्त सत्य उपदेश हैं उस (ते) तेरी ही (सूनुता) वेदवाणी
(विमूतिः) विशेष सत्ता का प्रमाण या सम्पत्ति (अस्तु) हां ।

(३) हे (शतक्रानो) शत प्रज्ञानों से युक्त या सैकड़ों कर्म करने हारे
(इन्द्र) आचार्य ! (अस्मिन्) इस (वाजे) यज्ञ में (न.) हमारी (उतये)
रक्षा के लिये आप (ऊर्ध्व.) हमारे ऊपर सदा (तिष्ठ) विराजमान रहें
(अन्येषु) हम अन्य अवसरों पर भी (स ब्रवावैह) परस्पर सत्संग कर
ज्ञान लिया और दिया करें ।

यहा इन्द्र अर्थात् आत्मा का गुरु परमात्मा है । “कस्य ब्रह्मचार्यसि;
भवत्.”, “इन्द्रो ब्रह्मचार्यसि” इत्यादि विधानों से इन्द्र ही गुरुस्थानीय है ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०२] गात्र उपवदावटे मही यज्ञस्य रण्डुदा ।

३ १ २ २ ३ १ २

उभा कर्णा द्विरण्यया ॥ १ ॥

३ २ ३ ५ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०३] अभ्यारमिदद्रयो निपिक्कं पुष्करे मधु ।

३ १ २ ३ १ २

अवटस्य विसर्जने ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०४] सिञ्चन्ति नमसावटमुच्चाचक्रं परिजमानम् ।

३ १ २ ३ १ २

नीचीनवारमाक्षितम् ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ८ । ७२ । १२, ११, १० ॥

भा०—(१) ग्याण्या देखो अवि० सू० [११७] पृ० ६३ ।

(२) (अद्रय^१) आदर करने योग्य विद्वान् पुरुष (अवटस्य) रक्षण
करने हारे देहबंधन के (विसर्जने) परिस्थाग के अवसर पर (पुष्करे^२) उस

१६०३—(२) “अवटस्य विसर्जने”, (३) “अवटमुच्चा चक्र” इति, अ० ।

१. अद्रय आद्रियगाणाः इति सायणाः । २. पुष्करे प्रवृद्धे इति सायणः ।

को पुष्ट करने हारे, उसमें बल के प्रदाता स्वतः आत्मा में (निपिक्तं) पूर्ण-
रूप से विद्यमान या बरसते हुए (मधु) ज्ञानानन्द अमृत को (अभि आरम्
इत्) साक्षात् किया करते हैं ।

(३) हे विद्वान् आत्मज्ञानी गण ! (नीचीनचारं) निर्बल हृन्निध
आदि नष्ट द्वारों वाले (अक्षितं) अक्षीण (परिज्मान) परिणाम या वृद्धता
को प्राप्त होने वाले, (उच्चाचक्रं) उच्च प्राणचक्र वाले (अवटं) इस देह को
(नमसा) अन्न द्वारा (सिंचन्ति) सबल बनाये रहते हैं अर्थात् जब तक
देह बना रहता है तब तक उसकी अन्न से रक्षा करते हैं ।

इति तृतीयः खण्डः ।

— ० —

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१६०५] मा भेम मा अभिष्माग्रस्य सख्ये तव ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्य कृत पश्येम तुर्वशं यदुम् ॥१॥
३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६०६] सव्यामनुस्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति ।
२ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मध्वा सम्पृक्ताः सारधेण धेनवस्तूयमेहिं द्रवा पिब
॥ २ ॥ १७ ॥ अ० ८ । ४ । ७, ८ ।

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (तव सख्ये) आपके मित्र भाव में
रहते हुए हम (मा भेम) कभी भय न करें । (मा अभिष्म) कभी अन्न
से पीड़ित न हों, कभी न थकें । (वृष्णः) सब सुखों की वर्षा करने हारे
(ते) तेरा (कृतं) बनाया हुआ यह संसार (अभिचक्ष्य) साक्षात्
स्तुति योग्य, दर्शनीय एवं (महत्) बहुत बड़ा है । हम इसमें (तुर्वशं)

१६०६—१. तुर्वश—तुर्नी हिंसायाम् (म्वादिः) इत्यतो बाहुल्यं अश्व-
औणादिक. हिंमि हिंस्यते वा व्याध्यादिभिरिति तुर्वशः । यथा, तू-

हिंसाशील, जन्म जरा मरण और रोगों से परिपीड़ित या गेमबरा होकर भोग करने हारे या काम से पीड़ित, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पर-
वश करने हारे इस जीव को (यदुं) परमेश्वर के नियम में स्थित या
यम नियमादि के अभ्यासी होकर विषयों से उपरत हुआ (पर्यम)
देख लें ।

(२) (वृषा) वर्षण करने हारा, वीर्य का सेचक पुरुष (दानः)
समस्त प्राणियों को जीवन दान करते हुए मेघ के समान वीर्य दान करता
हुआ (सव्या) उत्पादनशील भूमि के समान (स्थिर्या) कटिप्रदेश में
स्थित गर्भधानी में (अनुवाचमे) जीव के रूप में स्वयं वास करता है । आत्मा
वै जायते पुत्रः । वह (अस्य) हम गर्भगत जीव के प्रति (न रोपति)
कभी कांप नहीं करता, वह (सारघेय) प्रसरणशील, सारधान् (मध्वा)
अमृत जीव (Sprm) से (सम्पृक्ता) संसक्त हुई (धेनवः) शुक्र-
धारापुं (protoplasm) हैं । हे जीव ! तू (त्वम्) शीघ्र ही (एहि)
आ और (द्रव) शीघ्र आ और (पिब) उस पोषक रस का पान कर ।

(वृषा सव्यं वाचमे) जलों का वर्षक इन्द्र वीर्य कटिभाग में सब
प्राणियों को डक लेता है (दानो न अस्य रोपति) वह दानशील यज-
मान इन्द्र पर रोप नहीं करता (सारघेय मध्वा सम्पृक्ताः) मधुमक्खी के
शहद के समान रमीले दूध आदि से मिलित (धेनवः) धेनु=हमारे पान
करने योग्य सोम है । (त्वम् एहि द्रव पिब) हे इन्द्र तুম शीघ्र २ आओ
पान करो । यह अर्थ सायणकृत है ।

स्वरगर्भिसनयो (दिवादि.) इत्यनं तूर्णमश्नुते इति वृषादरादिस्वात्पू-
र्वपदह्रस्वात्प्रोपजनः, तुर्वशः अतन्नुष्ट. । यद्वा तुर्वशः कामो यस्य सः ।
गद्वा वश फान्तौ (दिवादिः । इत्यत् अप । चतुर्षु धर्मादिषु वशोऽस्वेति,
चकारलंप्तेन तुर्वशः ।

यहां वस्तुतः गर्भ में बीज के आने, जमने, जीव के प्रवेश और पालन का वर्णन है। यज्ञकाण्ड के अनुसार इन्द्र को उत्तरवेदि स्थान में बुलाया जाता है वहां ही सोम तय्यार करके रख जाते हैं। और उत्तर वेदि योपा और योनि का प्रतिनिधि है। योपा वै उत्तरवेदि (शत०)। इम यज्ञार्थ पर विचार करने से वे सब रहस्य स्पष्ट होते हैं। पुरुष का वीर्य प्रोटोप्लाज़म और स्पर्म अर्थात् जीव का भोव्य पदार्थ और बीज कीट से बना होता है। गर्भ में आहित होकर वह वहां उसी के आधार पर जाकर गर्भधानी या छत्रक या कमल (प्रेसेन्टा) नामक स्थान जिसको वास्तविक योनि कहना चाहिये, उस पर जमता है और वहां ही पुष्टि को प्राप्त होकर १०वें मास में बाहर आता है, यह जीवन-उत्पत्ति का रहस्य है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
 [१६०७] इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
 पावकवर्णा शुचयो विपश्चिनोऽभिस्तोमैरनूपत ॥ १ ॥
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१६०८] अयं सदस्मृपिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
 ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 सत्यः सो अस्य माहमा गृणे शवो यद्यपु विप्रराज्ये
 ॥ २ ॥ १८ ॥ अ० ८ । ३ । ३, ४ ॥

भा०—(१) हे (पुरुवसो) समस्त प्रजाओं में वास करने हारे और प्रचुर धन के स्वामी ! इन्द्रियों में वास करे और नाना जातों को बसाने हारे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (मम) मेरी (इमा.) ये (गिरः) वेदवाग्विया (त्वा उ) तुम्हको (वर्धन्तु) बढ़ावे, तेरी यज्ञशक्ति करें। तुम्हको ही (पावकवर्णा) अग्नि के समान कान्ति वाले, तेजस्वी, अथवा पालन करने हारे स्वरूप वाले शुद्ध, उदार, धर्मात्मा (शुचयः) स्वयं तेजस्वी, शुद्धहृदय, (विपश्चिनः) तपस्वी, ज्ञानवान् विद्वान् गण

(स्तोमै.) उत्तम वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूपत) साक्षात् ज्ञान करके
तेरा गुणगान करते हैं । (अवि० सं० २५०) पृ० १२८ ।

(२) (अयं) वह आत्मा और परमात्मा (सहस्रं) हजारों (अपिभिः)
मन्त्रार्थ द्रष्टा, तत्त्वज्ञानियों और अतीन्द्रिय अर्थ के दर्शन करने वाले परम योगियों
द्वारा (सहस्रकृत.) बल से युक्त, बलवान्, तीव्र, सब दुःखों पर विजयी किया
जाकर (समुद्र- इव) रसधाराओं, आनन्दतरंगों को ऊपर उमड़ाने वाले
समुद्र के समान (पप्रथे) विस्तार को प्राप्त हो जाता है अर्थात् आनन्द
सागर के समान उमड़ पड़ता है । (अस्य) इस आत्मा की (सः) वह
(महिमा) महिमा (सत्य) सत्य है और (विप्रराज्ये) मेधावी विद्वानों
के राज्य, अधिकार, शासन, शिक्षण में और (यज्ञेषु) धर्म कर्मों में (अस्य)
इस आत्मा के ही (शिव) बलकी (गृणे) महिमा को वर्णन करूं ।

० ३ २४ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१६०६] यस्यायं विश्व आर्यो दासः श्रेवधिपा अरिः ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तिराश्चदर्थे रुषम पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यने रविः ॥१॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१०] तुरगयवो मधुमन्तद्धृतश्चून विप्रासो अर्कमानृचुः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्मे रविः पप्रथे वृषांश्च शवोऽस्मै खानास इन्द्रवः
॥ २ ॥ १६ ॥ अ० ८। ५१। ९, १० ॥

भा०—(१) (यस्य) जिस परमात्मा का (अयं) यह (विश्व)
समस्त (आर्य) श्रेष्ठ (अरिः) मनुष्य (श्रेवधिपा.) उसके दिव्य
धन ज्ञान की रक्षा करने वाला (दासः) मृत्यु के समान है और उस
यज्ञरूप (अर्थे) स्वामी (अस्मे) सबके नियन्ता (पवीरवि ^१) पाप-

१६११—१ पवि शल्यो भवति । यद्विपुनानि कायं । तद्वत् पवीरमायुधं तद्वान्
पवीरमान् (नि० । दै० अ० २१ । ख० ३०)

निवारक राजदण्ड के समान परम तपस्वरूप वज्र को धारण करने हारे परमात्मा में (तिरश्चित्) यह सब विद्यमान है । हे प्रभो ! (तुभ्य वृत्) स्थूल सृष्टि में तेरे गुणों के दर्शन के लिये ही (स) वह (रायिः) प्राण और देह, पृथिवी आदि सब मूर्त पदार्थ (अज्यते) प्रकट होते हैं । तू ही उन का स्वामी सन्चाल, कर्त्ता धर्ता है ।

(२) (तुरण्यवः) क्षिप्रकारी, अभ्यासी, कार्यकुशल, (विप्रासः) विद्वान् लोग (धृतश्चुतम्) तेज के देने हारे (सधुमन्तम्) आनन्दप्रद, ज्ञानमय (अकं) पूजनीय इन्द्र आत्मा को (आनृचुः) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि (अस्मे) हम में (राश्मिः) प्राणबल और ज्ञान का प्रकाश (पप्रथं) बढ़े और (अस्मे) हम में (वृण्य) वीर्यवान् (शवः) बल बढ़े और (स्वानासः) प्रेरणा करने हारे (इन्दवः) शुक्रों की वृद्धि हो । बल वीर्य और शुक्र की कामना से विद्वान् लोग आत्मज्ञान करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६११] गामज इन्द्रो अश्ववत्सुतः सुदक्ष धनिव ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
शुचिञ्ज वर्णमपि गापु धारय ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१२] स नो हरीणाग्रपत इन्द्रो देवप्सरस्तमः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सखेव सख्ये नर्यो रुचं भव ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१३] सनेमि त्वमस्मदा अदेवङ्गञ्चित्रनिणम् ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
साक्षां इन्द्रो परि बाधो अपृष्ठयुम् ॥ ३ ॥ २० ॥

श्रु० ६ । १०५ । ४६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [५७४] पृ० २६० ।

(२) हे (इन्द्रा) योगिन् । हे (हरीयाम् पते) इन्द्रियों के पातक नितेन्द्रिय ! (देव) विद्वन् ! (पसरस्तमः) सबसे अधिक तेज वा दीप्ति से युक्त होकर (सः) वह आप (नर्यः) सब मनुष्यों के हितकारक (सख्ये) मित्र के लिये (सखा इव) मित्र के समान (न.) हमारे (रुचे) वरा तेज को बढ़ाने के लिये (भव) हो । (२) परमात्मा के पक्ष में—हे परमात्मन् ! समस्त लोकों के स्वामिन् ! (इन्द्रो) ऐश्वर्यशील ! आप (पसरस्तमः) सबसे बड़े दीप्तिमान् हो, आप हमें मित्र के समान होकर तेज प्रदान करें ।

(३) हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यशील राजन्, विद्वन्, परमात्मन् ! (त्वं) आप (अस्मत्) हमारे प्रति (सनेमि) अनादिकाल से चले आये मित्रभाव कृपाभाव को (आ) प्रकट करो । आप (साङ्गान्) सब विघ्नों को पराजय करने हारे (अदेवम्) देव, परमेश्वर से रहित (आग्निं) केवल भोग करने हारे विषयलोलुप, (कंचित्) किसी भी भोगमय देहबन्धन को (परिबाधः) विनाश करो और (द्वयं) दो दो, द्वन्द्व, सुख दुःख, शीत उष्ण, जन्म मरण, इहलोक परलोक आदिके चाहने हारे इस अन्त करण को भी (अप) दूर करो ।

[१६१४] अञ्जने व्यञ्जन समञ्जतं क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यङ्गतं ।
 सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षुणं हिरण्यपात्राः पशुमण्डु
 गृभ्यते ॥ १ ॥

[१६१५] विपश्चिते पचमानाय गायतमर्हो न धारात्यन्धो अर्षति ।
 अहिर्न जूर्णामतिसर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरवृषा
 हरिः ॥ २ ॥

[१६१६] अग्नेर्गो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नाम्भुवनध्वपितः ।
 हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय
 आक्यः ॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० ६। ८६। ४३-४५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६४] पृ० २८४ ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (विपश्चिते) ज्ञानशील ब्रह्मज्ञानी, (पवमानाय) मुक्ति के मार्ग में गति करने हारे आत्मा के (गायत) गुण वर्णन करो । वह (अन्धः) देह को प्राण-धारण कराने हारा सोम आत्मा (मही) मही (धारा न) जलधारा के समान (अति अर्पति) अपने तटों रूप देहबंधनों को भी तोड़कर पार चला जाता है । (जूयाम्) जीर्ण हुई (त्वचम्) त्वचा को (अहिं न) जिस प्रकार साप छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार जो अपने जीर्ण कलेवर को छोड़कर (अतिसर्पति) निकल भागता है और जो (हरिः) हरणशील, गतिशील, (घृषा) यत्नवान् आत्मा स्वयं (क्रीडन्) देहों में रमण करता हुआ भी (अस्य न) अश्व के समान (असरद्) एक लोक से दूसरे लोक या दशा में भाग जाता है ।

(३) यह सोमरूप योगी, आत्मा, चन्द्र के समान भी वर्णन किया जाता है । वह (अग्नेयाः) इन्द्रियों का नेता, और ससार-बन्धनों को काटकर मन्त्र भोगों को त्याग कर, आगे श्रेष्ठ पद की ओर जाने हारा, (राजा) प्रकाश मान्, तेजस्वी (आप्यः) कर्म और प्रज्ञानों या प्राणों में श्रेष्ठ (अह्ना) अपनी घटनी और बढ़ती कलाओं द्वारा दिनों के (विमानः) रचने हारे चन्द्र के समान अपनी षोडश कलाओं से अपनी ज्योतियों को बनाने हारा (भुवनेषु) लोकों के समान प्राणों में (अर्पितः) स्थापित है । जो (हरिः) गतिशील आत्मा (घृतक्षुः) कान्ति और तेज से देदीप्यमान होकर या ज्ञान से ज्ञान करके (सुदृशीकः) सम्यक् तरफ, परमपद का दर्शन करने हारा, (अण्वः) ज्ञानवान्, (ज्योतीरथः) ज्योतिष्मान् स्वरूप होकर (राय) परम धन का अधिकारी (आंक्यः) परमपद के योग्य होकर (पवते) दिचरण करता है ।

इति चतुर्थः सूक्तः ।

इति सप्तमप्रपाठस्य तृतीयोऽध्यायः । सप्तमः प्रपाठश्च समाप्तः ॥

इति षोडशाऽध्यायः ॥



अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

॥ १ ॥ अपिः—१, ७ शुन-शेष आनीगतिः । २ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ।
३ शत्रुर्वाहस्पत्यः । ४ वसिष्ठः । ५ वामदेवः । ६ रेभसन् काश्यपौ । ७ नृमेधः ।
८, ११ गोषूक्त्यश्वसक्तिनौ काण्वायनौ । १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । १२ विरूपः ।
१३ वत्सः काण्वः । १४ एतत्साम ॥ देवता—१, ३, ७, १२ अग्निः ।
२, ८-११, १३ इन्द्रः । ४ विष्णुः । ५ इन्द्रवायुः । ६ पवमानः सोमः ।
१४ एतत्साम ॥ छन्द —१, २, ७, ९, १०, ११, १३, गायत्री । ३ बृहती ।
४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप् । ८ प्रागाथम् । ११ उष्णिक् । १४ एतत्साम ॥
स्वर —१, २ ७, ८, १०, १२, १३, पङ्क्तः । ३, ६ मध्यमः, ४ धैवतः ।
५, ६ गान्धारः । ११ अपमः १४ एतत्साम ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
[१६१७] विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ।

१ २
चनो धाः सप्तसो ग्रहो ॥ १ ॥

७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८
[१६१८] यच्चिद्धि शश्वता तना देवन्देवं यजामहे ।

१९ २० २१ २२
त्वं इन्द्रयते हवि ॥ २ ॥

२३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४
[१६१९] प्रियो नो अस्तु विश्वपतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।

३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४०

प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ३ ॥ १ ॥ २६ । १०, ६, ७ ॥

भा०—(१) हे (सहसः ग्रहो) बल से प्राप्त करने योग्य अग्ने ! प्रभो !
('विश्वेभिः ') समस्त (अग्निभिः) ज्ञानवान् नेताओं और विद्वानों सहितः

(इद) इम (वचः) वाणी, हमारी प्रार्थना को और (इमं) इस (यज्ञ) स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ को प्राप्त होकर हमें (चन.) परिपक्व या उपदेश योग्य ज्ञान (धा) धारण कराओ ।

(२) (यन् चित् हि) यद्यपि (शश्वता) नित्य (तना) आत्मा-रूप यज्ञ द्वारा (देव देव) वरुण, इन्द्र आदि नानारूप से उपास्यदेवों को (यजामहे) हम उपासना करते हैं तो भी वह सब (इवि.) प्रस्तुत करने योग्य उपासनामय स्तुति वचन और चरु आदि होम (त्वे इत्) तुम्हारी ही लक्ष्य करके (हूयते) दिया जाता है ।

(३) (विश्वपति.) समस्त प्रजाओं का पालक (मन्द.) हर्षकारी, आनन्ददायक (वरेण्यः) वरण करने योग्य परमात्मा (नः) हमारा (प्रिय.) प्रिय (अस्तु) हो । (स्वप्नय) उत्तम आत्मज्ञानाग्नि से युक्त हो कर उसके भी (वयम्) हम (त्रिया.) प्रिय हों ।

१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २
[१६२०] इन्द्र वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।

३ १ २ ३ १ २
अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१६२१] स ना वृषन्नमुञ्चरं सन्नादावन्नपावृत्रि ।

३ २ ३ १ २
अस्मभ्यमप्रतिष्कृतः ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६२२] वृषा यूथव वंसगः कृयीरियत्योजसा ।

१ २ ३ १ २
ईशानो अप्रतिष्कृतः ॥३॥ २॥ अ० १ । ७ । १०, ६, ८ ॥

भा० — (१) हे विद्वान् पुरुषो ! (व. जनेभ्य) आप लोगों के हित लिये (विश्वत.) सबसे (परि) ऊपर विराजमान (इन्द्रम्) परमेश्वर इन्द्र की (हवामहे) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह (केवल.) अद्वितीय परमेश्वर (अस्माकं) हमारा सहायक (अस्तु) हो ।

(१) हे (सेनादावन्) समस्त पदार्थों के एक साथ देने हारे (वृषन्) सबसे श्रेष्ठ, सुखों के वर्षक ! परमात्मन् ! (स०) वह आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अप्रतिष्कृतः) अद्वितीय, अपरानित, शक्तिमान् कभी सम्मलित न होने वाले, कभी भूलचूक न करने हारे होकर (चरु) अन्नादि पदार्थों के भोगने हारे अविनाशी देह बन्धन को (अप वृधि) दूर करो ।

(३) (वृषा) सब कामनाओं को पूर्ण करने हारा (चंसग०) सुन्दर गति वाला बैल (यूथा इव) जिस प्रकार गौओं के गोलों में चला जाता है वही प्रकार (ओजसा) अपने बल से (ईशानः) सर्व शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (अप्रतिष्कृतः) अद्वितीय परमेश्वर (कृष्टीः) मनुष्यों को (इ-यर्ति) प्राप्त होता है ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६२३] त्वं नश्चित्र कृत्या वसो रात्रासि चोदय ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरभि त्रिदा गावन्तु च तुन॥१॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१६२४] पर्वि तां कन्तनयं पर्वभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्ने हेडांसि दैव्या युयांधि नोऽदेवानि ह्वरासि च॥२॥३॥

अ० ४।४६।६, १०॥

भा०—(१) ग्याख्या देखो अविकल संख्या [४१] पृ० १२ ।

(१) हे अग्ने ! परमेश्वर (त्वं) तू (अप्रयुत्वभिः) सदा साथ देने वाले (अदब्धैः) अहिंसक, एवं अहिंसित, सुरादिन (पर्वभिः) लकड़ों द्वारा (तां) पुत्र, धातक और (कन्तनयं) पौत्र की (पर्वि) जन करता है । नृ (नः) हमारे (दैव्या) आधिदैविक (हेडांसि) पणियों और ज्ञान और सुखों के देने वाले गुरुजनों के प्रति तिरस्कार आदि वाणों को (अदेवानि च) अधिभौतिक और आध्यात्मिक, मानुष,

असात्त्विक, तामस (ह्रासि) कुटिल सकटों और कुटिल आचरणों को (युयोधि) दूर कर ।

[१६२५] किमिच्छे विष्णो परिच्छि नामप्रयद्वचक्षे शिपिविष्टो

आस्मि । मा वर्षो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिधे

वभूथ ॥ १ ॥

[१६२६] प्र तत्त अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्यः शंसामि वयुनन्ति

विद्वान् । तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य

रजसः पराके ॥ २ ॥

[१६२७] वपद् ते विष्णवास आकृणोमि तन्मे जुपस्व शिपिविष्ट

हव्यम् । वर्द्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरी मे यूयं पात स्व-

स्तिभिः सदा नः ॥३॥४॥ अ० ७ । १०० । ६, ६, ७ ॥

भा०—(१) हे (विष्णो) सर्वव्यापक ! परमात्मन् ! (यद्) जब आप स्वयं अपने को (शिपिविष्टः) शस्त्रियों से आवृत सेजोमय पिण्डों में प्राविष्ट (आस्मि) हूं इस प्रकार अपना शक्ति को (वपेष्ट) बतला रहे हैं तब (ते) आपका (किं इत् नाम) क्या नाम या स्वरूप (परिच्छि) कहा जाय । हे भगवन् ! (तन्) क्योंकि (समिधे) समाधि के अवसर पर आप (अन्यरूपः) दूसरे ही रूप में (वभूथ) प्रकट होते हैं । आप (एतद्)

१६२५—१. 'किमिच्छे कए परिच्छि नामप्रयद्वचक्षे', २, प्रयते कएदिदिदिना माय.' इति श्रु० ।

वह (वर्षः) तेजोमय रूप (अस्मद्) हम से (मा अपगूह) मत छिपाइये ।

(२) हे (शिपिविष्ट) रश्मियों से आविष्ट, अथवा तेजोमय लोको में व्यापक परमात्मन् ! मैं (अयं) अपनी इन्द्रियों का स्वामी जिसे-न्द्रिय होकर (वयुनानि) तेरे समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि महान् कार्यों को (जानन्) जानता हुआ (तत्) वह अति प्राचीन (हव्यं) पुकारने, नित्य ग्रहण और शरण करने योग्य नाम (शंसामि) कहता हूँ और (अस्य) इस (रजसः) प्राकृत लोकों के भी (पराके) दूर, परे मोक्ष में भी (चयन्तं) निवास करने वाले (तवसं) महान् (तत्त्वा) उस सनातन तेरी में (अतव्यान्) तुच्छ व्यक्ति (गृणामि) स्तुति करता हूँ ।

(३) हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! (ते) आपको मैं (आसः) अपने मुख से (वपद्) सर्व कामनाओं का पूरक (आकृत्योभि) साक्षात् स्वीकार करता हूँ । हे (शिपिविष्ट) तेजोमय ! (मे) मेरा (तत्) वह (हव्यम्) ग्रहण योग्य हुआ स्तुति पत्र (शुपस्व) स्वीकार कर (मे) मेरी (सुस्तुतमाः) उत्तम स्तुतिरूप (गिरः) वेदवाणियों (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, अर्थात् तेरी महिमा को बढ़ावें । हे विद्वान् पुरुषो ! (यूयं) आप लोग (न.) हम लोगों की (सदा) नित्य (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों से (पात) रक्षा करो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:0:—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६२८] वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रन्दिविष्टिषु ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आयाहि सोमपीतये स्वाहो देव नियुत्वता ॥१॥ .

१ ३ ३ १ २ ३ १ २
[१६२६] इन्द्रश्च वायवेषां सोमानाम्पीतिमर्हथः ।

३ १ २ २ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २
युवां हि यन्तीन्द्रवो निम्नमापो न सध्यूक् ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३०] वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसरस्पती ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
नियुत्वन्ता न ऊनय आयातं सोमपीतये ॥३॥५॥

ऋ० ४ । ४७ । १-३ ॥

भा०—(१) हे वायो ! प्राणात्मन् ! (दिविष्टिषु) दिव्य तेज की साधना के अवसरों में मैं (शुक्र) वीर्यवान् तेजस्वी होकर (ते) तेरे लिये (अग्रम्) सबसे पूर्व (मध्व.) अमृत ब्रह्मानन्दरस को (अग्रामि) प्राप्त करता हूँ । हे आत्मन् ! देव ! (स्पार्हः) अति स्पृहो का पात्र तू (नियुत्वता) नियुत्=प्राण और मनस्वरूप अश्व अथौत् बलवान् साधन से (सोमपीतये) सोमरस पान करने के लिये (आयाहि) प्राप्त हो ।

(२) हे वापो ! प्राण और (इन्द्रः च) इन्द्र ! आत्मन् ! आप दोनों ही (सोमाना) ज्ञानों या ब्रह्मानन्द रसों का (पात) पान करने के (अर्हथ.) योग्य हैं । (इन्द्रवः)-समस्त सोम और ब्रह्मरस का आनन्द लेने हारे योगी लोग भी (युवा) आप दोनों के प्रति (सध्यूक्) एक साथ (निम्नं) नीचे ढालू स्थान पर (आप. न) जलों के समान (यन्ति) चले जाते हैं ।

(३) हे (वायो) ज्ञानवन् ! (इन्द्रः च) और ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! जीव ! (शवसरस्पती) आप दोनों बल के परिपालक हैं, आप (नियुत्वता) मनरूप अश्व से युक्त (शुष्मिणा) बलशाली होकर (सोमपीतये) आत्मज्ञान रूप सोम के पान करने और (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा करने के लिये (आयातम्) आइये, हमें प्राप्त हों ।

इन्द्रियों का आत्मा और प्राण के प्रति प्रजाओं का राजा या नरपति के प्रति और योगियों का भी आत्मा और प्राण के प्रति समानरूप से वचन है ।

१ २ ३ ५२ २४ ३ १ ९ ३ १२ २४
 [१६३१] अध क्षपा परिष्कृतो वाजो अभिप्रगाहसे ।
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २
 यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥१॥
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६३२] तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः ।
 १२ १२ ३ १ २ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २
 यं गाव आसभिर्दधु पुग नूनञ्च सुरयः ।
 १२ २२ ३ १ २ ३ २ २ २ २

[१६३३] तद्गाथया पुराणया पुनानमभ्यनूपत ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
 उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम विभ्रतीः ॥३॥६॥

अ० ६ । ६६ । २-४ ॥

भा०—(१) (यदि) जब (विवस्वतः) सूर्य के समान प्रेरक आदित्ययोगी की (धियः) अपनी चित्तवृत्ति या अपनी ध्यान और धारणा शक्तियों को (हरिं) प्राण, या मन, या दुःखहारी प्रभु को (यातवे) आत्मा के समीप प्राप्त होने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करता है (अध) तब हे सोमरूप आत्मन् ! (क्षपा ^१) अन्धकार, अज्ञानों का नाश करने वाली चित् शक्ति से (परिष्कृतः) सुभूषित होकर (वाजान्) नाना बलों और बल से साध्य कार्यों या ज्ञानों को (अभि) साक्षात् स्वयं तू (प्र गाहसे) पार कर जाता है ।

(२) (अथ) इस सोमरूप प्राण या आत्मा के (तं) उस रसरूप को ओषधिरस के समान (मर्जयामसि) परिष्कृत करते हैं (यः) जो (मदः) आनन्दस्वरूप होकर (इन्द्रपातमः) आत्मा द्वारा उत्तम रीति से आश्वादन किया जाता है । (यं) जिसको (गावः) ज्ञान-इन्द्रियगण और (सुरयः) प्राणोन्द्रिय (पुग) पूर्वकाल में और (नून च) अब भी (आसभिः) देह में अपने नियत स्थानों या सुखद्वारों से (दधु) धारणा

१६३१—१ 'वाजी अभिप्रगाहते' इति अ० ।

१. क्षपा क्षपयित्री सेना, इति सायणः ।

करते हैं । अथवा जिसको (गाव. सूर्यः) वेदज्ञ विद्वान् पूर्वकालों में और अब भी, अपने (आसभिः) मुखों द्वारा वाणियों और स्तुतियों द्वारा (दधुः) धारण करते हैं ।

(३) (त) उस (पुनान) पवित्र करने हारे और स्वतः पवित्र साम को (पुराण्या) पुरातन (गाथया) गानरूप छन्दोमेय वेदवाणी से (अभि अनूपत) स्तुति करते हैं (उत उ) और (देवानां) देवों, सूर्य, वायु, अग्नि आदि दिव्य पदार्थों का (नाम) नाम या स्वरूप (विभ्रतीः) धारण करती हुई (धीतय) वेदवाणिया भी उसको ही (कृपन्त) समर्पण करती हैं, उसका ही गुणगान करती हैं ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१६३४] अश्वन्न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निन्नमोभिः ।
३ १ २ ३ १ २

सम्राजन्नमध्वगणाम् ॥१॥

१ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३५] स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः ।
३ २ ३ १ २

मीद्वान् अस्माकं वभूयात् ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
[१६३६] स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादिघाथोः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २

पाहि सदमिद्विश्वायुः ॥३॥७॥ ऋ० १ । २७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७] पृ० ६ ।

(२ (स घ) वह ही परमेश्वर ! (पृथुप्रगामा) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक (शवसा सूनुः) समस्त ससार को अपने बलमे प्रेरण करने द्वारा (नः) हमें (सुशेवः) उत्तम रूप से भजन करने योग्य है वही (अस्माकं) हमारे (मीद्वान्) सब सुखों को वर्धण करने वाला, मेघ के समान आनन्दकारी (वभूयात्) होवे ।

(३) (सः) वह आप जगदीश्वर (विश्वायुः) समस्त प्राणियों को पूर्ण आयु देने हारा (दूरान्) दूर, वर्तमान और (आसात् च) समीप में वर्तमान (अधायोः) पोंपी (मर्त्यात्) मनुष्य से (नः) हमारे (सदम्) देह और गृह को और प्रतिष्ठा को (इत्) भी (नि पाहि) नित्य रक्षा करे।

१ २ ३ १ २ ३ ५ २ २ ३ १ २

[१६३७] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वमि विश्वा आसि स्पृधः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अशस्तिहा जनिता घृत्रतूरसि त्वन्तूर्य तरुष्यतः ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २

[१६३८] अनु ते शुष्मन्तूरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुन मातरा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विश्वास्ते स्पृधः अथयन्त मन्यवे घृत्रं यदिन्द्र तूर्नसि

॥२॥ ८॥ अ० । ८ । ६६ । ६, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [३११] पृ० १५६ ।

(२) (तुरयन्तं शिशुम्) गमन करते हुए बालक के प्रति (मातरां न) जिस प्रकार मा माप जाते हैं उसी प्रकार (तुरयन्तं) गति प्रदान करते हुए तेरे या स्वतः देह से देहान्तर में गति करते हुए तेरे (शुष्म) बल के साथ (क्षोणी) धौ और पृथिवी, प्राण और अपान (ईयतुः) गमन करते हैं । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (यत्) जब (घृत्रं) विघ्नकारी अज्ञान तम का तू (तूर्नसि) नाश करता है तब (मन्यवे) मन्युस्वरूप या ज्ञान स्वरूप, मननशील (ते) तेरे आगे (विश्वाः) समस्त (स्पृधः) स्पर्धा करने वाले काम और क्रोध आदि अन्त शत्रुओं की सब चेष्टाएँ (अथयन्त) शिथिल हो जाती हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[१६३९] यक्ष इन्द्रमवर्जयद्यदभूमिं व्यवर्तयत् ।

३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

चक्राय आपशान्दिवि ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१६४०] व्यान्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।

२ ३ १ २ ३ २
इन्द्रो यदभिनद्धतम् ॥ २ ॥

१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २
[१६४१] उदुगा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सती ।

३ १ २ ३ २
अर्वाञ्चक्षुदे वलम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ : ३४ । ५, ७, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२१] पृ० ६५ ।

(२) (यद्) जब (इन्द्र०) आत्मा (वलम्) घेर लेने वाले काम क्रोधादि तामस आवरण को (अभिनत्) तोड़ डालता है तब (सोमस्य) ज्ञान और शुद्ध के (मदे) आनन्द हर्ष में (रोचना) प्रकाशमान (अन्तरिक्षम्) भीतर विराजमान चित्त को भी (व्यातिरत्) अधिक शक्तिशाली बनाता है ।

भौतिक पक्ष में इन्द्र सूर्य है : वल मेघ है अन्तरिक्ष घी, और पृथिवी के मध्य की वह भाग जहाँ मेघ विचरता है । सोम वायु का वंग है । जिस प्रकार वायु के बल से सूर्य मेघ को छिन्न भिन्न करता और अन्तरिक्ष को स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार योगी का आत्मा प्राण के बल से अज्ञान आवरण को हटाकर अन्तःकरण को स्वच्छ कर देता है । इस प्रकार की उपमा का आधार लेकर शिल्पध्वज द्वारा शीशों ताड़ दर्शाये हैं ।

(३) इन्द्र आत्मा ने (अंगिरोभ्य) अग अर्थात् देह में रम गथांत् सार प्राणरूप में वर्तमान इन्द्रियों के लिये (गुहा) अन्त करण रूप गुहा में (सती) वर्तमान (गा०) गमनशील, ज्ञानप्राप्त वात्रियों को (आविष्कृण्वन्) प्रकाशित करता हुआ (उद् भाजन्) ऊपर को प्रेरित

करता है और (वलम्) वलवान् तामस आवरण को (अर्वाञ्च) नीचे (जुनुदे) पटक देता है, अर्थात् विनाश करता है।

अथवा—(इन्द्र.) परमेश्वर (गुहा सतीः गा आविष्कृतवन्) निगूढ़ स्थान, अव्यक्त रूप में वर्तमान वेदवाणियों को प्रकट करता हुआ (अगिरोभ्यः उदाजत्) विद्वानों, ज्ञानी अपियों को प्राप्त कराता है और (वलम् अर्वाञ्च जुनुदे) पाशविक तामस स्वभाव को उस ज्ञान के नीचे कर देता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४२] त्वमु वः सन्ना साहं विश्वासु गीर्वायतम् ।

१ २ ३ १ २
आ च्याचयस्युतये ॥ १ ॥

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१६४३] युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम् ।

१ १ ३ १ २
नरमवार्यक्तुम् ॥ २ ॥

० २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
[१६४४] शिञ्जा ए इन्द्र राय आ पुरु विद्वां ऋचीपम ।

१ २ ३ २ ३ १ २
अवा न. पार्ये धन ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ ६२ । ७. ६ ॥

भा०—(१) हे विद्वन् (युध्मं) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी शत्रुओं को मार भगाने हारे (सन्तं) सत्त्वरूप, सदा विद्यमान (अनर्वाणं) कूटस्थ, अन्य की अपेक्षा करके न चलने हारे, ध्रुवस्वरूप (सोमपाम्) ज्ञान, आनन्दरस का पान करने हारे (अत-पच्युतम्) अपने शुद्ध पद से न गिरने हारे, (नर) नेतारूप, (अवार्थ-क्तुम्) अनिवार्य, नित्य, अविनाशी कर्म=उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के करने हारे, अथवा अविनाशी ज्ञानवाले इस इन्द्ररूप परमेश्वर को अपनी रक्षा के निमित्त स्मरण कर ।

(२) हे (ऋचीपम) स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने योग्य इन्द्र ! परमे-श्वर ! आप (विद्वान्) सर्वज्ञ हैं । आप (नः) हमें (रायः) धन नाना

प्रकार के दान (पुरु) बहुत बार, एवं बहुत से प्रकारों से (आशिष्ठ) दान दो । और (पार्ये) परम उत्कृष्ट (धने) धन, मोक्ष के प्राप्त करने में (नः) हमें (अव) रक्षाकर ।

सायण ने 'पार्ये धने' इसका अर्थ किया है—“पाराः शत्रवः तत्र भवे धने” अर्थात् शत्रुओं का धन लूटने के अवसर पर ईश्वर हमारी रक्षा करे । इन्द्र अर्थात्=राजाके पक्षमें यह अर्थ संगत है । ईश्वर पक्षमें मोक्ष को 'पर पार' कहा जाता है । उस में प्राप्त करने योग्य धन मोक्षानन्द है । उस को प्राप्त करने में आने वाले विघ्नों के बीच रक्षा करने की ईश्वर से प्रार्थना है । यही अर्थ आचार्य और गुरु के पक्ष में भी संगत है ।

[१६४५] तव^{२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २} त्यदिन्द्रियं बृहत्तव^{१ २} दक्षमुत^{३ २ ३ १ २} क्रतुम् ।

वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥

[१६४६] तव^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्द्धति अवः ।

त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥

[१६४७] त्वा^{१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २} विष्णुर्वृहन् क्षयो मित्रा गृणात वरुण ।

त्वा शब्दो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥१६॥अ० ७।१५।७, ८, ६ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (त्वत्) वह (वरेण्यं) वरण करने योग्य (इन्द्रियं) ऐश्वर्यमय स्वरूप को, (बृहत्) बड़े भारी (तव दक्षम्) तेरे बल सामर्थ्य, अनन्त शक्ति को और (क्रतुम्) उस महान् कर्म= ब्रह्माण्ड संचालन को और वरण करने योग्य ज्ञानरूप (वज्रं) देहबन्धन काटने वाले मोक्षसाधन को हमारी (धिषणा) बुद्धि और चाखी (शिशाति) साक्षात् करती है, उसकी महिमा को दिसलाती है ।

(२) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (पौंस्यं) बल, पौरुष को (द्यौः) वह द्यौलोक जिसमें समस्त सूर्य, नक्षत्र आदि तैजस पिण्ड भ्रमण करते

हैं (वर्द्धति) विशाल रूप में प्रकट करता है । और (तव श्रवः) तेरी कीर्ति को (पृथिवी) यह पृथिवी (वर्द्धति) बढ़ा रही है । (आपः) ये जल, नदियें और (पर्वताश्च) पहाड़ (त्वा) तेरी ही (हिन्वरे) स्तुति गान कर रहे हैं ।

(३) हे परमेश्वर (बृहन्) बड़ा भारी (क्षयः) निवास स्थान (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश या पृथिवी (मित्रः) स्नेहवान् जल (वरुणः) वरण करने योग्य अग्नि आदि ये सब दिव्य पदार्थ (त्वा गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं । (मार्तन्) वायु का (शर्धः) बल, वेग (त्वां) तेरे ही (अनुमदति) अनुकूल रहकर हर्ष को प्राप्त होता है, नाना प्रकार से नृत्य करता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४८] नमस्ते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय ।

१ २ ३ १ २

अमैरामित्रमर्ह्य ॥ १ ॥

३ ० ४

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१६४९] कुवित्सु नो गविष्ट्येऽग्ने संवेपिपो रयिम् ।

१ २ ३ १ २

उरुकुदुरु णस्कृधि ॥ २ ॥

१ २

३ १ २ २ २ ३ १ ३

[१६५०] मा नो अग्ने महाधने पराधर्भारभृद्यथा ।

३ २ ३ ० ३ १ २

संवर्गे सं रयिञ्जय ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ८। ७५। १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११] पृ० ५ ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (न.) हमारे (गविष्ट्ये) आत्मा और इन्द्रियों के इष्ट साधन के लिये (रयिम्) उपयुक्त विषयरूप धन और प्राणरूप सामर्थ्य को (संवेपिप.) प्राप्त करता है । हे (उरुकुद.)

महान् कार्यसम्पादक आप (मः) हमें भी (सरु कृधि) महान कीजिये ।

(३) हे अग्ने ! (यथा भारभृत्) जिस प्रकार बोझा उठाने वाला अपना बोझ परे फेंक दिया करता है उस प्रकार (महाधने) मोक्षरूप धन की प्राप्ति के अवसर में (नः) हमें बोझासा जानकर (मा परा वर्ग) परे न हटा, बल्कि हमें (संवर्ग) उत्तम मोक्षरूप (रयिं) धन को (संजय) प्राप्त करा दे ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५१] समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।

३ १ २ ३ १ २
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५२] वि चिद् वृषस्य दोधत शिरो विभेद वृष्णिना ।

१ २ ३ १ २
वज्रेण शतगर्वणा ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
[१६५३] ओजस्तदस्य तित्विष उमे यत्समन्तर्तयत् ।

२ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रश्चर्मव रोदसी ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ८ । ६ । ४, ६, ५॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१३७] पृ० ७५ ।

(२) (दोधतः) समस्त जगत् को कपाने हारे (वृषस्य) आवरक अज्ञान या विघ्न के शिर) शिरोभाग, मूल, जड़ को परमेश्वर अपने (शत गर्वणा) सैकड़ों पोरुओं=पालक शक्तियों के बने (वृष्णिना) सुखों के वर्पक (वज्रेण) वज्ररूप ज्ञान से (विभेद) तोड़ डालता है ।

(३) (तत्) उस समय (अस्य) इस परम आत्मा का (ओजः) सामर्थ्य और तेज (तित्विषे) प्रकाशित होता है (यत्) जब (इन्द्रः) परमेश्वर (उमे रोदसी) धौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) मानों चमड़े से दोल के समान (समवर्तयत्) मड़कर तैयार कर देता है । अर्थात् सृष्टि के प्रकट होने पर ही ईश्वर की विभूति का

पितो चलाता है । अथवा (अस्य तत् ओज- तिस्रिषे) ईश्वर का वह तेज ही चमकता है । (यत् इन्द्र चर्म इव उभे रोदसी समवर्तयत्) जिसको वह दोनों आकाश और पृथिवी पर चाम के समान मढ़े हुए हैं । अर्थात् उमी का सर्वत्र तेज है ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६५४] सुमन्मा वस्वी रन्ती भूनेरी ॥ १ ॥ (यजु०)

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २
[१६५५] सरूप वृषन्नागदीमौ भद्रौ धुर्यावभि ।
१ ३ १ २ २

ताधिमा उपसर्पतः ॥ २ ॥

१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६५६] नीव शीर्षाणि मृद्वं मध्य आपस्य तिष्ठन्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २

शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन् ॥ ३ ॥ १४ ॥ तिस्रोऽपि ऋग्वेदे न सन्ति ।

भा०—(१) (सुमरी) उत्तम शरीर-रथ की नेत्री, चितिशक्ति स्वयं ही (रन्ती) समस्त क्रीड़ा, चेष्टा, व्यापार करने हारी (वस्वी) प्राणरूप वसुओं की स्वामिनी (सुमन्मा) उत्तम रूप से मनन करने हारी है ।

(२) हे (सरूप) चितिशक्ति के समान रूपवाले (इन्द्र) आत्मन् ! (वृषन्) सर्वश्रेष्ठ ! (आगहि) आ, प्रकट हो । (इमा) ये दोनों (भद्रौ) कल्याण और सुखकारी (धुर्यौ) शरीर के धारक प्राण और अपान (अभि) प्राणरूप में दिखाई देते हैं । (तौ इमौ) वे दोनों शरीर या नासिका में (उपसर्पतः) गति करते हैं ।

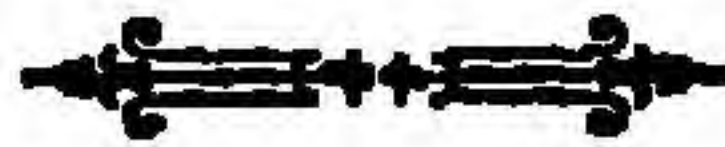
(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आत्मा (आपस्य) इस प्राण देह के (मध्ये) भीतर (दशभिः) दश (शृङ्गेभिः) प्राणों द्वारा (दिशन्) ज्ञान और कर्म करता हुआ (तिष्ठति) विराजमान रहता है । आप लोग

उन (शीर्षाणि) शिरोभाग में रहने वाले दशों ही प्राणों को (नि मृद्वम्) वश करो ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

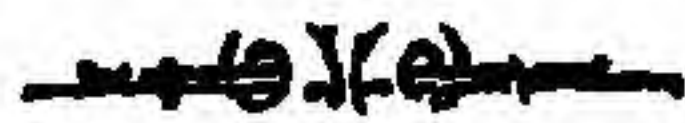
इति सप्तदशोऽध्यायः ।

इति अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ।



अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथाष्टम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ।



ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेवधागिरसः । २ शुनऋषः सुकशो वा ।
३ शुनःशेष आजीगत्ते । ४ ऋषुर्वर्हस्पत्यः । ५, १५ मेधातिथिः काण्वः । ६,
६ वसिष्ठः । ७ आयुः काण्वः । ८ अम्बरीष ऋजिष्वा च । १० विश्वमना वैयथ ।
११ सोमरि काण्वः । १२ सप्तर्षयः । १३ कलिः प्रागाथः । १५, १७ विश्वा-
मित्र । १६ चित्रुषि काश्यपः । १८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । १९ एतत्साम ॥
देवता—१, २, ४, ६, ७, ८, १०, १३, १५ इन्द्रः । ३, ११ १८ अग्निः ।
५ विष्णुः ८, १२, १६ पवमानः सोमः । १४, १७ इन्द्राग्नी । १६ एतत्साम
॥ छन्दः—१-५, १४, १६-१८ गायत्री । ६, ७, ८, १३ प्रागाथम् । ८,
अनुष्टुप् । १० उष्णिक् । ११ प्रागाथ काकुभम् । १२, १५ बृहती । १६ इति
साम ॥ स्वरः । १-५, १४, १६, १८ पङ्क्तः । ६, ८, ९, ११-१३, १५
मध्यमः । ८ गान्धारः । १० ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५७] पन्थं पन्थामितस्तोतार आवावत मन्थाय ।

१ २ ३ २ ३ १ २
सोमं वीराय शूराय ॥ १ ॥

[१६५८] ^{१ २ ३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २} यह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् ।

^{१ २ ३ १२ २ ३} इन्द्रं गीर्भिर्गिर्यसम् ॥ २ ॥

[१६५९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १२ २ ३ २२ ३ २} पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नार अस्मत् ।

^{१ २ ३ १ २} नियमते शतमूतिः ॥३॥१॥ अ० ८ । २ । २५, २७, २६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१२३] पृ० ।

(२) (इह) इस पियूष में (ब्रह्मयुजा) ब्रह्म के साथ समाधि द्वारा युक्त होने वाले, (शग्मा) शक्तियुक्त (हरी) दोनों प्राण और अपान (सखाय) परमेश्वर के मित्रभूत (गीर्भसम्) गिराओं, वेदवाणियों का सेवन करने वाले (इन्द्रम्) इस जीव को (गीर्भिः) स्तुतियों, प्रार्थना और उपासनाओं के साथ २ (आ वक्षतः) ब्रह्म तक प्राप्त कराते हैं ।

(३) (सुत) आनन्दरस का या प्रेरक बल को (पाता) पान करने या धारण करने और (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने वाला वह आत्मा (अस्मत्) हमारे (आरे) समीप (घ) ही (आगमन्) प्राप्त है वह (शतमूतिः) सैकड़ों प्रकार से शक्तिशाली होकर (नियमते) संयम साधना करता है ।

[१६६०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आ त्वां त्रिशान्तिवन्द्य समुद्रमिव सिन्धवः ।

^{२ ३ १ २} न त्वाभिन्दातिरिच्यते ॥ १ ॥

[१६६१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २ ३} विन्यक्त्य महिना वृषभक्ष सोमस्य जागृवे ।

^{१ २ ३ १ २} य इन्द्र जठरेषु ते ॥ २ ॥

[१६६२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अरन्त इन्द्र कुक्ष्ये सोमो भवतु वृत्रहन् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} अरन्ध्रामभ्य इन्द्रवः ॥३॥ २ ॥ अ० ८ । ६२ । २२-२४ ॥

भा० — (१) व्याख्या देखो अत्रि० सं० [१६७] पृ० १०४ ।

(२) हे इन्द्र ! प्रभो परमेश्वर ! (यः) जो सोमरूप^१ संसार (ते जठरेषु) तेरे भीतर, तेरे उदर या मध्यभाग में, तेरे आश्रय में है, हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! उस (सोमस्य) समस्त संसार के (मर्त्य) स्वरूप से प्राप्त को भी हे (जागृते) जागरणशील ! तू ही (महिना) अपनी महिमा से (विव्यक्त) व्याप्त कर रहा है ।

आत्मपक्ष में हे इन्द्र ! तेरे (अन्तः) हृदयाकाश में, अन्त इन्द्रियों में जो मोम ब्रह्मज्ञान का आस्वाद है उस सोम के आस्वाद को भी तू अपने (महिना) बड़े सामर्थ्य से प्राप्त करता है । सामरस और राजा के प्रकरण में स्पष्ट है । भौतिक पक्ष में — सूर्य इन्द्र अपने जठर-रश्मियों से जल को उठा लेता है और सदा देदीप्यमान रहकर अपनी विशाल शक्ति से जल के उस सूक्ष्म अंश को धारण किये रहता है ।

(३) सूर्य जिस प्रकार प्रकाश के आवरण को दूर हटाता है उसी प्रकार पाप का नाश करने वाले हे (वृत्रहन्^२) विघ्नकारी तामस आवरण के नाशक ! (सोम) यह समस्त मोमरूप उत्पन्न हुआ संसार (ते) तेरी (कुक्षये) कोख से या गर्भ में रहकर तेरी महती शक्ति को दर्शाने के लिये (अर मवतु) पर्याप्त है, वह बहुत बड़ा और महान् है (इन्द्रवः) बहुत से इसी प्रकार के ब्रह्माण्ड या देदीप्यमान लोक (धामभ्यः) तेरी बड़ी २ धारणा शक्तियों का साक्षात्कार कराने के लिये भी (अरं) पर्याप्त है अर्थात् वही तेरी शक्ति की महत्ता के भारी दृष्टान्त हैं ।

[१६६३] जगवो^१ध तद्विचि^२द्धि विशेषि^३शे यक्षियाय ।

१ २ ३ १ २ ३ २
स्ताम रुद्राय दृशीकम् ॥ १ ॥

- १६६२ - १ सूक्त इति मोमः ।

२ वृत्रहन् पापस्य वा हन्त, इति सायण ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ०
[१६६४] स नो मह्यं अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्र ।

३ १ २ २

त्रिय वाजाय द्विन्वतु ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[१६६५] स रेवां हव विश्वपतिर्देव्यः केतुः शृणोतु नः ।

३ २ ३ २ ३ १ २

उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १ । २७ । १०-१२ ॥ १

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५] पृ० ७ ।

(२) वह अग्निरूप सब का मार्गदर्शक सर्वज्ञ, परमेश्वर (महान्) महान् (अनिमानः) अनन्त, अपरिमेय, (धूमकेतुः) समस्त समार को स्पन्दन या गति देने हारे सामर्थ्य से जानने योग्य (पुरुश्चन्द्र) सत्रमे अधिक प्रकाशमान, सब प्रकाशमान पदार्थों का प्रकाशक परमात्मा (नः) हमें (धिये) विचारशक्ति, बुद्धि और (वाजस्य) बल और सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये प्रेरित करे ।

(३) (सः) वह (अग्निः) सबका नेता, ज्ञानवान् (उक्थैः) वेद की ज्ञानराशियों से (बृहद्भानुः) विशाल तेज मन्त्र (देव्यः) सर्व दिव्यगुणों में युक्त (केतुः) समस्त संसार का ज्ञापक, (विश्वपति) प्रजा का पालक प्रजापति, परमात्मा (रेवान् हव) बड़े भागी धनी सेठ पुरुष के समान (नः) हम उपासकों की (शृणोतु) प्रार्थना श्रवण करें ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[१६६६] तद्धो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्त्वेने ।

२ ३ ३ २ ३ १ २

श यदुगवे न शाकिने ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१६६७] न वा वसुनर्नयमते दानं वाजस्य गोमतः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

यत्समुपश्रवद् गिरः ॥ २ ॥

[१६६८] कुवित्सस्य प्र हि व्रजङ्गामन्तन्दस्युहा गमत् ।

शचीभिरप नोवरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपभ्रवत्) सुन लेता है तब वह (वसु०) सब संसार को बन्धने हारा और सर्वव्यापक (गोमत्) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और बल के (दानं) दत्तादान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है ।

(३) (सः) वह (दस्युहा) उपलब्ध करने हारे या क्षयशाली, विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौश्रों के निवासस्थान (व्रज) बाढ़ा रूप देह को (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है । परन्तु (स्य.) वह ही उसको (शचीभि) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—(कुवित्सस्य^१) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्तःकरण में प्राप्त होकर (शचीभिः) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (न) हमारे कल्याण के लिये (अप प्रवरत्) दूर कर देता है । अथवा—'कुवित्स' बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुन देह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१६६८—१ कुत्सितं विन्दते वेत्ति मनोति च तस्य, अथवा कुवित् बहुधा, स्यात्-
हिनस्ति इति कुवित्सः इति सायणः ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथमः खण्डः ।

—:०:—

[१६६६] इदं विष्णुर्विचक्रमे ^{३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २} त्रेधा निदधे पदम् ।

^{१ २ ३ २} समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥

[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे ^{१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २} विष्णुर्गोपा अनाभ्यः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि परुपशे ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २} इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

^{३ २ ३ २ ३ १ २} दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥

[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।

^{२ ३ १ २ ३ २ ३ २} विष्णोर्गर्भपरमं पदम् ॥ ५ ॥

[१६७४] अतो देवा अवन्तु ना यतो विष्णुर्विचक्रमे ।

^{३ २ ३ ३ १ २} पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ २ ॥

अ० १ । २२ । १६-२१ १६, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप किया । (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया । (अस्य) इसके (पांसुले) लोकों को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम रीति से स्थित है । न्याय्या अधि० सं० [२२२] पृ०।